★ ग्रन्थ का नाम :
अध्यात्मसार

★ ग्रन्थकार
उपाध्याय श्रीयशोविजयजी म.

★ हिन्दी-अनुवादक
मुनि श्रीपद्मविजयजी

★ सम्पादक
पं० मुनि श्रीनेमिचन्द्रजी

★ प्रस्तावना
आचार्य विजयधर्मधुरंधर-
सूरीश्वरजी महाराज

★ प्रकाशक
श्रीनिर्ग्रन्थ-साहित्य-प्रकाशनसंघ

★ प्रकाशन-तिथि
२६ जुलाई, १९७६

★ आवृत्ति
प्रथम, ११०० प्रतियाँ

★ मूल्य
साढ़े बारह रुपये

★ मुद्रक
मनोज कं० हाउस
एवम् श्याम प्रेस,
राजामण्डी, आगरा-२

★ प्राप्ति-स्थान ★

१. बनारसीदास मोहनलाल
२८४४, प्रताप मार्केट
सदर बाजार, दिल्ली - ६

२. सेठ अमीचन्द ताराचन्द
३९ खान बिल्डिंग
नवाब टैंक ब्रिज
मझगाँव
बम्बई - १०

३. सरस्वती पुस्तक भण्डार
रतनपोल, हाथीखाना
अहमदाबाद (गुजरात)

४. सोमचन्द डी० शाह
जीवननिवास के सामने
पालीताणा (सौराष्ट्र)
(गुजरात)

प्रकाशकीय

भारत के समस्त दर्शनो मे अध्यात्मज्ञान का बहुत बडा स्थान है। अध्यात्मज्ञान के बिना कोई भी साधक साधना मे आगे नही बढ सकता। अध्यात्मज्ञान होने पर ही साधक अपने लक्ष्य को स्थिर कर सकता है। भौतिकवाद की चकाचौंध मे मनुष्य के सामने जब भी मानसिक, सामाजिक और पारिवारिक उलझनें आती हैं, आध्यात्मज्ञान के द्वारा ही वह उन्हे सुलझा सकता है। परन्तु इस विषय का ज्ञान विविध धर्मशास्त्रो मे यत्र-तत्र बिखरा हुआ मिलता है। अध्यात्मसार ग्रन्थ मे उन सभी अध्यात्मविषयो को ग्रन्थकार उपाध्याय श्रीयशोविजयजी म० ने समाविष्ट कर दिया है। मूल ग्रन्थ सस्कृत मे होने से जब तक उसका हिन्दी मे अनुवाद न हो, तब तक वह सर्वजनसुलभ नही बन सकता। अध्यात्मरसिक कर्मठ मुनिश्री पद्मविजयजी म ने अध्यात्मसार का राष्ट्रभाषा हिन्दी मे अनुवाद करके हमे बहुत अनुगृहीत किया है, तथा इस विशालकाय ग्रन्थ का सुन्दरतम सम्पादन किया है विद्वद्वर्य प० मुनिश्री नेमिचन्द्रजी म० ने, तथा आचार्यश्री विजयधर्मधुरधरसूरीश्वरजी म० ने इसके लिए सुन्दर 'प्रवेशक' लिख भेजने का अनुग्रह किया है, एतदर्थ हम इन सभी महानुभावो के प्रति अत्यन्त कृतज्ञ है, जिन्होने अपनी सयम साधना के अन्यान्यकार्यों मे व्यस्त रहते हुए भी इस ग्रन्थ का प्रकाशन करा कर हमारी सस्था को उपकृत किया है। इस विशालकाय ग्रन्थ को प्रकाशित करते हुए हमे अत्यन्त प्रसन्नता हो रही है।

इस ग्रन्थराज के प्रकाशन मे जिन-जिन महानुभावो ने उदारतापूर्वक अर्थ-सहयोग दिया है, उनके प्रति हम कृतज्ञ हैं। आशा है, भविष्य मे भी वे इसे अपनी सस्था मान कर अन्य सत्साहित्य के प्रकाशन मे सहयोग देते रहेगे।

विनम्र

ओमप्रकाश जैन

मत्री, श्रीनिर्ग्रन्थ साहित्यप्रकाशन-सघ, दिल्ली

प्रास्ताविक

इस विश्व मे वास्तविक आत्मज्ञान के विना जीव यह नही जान सकता कि दु:ख कैसे दूर होता है? सच्चा सुख क्या है? वह कैसे मिल सकता है? इसलिए सम्यग्दृष्टि आत्मा को यह दृढ निश्चय करना चाहिए कि आत्मा है, वह शरीर से भिन्न शाश्वत है। इस निश्चय के बाद आत्मा कैसी है? कैसी होनी चाहिए? इसका स्पष्टरूप से विवेकपूर्वक विचार करना जरूरी है। आत्मा की मीमासा विभिन्न दर्शनकारो ने पृथक्-पृथक् रूप से की है। उसमे कितना सत्य और तथ्य है? इसका सन्तुलन करना अनिवार्य है। अगर ऐसा नही होगा तो आत्मा का स्वीकार भी अस्वीकार जैसा ही रहेगा। आत्मा को मानने मात्र से ही अभीष्ट सिद्धि नही हो जाती। आत्मा का स्वरूप क्या है? उसका कद कितना है? आत्मा नित्य है, अनित्य है या किसी अलग ही प्रकार की है? आत्माए सख्या मे कितनी हैं? असख्यात या अनन्त? आत्मा ससार मे कब से भटक रही है? आत्मा को मोक्ष हो सकता है? यदि हाँ, तो किस उपाय से? आत्मा कहाँ रहती है? मुक्तात्मा कहाँ रहते हैं? उनके स्वभाव और गुण क्या-क्या हैं? आत्मा के सम्बन्ध मे इन और ऐसी ही बातो पर विस्तृत और विवेकपूर्ण विचार किया जाय और आत्मा का शुद्ध स्वरूप भली-भाति हृदयगम हो जाय, उसके बाद ही प्रस्तुत ग्रन्थ अध्यात्मसार हाथ मे उठा कर पढने की योग्यता आत्मा मे आती है। केवल इस ग्रन्थ को ऊपर-ऊपर से पढ जाने से उसके कुछ पल्ले नही पडेगा। रहस्य से अनभिज्ञ व्यक्ति इस ग्रन्थ मे बताए हुए मार्ग का अशमात्र भी अनुसरण नही कर सकता।

'अध्यात्मसार' मे दो शब्द हैं अध्यात्म और सार। अध्यात्म का अर्थ है आत्मा को ले कर जो भी क्रियादि की जाय। अर्थात् जो भी प्रवृत्ति की जाय, वह आत्मा तक पहुँचे, तो उस प्रवृत्ति पर अध्यात्म की छाप लगाई जा सकती है, अन्यथा नही। जिस आत्मा की कर्मों की स्थिति बहुत कम हो जाय, वह योग्य हो, समय को परखने की तैयारी हो, वह आत्मा यदि तब अध्यात्म के अनुरूप प्रयत्न करे तो ऐसा फल प्राप्त कर सकता है, जो कभी नष्ट नही होता। इस फल के सम्बन्ध मे यह ग्रन्थ विशेषरूप से समझाता है। शास्त्र मे इस

समर्पण



जिन महापुरुष के द्वारा जैनधर्म के साहित्य का हिन्दी भाषा मे सर्वप्रथम
प्रचार-प्रसार हुआ, उन विरल विभूति त्यागनिष्ठ न्यायाम्भोनिधि

जैनाचार्य श्रीमद्विजयानन्दसूरीश्वरजी महाराज

के परमपावन करकमलो मे यह आध्यात्मिक ग्रन्थ
हार्दिक श्रद्धा-भक्तिपूर्वक समर्पित

चरणरेणु   मुनि पद्मविजय

विषय में बहुत अधिक विस्तार है, पर यहां तो संक्षेप में सब कुछ बता दिया है, इसीलिए इस ग्रन्थ को अध्यात्म का सार कहा है।

इस ग्रन्थ के रचयिता पूज्यपाद उपाध्याय श्रीयशोविजयजी महाराज १७ वीं शताब्दी में अद्वितीय विद्वान् हो गए हैं। उन्होंने विद्वत्ता और कवित्व-शक्ति दोनों प्राप्त कीं, एक तरह से कहें तो वास्तव में दोनों ने उनका वरण करके सौभाग्य बढ़ाया। जैनजगत् में आप 'उपाध्यायजी महाराज' के प्रिय नाम से प्रसिद्ध हैं। इस-ग्रन्थ का पाठक उनकी जीवनी से शायद ही अपरिचित हो, इसलिए यहाँ उनका परिचय देना अत्यावश्यक नहीं है। ग्रन्थ में कुल ७ प्रबन्ध और २१ अधिकार हैं, यह तो पाठक स्वयं ग्रन्थ खोल कर पढ़ेंगे और उनका रसास्वादन करेंगे ही, अतः इस विषय में विशेष कुछ कहना उचित नहीं है।

इस ग्रन्थ का गुजराती अनुवाद सुलभ था, लेकिन हिन्दीभाषा में इसका अनुवाद अब तक सुलभ न था, किन्तु हिन्दी भाषा में अनुवादित हो कर इस ग्रन्थ के प्रकाशित हो जाने से अब यह सर्वजनसुलभ बन जाएगा। अतः हिन्दीभाषाभाषी विशाल वर्ग इस ग्रन्थ से लाभ उठाए, इसका उचित उपयोग करे और इस ग्रन्थ की अनेक आवृत्तियाँ प्रकाशित हों, यही अभीष्ट है।

इसके हिन्दी-रूपान्तरकर्ता मुनि श्रीपद्मविजयजी स्वाध्यायरसिक मुनि हैं। उन्होंने अपनी रुचि से हिन्दीभाषा में अध्यात्मसार ग्रन्थ का अनुवाद किया है। गम्भीर भावों से भरे इस ग्रन्थ का एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवाद होने पर लाभ तो है ही, कदाचित् उल्था करने में कहीं ग्रन्थकार के मूलभाव की रक्षा न हो तो हानि भी कम नहीं है। किन्तु कहना होगा कि इस ग्रन्थ के अनुवाद में अनुवादक ने यथासम्भव भावों की सुरक्षा की है। इसके मूल-वाचन में जो रस है, उसे तो उस भाषा का वेत्ता ही समझ सकता है। कुल मिला कर ग्रन्थ का अनुवाद उत्तम हुआ है।

अध्यात्मसारमाप्याऽऽत्माऽऽनन्दमाप्नोति चेतनः।
तत्कृपादृष्टितो भव्यो भवेद्धर्मधुरन्धरः॥

वि० सं० २०३२ आषाढ़ सुदी ८
सोमवार, ता० ५-७-१९७६

विजयधर्मधुरन्धरसूरि
श्रीनेमिसूरिजी-ज्ञानशाला, पांजरापोल,
अहमदाबाद

धन्यवाद !

जिन-जिन अर्थ-सहायको ने इस ग्रन्थ के प्रकाशन मे सहयोग दिया है, हम उनके प्रति अत्यन्त आभारी है। उन्हे धन्यवाद देते हैं कि उन्होंने इस महुमूल्य एव महत्वपूर्ण ग्रन्थ के प्रकाशन मे ज्ञानदान एवं ज्ञानाराधना की भावना से मूल्यवान अर्थसहयोग दिया है। नीचे उन अर्थसहयोगियो की सूची दी जा रही है

१०००) सिहोर सघ के ज्ञानखाते से
३३३) आचार्यदेव श्रीरुचकचन्द्रसूरीजी म. की प्रेरणा से तलाजा श्रीसघ
२५१) नानी दानशाला, सिहोर
२५१) वाडीलाल केशवलाल सुरेन्द्रनगर वाले
२५१) प्रागजी रतनशी, भाणवड
२५१) आत्मानन्द जैन उपाश्रय, वडोदरा
१५१) मोटी दानशाला, सिहोर
१५१) मणीलाल नथुभाई, सिहोर
१०१) उपाध्याय श्रीसुरेन्द्रविजयजी की प्रेरणा से लाडवाडा उपाश्रय, खभात
१०१) मुनिराज श्रीरामचन्द्रविजयजी की प्रेरणा से सेठ डोसाचन्द अभेचन्द की पेढ़ी, भावनगर
१०१) मुनिराज श्रीलावण्यसागरजी की प्रेरणा से
१०१) शाह शान्तिलाल दलीचन्द, सिहोर
१०१) शाह जीवराज जैराज ,,
१०१) दोशी गिरधरलाल मूलचन्द की धर्मपत्नी अजवालीबाई के स्मरणार्थ, सिहोर

१०१) केसरीचन्द हरखचन्द, सिहोर
१०१) पुष्पाबहन
५१) शाह कुँवरजी, गाडालाल, सिहोर
५१) संघवी नेमचन्द छगनलाल ,,
५१) परमानन्द कालीदास
५१) भुपेन्द्रभाई दलीचन्द शाह
५१) चन्द्रकान्त प्रागजी
५१) वसुमतिबहन वर्धमान शाह, वल्लभीपुर वाले
५१) जयन्तीलाल छगनलाल, सिहोर
५१) आर. खान्तीलाल शाह ,,
५१) शा. दुर्लभदास विट्ठल ,,
५१) शाह अमृतलाल हठीचन्द ,,
५१) शाह फुलचन्द सी बोरडिया, बम्बई,
५१) हार्दिककुमार चंपकलाल डॉ वडोदरा
५१) बलु भूंदरमल बादरमल थरादवाला, आनन्द

अनुक्रमणिका



स्व० नागरदास मगनलाल थानाणी
सिहोर (सौराष्ट्र) वाले

ग० स्व० गजराबेन नागरदास थानाणी
सिहोर वाले)

पू० मुनिश्री पद्मविजयजी महाराज का सिहोर चातुर्मास वि० स० २०३१ (गुजराती) मे हुआ, उस समय पू० गुरुमहाराज एवं साध्वीश्री नरेन्द्रश्रीजी के सदुपदेश से नागरदास मगनलाल के आत्म-कल्याणार्थ यह 'अध्यात्मसार' नामक ग्रन्थ के प्रकाशन मे योगदान दिया ।

ह—गजराबेन नागरदास
तथा सुपुत्र रूपचंद नागरदास थानाणी
जयसुखलाल नागरदास "
नवीनचन्द्र नागरदास "
कान्तिलाल नागरदास "
सिहोर (सौराष्ट्र) वाले

ऐ नम

नमो नम श्रीगुरुवल्लभसूरये

न्यायविशारद-न्यायाचार्य-महामहोपाध्याय

श्रीमद्-यशोविजयगणि-प्रणीत

अध्यात्मसार

(भावानुवाद)

प्रवन्ध प्रथम — अधिकार पहला

अध्यात्म का माहात्म्य

ऐन्द्रश्रेणिनत श्रीमानन्दतान्नाभिनन्दन ।
उद्दधार युगादौ यो जगदज्ञानपङ्कत ॥१॥

जिन्होने युग के प्रारम्भ मे अज्ञानरूपी कीचड से जगत् को उबारा है, अर्थात् सूर्य के समान जिन्होंने अपने ज्ञान के प्रकाश से जगत् के अज्ञानान्धकार को मिटाया है, वे इन्द्रसमूह द्वारा नमस्कृत श्रीनाभिनन्दन ऋषभदेव भगवान् (मुझ पर) आनन्दित (प्रसन्न) हो।

श्री शान्तिस्तान्तिभिद् भूयाद् भविनां मृगलांछन ।
गाव. कुवलयोल्लास कुर्वते यस्य निर्मला ॥२॥

जिनकी निर्मलवाणी सूर्यकिरणो की तरह भव्यजीवरूपी कमलो को प्रफुल्लित करती है, वे मृगलाछन श्रीशान्तिनाथ भगवान् भव्यजीवो के दु खो का अन्त करे।

श्री शैवेय जिनं स्तौमि भुवनं यशसेव य ।
मारुतेन मुखोत्थेन पांचजन्यमपूपुरत् ॥३॥

जिन्होंने अपने मुख से नि सृत वायु से पाचजन्य नामक शख को इस प्रकार फूका, मानो अपने उज्ज्वल यश से तीनो लोक परिपूर्ण कर दिये हो; उन शिवादेवी के नन्दन श्रीनेमिनाथ भगवान् की मै स्तुति करता हूँ।

जीयात् फणिफणप्रांत-सङ्क्रांततनुरेकदा ।
उद्धर्तुमिव विश्वानि श्रीपार्श्वो बहुरूपभाक् ॥४॥

किसी समय सर्प के फन के सिरे पर जिनके शरीर का पड़ा हुआ प्रतिबिम्ब ऐसा लग रहा था, मानो तीनों जगत् का उद्धार करने के लिए अनेकरूप धारण किये हो, उन पार्श्वनाथ प्रभु की जय हो।

जगदानन्दनः स्वामी जयति ज्ञातनन्दनः ।
उपजीवन्ति यद्वाचमद्यापि विबुधाः सुधाम् ॥५॥

जिनके वचनामृत का आस्वादन करके पण्डितजन आज भी अपना जीवन सफल बना रहे हैं, उन जगत् को आनन्द देने वाले ज्ञातपुत्र श्री वर्धमानस्वामी की विजय हो।

एतानन्यानपि जिनान्नमस्कृत्य गुरूनपि ।
अध्यात्मसारमधुना प्रकटीकर्तुमुत्सहे ॥६॥

इन पाच तीर्थंकरो तथा अन्य अजितनाथ आदि २२ तीर्थंकर भगवन्तों एव गुरुदेवो को नमस्कार करके अध्यात्मसार अर्थात् अध्यात्म का निचोड प्रकट करने के लिए उत्साहपूर्वक प्रवृत्त हो रहा हूँ।

शास्त्रात् परिचितां सम्यक् संप्रदायाच्च धीमतां ।
इहानुभवयोगाच्च प्रक्रियां कामपि ब्रुवे ॥७॥

इस विषय मे शास्त्रो से, तत्वज्ञानी महापुरुषो की सत्य परम्परा से तथा स्वानुभव के योग से भलीभाति परिचित (अध्यात्मसम्बन्धी) किसी अनिर्वचनीय प्रक्रिया का निरूपण करूंगा।

योगिनां प्रीतये पद्यमध्यात्मरसपेशलं ।
भोगिनां भामिनीगीतं संगीतकमयं यथा ॥८॥

जैसे भोगीजनो को ललनाओ के संगीतमय गायन प्रीतिकर होते हैं, वैसे ही योगीजनो को अध्यात्मरस के मनोहर पद्य प्रीतिकारक होते हैं।

कान्ताधरसुधास्वादाद् यूनां यज्जायते सुखम् ।
बिन्दुः पार्श्वे तदध्यात्मशास्त्रास्वादसुखोदधेः ॥९॥

स्त्रियो के अधरामृत के आस्वादन से युवको को जो सुखद सवेदन

होता है, वह अध्यात्म-शास्त्र के आस्वादनजनित सुखसिन्धु के सामने एक बिन्दु के समान है।

भोगी चुम्बन आदि कामसुख मे अपनी बुद्धि से सुख मानता है और वह सुख भी अल्पकालीन, अस्थायी, पराधीन, एव दुर्गति का कारण होता है, जबकि अध्यात्मशास्त्र का बारबार चिन्तन करने से परमानन्द-विलास रूप जो सुख उत्पन्न होता है, वह अतिप्रचुर, चिरकाल-स्थायी, स्वाधीन और समुद्र के समान विशाल होता है।

इसी बात का विशेष समर्थन करते है

अध्यात्म-शास्त्रसम्भूत-संतोष-सुखशालिन ।
गणयन्ति न राजानं न श्रीदं नापि वासवम् ॥१०॥

अध्यात्मशास्त्र के आस्वादन से उत्पन्न सन्तोषसुख से सुशोभित योगीजन अपने सुख के सामने राजा, कुबेर, इन्द्र आदि के सुखो को कुछ भी नही गिनते।

योगी के सुख के सामने महान् ऐश्वर्य और ऋद्धि से सम्पन्न राजा का सुख कुछ भी नही है, क्योकि राजा के चित्त मे हमेशा अनेक कार्यों की चिन्ता होती है। वह शत्रु आदि के भय से व्याकुल होता है, धनद कुबेर भी सुखी नही है, क्योकि वह भी अपने इन्द्र के अधीन-परतन्त्र होता है, देवो को वश मे रखने वाला इन्द्र भी सुखी नही है, क्योकि वह विषयातुर रहता है, इसलिए विषयो मे रागादि के कारण उसका सहज सुख नष्ट हो जाता है। इन कारणो से सन्तोषी जीव ही सुखी है, ऐसा सिद्ध होता है। सन्तोष अध्यात्म मे ही होता है। अत अध्यात्म ही सुख का मूल कारण है। इसीलिए कहते है

य किलाशिक्षिताध्यात्मशास्त्र पाण्डित्यमिच्छति ।
उत्क्षिपत्यंगुलीं पगु स स्वर्द्रुफललिप्सया ॥११॥

जो मनुष्य अध्यात्मशास्त्र का अध्ययन किये बिना ही विद्वत्ता-पाण्डित्य चाहता है, वह उस पगु के समान है, जो कल्पवृक्ष के फल लेने की इच्छा से उंगली ऊँची करता है।

जिसने अध्यात्मशास्त्र का अध्ययन नही किया, किन्तु चाहता है-विद्वत्ता, उसकी हालत उसी तरह हास्यास्पद होती है, जिस तरह

पृथ्वी पर स्थित कोई लगडा, स्वर्ग मे स्थित कल्पवृक्ष के फल पाने के लिए उगली ऊँची करता है, किन्तु वह फलप्राप्ति नही कर सकता, प्रत्युत उपहास का पात्र वनता है, वैसे ही आध्यात्मशास्त्र के अभ्यास के विना विद्वान् पुरुप भी मोक्षफल प्राप्त नही कर सकता और उपहास का पात्र वनता है। अव अध्यात्म का प्रभाव कहते है

दम्भपर्वतदंभोलि. सौहार्दाम्बुधिचन्द्रमा ।
अध्यात्मशास्त्रमुत्ताल-मोहजालवनानल ॥१२॥

अध्यात्मशास्त्र दभ (कपट) रूपी पर्वत को चकनाचूर करने मे वज्र के समान है, समस्त जीवो के प्रति मैत्रीभावरूपी समुद्र की तरगो को वढाने मे चन्द्रमा के समान है और विकट महामोहजालरूपी वन को जलाने मे दावानल के समान है।

अध्वा धर्मस्य सुस्थ स्यात्पापचौर' पलायते ।
अध्यात्मशास्त्र-सौराज्ये न स्यात्कश्चिदुपप्लव ॥१३॥

अध्यात्मशास्त्ररूपी सुराज्य प्राप्त होने पर धर्म का मार्ग सरल हो जाता है, पापरूपी चोर भाग जाता है तथा किसी प्रकार का उपद्रव नही होता है।

येषामध्यात्मशास्त्रार्थतत्त्वं परिणतं हृदि ।
कषाय-विषयावेश-क्लेशस्तेषां न कर्हिचित् ॥१४॥

जिनके हृदय मे आध्यात्मशास्त्र के भावार्थ का तत्व (रहस्य) पच (परिणत हो) गया है, उन्हे कभी क्रोधादि कषायो का क्लेश (परिताप) नही होता। क्योकि वे अपने मन और इन्द्रियो को अपने कावू मे रखते हैं।

निर्दय कामचण्डाल. पण्डितानपि पीडयेत् ।
यदि नाध्यात्मशास्त्रार्थबोध-योधकृपा भवेत् ॥१५॥

यदि अध्यात्मशास्त्र के अर्थवोध-रूपी योद्धा की सहानुभूति (कृपा) न हो तो निर्दय काम-चाडाल पडितजनो को भी पीडित कर देता है। अर्थात् न्याय-व्याकरण आदि शास्त्रो के पण्डित भी वालचेष्टा के समान कामक्रीडा करते देखे जाते हैं, तो फिर मामूली आदमियो की तो वात ही क्या ?

विषवल्लिसमां तृष्णां वर्धमानां मनोवने ।
अध्यात्मशास्त्रदात्रेण छिन्दन्ति परमर्षय ॥१६॥

परमऋषिराज अध्यात्मशास्त्ररूपी हसिये से मनरूपी वन मे विषलता के समान बढती हुई तृष्णा का छेदन कर देते है।

वने वेश्म धनं दौस्थ्ये तेजो ध्वान्ते जलं मरौ ।
दुरापमाप्यते धन्यै कलावध्यात्मवाड्मयम् ॥१७॥

जैसे वन मे घर, निर्धनता मे धन, अन्धकार मे दीपक और मरुभूमि मे जल की प्राप्ति अतिदुर्लभ है, वैसे ही इस कलियुग मे अध्यात्मशास्त्र की प्राप्ति दुर्लभ है, वह किसी विरले ही भाग्यशाली को मिलता है।

वेदाऽन्यशास्त्रवित् क्लेशं रसमध्यात्मशास्त्रवित् ।
भाग्यभृद् भोगमाप्नोति वहते चदन खर ॥१८॥

वेद आदि अन्य शास्त्रो का ज्ञाता क्लेश का ही अनुभव करता है, जबकि अध्यात्मशास्त्र का ज्ञाता अनुभव-रसामृत का आस्वादन करता है। जैसे गधा तो केवल चन्दन के भार को ही ढोता रहता है, भाग्यशाली पुरुष ही उस चन्दन का उपयोग करता है।

भुजास्फालन-हस्तास्य-विकाराभिनया परे ।
अध्यात्मशास्त्रविज्ञास्तु वदन्त्यविकृतेक्षणा ॥१९॥

अन्य शास्त्रो के ज्ञाता जब उपदेश भाषण देते हैं, तब भुजाएँ जोर से फटकारते हैं तथा मुँह आदि का विकृत चेष्टाओ द्वारा अभिनय करते है, परन्तु अध्यात्मशास्त्र के ज्ञाता अन्य अगो का विकृत करना तो दूर रहा, आँखो को भी मटकाए बिना स्वाभाविक रूप से बोलते है।

अध्यात्मशास्त्रहेमाद्रि-मथितादागमोदधे ।
भूयांसि गुणरत्नानि प्राप्यते विबुधैर्न किम् ? ॥२०॥

क्या अध्यात्म-शास्त्ररूपी मेरुपर्वत से आगम-समुद्र का मथन करके विद्वान् अनेक गुणरूपी रत्नो को नही पाते हैं ? अवश्य पाते हैं।

रसो भोगावधि कामे सद्भक्ष्ये भोजनावधि ।
अध्यात्मशास्त्र-सेवायामसौ निरवधि पुन ॥२१॥

कामविषयकरस सम्भोग के समय तक रहता है, स्वादिष्ट आहार का स्वाद भोजन करते समय ही रहता है, किन्तु अध्यात्मशास्त्र का सेवन करने पर जो रस मिलता है, उसके स्थायित्व की तो सीमा ही नहीं है।

कुतर्कग्रन्थ - सर्वस्व - गर्वज्वरविकारिणी।
एति दृग् निर्मलीभावमध्यात्मग्रन्थभेषजात् ॥२२॥

कुतर्क-ग्रन्थों के अधिकारपूर्वक ज्ञान से तो प्रायः अहकाररूपी ज्वर से दृष्टि विकारी हो जाती है, जबकि अध्यात्म-ग्रन्थरूपी औषध से दृष्टि निर्मल होती है। अध्यात्मशास्त्र से दृष्टि मे शोधकत्व गुण प्रगट होता है, इसके अभ्यास से निर्विकारत्व प्राप्त होता है, जिसमे अभिमानरूपी ज्वर शान्त हो जाता है। इसलिए यह अध्यात्मशास्त्र औषधरूप है।

धनिनां पुत्रदारादि यथा संसारवृद्धये।
तथा पाण्डित्यदृप्तानां शास्त्रमध्यात्मवर्जितम् ॥२३॥

जैसे धनिको के लिए स्त्री-पुत्र-परिवार आदि ससारवृद्धि के लिए होते हैं, उसी प्रकार विद्वत्ता के अभिमानी लोगों के लिए अध्यात्मशून्य अन्य शास्त्र भी ससारवृद्धि के कारण होते हैं।

अध्येतव्य तदध्यात्मशास्त्र भाव्य पुन पुन ।
अनुष्ठेयस्तदर्थश्च देयो योग्यस्य कस्यचित् ॥२४॥

इसलिए मुमुक्षु आत्मा को अध्यात्म-शास्त्र का अध्ययन करना चाहिए, बार-बार उसका चिन्तन-मनन करना चाहिए, उसके परमार्थ को हृदयगम करना चाहिए, उसमे बताए हुए व्यवहारो का आचरण करना चाहिए, और कोई योग्य जिज्ञासु व्यक्ति मिल जाए तो उसे परमार्थ समझाना चाहिए।

॥ इत्यध्यात्मसार-माहात्म्याधिकार ॥

अध्यात्म का स्वरूप

भगवन् ! किं तदध्यात्मं यदित्थमुपवर्ण्यते ।
शृणु, वत्स ! यथाशास्त्रं वर्णयामि पुरस्तव ॥१॥

'भगवन् ! जिसके माहात्म्य का आपने वर्णन किया है, वह अध्यात्म क्या है ?' इस प्रकार शिष्य के प्रश्न करने पर गुरुदेव उसका उत्तर देते है—'वत्स ! शास्त्र मे कहे अनुसार मैं तुम्हारे सामने अध्यात्म का वर्णन करता हूँ, उसे ध्यानपूर्वक सुनो।'

गतमोहाधिकाराणामात्मानमधिकृत्य या ।
प्रवर्तते क्रिया शुद्धा तदध्यात्मं जगुर्जिनाः ॥२॥

जिनके मोह का सामर्थ्य नष्ट हो गया है, उनके द्वारा आत्मा को लक्ष्य करके जो शुद्ध (निर्दोष) क्रिया की जाती है, जिनेश्वरो ने उसे ही अध्यात्म कहा है।

मोहनीयकर्म से समुत्पन्न परिणामरूप मिथ्यात्वसामर्थ्य जिनका नष्ट हो गया है, अर्थात् सम्यक्त्वादिप्राप्ति के फलस्वरूप जिनकी भोगाशंसा, स्पृहादिक मोह या निरकुश प्रवृत्ति, या अज्ञान मन्द हो गए है, ऐसे व्यक्तियो द्वारा आत्मा के सहज स्वरूप एव आत्मशुद्धि का का आश्रय ले कर सर्वज्ञवचनानुसार मैत्री, करुणा, प्रमोद एव माध्यस्थ्य-भावना-पूर्वक जो ज्ञानयुक्त क्रियाएँ (जैसे कि व्रत-नियम का पालन, देव-गुरु-वंदन, आवश्यक क्रिया, तप, दान आदि) की जाती है, क्रिया-ज्ञानरूप उसी शुद्ध परिणाम को ही श्रीजिनेश्वरो ने अध्यात्म कहा है।

सामायिकं यथा सर्वचारित्रेष्वनुवृत्तिमत् ।
अध्यात्मं सर्वयोगेषु तथानुगतमिष्यते ॥३॥

जैसे सभी प्रकार के चारित्रो मे सामायिक सहचारी है, वैसे ही समस्त योगो मे अध्यात्म का सहगामी होना अभीप्सित है।

सामायिक, छेदोपस्थापनीय, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्म-सपराय और यथाख्यात ये पॉच प्रकार के चारित्र हैं। इन सबमे सामायिक सहयोगी है, इसके बिना चारित्र चारित्र नही है। इसी प्रकार सब योगो मे अर्थात् मोक्ष-साधक ज्ञान-क्रिया आदि सभी व्यापारो मे अध्यात्म का सहचारी होना अनिवार्य है, निष्कर्ष यह है कि अध्यात्म के विना कोई भी धर्मानुष्ठान मोक्षसाधक नही होता।

अपुनर्बन्धकाद्यावद् गुणस्थानं चतुर्दशम् ।
क्रमशुद्धिमती तावत् क्रियाध्यात्ममयी मता ॥४॥

अपुनर्वन्धक नामक चौथे गुणस्थानक से ले कर चौदहवे गुणस्थानक तक क्रमश जो उत्तरोत्तर अधिकाधिक विशुद्ध क्रिया होती है, वह सब क्रिया अध्यात्ममयी ही मानी जाती है।

जिस गुणस्थान मे जीव पुन तीव्रपरिणामपूर्वक पापकर्मो का वन्धन नही करता, उसे अपुनर्वन्धक कहते है। यह चौथा गुणस्थान है, जहॉ अनन्तानुवन्धी कषाय का उदय न होने से तीव्र पापकर्म का परिणाम नही होता। इस गुणस्थान मे ले कर अयोगीकेवली नामक चौदहवे गुणस्थान तक उत्तरोत्तर क्रमश शुद्धियुक्त क्रिया होती है। यानी जैसे-जैसे कषायो का ह्रास होता जाता है, वैसे-वैसे शुभ, शुभतर और शुभतम परिणामो से ज्ञान की निर्मलता व क्रिया की वहुमानता से उत्तरोत्तर गुणस्थान के आरोहण के कारण जो क्रमश उज्ज्वल शुभतरपरिणामो से युक्त क्रिया होती है, उस समस्त क्रिया को जिनेश्वरो ने अध्यात्ममयी-अध्यात्मरूप ही मानी है।

आहारोपधिपूजर्द्धि-गौरवप्रतिबन्धत ।
भवाभिनन्दी यां कुर्यात् क्रियां साध्यात्मवैरिणी ॥५॥

आहार, उपधि, पूजा, ऋद्धि एव गौरव (प्रसिद्धि आदि) के

प्रतिबन्ध से (प्राप्ति की इच्छा को ले कर) भवाभिनंदी जो क्रिया करता है, वह सब क्रिया अध्यात्म की वैरिणी कहलाती है।

भवाभिनन्दी जीव तपस्या, व्रतपालन आदि जो भी क्रिया अनुष्ठान करता है, वह सब स्वादिष्ट उत्तम रसदार भोजन की इच्छा से, सुन्दर से सुन्दर वस्त्रपात्र आदि की प्राप्ति की इच्छा से, भक्तजनों द्वारा पूजा, भक्ति, मान-प्रतिष्ठा आदि की प्राप्ति के लिए, तथा अपना उत्कर्ष और दूसरो के अपकर्षरूप प्रभाववृद्धि की इच्छा से गर्वपूर्वक करता है, अत यह सब क्रिया ससार की वृद्धिरूप होती है। अत इसे अध्यात्म का नाश करने वाली वैरिणी क्रिया समझना चाहिए।

क्षुद्रोलोभरतिर्दीनो मत्सरी भयवान् शठ ।
अज्ञो भवाभिनंदी स्यात् निष्फलारम्भसगत ॥६॥

क्षुद्र, लोभी, दीन, ईर्ष्यालु, भयभीत, शठ, अज्ञानी और अकारण पापारम्भ करने वाला जीव भवाभिनन्दी होता है।

क्षुद्र यानी तुच्छ स्वभाववाला, जो जरा-से लाभ के लिए बडा भारी नुकसान कर बैठता है। लोभरति का अर्थ है–परधन, परस्त्री तथा विषयो की प्राप्ति मे आसक्त हो। दीन यानी परमुख देख कर दु खी या दीनता करने वाला। मत्सरी यानी ईर्ष्यालु, दूसरो का वैभव देख कर डाह करने वाला, भयवान् तप, व्रत आदि करने मे शारीरिक दुर्बलता व कष्ट आदि से घबराने वाला। शठ मायावी, दम्भी। अज्ञ यानी जीवादि तत्वो से अनभिज्ञ, अश्रद्धालु, अज्ञानी एव निष्फलारम्भी निष्प्रयोजन पापारम्भ या नि शक हो कर अयोग्य या जीवहिंसादि कार्य करने वाला भवाभिनन्दी जीव होता है, जिसे अध्यात्म का शत्रु समझना चाहिए।

शान्तो दान्त सदा गुप्तो मोक्षार्थी विश्ववत्सल ।
निर्दम्भा यां क्रिया कुर्यात् साध्यात्मगुणवृद्धये ॥७॥

शान्त, दान्त, सदा गुप्तेन्द्रिय, विश्व के प्रति वत्सल, मोक्षार्थी, साधक जो भी दम्भरहित क्रिया करता है, वह आध्यात्मिक गुणो की वृद्धि के लिए होती है।

कषायों के उदय को रोकने से शान्त-वृत्ति वाला, मन और इन्द्रियों का दमन करने वाला, मन-वचन-काया की अशुभ प्रवृत्ति का सतत निवारण करने से गुप्त, सर्वकर्मों के क्षयरूप मोक्ष का अभिलाषी, जीवमात्र का हितैषी साधक आवश्यक आदि क्रियाएँ मायाप्रपंचरहित हो कर करता है अथवा निष्काम क्रियाएँ करता है, वे सब क्रियाएँ अध्यात्मरूप हैं और निःस्पृहतादि गुणों की वृद्धि करती हैं।

अतएव जनः पृच्छोत्पन्नसंज्ञः पिपृच्छिषुः ।
साधुपार्श्वे जिगमिषुर्धर्मं पृच्छन् क्रियास्थितः ॥८॥

प्रतिपित्सुः सृजन् पूर्वं प्रतिपन्नश्च दर्शनं ।
श्राद्धो यतिश्च त्रिविधोऽनन्तांशक्षपकस्तथा ॥९॥

दृग्मोहक्षपको मोहशमकः शान्तमोहकः ।
क्षपकः क्षीणमोहश्च जिनोऽयोगी च केवली ॥१०॥

इसी कारण प्रश्न पूछने की बुद्धिवाला भव्यप्राणी, प्रश्न पूछने का इच्छुक, साधुसन्तों के पास जाने का इच्छुक, धर्मजिज्ञासु, धर्मप्राप्ति का अभिलाषी, पूर्वप्राप्तदर्शन का सृजन-सम्पादनकर्ता (सम्यक्त्व नामक प्रथम गुणश्रेणी), श्राद्ध श्रावक (द्वितीय गुणश्रेणी), साधु (तीसरी गुणश्रेणी), तथा तीन प्रकार का अनन्तांशक्षपक, (चौथा गुणश्रेणी), दर्शनमोहनीय का क्षपक (पञ्चमगुणश्रेणी), मोहशमक (छठी श्रेणी) शान्तमोह (सातवीं श्रेणी), क्षपक (८वीं श्रेणी), क्षीणमोह (९वीं श्रेणी), जिन (१०वीं श्रेणी) और अयोगीकेवली (११वीं श्रेणी), इस प्रकार क्रमशः ११ गुणश्रेणियों तक उत्तरोत्तर अध्यात्मगुणवृद्धि होती है।

इस अधिकार के चौथे श्लोक में बताया गया था कि अपुनर्बन्धक (चतुर्थ गुणस्थान) से ले कर चौदहवें गुणस्थान तक शुद्धक्रिया उत्तरोत्तर अधिक शुद्धि वाली होती है, उसी के सन्दर्भ में स्पष्टीकरण करते हैं- 'सर्वप्रथम भव्यजीव की बुद्धि में यह प्रश्न करने का विचार उठता है कि 'धर्मरूपी पदार्थ क्या है ?' बुद्धि में इस प्रकार का विचार ही धर्म विषयक अजिज्ञासुओं की अपेक्षा असंख्यगुनी कर्मनिर्जरा अधिक होने

पर ही पैदा होता है, इससे पहले नही। इसी प्रकार धर्मस्वरूप के सम्बन्ध में पूछने का इच्छुक भी पहले की अपेक्षा असख्यगुनी निर्जरा अधिक होने पर ही होता है। इससे भी असख्यगुनी निर्जरा अधिक होने पर साधु के पास जाने का इच्छुक बनता है। इससे भी असख्यगुण-निर्जरा हो जाने पर धर्म के स्वरूप, उसके भेद तथा लक्षण इत्यादि पूछने के लिए उद्यत होता है। इससे भी असंख्यगुनी कर्मनिर्जरा अधिक होती है, तब जा कर भव्यप्राणी को धर्म का स्वीकार करने की इच्छा होती है। इससे भी असख्यगुनी कर्मनिर्जरा होने पर इस प्राणी ने पूर्व मे भूतकाल मे जिस सम्यक्त्व को प्राप्त किया था उसका श्रद्धा व आदर के साथ शकादि से रहित हो कर निर्मलतायुक्त सम्पादन करता है। इसे सम्यक्त्वनामक प्रथम गुणश्रेणी समझनी चाहिए। इसके बाद जीव श्राद्ध देशविरतिधर्म प्राप्त करता है, यह दूसरीश्रेणी, फिर सर्वविरति साधुधर्म प्राप्त करता है, यह तीसरी श्रेणी है। ये तीनो श्रेणियाँ औपशमिक और क्षायोपशमिक भाव को ले कर कही गई है। इसके बाद अविरति, देशविरति और सर्वविरति इन तीनो मे रहने वाला अनन्ताश अर्थात् अनन्तानुबन्धी क्रोधादि चारो कषायो का सत्ता (जड़मूल) से नाश करने वाला क्षपक होता है, इसे चौथी श्रेणी अनन्तानुबन्धीक्षपणरूप क्षायिकभाव की दृष्टि से बताई है। उसके बाद दर्शनमोहनीय का क्षपक यानी मोहनीयकर्म के मिथ्यात्व, मिश्र और सम्यक्त्व इन तीनो पुंजो को सत्ता से वियुक्त करने (मिटाने) वाली पांचवी गुणश्रेणी है। ये दोनो (चौथी व पाचवी) गुणश्रेणिया श्रेणी पर आरूढ नही हुए साधक के लिए समझनी चाहिए। इसके बाद मोहशमक यानी शेष रहे १२ कषाय और ६ नोकषायरूप चारित्र-मोहनीय का उपशम करने वाले यानी इनके उदय मे आने पर निरोध करने वाले नौवे-दशवे गुणस्थान मे स्थित साधक की छठी गुणश्रेणी जानना। इसके पश्चात् जिसने समग्र चारित्रमोहनीय कर्म को शान्त (उदय का अभाव) कर दिया है उस शान्तमोह नामक ग्यारहवे गुणस्थान मे स्थित साधक की सातवी गुणश्रेणी समझना। फिर चारित्रमोहनीय कर्म की सत्ता का क्षय करने वाले क्षपक यानी नौवे-दशवे गुणस्थान मे स्थित साधक की आठवी गुणश्रेणी समझना।

तदनन्तर चारित्रमोहनीय कर्म को जिसने सत्ता से नष्ट कर दिया है, उस क्षीणमोह नामक १२वे गुणस्थान मे स्थित साधक को नौवी गुणश्रेणी का समझना। फिर दशवी गुणश्रेणी मे आते हैं रागद्वेप के विजेता, १३वे गुणस्थान-स्थित सयोगीकेवली। तत्पश्चात् १४वी गुणश्रेणी मे अयोगीकेवली आते है, जिनके मन-वचन-काया के समस्त शुभाशुभव्यापार का सर्वथा निरोध हो जाता है। वे १४वे गुणस्थान मे स्थित सिद्ध परमात्मा होते है। इस प्रकार ये ग्यारह गुणश्रेणियाँ होती है।

यथाक्रममभी प्रोक्ता, असख्यगुणनिर्जरा ।
यतितव्यमतोऽध्यात्म-वृद्धये कलयापि हि ॥११॥

इस प्रकार ये क्रमश ११ गुणश्रेणियाँ उत्तरोत्तर असख्यगुण निर्जरा वाली कही गई है। अत अध्यात्मवृद्धि के लिए-इनका अभ्यास-पूर्वक प्रयत्न करना चाहिए।

पूर्वोक्त परिपाटी के अनुसार सम्यक्त्व आदि ग्यारह श्रेणियाँ क्रमश उत्तरोत्तर असख्यगुनी निर्जरा वाली तीर्थकरो ने कही है। इस कारण अध्यात्म (यानी जिस किसी तरह से आत्मशुद्धि) मे वृद्धि करने के लिए इनका अभ्यास करने मे प्रवृत्त होना चाहिए। कदाचित् शुद्धभाव की प्राप्ति न भी हुई हो, फिर भी ज्ञान-क्रिया की शुद्धि के लिए आवश्यक, प्रत्युपेक्षण, अध्ययन-अध्यापन एव भावना आदि मे वारवार प्रवृत्ति करनी चाहिए।

ज्ञान शुद्ध क्रिया शुद्धेत्यशौ द्वाविह सगतो ।
चक्रे महारथस्येव, पक्षाविव पतत्रिण ॥१२॥

महारथ के दोनो चक्रो (पहियो) की तरह तथा पक्षी की दोनो पाखो की तरह शुद्ध ज्ञान और शुद्ध क्रिया, ये दोनो अश अध्यात्म मे एक दूसरे के साथ घुलेमिले हे परस्पर सलग्न है।

शुद्ध (सशय, विपर्यय, अनध्यवसाय, एव आप्त-जिनवचन मे विरुद्ध प्ररूपणा आदि दोषो मे रहित) ज्ञान वोधपरिणति, तथा शुद्ध (निदान, आशसा, दूसरे के उत्कर्ष और निन्दादि दोषो से रहित) क्रिया=साधु-

श्रावक वर्ग का समग्र समाचारी-व्यवहार, ये दोनो अध्यात्मप्राप्ति मे सतत सयुक्त हो कर एकात्मभाव से रहते है। इन दोनो मे से एक न हो तो दूसरे का भी अभाव समझना चाहिए। जिनशासन मे अकेले ज्ञान या अकेली क्रिया से मोक्ष नही माना गया है। और आत्मा का आश्रय न होने से जो मोक्षसाधक नही है, वह अध्यात्म भी नही है। अत. अध्यात्म ज्ञान और क्रिया दोनो से युक्त ही कहलाता है। जैसे युद्धादिक्रिया मे समर्थ महारथ दो पहियो से युक्त हो, तभी अभीप्ट स्थान पर पहुचने आदि कार्य मे साधक हो सकता है, अथवा पक्षी के दोनो पाँखे ठीक हो, तभी वह आकाश मे गति आदि क्रिया कर सकता है इसी प्रकार शुद्ध ज्ञान और शुद्ध क्रिया से युक्त अध्यात्म ही मोक्षसाधक होता है।

तत्पंचमगुणस्थानादारभ्यैवेतदिच्छति ।
निश्चयो व्यवहारस्तु पूर्वमप्युपचारत ॥१३॥

निश्चयनय की दृप्टि से अध्यात्म पचमगुणस्थान से ले कर ही माना जाता है, किन्तु व्यवहारनय की दृष्टि से तो इससे पूर्व (गुणस्थान) मे भी उपचार से अध्यात्म माना जाता है।

शब्दादि निश्चयनय पूर्वोक्त अध्यात्म को शुद्ध ज्ञानक्रियारूप होने से पाँचवे गुणस्थान से ही मानता है, इसके पूर्व नही। क्योकि पचमगुणस्थान से ही शुद्ध ज्ञान, शुद्ध प्रत्याख्यान आदि क्रिया से युक्त होता है और इन दोनो की एकता ही अध्यात्म है। नैगमादि व्यवहारनय तो उपचार से यानी कर्मरूप व्याधि के लिए औपधरूप साधुवन्दन, धर्मश्रवण आदि किया को देख कर चतुर्थ आदि गुणस्थान मे भी अध्यात्म मानता है। वास्तव मे शुद्ध यानी आशसादि दोपरहित प्रत्याख्यानरूप अथवा अप्रत्याख्यानरूप क्रिया से युक्त शुद्ध ज्ञान ही अध्यात्म है, क्योकि वह शुद्ध ज्ञान-क्रिया आत्मा को ले कर होती है। यदि अशुद्ध ज्ञान-क्रिया का कर्ता कदाग्रहरहित व धर्मप्रिय हो तो उसे भी अभ्यास से अध्यात्म प्राप्त हो जाता है। किन्तु कदाग्रह-रहित व धर्मप्रिय न हो तो समझ लेना चाहिए कि उसमे अध्यात्म है ही नही।

चतुर्थेऽपि गुणस्थाने, शुश्रूषाद्या क्रियोचिता।
अप्राप्तस्वर्णभूषाणां, रजताभूषणं यथा ॥१४॥

जिसे सोने के आभूषण नहीं मिलते, उसके लिए जिस प्रकार चाँदी के आभूषण भी आभूषण ही कहलाते हैं, उसी प्रकार चौथे गुणस्थान में भी वैसी उच्च क्रिया न हो तो भी उस गुणस्थानक के योग्य अविरति-सम्यग्दृष्टि नामक चौथे गुणस्थान में भी देव-गुरु की सेवा, धर्मश्रवण की इच्छा, विनय, वैयावृत्य, दान इत्यादि उचित क्रियाएँ होती हैं। इसलिए चौथे गुणस्थान में भी अध्यात्म मानें तो कोई आपत्ति नहीं। जिसके पास सोने के गहने न हों, उसके चाँदी के गहने भी गहने ही कहलाते हैं, वैसे ही जिसे बड़े प्रत्याख्यान की क्रिया प्राप्त न हुई हो, उसे प्राप्त शुश्रूषा आदि उचित क्रिया भी अध्यात्म ही कहलाएगी।

अपुनर्बन्धकस्यापि या क्रिया शमसंयुता।
चित्रा दर्शनभेदेन धर्म-विघ्नक्षयाय सा ॥१५॥

विविध दर्शनों (या धर्मपन्थों) के अनुसार अपुनर्बन्धक में भी जो शमयुक्त अनेकविध (विचित्र) क्रियाएँ दिखाई देती हैं, वे भी धर्म-प्राप्ति में होने वाले विघ्न को नष्ट करने के लिए होती हैं।

अपुनर्बन्धक उसे कहते हैं, जो पुनः तीव्र अध्यवसाय से पापकर्म न बाँधे। यहाँ अपुनर्बन्धक (जिसका संसार एक पुद्गलपरावर्त शेष रहा है, ऐसे) का अर्थ चरमपुद्गलपरावर्त में स्थित मार्गानुसारी ही संभव है, सम्यग्दृष्टि नहीं। क्योंकि आगे जो बात कहनी है, वह सम्यग्दृष्टि में घटित नहीं होती। अतः उसे मार्गानुसारी ही समझना अभीष्ट है। उस मार्गानुसारी की शम (आन्तरवृत्ति के दमन) से युक्त अथवा अन्वय-व्यतिरेक की दृष्टि से युक्त क्रियाएँ, सांख्य, बौद्ध, वैशेषिक आदि दर्शनों के मतभेदों के कारण व्यवहार में पंचाग्नि तप आदि नाना प्रकार की विचित्र क्रियाओं के रूप में दृष्टिगोचर होती हैं, वे क्रियाएँ भी मोक्षसाधक प्राणियों के लिए सम्यक्त्वप्राप्तिरूप धर्म में विघ्न-कारक क्लिष्टरागादि का क्षय करने वाली होती हैं, इसलिए वे क्रियाएँ भी भविष्य में अध्यात्म का कारण होती हैं।

अशुद्धाऽपि हि शुद्धाया क्रियाहेतु सदाशयात् ।
ताम्रं रसानुवेधेन स्वर्णत्वमधिगच्छति ॥१६॥

अशुद्ध क्रिया भी अच्छे आशय (परिणाम) से की जाय तो वह शुद्धक्रिया की कारण बन जाती है। जैसे तांबे को गला कर उसमे पारे आदि के रस का अनुवेध करने से वह स्वर्णत्व (सोने के रूप) को प्राप्त हो जाता है।

यद्यपि अशुद्धक्रिया सर्वज्ञकथित न होने से सावद्य (सदोष) है, तथापि अपुनर्बन्धक मार्गानुसारी द्वारा स्वीकृत क्रिया यदि मोक्ष की अभिलाषारूप शुद्ध परिणाम (अध्यवसाय) से की जाती है, तो वह क्रिया सर्वज्ञकथित शुद्धक्रिया की प्राप्ति का कारण बनती है। इसे दृष्टात द्वारा समझाते है—जैसे अशुद्ध तांवा सिद्ध पारे के रस वगैरह के अनुबन्धन से यानी अन्दर प्रविष्ट हो कर तांवे मे रहे हुए जल को चूस लेने से, शुद्ध सोना बन जाता है। उसी प्रकार शुद्ध परिणामरूपी रस मे रहे हुए जल मे अशुद्ध क्रिया भी शुद्ध क्रिया का कारण बन जाती है।

अतो मार्गप्रवेशाय, व्रत मिथ्यादृशामपि ।
द्रव्यसम्यक्त्वमारोप्य ददते धीरबुद्धय ॥१७॥

इस कारण से धर्ममार्ग मे प्रवेश कराने के लिए द्रव्य-सम्यक्त्व का आरोपण करके धैर्यसम्पन्न बुद्धि वाले महात्मा मिथ्यादृष्टियो को भी व्रत (चारित्र) देते है। शुद्ध आशय से अशुद्ध क्रिया भी शुद्ध क्रिया का कारण बनती है। ऐसी बात लक्ष्य मे रख कर श्रीजिनेश्वर-कथित रत्नत्रयरूप मार्ग मे प्रवेश कराने अर्थात् शुद्ध ज्ञान-क्रिया के दर्शन की इच्छा से हृदय मे स्फूर्ति पैदा करने के लिए अथवा उसमे प्रवृत्त करने के लिए मुनियो द्वारा या प्रदत्त रत्नत्रय का आचरित व्यवहार देख कर उस पर रुचि पैदा कर हृदय मे प्रवेश हो जाए, इसलिए द्रव्यसम्यक्त्व का आरोपण करके यानी ग्रन्थी का भेदन हुए विना ही सुदेव, सुगुरु और सद्धर्म के प्रति श्रद्धारूप सम्यक्त्व का उपदेश द्वारा आरोपण करके बुद्धि द्वारा ग्रहण करा कर यथार्थ वस्तु को ग्रहण कराने मे विपरीत

परिणाम वाले मिथ्या-दृष्टियो को भी धीरबुद्धि महात्माओं ने दीक्षा दी है। आर्यश्री सुहस्तिसूरी ने एक भिक्षु को और आर्यरक्षितसूरी ने अपने पिता सोमदेवादि मिथ्यात्वी को भी दीक्षा दी थी। क्योंकि इसी प्रकार उनका शुद्ध मार्ग मे प्रवेश हो सकता था।

यो बुद्ध्वा भवनैर्गुण्य, धीर स्याद् व्रतपालने।
स योग्यो भावभेदस्तु दुर्लक्ष्यो नोपयुज्यते ॥१८॥

जो जीव ससार की निर्गुणात्मक नि सारता समझ कर व्रतपालन करने मे धीर होता है, उसे ही योग्य जानना। आन्तरिक भावो का रहस्य जानना दुष्कर है, इसलिए यहाँ उसका उपयोग नही करना चाहिए।

यदि कोई भव्यजीव गुरु का उपदेशश्रवण आदि करके ससार की निर्गुणता यानी सुखादिगुणो से रहित होने से नि सारात्मक समझ कर महाव्रतपालन करने मे निश्चल (समर्थ) हो उसे दीक्षा देने योग्य समझना चाहिए। परन्तु भावभेद अर्थात् इस जीव का ग्रन्थीभेद हुआ या नही ? यह कौन से गुणस्थान मे है ? इत्यादि आन्तरिक भावो का रहस्य जानना अशक्य है। इसलिए इसका उपयोग नही करना चाहिए, क्योकि वह दीक्षारूप ईष्टसाधन मे अनुकूल प्रतीत नही होता है।

नो चेद् भावापरिज्ञानात् सिद्ध्यसिद्धिपराहते.।
दीक्षाऽदानेन, भव्यानां मार्गोच्छेद प्रसज्यते ॥१९॥

यदि पूर्वोक्तरूप से योग्यता का स्वीकार नही किया जाय तो किसी के आन्तरिक भावो को नही जानने के कारण सिद्धि और असिद्धि दोनो का नाश हो जायगा और इससे भव्यजीवो को (पहिचान न होने के कारण) दीक्षा नही दी जा सकेगी। इस प्रकार मार्ग का उच्छेद लोप हो जायगा।

यदि पहले कहे अनुसार भद्रपरिणामी आदि जीव को दीक्षा देने का स्वीकार न करे, यानी उसे दीक्षा देने का निषेध किया जाए तो भावो (गुणस्थान के योग्य परिणामो) को न जानने के कारण यानी

योग्यता-अयोग्यता का निर्णय करना छद्मस्थ के लिए अशक्य होने से भव्य जीवो को दीक्षा देने मे अनादर बताने पर सिद्ध चतुर्थादि गुणस्थान का अनिश्चय और असिद्ध प्रथमादि गुणस्थान का निश्चय इन दोनो के तिरस्कार का प्रतिबन्ध अथवा छद्मस्थ अवस्था के कारण व्याघात यानी स्पष्टता के न होने से दोनो के व्रतदान (दीक्षादान) का निषेध होने मे मार्गोच्छेद=धर्ममार्गलोप हो जाएगा।

अशुद्धाऽनादरेऽभ्यासायोगान्नो दर्शनाद्यपि।
सिद्ध्येन्निसर्गजं मुक्त्वा तदप्याभ्यासिकं यत ॥२०॥

अशुद्ध (मिथ्यादृष्टि) का अनादर करने पर और शुद्ध योग का अभ्यास प्राप्त न होने से सिर्फ एक निसर्गज (स्वाभाविक) सम्यक्त्व को छोड कर दूसरे दर्शन आदि भी सिद्ध नही होगे। क्योकि वे दर्शन आदि भी अभ्यास से ही साध्य (प्राप्त) होते हैं।

अशुद्ध अर्थात् मिथ्यादृष्टि का अनादर करने से उन्हे व्रतादि देने का त्याग करने से प्रतिदिन धर्मक्रियाओ मे अप्रवृत्ति के कारण उपदेशादि के विना केवल स्वभाव (निसर्ग) से ही उत्पन्न सम्यक्त्व को छोड कर अधिगम-सम्यक्त्व, श्रुतप्राप्ति आदि भी सिद्ध नही होगे, तब फिर देशविरति आदि प्राप्त ही कहाँ से हो सकते है? क्योकि अधिगम-सम्यक्त्व आदि भी जीव को अनेक जन्मो के अभ्यासवश प्राप्त होते है।

शुद्धमार्गानुरागेणाशठानां या तु शुद्धता।
गुणवत्परतंत्राणां सा न क्वापि विहन्यते ॥२१॥

सर्वज्ञकथित शुद्ध मुक्तिमार्ग के प्रति अनुराग के कारण कपट-दम्भादि-रहित तथा ज्ञानी गुणवान बहुश्रुत गुरु के अधीन हो कर जो धर्मप्रिय मार्गानुसारी पुरुष प्रवृत्ति करते है, उस समय उनमे मिथ्यात्व-कषायादि को मन्द करने के रूप मे जो शुद्धता (निर्मलता) है, वह तो किसी भी दर्शन (मत-पथ) मे नष्ट नही होती। तब फिर जिनमत मे प्रवृत्त धर्मप्रिय जनो की शुद्धता नष्ट न हो, इसमे तो कहना ही क्या?

विषयात्मानुबन्धैर्हि त्रिधा शुद्धं यथोत्तरम्।
ब्रुवते कर्म तत्राद्यं मुक्त्यर्थं पतनाद्यपि ॥२२॥

विषय आत्मा और अनुबन्ध, इन तीनो को ले कर कर्म (क्रिया) तीन प्रकार के हैं और वे उत्तरोत्तर शुद्ध है। इन तीनो में प्रथम विषय-कर्म कहा गया है मुक्ति के लिए पर्वतादि के गिरना।

कर्म (क्रिया) तीन प्रकार के है (१) विषय, (२) आत्मा और (३) अनुबन्ध। ये तीनो उत्तरोत्तर शुद्ध है। इनमे मे से प्रथम कर्म पर्वत आदि पर से भृगुपातादि करना यानी नीचे गिरना, अग्निप्रवेश करना, जल मे डूब कर समाधि ले लेना आदि विषयकर्म है। इस मत के मानने वाले कहते हैं कि इस प्रकार के कर्म मोक्ष के लिए होते हैं।

अज्ञानिनां द्वितीय तु लोकदृष्ट्या यमादिकम्।
तृतीयं शान्तवृत्त्या तत्तत्वसंवेदनानुगम् ॥२३॥

दूसरा कर्म है--लोकदृष्टि से यम, नियम आदि। वह अज्ञानियो का होता है। और तीसरा कर्म शान्तवृत्ति से उन-उन तत्वो के ज्ञान का अनुसरण करने वाला होता है। अर्थात् वह अनुबन्धकर्म ज्ञानियो का ही होता है।

दूसरा आत्मकर्म लोकदृष्टि से यानी कुप्रवचन अथवा परिव्राजक आदि के अपने मतानुसार यम, नियम, ध्यान, आसन आदि होते हैं, जो जीवनपर्यन्त आत्मा को आरम्भ से निवृत्त करते हैं, इसी कारण इसे आत्मकर्म कहा जाता है, क्योकि यह कर्म ज्ञान के फल (मोक्षादि) से वर्जित अज्ञानियो के होता है।

और तीसरा कर्म आत्मस्वरूप के अनुकूल शान्त विषयकषायादि से रहित मन और इन्द्रियो की वृत्ति, आत्मस्वरूप की प्राप्तिरूप मोक्षादि के यथावस्थित ज्ञान का अनुकरण करने वाला होता है। अर्थात् वह कर्म ज्ञान के अनुरूप फल द्वारा साध्य के साथ व्याप्त होने से अनुबन्धकर्म कहलाता है। अब तीनो का फल कहते है

आद्यात्स्वाज्ञानबाहुल्यान्मोक्षबाधक - बाधनम्।
सद्भावाशयलेशेनोचितं जन्म परे जगुः ॥२४॥

अज्ञान की अधिकता के करण प्रथम कर्म मोक्ष मे वाधक रागादि को रोकने मे समर्थ नही होता। और कितने ही आचार्यों का कथन है कि वैराग्यादिसद्भाव वाला परिणाम लेशमात्र होने से वह उस परिणाम के अनुरूप (योग्य) जन्म प्राप्त करता है।

प्रथम विषयकर्म में अज्ञान (कुबोध) की मात्रा अधिक होने से वह समस्त कर्मों के क्षयरूप मोक्ष मे वाधक रागद्वेपादि का नाश नही कर सकता। अर्थात् इस कर्म मे रागद्वेप को दूर करने की क्षमता नही होती। इस सम्बन्ध मे कुछ आचार्य कहते है--इस क्रिया का करने वाला आत्मा मोक्ष की अभिलापा से भावपूर्वक ही कर्म करता है। इसलिए इसमे सद्भाव का लेशमात्र भी यथार्थ है। उस सद्भाव से युक्त क्रिया के कारण उस आत्मा को अपने परिणाम के अनुरूप दूसरे जन्मो मे मोक्ष के अनुकूल कुल, जाति आदि स्थान मे या व्यन्तर आदि अथवा राजादि के रूप मे जन्म मिलता है। और वहाँ से वह क्रमश मोक्ष प्राप्त कर लेता है। इस तरह विपयकर्म भी मोक्षानुकूल क्रिया का कारण वन सकता है।

द्वितीयाद् दोषहानि स्यात् काचिन्मण्डूकचूर्णवत् ।
आत्यन्तिकी तृतीया तु गुरुलाघवचिन्तया ॥२५॥

दूसरे कर्म से मेढक के चूर्ण के समान कुछ दोपो की हानि (नाश) होती है। और तीसरे कर्म से तो गुरु-लाघव पर विचार करने से दोपो का आत्यन्तिक (सर्वथा) नाश (हानि) हो जाता है।

दूसरा आत्मकर्म मेंढक के सूक्ष्म चूर्ण के समान है। जैसे मेढक के शरीर का चूर्ण मिट्टी मे मिल जाता है। परन्तु जव वर्षा होती है, तव उस चूर्ण के प्रत्येक कण मे से अनेक मेढक पैदा हो जाते है, वैसे ही इस (आत्मकर्म) क्रिया से भी रागादिक का नाश तो हो जाता है, लेकिन इसके प्रभाव से पापानुवन्धी पुण्य के कारण साधक महान् ऋद्धिसिद्धि प्राप्त कर लेता है। फलत बाद मे अभिमान आदि का निमित्त मिलने पर इससे अनेक दोपो की वृद्धि होती है। और तीसरा अनुवन्ध कर्म तो गुरुलाघव-चिन्तन यानी लाभ-हानि का विचार करके होता है। जिस कर्म मे गुणो की वृद्धि और दोपो की कमी हो, उसी कर्म को मैं

करूँगा, इस प्रकार से गुणदोष का चिन्तन करके प्रवृत्ति करे तो दोष तो किसी समय जरा-सा हो जाय तो हो जाय, गुणों की ही प्राय: वृद्धि होती है। यानी इस कर्म मे दोषो का नाश ही अत्यधिक होता है।

अपि स्वरूपत शुद्धा क्रिया तस्माद् विशुद्धिकृत् ।
मौनीन्द्रव्यवहारेण मार्गबीजं दृढादरात् ॥२६॥

जिनेश्वरदेव के व्यवहार से जीव की जो स्वरूप से शुद्ध क्रिया होती है, वह विशुद्धि करने वाली होती है, इसलिए क्रिया के प्रति अत्यादर करने से जीव को मार्गबीज (सम्यक्त्व) की प्राप्ति होती है।

जिनेश्वरदेव द्वारा कथित व्यवहार का अर्थ है मोक्षसाधक शुद्ध क्रिया का आचार। उस कर्म (तृतीयकर्म- क्रिया) से जो पुरुष विशुद्धीकरण के लिए प्रवृत्त होता है, उसको स्वरूप स्वभाव से ही शुद्ध (क्रिया का आकार देखने से ही निर्मल-निर्दोष और सर्वजीव-सुखकारिणी) क्रिया प्राप्त होती है, जो निश्चय ही आत्मा को विशुद्ध करती है। इसलिए अतीव आदरपूर्वक शुद्ध क्रिया करने से रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग के बीज (सम्यक्त्व) की प्राप्ति होती है।

गुर्वाज्ञापारतन्त्र्येण द्रव्यदीक्षाग्रहादपि ।
वीर्योल्लासक्रमात्प्राप्ता बहव परमं पदम् ॥२७॥

गुरु की आज्ञा के आधीन रहने से द्रव्यदीक्षा ग्रहण करने पर भी बहुत से भव्य जीवों ने वीर्योल्लास (शक्तिवृद्धि) के क्रम से परम (मोक्ष) पद प्राप्त किया है।

जिन लोगो ने छठे गुणस्थानक के परिणाम को प्राप्त नही किया, रजोहरण आदि साधुवेश धारण करके केवल द्रव्यदीक्षा ले ली हो, परन्तु गुरु या श्रुतवृद्धो की आज्ञा पालन करते हैं, उनके अन्त करण मे क्रिया के प्रति रुचिरूप पराक्रम के उल्लास (वृद्धि) के क्रम से उत्तरोत्तर क्रियाशुद्धि प्राप्त हो जाने के कारण अनेक भव्य आत्माओ ने परमपद अर्थात् उत्कृष्ट आनन्दमय मोक्षपद पाया है तथा महाविदेह आदि क्षेत्र मे पाते हैं और पायेगे।

अध्यात्माभ्यासकालेऽपि क्रिया काप्येवमस्ति हि ।
शुभौघसंज्ञानुगतं ज्ञानमप्यस्ति किञ्चन ॥२८॥

अध्यात्मप्राप्ति के निकटकाल में भी कुछ क्रियाएँ रहती है और शुभ ओघ (सामान्य) सज्ञा के अनुकरण करने वाला कुछ ज्ञान भी रहता है।

अध्यात्मप्राप्ति के समीपकाल मे जब जीव का एक पुद्गल-परावर्त ससार अवशेष रहता है, तब चेतना आत्मा के सन्मुख हो जाती है, क्योकि अनेक पुद्गलपरावर्त ससार अवशेप रहता है, उस समय जीव चिरकाल तक दुर्गति मे ही रहता है। इसलिये उस समय चेतना आत्माभिमुख नही होती। इसलिए एक पुद्गल-परावर्त ससार बाकी रहता है, तब उसके द्वारा प्रेमभाव से सुदेव, सुगुरु को नमस्कार, सेवा आदि कुछ क्रिया होती है और शुभ ओघ सज्ञा-सामान्यतया धर्माभि-लाषा की परिणति के अनुरूप यानी ओघसज्ञा मे रमा हुआ कुछ आशिक ज्ञान भी होता है।

अतो ज्ञानक्रियारूपमध्यात्मं व्यवतिष्ठते।
एतत्प्रवर्धमानं स्यान्निर्दम्भाचारशालिनाम् ॥२८॥

इसलिए अध्यात्म ज्ञान और क्रिया दोनो रूपो मे रहता है। वह अध्यात्म निष्कपट आचार से सुशोभित साधको मे वृद्धिगत होता जाता है। हे शिष्य! पहले तुमने जिस अध्यात्म के विषय मे पूछा था, वह अध्यात्म अन्य विषयो को छोड़ कर ज्ञान और क्रिया इन दोनो मे ही व्याप्त रहता है। तथा वह अध्यात्मभाव यानी निष्कपट आचार धर्मव्यवहार से सम्पन्न महात्माओ के जीवन मे उत्तरोत्तर बढता जाता है।

इत्याध्यात्मस्वरूपाधिकार ॥२॥

दम्भ-त्याग

इससे पूर्व यह बताया गया कि दम्भरहित साधक ही अध्यात्मपथ में आगे बढ सकता है। अतः उसी सन्दर्भ में दम्भत्याग के सम्बन्ध में ग्रन्थकार कहते हैं

दंभो मुक्तिलतावह्निर्दम्भो राहु क्रियाविधौ।
दौर्भाग्यकारणं दंभो, दंभोऽध्यात्मसुखार्गला ॥१॥

दम्भ मुक्तिरूपी लता को जलाने के लिए अग्नि के समान है, दम्भ क्रियारूपी चन्द्रमा का राहु है, दम्भ दुर्भाग्य का कारण है और दम्भ अध्यात्मसुख की प्राप्ति में अर्गला के समान है।

कपटपूर्वक आचरण (दम्भ) समस्तकर्मक्षयरूपी मुक्तिलता-सर्वसुखरूपफलदात्री कल्पलता को जलाने वाली आग है, दम्भ धर्मरूपी चन्द्रमा को ग्रस कर मलिन करने वाले राहु के समान है, तथा दुर्भाग्यवृद्धि का कारण है। मायामय आचरण (दम्भ) अध्यात्मसुख को रोकने के लिए अर्गलावत् है। इस श्लोक में बार-बार दम्भ शब्द का प्रयोग उसकी अतिदुष्टता सूचित करने के लिए है।

दम्भोज्ञानाद्रिदम्भोलिर्दम्भ कामानले हविः।
व्यसनानां सुहृद्दम्भो, दंभश्चौरो व्रतश्रियः ॥

दम्भ ज्ञानरूपी पर्वत को भेदन करने के लिए वज्र के समान है, दम्भ कामाग्नि को उत्तेजित करने में हवि घी के समान है, दम्भ व्यसनों (बुराइयों) का मित्र है, दम्भ व्रतरूपी लक्ष्मी (शोभा) को हरण करने वाला चोर है।

दम्भेनव्रतमास्थाय यो वाञ्छति परं पदम्।
लोहनावं समारुह्य सोऽब्धेः पारं यियासति ॥३॥

जो मनुष्य दम्भपूर्वक महाव्रत (मुनिदीक्षा) या अणुव्रत ग्रहण करके परमपद मोक्ष चाहता है, वह ऐसा ही है जैसे कि कोई लोहे की नाव में बैठ कर समुद्र पार करना चाहे। लोहे की नौका पर चढ़ा हुआ व्यक्ति समुद्र में डूब जाता है, वैसे ही दम्भी संसार-समुद्र में डूब जाता है।

किं व्रतेन तपोभिर्वा, दम्भश्चेन्न निराकृतः।
किमादर्शेन किं दीपैर्यद्यान्ध्यं न दृशोर्गतम् ॥४॥

जिसने दम्भ का त्याग नहीं किया, उसके व्रत ग्रहण करने या विविध तप करने से क्या लाभ है? कुछ भी तो नहीं। अन्धे आदमी के लिये दर्पण और दीपक किस काम के? जिस प्रकार अन्धे के लिये ये दोनों निरुपयोगी हैं, उसी प्रकार दम्भी के लिये व्रत, तप आदि किसी काम के नहीं है, निरर्थक है।

केशलोच-धराशय्या-भिक्षा-ब्रह्मव्रतादिकम्।
दम्भेन दूष्यते सर्वं त्रासेनेव महामणिः ॥५॥

जिस प्रकार बहुमूल्य मणि में जरा-सा दाग (त्रास) लग जाय तो वह बिलकुल निकम्मा हो जाता है, वह अत्यन्त दूषित हो जाता है, इसी प्रकार साधुवेष धारण करके कोई व्यक्ति केशलोच करता हो, भूमि पर शयन करता हो, दोषरहित भिक्षा ग्रहण करता हो, ब्रह्मचर्य आदि महाव्रतों का पालन करता हो, विविध परिषह-उपसर्ग आदि सहन करता हो, लेकिन उसके जीवन में दम्भरूपी दाग हो तो मोक्ष-साधनरूपी उक्त सभी धर्म दूषित हो जाते हैं। उसकी उक्त सभी क्रियाएँ निकम्मी और निष्फल हो जाती है।

सुत्यजं रसलाम्पट्यं सुत्यजं देहभूषणम्।
सुत्यजाः कामभोगाश्च दुस्त्यजं दम्भसेवनम् ॥६॥

सुस्वादु आहार की रस-लोलुपता छोड़ना आसान है, शरीर का शृंगार भी छोड़ना सरल है। काम-भोगों को भी आसानी से छोड़ा जा सकता है, लेकिन दम्भ का त्याग करना अत्यन्त कठिन है।

स्वदोष-निह्नवो लोकः पूजा स्याद् गौरवं तथा।
इयतैव कदर्थ्यन्ते, दम्भेन बत बालिशाः ॥७॥

अपने दोषो को छिपाने वाले लोग यो सोचते है कि ऐसा करने से लोगो मे हमारी पूजा-प्रतिष्ठा होगी, हमारा गौरव बढेगा, लेकिन सचमुच वे मूर्ख इतने-से दम्भ से ही विडम्बना (फजीहत) पाते है।

अपनी आत्मा-प्रशसा आदि के लिए अपने दोषो को छिपाने (प्रगट न करने) वाला मनुष्य मन मे सोचता है कि इस प्रकार दम्भपूर्वक अपने दोषो को ढकने से गुणीजनो की तरह मेरी भी प्रसिद्धि हो जायगी। भक्तजन आहारादि से मेरा सत्कार करेगे। दुनिया मे लोग गुणवान की पूजा करते है, अत लोगो मे मेरा भी मान-सम्मान बढेगा, इज्जत होगी, अथवा मै भी महापुरुषो की पंक्ति मे गिना जाऊँगा। इतने से लाभ से सन्तुष्ट हो कर वह मूर्ख-शिरोमणि उस दम्भ मे अपनी फजीहत कराता है। जनता की आँखो मे धूल झोक कर अपनी बड़ाई चाहने वाला अपनी आत्मा को ही विडम्बित करता है, दुर्गति की काली धारा मे डूबता है।

असतीनां यथा शीलमशीलस्यैव वृद्धये।
दम्भेनाव्रतवृद्ध्यर्थं व्रतं वेषभृतां तथा ॥८॥

जैसे कुलटा स्त्रियो का शील दुराचार की ही वृद्धि के लिए होता है, वैसे ही कोरे वेशधारी साधुओ के व्रतग्रहण (दीक्षा) भी दम्भ के कारण अव्रत (पाप) की वृद्धि के हेतु होते है।

जानाना अपि दम्भस्य स्फुरितं बालिशा जना।
तत्रैव धृतविश्वासा प्रस्खलन्ति पदे-पदे ॥९॥

दम्भ (गूढ कपट) के परिणाम को स्पष्ट जानते हुए भी मूढजन उसी दम्भ मे ही विश्वास रख कर कदम-कदम पर स्खलित होते (चूकते) है, अथवा जगह-जगह तिरस्कृत-अपमानित होते है।

अहो मोहस्य माहात्म्यं दीक्षां भागवतीमपि।
दम्भेन यद्विलुम्पन्ति कज्जलेनेव रूपकम् ॥१०॥

अहो! मोहनीय कर्म का अद्भुत प्रभाव है कि जिस प्रकार काजल पोत कर कोई अपने असली चेहरे को काला श्याह कर लेता है, उसी प्रकार मूर्ख मनुष्य भी भागवती दीक्षा स्वीकार कर माया (कपट) से उसे दूषित कर देता है।

अब्जे हिमं तनौ रोगो, वने वह्निर्दिने निशा।
ग्रन्थे मौर्ख्यं कलि सौख्ये धर्मे दम्भ उपप्लवः ॥११॥

जैसे कमल पर हिमपात (पाला पड़ना), शरीर मे रोग, वन मे आग, दिन में रात (अंधेरा), ग्रन्थ के सम्बन्ध में मूर्खता और सुख के प्रसग मे क्लेश उपद्रवरूप है, उसी प्रकार धर्म की आराधना मे दम्भ उपद्रवकारक है। इससे धर्म की विशुद्धता नष्ट हो जाती है।

अतएव न यो धर्तुं मूलोत्तरगुणानलम्।
युक्ता सुश्राद्धता तस्य, न तु दम्भेन जीवनम् ॥१२॥

इसलिए जो साधु मूलगुणो को धारण करने मे असमर्थ है, उसे श्रावकव्रत ग्रहण कर लेना उचित है, लेकिन दम्भ से जीना उचित नही।

दम्भ से धर्म फलीभूत नही होता। यदि कोई साधुवेश धारण करके पचमहाव्रतरूपी मूलगुण और उनमे गुणवृद्धि करने वाले पिंडविशुद्ध, समिति-गुप्ति आदि उत्तरगुणों का पालन करने मे असमर्थ है, तो उसके लिए उचित है कि वह निर्दोप देशविरतिश्रावकधर्म अंगीकार करके यथार्थरूप मे उनका पालन करे। परन्तु साधुवेश मे दम्भपूर्वक जीना उचित नही है। क्योकि दम्भत्याग से ही महान् फल मिलता है।

परिहर्तुं न यो लिङ्गमप्यलं दृढरागवान्।
सविज्ञपाक्षिकः स स्यान्निर्दम्भः साधु-सेवकः ॥१३॥

अगर कोई गाढ राग-(मोह) वश मुनिवेश का त्याग न कर सके तो उसे चाहिए कि दम्भरहित सुसाधु का सेवक हो कर सविज्ञ-पक्षीय बन जाय।

यदि कोई मुनि श्रीजिनेश्वरदेव और जिनशासन के प्रति अत्यन्त भक्तिमान होने के कारण महाव्रत छोडने पर जिनधर्म की निन्दा होगी, इस भय या लज्जा से मुनिवेश छोडने मे असमर्थ हो तो उसे चाहिए कि वह किसी उच्च सयमी सुसाधु के पास जा कर अपनी सारी बाते दम्भरहित हो कर निवेदन कर दे और उनकी सेवा मे तत्पर हो कर

संविज्ञपक्षीय यानी मोक्षमार्ग में उद्यमी साधुओं का समर्थक बन जाय।

निर्दम्भस्यावसन्नस्याप्यस्य शुद्धार्थभाषिण ।
निर्जरां यतना दत्ते स्वल्पापि गुणरागिण. ॥१४॥

कोई साधु चारित्र मे शिथिल (मन्दक्रियावान्) हो, किन्तु दम्भ-रहित हो कर शुद्ध अर्थ का निरूपण करता हो, तो उस गुणानुरागी मुनि की थोडी-सी यतना भी निर्जरा का काम करती है।

दम्भरहित शुद्ध-सरल मुनि की अल्पसत्क्रिया भी कर्मों का आंशिक क्षय (निर्जरा) करने मे समर्थ व सफल होती है।

व्रतभारासहत्वं ये विदन्तोऽप्यात्मन. स्फुटम् ।
दम्भाद्यतित्वमाख्यान्ति तेषां नामापि पाप्मने ॥१५॥

महाव्रतो के भार को उठाने में साफतौर से अपनी असमर्थता जानते हुए भी जो कपटपूर्वक अपने मे मुनित्व का अस्तित्व बतलाता है, उसका नाम लेने से भी पाप लगता है।

कुर्वते ये न यतनां सम्यक्कालोचितामपि ।
तैरहो यतिनाम्नैव दाम्भिकैर्वञ्च्यते जगत् ॥१६॥

जो साधु पचमकाल अथवा अपनी अवस्था के योग्य उचित यतना (सयमक्रिया, व्रतरक्षा आदि) भी नही करते, वे कपटी (दाम्भिक) केवल ढोग रच कर साधु के नाम से जगत् को ठगते है।

धर्मीति ख्यातिलोभेन प्रच्छादित-निजाश्रव ।
तृणाय मन्यते विश्वं हीनोऽपि धृतकैतव. ॥१७॥

जिसने धार्मिक के रूप में अपनी प्रसिद्धि की महत्त्वाकाक्षा से अपने पापो को ढक दिया है, वह ढोगी साधु कपट रच कर अपने आप मे चारित्रहीन होने पर भी जगत् को तृणवत् तुच्छ समझता है। अहो ! मक्कार लोगो की कैसी विडम्बना है !

आत्मोत्कर्षात्ततो दम्भी परेषां चापवादत ।
बध्नाति कठिनं कर्म बाधकं योगजन्मन. ॥१८॥

फिर वह दम्भी अपनी बड़ाई और दूसरों की निन्दा करके योगोत्पत्ति में बाधक कठोर कर्मों का बन्धन कर लेता है, जिससे वह नरकादि दुर्गति में जाता है।

आत्मार्थिना ततस्त्याज्यो दम्भोऽनर्थनिबन्धनम् ।
शुद्धिः स्यादृजुभूतस्येत्यागमे प्रतिपादितम् ॥१९॥

अतः दम्भ को अनर्थ का कारण जान कर आत्मार्थी साधक को उसका त्याग करना चाहिए; क्योंकि आगम में बताया है कि 'सरलता से ही आत्मा की शुद्धि होती है। सरलात्मा में ही धर्म टिकता है और वहीं कल्याण का मार्ग है।

जिनैर्नानुमतं किञ्चिन्निषिद्धं वा न सर्वथा ।
कार्ये भाव्यमदम्भेनेत्येषाऽऽज्ञा पारमेश्वरी ॥२०॥

श्रीतीर्थंकर परमात्मा ने किसी भी कार्य के विषय में एकान्त विधान या निषेध नहीं किया है, किन्तु जिनेश्वरों की ऐसी आज्ञा है कि 'कोई भी कार्य हो, उसे दम्भरहित हो कर सरलतापूर्वक करो।' इसलिए सर्वप्रथम दम्भत्याग करना अनिवार्य है।

अध्यात्मरतचित्तानां दम्भः स्वल्पोऽपि नोचितः ।
छिद्रलेशोऽपि पोतस्य सिन्धुं लंघयतामिव ॥२१॥

जिनका चित्त अध्यात्मभाव में रत है, उनके लिए जरा-सा दम्भ करना उचित नहीं है, क्योंकि समुद्र पार करने वालों के लिए नौका में जरा-सा भी छेद अनर्थकारी होता है।

जिस प्रकार नाव में जरा-सा भी छेद हो तो वह समुद्र में डूब जाती है, इसी प्रकार संसारसमुद्र पार करने के लिए जीवनरूपी नौका में छोटा-सा भी दम्भरूपी छेद हो तो वह उसे पुनः संसारसमुद्र में डूबा देती है। इसलिए मोक्ष प्राप्त कराने वाले अध्यात्मभाव में जरा-सा भी दम्भ करना अनुचित है।

दम्भलेशोऽपि मल्ल्यादेः स्त्रीत्वानर्थनिबन्धनम् ।
अतस्तत्परिहाराय यतितव्यं महात्मना ॥२२॥

जरा-सा दम्भ भी मल्लिनाथ आदि के लिए स्त्रीवेदरूपी अनर्थ का कारण बना, इसलिए महात्मा पुरुष को उसका त्याग करने के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए।

अल्प दम्भ भी महान् दुःखदायी होता है। मल्लिनाथ भगवान् (तीर्थंकरी) पूर्वजन्म में महाबल नामक राजा थे, तब उन्होंने अपने मित्रों से कपट रख कर महान् तप किया था। तप के बल से उन्होंने तीर्थंकर पद तो पा लिया, लेकिन उसमें माया रखी, इस कारण उन्हें स्त्रीवेद मिला। आदि शब्द से पीठ, महापीठ आदि व्यक्तियों का ग्रहण कर लेना चाहिए। पीठ, महापीठ महाविद्वान् साधु थे, लेकिन उन्होंने दम्भ किया। इस कारण अगले भव में उन्हें ब्राह्मी-सुन्दरी के रूप में स्त्रीगोत्र बन्धनरूप महानर्थ हुआ। इस प्रकार दम्भ के गम्भीर अनर्थों को लक्ष्य में रख कर धर्म के फलरूप मोक्ष चाहने वाले महात्माओं को अपने जीवन से दम्भ के पाप को दूर करने के लिए अहर्निश प्रयत्नशील होना चाहिए।

॥ इति दम्भ-त्यागाधिकार. ॥३॥

भवस्वरूपचि-ता

पूर्व अधिकार में दम्भत्यागरूपी शुद्धि को अध्यात्म की जन्मभूमि वताई थी, उस शुद्धि के होने से ससार के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान हो जाता है। इसलिए इस अधिकार में संसारस्वरूप के चिन्तन के सम्बन्ध मे कहते है

> तदेवं निर्दम्भाचरणपटुना चेतसि भव-
> स्वरूपं संचिन्त्यं क्षणमपि समाधाय सुधिया।
> इयं चिन्ताऽध्यात्मप्रसरसरसीनीरलहरी,
> सतां वैराग्यास्थाप्रियपवनपीना सुखकृते ॥१॥

इसलिए दम्भरहित आचरण करने में निपुण और वुद्धिमान पुरुष एक क्षणभर के लिए मन को स्थिर कर ससार के स्वरूप का चिन्तन करे। संसारस्वरूप का चिन्तन अध्यात्म के विशाल सरोवर की जल-तरङ्ग के समान है, वह वैराग्य की आस्थारूपी मनोहरवायु से परिपुष्ट हो कर सत्पुरुषों के लिए सुखदायी होता है।

दम्भदोष के अनर्थकर परिणाम को जान कर दम्भरहित हो कर धर्माचरण करने मे कुशल आत्महितैषी वुद्धिमान् पुरुष चिरकाल तक चिन्तन करने में असमर्थ हो तो एक क्षणभर के लिए भी चार गतिरूप संसार के जन्म-जरा-मृत्यु-व्याधि-विपत्ति आदि स्वरूप का एकाग्रचित्त हो कर सूक्ष्मदृष्टि से अवश्य चिन्तन-मनन करे। ससार के स्वरूप का चिन्तन अध्यात्म के विशाल सरोवर के जलतरग की तरह है। इस चिन्तन से संसार से विरक्ति होती है, जो उसकी मनोहर वायु से चिरस्थायित्व को पुष्ट करती है, और वह सत्पुरुषों के परम आनन्द की उत्पादक होती है। इसलिए आत्मिक सुखार्थी को ससार के स्वरूप पर विचार करना चाहिए।

इत कामौर्वाग्निर्ज्वलति परितो दु सह इत. ।
पतन्ति ग्रावाणो विषयगिरिकूटाद्विघटिता ॥
इत. क्रोधावर्तो विकृतितटिनी-संगमकृत ।
समुद्रे संसारे तदिह न भय कस्य भवति ? ॥२॥

एक ओर दु सह कामरूपी वडवानल चारो तरफ से जल रहा है, दूसरी ओर विपयरूपी पर्वत-शिखर से टूटे हुए पत्थरो की वर्षा हो रही है, एक तरफ विकृतिरूपी नदियो के सगम से उत्पन्न क्रोधरूपी आवर्त्त (भँवरजाल) दिखता है, तो ऐसे ससार-समुद्र मे किसे भय उत्पन्न नही होता है ? सर्वत्र भय ही दिखता है।

यह ससार महाभयकर समुद्र के समान है। महान् शक्तिशाली और विवेकी जीवो को भी यह भय उत्पन्न करता है, क्योकि इस ससारसमुद्र मे एक ओर देखते हैं तो दु सह कामदेवरूपी वडवानल सभी दिशाओ मे जल रहा है। जैसे वडवानल समुद्र के जल को चूस लेता है वैसे ही ससार मे काम प्रशमसुख को चूस लेता है। दूसरी ओर पचविषयरूपी दुर्लंघ्य पहाड की चोटी से गाढ आसक्तिरूपी बड़े-बड़े पत्थर टूट-टूट कर गिरते है, जो विषयी जीव के मार्ग मे उसी प्रकार रुकावट डालते हैं, जिस प्रकार पर्वत से गिरे हुए पत्थर की चट्टाने समुद्रयात्री के मार्ग मे रुकावट डालती हैं। अर्थात् विषयासक्त जीव ससारसागर को पार नही कर सकता। तीसरी ओर देखते है तो विकृति रूपी (यानी आत्मस्वभाव के त्यागरूपी) नदी-सगम (आलिगन) को उत्पन्न करने वाला क्रोधरूपी आवर्त्त (भँवरजाल) दिखाई देता है। जैसे समुद्रमे नदी के द्वारा किया हुआ आवर्त गमन मे विघ्नकारक होता है, वैसे ही ससारसागर के तट पर पहुंचने में क्रोधादि भी विघ्नकारक होता है। अत इस ससार-समुद्र मे चारो ओर तूफान ही तूफान है, इससे कौन भयभीत नही होता ?

प्रिया ज्वाला यत्रोद्वमति रतिसंतापतरला।
कटाक्षान् धूमौघान् कुवलयदलश्यामलरुचीन् ॥
अथांगान्यंगारा. कृतबहुविकाराश्च विषया।
दहन्त्यस्मिान् वह्नौ भववपुषि शर्म क्व सुलभम् ॥३॥

इस ससाररूपी अग्नि मे रति (काम) रूपी सताप से चचल बनी हुई प्रिया रूपी ज्वाला है। जो कमल के पत्र-सी श्यामकान्ति वाले स्त्री-कटाक्षरूपी धूम्रसमूह को बाहर फेंक रही है। स्त्री के अग अगारे है, जिनसे विषय-विकाररूपी लपटे निकलती हैं। ऐसी धधकती हुई ससाररूपी अग्नि मे सुख कहाँ से सुलभ हो ?

इस श्लोक मे संसार को अग्नि की उपमा दी है, जैसे आग मे सुख नही है, वैसे संसार मे कुछ भी सुख नही है। अग्नि मे से ज्वाला निकलती है, धुए के गोटे प्रकट होते हैं और अगारे बनते है, इसी प्रकार इस संसाररूपी अग्नि से स्त्री-रूपी ज्वाला प्रकट होती है। स्त्री को ज्वाला की उपमा देने का कारण यह है कि जैसे ज्वाला से आग अधिक भडकती है, इसी प्रकार स्त्री अधिक विकार उत्पन्न करने वाली है। उसके कटाक्ष धुंए के समान है, धूआ और कटाक्ष श्याम है, धुंए से जैसे मनुष्य अन्धा हो जाता है, उसे आगे-पीछे का दिखाई नही देता इसी प्रकार स्त्री के नेत्रों के कटाक्ष से मनुष्य उसके सौन्दर्य मे मोहान्ध बन जाता है। फिर स्त्री के अग अगारो के समान है। जैसे अंगारो से आग बढती है और जो उन्हे स्पर्श करता है, उसे वे जला देते हैं। वैसे ही स्त्री के अगो से अनेक विकार प्रकट होते हैं, जो मनुष्य के शरीर को जलाते हैं। इसलिए ससाररूपी सर्वभक्षी अग्नि मे जीव को सुख कहाँ से सुलभ हो सकता है ? इसमे जरा भी सुख नही है।

गले दत्त्वा पाशं तनयवनितास्नेहघटितं।
निपाड्यंते यत्र प्रकृतिकृपणा. प्राणिपशव ॥
नितान्तं दु खार्ता विषमविषयैर्घातकभटै- ।
र्भव· सूनास्थानं तदहह महासौध्वसकरम् ॥४॥

अहो ! यह ससार एक महाभयानक कसाईखाना है, जहाँ विषम-विषयरूपी घातकशूर (कसाई) प्रकृति से तुच्छ जीवरूपी पशुओं के गले मे पुत्र-स्त्री आदि का स्नेहरूपी पाश (फदा) डाल कर उन्हे सतत पीडित कर रहे हैं। और इस कारण अत्यन्त दु ख से पीडित जीव-रूपी पशु चिल्ला रहे हैं।

इस संसार को कत्लखाने की उपमा दी गई है, जैसे कत्लखाने मे कसाई बेचारे पशुओ के गले मे फासा डाल कर दुःखी करके मार डालता है, इसी प्रकार संसार मे विषम विषयरूपी क्रूर कसाइयो द्वारा जीवो के गले मे स्त्री और पुत्र का स्नेह-रूपी पाश डाला जाता है। स्त्री-पुत्रपरिवार मे मनुष्य इतना आसक्त हो जाता है कि वह एक तरह से गले का फासा ही बन जाता है। फिर वे विषयकसाई उसे इतना खीचते हैं कि प्रकृति से कृपण अर्थात् असार पदार्थ पर अतिमोह से दीन के समान जीवरूपी पशु अनेक प्रकार से पीड़ा पाते है, दुःख से चिल्लाते है, और अनेक बार जन्म-मरण के कष्ट सहते है। अतः अफसोस है कि यह संसार अतिभयकर कत्लखाने से कम नही है।

अविद्यायां रात्रौ चरति वहते मूर्ध्नि विषमं।
कषायव्यालौघं क्षिपति विषयास्थीनि च गले॥
महादोषान् दन्तान् प्रकटयति वक्रस्मरमुखो।
न विश्वासार्होऽयं भवति भवनक्तंचर इति॥५॥

यह संसार राक्षसरूप है, जो अविद्यारूपी रात्रि मे चलता है, मस्तक पर भयकर कषायोरूपी सर्पो को धारण करता है, उसके गले मे विषयरूपी हड्डियो का ढेर लटक रहा है और फिर वह संसाररूपी राक्षस कामरूपी कुटिल मुख वाला हो कर अपने महादोषरूपी दात दिखाता है। अतः ऐसे संसाररूपी राक्षस पर विश्वास नही करना चाहिए।

यह संसार एक राक्षस के समान है। राक्षस रात को ही घूमता है, अपने मस्तक पर सर्पो का झुड धारण करता है गले मे हड्डियाँ डाल लेता है और अपना टेढा मुह फाड कर दाँत दिखाता हुआ हसता है। इसी प्रकार संसाररूपी राक्षस भी अज्ञानदशारूपी निशा मे विचरण करता है, संस्थारस्थ जीवो के मस्तक मे क्रोध, मान माया और लोभ आदि जहरीले साप बसेरा लिये रहते हैं, और संसाररूपी राक्षस जीवो मे निहित जीवहिंसादि, महारम्भ, परस्त्रीगमन, अभक्ष्यभक्षण आदि नरक-फलदाता महादोषरूपी दात दिखाता है। इसलिए जैसे राक्षस विश्वसनीय

नही इसी प्रकार ससार भी विश्वास करने योग्य नही है। ऐसा विचार कर आत्मार्थी को इससे दूर करना चाहिए।

जना लब्ध्वा धर्मद्रविणलवभिक्षां कथमपि।
प्रयान्तो वामाक्षीस्तनविषमदुर्गस्थितिकृता॥
विलुट्यन्ते यस्यां कुसुमशरभिल्लेन बलिना।
भवाटव्या नास्यामुचितमसहायस्य गमनम्॥६॥

बडी मुश्किल से उपार्जित धर्मरूपी धन की जरा-सी भिक्षा प्राप्त करके संसाररूपी अटवी मे विचरण करने वाले भव्यजीवो को स्त्रियो के स्तनरूपी विषमदुर्ग मे स्थित कामदेवरूपी जबर्दस्त लुटेरा लूट लेता है। इसलिए ऐसी भयंकर ससार-अटवी में सहायक के विना प्रवेश करना बिलकुल उचित नही है।

यह ससार एक बडी अटवी (जगल) के समान है। अपने साथ धन ले कर जगल से गुजरने वाले यात्री को जैसे लुटेरा लूट लेता है, वैसे ही ससाररूपी अटवी मे दान, शील, तप, भाव, परिषहसहन आदि के आचरण से बडी मुश्किल से प्राप्त धर्मरूपी धन को ले कर जब भव्यजीव-यात्री विचरण करता है तो उसे भी जबर्दस्त ताकतवर कामरूपी भील (लुटेरा) लूट लेता है। वह कामभिल्लरूपी लुटेरा नारियों के स्तनरूपी विषम किले मे रहता है। मतलब यह है कि धर्म की मामूली आराधना करने वाला जीव जब अकेला ससारवन मे प्रवेश करता है, तब स्त्रियो के स्तन, रूप, लावण्य आदि देख कर कामवासना मे फस जाता है, मोह के नशे मे वह अपने धर्म को भी भूल जाता है, थोडी बहुत धर्मभावना होती है, वह भी समाप्त हो जाती है। उसका सर्वस्व धर्मधन लुट जाता है। इसलिए ससाररूपी अटवी मे विशिष्ट सहायक (धर्मगुरु, आचार्य, सघ या साथी मुनि) के विना अकेले प्रवेश करना उचित नही है। ग्रथकार का तात्पर्य यह है कि मुमुक्षु आत्मा को धर्मधन के साथ भवाटवी पार करते समय समूह (समुदाय) के साथ विहार करना चाहिए, एकाकी नही।

धनं मे गेहं मे मम सुतकलत्रादिकमतो,
विपर्यासादासादितविततदु खा अपि मुहु॥

जना यस्मिन् मिथ्यासुखमदभृतः कूटघटना-
मयोऽयं संसारस्तदिह न विवेकी प्रसजति ॥७॥

यह धन मेरा है, वह घर मेरा है, ये स्त्री-पुत्र आदि मेरे हैं; इस प्रकार मेरेपन की विपरीतबुद्धि से बार-बार अत्यन्त दुःख पाने पर भी जगत् मे झूठे सुख का घमड करने वाले लोग बैठे है। अत यह ससार असत्-रचनामय है। इस कूट-कपटमय संसार मे विवेकी पुरुष आसक्त नही होते।

यह संसार वस्तु-स्वरूप को आच्छादन करने वाला है, ससार की जो रचना है, वह कृत्रिम और कूटकपटमय है। इसमें अच्छे-अच्छे जीव भी ठगे जाते है। परन्तु तत्त्वातत्त्व का विचार करने वाले विवेकीजन धन, घर, पुत्र, परिवार, स्त्री इत्यादि कोई भी मेरा नहीं है मै अकेला ही आया हूं और मुझे अकेले ही जाना है, इस प्रकार के विचार करके इस कूटकपटमय संसार में आसक्त नही होते, किन्तु यह धन मेरा है, घर मेरा है, पुत्र-स्त्री आदि मेरे हैं, इस प्रकार की ममता के कारण विपरीत बुद्धि (मान्यता) के कारण अविवेकी जीव को बार-बार बडा दुःख होता है, फिर भी वह इस झूठे सुख को खुशी से पकडे रहता है। अत. इस सुख की भ्रान्ति मे विवेकी जन सुख मान कर लुब्ध न हो।

प्रियास्नेहो यस्मिन्निगडसदृशो यामिकभटा-
पम स्वीयो वर्गो धनमभिनवं बंधनमिव ॥
मदामेध्यापूर्णं व्यसनबिलसंसर्गविषम।
भव कारागेहस्तदिह न रतिः क्वापि विदुषां ॥८॥

इस ससार मे प्रिया का स्नेह बेडी के समान है, पुत्र-स्त्री आदि परिजनवर्ग बहादुर पहरेदार के समान है, धन नया बन्धन है तथा यह संसार-कारागार मदरूपी अपवित्र पदार्थों से भरा हुआ है, व्यसनरूपी गड्ढो (बिलो) के संसर्ग के कारण भयकर है। वस्तुत. यह ससार कारागृह है। इसलिए इस पर विद्वान पुरुष कदापि प्रीति (आसक्ति) नहीं करते।

यह ससार अपराधियो को सजा देने का स्थान कारागृह है।

कारागृह में कैदी के पैरो मे बेडियाँ पडी होती है, इसी प्रकार ससार मे प्रिया से प्यार ही एक वेडी है, प्रिया के प्रति आसक्ति के कारण वह परतत्र वन जाता है, उसे छोड कर कही भी किसी महापुरुप की शरण मे या चारित्रमार्ग मे जा नही सकता। कारागार मे पहरेदार होते है, जो कैदी को कही जाने नही देते; ससार-कारागार में भी पुत्रादि पारिवारिक स्वजन पहरेदार होते है, जिनके मोह में पडा हुआ जीव सांसारिक कार्यो से पृथक् हो कर नही जा नही सकता। धन के लोभ का वन्धन नया है। धन की आशा मे वधा हुआ पुरुप अपराधी (कैदी) की तरह जगह-जगह नये-नये पराभव पाता है। फिर यह भव-कारागार धन-यौवनादि से पैदा हुए अहकाररूपी गदे पदार्थों से भरा हुआ है, अभिमानी पुरुष अपयशरूपी दुर्गन्ध पाता है। तथा यह कारागृह धन-पुत्रादि के वियोगजनित व्यसनो (कष्टो) रूपी विलो के ससर्ग के कारण अतिभयकर है। इसलिए विचारवान पुरुप उसमे आसक्त नही होते, अपितु उसके प्रति आसक्ति का त्याग कर देते हैं।

> महाक्रोधो गृध्रोऽनुपरति-शृगालीव चपला।
> स्मरालूको यत्र प्रकटकटुशब्द प्रचरति॥
> प्रदीप्त शोकाग्निस्ततमपयशोभस्म परित।
> श्मशानं ससारस्तदभिरमणीयत्वमिह किम्॥८॥

यह ससार एक श्मशान है, जहाँ विकट क्रोधरूपी भयानक गिद्ध (पक्षी) रहते है, अविरतिरूप चचल सियारनी रहती है, कामदेवरूपी उल्लू स्पष्टरूप से भयकर आवाज करता हुआ स्वच्छन्द घूम रहा है। वहाँ शोकरूपी अग्नि जल रही है, चारो ओर विस्तृत अपयश-रूपी राख के ढेर पडे है। अत ऐसे ससाररूपी मरघट मे रमणीयता कहाँ है? कही पर भी तो नही।

यह प्रत्यक्ष दिखाई देने वाला ससार मरघट के समान है। मरघट मे गिद्ध, सियार, उल्लू, आग और राख होती है, इसी प्रकार ससार-रूपी श्मशान मे भी अनन्तानुवन्धी महाक्रोधादिरूपी गिद्ध हैं, जो उत्पन्न होने के वाद अकार्य किये विना नही रहते। स्व-पर के रुधिर

और माँस के सेवन करने वाले गिद्ध की तरह ये महाक्रोधादिगिद्ध भी अपनी आत्मा का तथा दूसरो का सत्त्व चट कर जाते है। अविरतिरूपी सियारनी भी सियारनी की तरह चपलतापूर्वक सर्वभक्षी है, उसके किसी चीज का त्याग नही होता। जैसे उल्लू दिन मे देख नही सकता व घोर कर्कश आवाज करता है और स्वेच्छाचारी होता है, वैसे ही संसार-रूपी श्मशान मे कामरूपी उल्लू विवेकीजनों के लिए कर्णकटु शब्द करता है, स्वेच्छाचारी होता है, विवेकरूपी सूर्य के प्रकाश में हिताहित नही देख सकता। तथा इस श्मशान में ईष्टवस्तु के वियोग तथा अनिष्ट के सयोग के कारण चित्त मे हमेशा शोकरूपी आग जलती रहती है। सताप का कारण होने से शोक को अग्नि की उपमा दी गई है। तथा यहाँ अपकीर्तिरूपी राख के ढेर ही चारों ओर पड़े रहते है। अपकीर्ति निःसार तथा मलिन करने वाली होने से राख को उपमा दी गई है। इस प्रकार संसार मे कहीं भी सुन्दरता नही है। अत इसकी आसक्ति छोड देनी चाहिए।

धनाशा यच्छायाप्यतिविषयमूर्छा-प्रणयिनी।
विलासो नारीणां गुरुविकृतये यत्सुमरस.॥
फलास्वादा यस्य प्रसरनरकव्याधिनिवह-
स्तदास्था नो युक्ता भवविषतरावत्र सुधियाम् ॥१०॥

यह ससार विषवृक्ष के समान है; जिसकी धनाशारूपी छाया अत्यन्त विषयमूर्छा बढाने वाली है, उस विषवृक्ष का महाविकारक पुष्पपराग है, नारियो का विलास। उसके फलो का स्वाद नरक के विस्तीर्ण व्याधिसमूह दुःखसमूह के समान है। बुद्धिमान पुरुषो को ऐसे ससार-विषवृक्ष पर आस्था रखना ठीक नही।

यह ससार जहरीला पेड है। पेड मे तीन चीजें मुख्य होती है छाया, पुष्परस और फल! इसी प्रकार संसारविषवृक्ष की छाया धन की आशा है जो विषय-मूर्च्छा जगाने वाली है, क्योकि धन विवेकनाशक है, जड़-आशा-तृष्णा का विश्रामस्थान है। ससार विषवृक्ष का पुष्परस है—कामिनियो के हावभाव, शृंगार, रूप, कटाक्ष

आदि का विलास, क्योंकि वह भी मोहनीयकर्म के बन्धन और उदय से होने वाली महाविकृति का महापापकर्म-बन्धन का कारण है। मनारूपी विषवृक्ष के फल का आस्वादन करने से नरकरूपी महाव्याधियाँ--विपत्तियाँ उत्पन्न होती हैं अर्थात् ससार मे आसक्ति का फल परलोक मे नरक की भयकर व्याधि है। इसलिए सद्‌बुद्धिशाली पुरुष ऐसे विषवृक्ष-रूप ससार की छाया, पुष्परस और फल से दूर ही रहते है। कभी इस पर विश्वास नही करते। मूर्ख ही इस पर प्रीति रखते है।

> क्वचिन्नृप्राज्यं राज्य क्वचन धनलेशोऽप्यसुलभ.।
> क्वचिज्जाति-स्फाति. क्वचिदपि च नीचत्व-कुयश.॥
> क्वचिल्लावण्यश्रीरतिशयवती क्वापि न वपु.-
> स्वरूपं वैषम्यं रतिकरमिद कस्य नु भवे॥११॥

इस ससार में किसी जन्म मे विशाल राज्य मिल जाता है तो किसी जन्म में जरा-सा धन भी मिलना दुर्लभ हो जाता है। किसी जन्म मे उच्चजाति प्राप्त होती है तो किसी जन्म में नीचकुल का का अपयश मिलता है। तथा किसी जन्म मे देह की अतिशय सुन्दरतारूपी श्री प्राप्त होती है तो किसी जन्म मे शरीर का रूप भी नही मिलता। इस प्रकार इस ससार की विषमता (विचित्रता) भला किसे प्रीतिकारक हो सकती है ? किसे भी नही।

इस ससार मे सब तरह की असमानता (विचित्रता) दिखाई देती है। समस्त प्राणियो मे जीवत्व एक समान होते हुए भी किसी को तो चक्रवर्ती का विशाल राज्य प्राप्त हो जाता है, तो कोई जीव पैसे-पैसे का मोहताज हो रहा है। कोई उच्चकुल मे जन्म ले कर पूजा, सत्कार सम्मान और प्रतिष्ठा प्राप्त करता है, जबकि कोई शूद्रादि नीच कुल मे जन्म ले कर सर्वत्र अनादर और अपयश का भागी बनता है। किसी को आकर्षक शरीर-सौन्दर्य मिला है तो किसी को टेढामेढा, कुबडा या वामन शरीर ही प्राप्त हुआ है। इस प्रकार के विषमता से भरे ससार मे किसे प्रीति हो सकती है ? अत. विवेकी पुरुष को इस विषम ससार पर आसक्ति करना उचित नही है।

इहोद्दाम कामं खनति परिपन्थीगुणमही-
मविश्रामं पार्श्वस्थितकुपरिणामस्य कलहः ॥
बिलान्यन्तः क्रामन्मद-फणभृतां पामरमतं ।
वदामः किं नाम प्रकटभवधामस्थितिसुखम् ॥१२॥

पामरप्राणी जिस संसाररूपी घर में निवास को अत्यन्त सुखकर मान बैठे हैं, उस सुख का हम किस मुँह से बखान करें ? क्योंकि इस संसाररूपी घर में कामदेवरूपी उच्छृंखल शत्रु या चोर घुसा हुआ है, जो (त्रिरत्नमय) गुणरूपी पृथ्वी को खोदता है, पड़ौस में रहे हुए कुपरिणाम के साथ निरन्तर झगड़ा चलता रहता है और अन्दर (मन में) अष्टमदरूपी फणों को धारण करने वाले संचरणशील सर्पों के बिल भी हैं। भला ऐसे संसाररूपी घर में सुख कहाँ से हो ?

तत्त्व को न जानने वाले अज्ञानी जीव इस संसाररूपी घर में निवास करने में स्पष्टतया सुख मानते हैं, परन्तु इस संसारगृह में जरा भी सुख नहीं है, फिर हम किस नाम से इसका बयान करें ? क्योंकि इस संसाररूपी घर में दुर्दान्त उद्दण्ड कामदेव (अमर्यादित स्त्री सेवन) रूपी चोर या दुश्मन प्रविष्ट है, जो रत्नत्रय (तीन गुण) रूपी पृथ्वी (समतादि शुद्धपरिणति) को खोदता रहता है। काम समता आदि गुणों का विनाश करने वाला है, इसलिए कामी मनुष्य संसार में ही परिभ्रमण करता रहता है। तथा भवगृह के पड़ौस में ही रहने वाले निन्दा, गाली आदि निन्द्य परिणाम के साथ कलह (वाग्युद्ध) चलता रहता है। तथा इसके अन्दर (मन में) चलने वाले उच्चजाति आदि की प्राप्ति में उत्पन्न अभिमान (८ मद-) रूपी सर्पों के बिल नजर आते हैं। ऐसे महाभयंकर खतरनाक संसारगृह में निवास कैसे सुख-दायक हो सकता है ?

तृषार्ताः खिद्यन्ते विषयविवशा यत्र भविनः ।
करालक्रोधार्काच्छमसरसि शोषं गतवति ॥
स्मरस्वेदक्लेदग्लपितगुणमेदस्यनुदिनम् ।
भवग्रीष्मे भीष्मे किमिह शरणं तापहरणम् ॥१३॥

जिस संसाररूपी ग्रीष्मकाल में अत्यन्त उग्रक्रोधरूपी प्रचण्ड सूर्य

के कारण ममतारूपी सरोवर के सूख जाने से विषयों के वशीभूत हुए प्यासे भव्यप्राणी प्यास से पीडित हो कर खिन्न हो जाते हैं। जहाँ संसाररूपी ग्रीष्मकाल में प्रतिदिन कामरूपी पसीने से तरबतर होने से गुणरूपी चर्बी गल रही है। ऐसे संसाररूपी भयंकर ग्रीष्मकाल में तापहारी कौन सा शरण है ?

यह संसार महाभयंकर ग्रीष्मऋतु के समान है। ग्रीष्मऋतु में सूर्य के प्रचण्ड ताप से सरोवर सूख जाता है। जीव प्यास से व्याकुल होने लगता है और पसीना बहता रहता है, इसी प्रकार संसार में क्रोध-रूपी विकराल सूर्य की तेज किरणों से शान्तवृत्तिरूपी सरोवर सूख जाता है, इसके कारण विषय-तृष्णा से जीव पीडित होता है। जैसे गर्मी में पसीने से शरीर की चर्बी गल जाती है, इसी प्रकार संसार में कामदेवरूपी पसीने से गुणरूपी चर्बी गल जाती है। जीव में जब काम जागृत होता है, तब गुण का नाश हो जाता है। साथ-साथ शरीर का भी नाश हो जाता है, मोक्ष जाने योग्य जीव भी विषयविवश हो कर विषयतृषा पूरी न होने से अपूर्णता में मर जाता है, उस समय उसके लिए कोई भी संतापहारी शरण नहीं होता, सिवाय एक धर्म के। इसलिए धर्म का स्वीकार करना चाहिए।

> पिता माता भ्राताऽप्यभिलषितसिद्धावभिमतो।
> गुणग्रामज्ञाता न खलु धनदाता च धनवान् ॥
> जनाः स्वार्थस्फातावनिशमवदाताशयभृतः।
> प्रमाता कः स्यातादिह भवसुखस्यास्तु रसिकः ? ॥१४॥

इस संसार में माता, पिता, भाई आदि अपनी अभीष्ट वस्तु प्राप्त होने पर ही अनुकूल व सहमत होते हैं। धनिक उसके उपकार आदि गुणों को जानता हुआ भी धन नहीं देता। क्योंकि इस जगत् में सभी लोग अपने-अपने स्वार्थ की वृद्धि में ही निरन्तर रचे-पचे (गाढ परिणामी) रहते हैं। इसलिए संसार के सुख की नापजोख करने वाले (प्रमाता) किस रसिक को इसमें सुख कहने में दिलचस्पी है ?

इस संसार में जीव के माता-पिता, भाई-बन्धु आदि हितैषी माने जाते हैं, परन्तु वे तभी तक उसके अनुकूल होते हैं, उसकी हाँ में हाँ

मिलाते है, जब तक उनका स्वार्थ सिद्ध होता है। स्वार्थभग होने पर सब के सब आँखे फेर लेते है। माता-पिता अपने पुत्रादि तक को स्वार्थ सिद्ध न होने पर छोड़ देते है, उसके प्रतिकूल हो जाते है। कामवासना मे फंसी हुई चूलनी रानी ने अपने पुत्र ब्रह्मदत्त को, जो भविष्य मे चक्रवर्ती होने वाला था, प्राणान्त कष्ट दिए। कनककेतु राजा अपने पुत्रो के अगोपाग काट देता था। कोणिक और हल्लविहल्लकुमार दोनो भाइयो मे परस्पर युद्ध हुआ था, भरत चक्रवर्ती अपने भाई बाहुबलि को मारने दौडा था। अत. सासारिक जनो का स्नेह कृत्रिम, अस्थायी और अनर्थकर है। धनवान अपने उपकारी के गुणो को जानता अवश्य है, लेकिन उस पर विपत्ति के समय वह लोभग्रस्त हो जाता है, धन दे कर प्रत्युपकार नही करता। अत. सारा संसार स्वार्थी है। सभी अपने-अपने स्वार्थ की सिद्धि मे अहर्निश लगे हैं। ऐसे स्वार्थलिप्त ससार में मनुष्यादि जन्म में कौन सुख मान सकता है और बेखटके रह सकता है?

> पणै. प्राणैर्गृह्णात्यहह महति स्वार्थ इह यान् ।
> त्यजत्युच्चैर्लोकस्तृणवदघृणस्तानपरथा ॥
> विषं स्वान्ते वक्त्रेऽमृतमिति च विश्वासहतिकृद् ।
> भवादित्युद्वेगो यदि न गदितै कि तदधिकै ॥१५॥

अहो ! अपना बड़ा स्वार्थ सिद्ध होता है तो लोग जिन (निर्धन यानी नीच अथवा स्वजन) व्यक्तियो को प्रशंसा, प्रतिष्ठा या धन प्रदान करके प्राणप्रण से अपनाते है, स्वार्थ सिद्ध न होने पर उन्ही को निर्दयतापूर्वक तिनके की तरह छोड देते है। इस प्रकार सासारिक जन हृदय मे विष और मुख मे अमृत रख कर विश्वासघात करते है। अगर ऐसे ससार से तुम्हे उद्वेग (वैराग्य) नही होता तो फिर अधिक कहने से क्या लाभ है? कुछ भी नही।

यह ससार स्वार्थपूर्ण है। कोई बडा स्वार्थ हो तो चाण्डाल आदि नीच मनुष्य को भी मान-बडाई, प्रतिष्ठा या धनादि दे कर प्राणप्रण मे अपना लेते है, लेकिन उन्ही लोगो या स्वजनादि से जब स्वार्थ सिद्ध नही होता है, तो उन्हे अत्यन्त निर्लज्ज हो कर बेरहमी से

तिनके की तरह निकाल फेकते है, उनकी निन्दा, तिरस्कार व द्रोह आदि करते हैं। इस कारण स्वार्थी जगत् के हृदय मे द्वेषरूपी विष और मुख पर मधुरवचन का अमृत रहता है। भोलेभाले लोग ऐसे कपटपटु लोगो पर विश्वास कर लेते हैं। मगर आखिर वे विश्वासघात करते है। ऐसे ससार को विश्वासघातक एव स्वार्थी जान कर भी जिसे इसमे विरक्ति (उदासीनता) नही होती, उस ढीठ को अधिक क्या कहे ?

दृशां प्रान्तैः कान्तैः कलयपि मुदं कोपकलितै-
रमीभिः खिन्न स्याद् घनधननिधीनामपि गुणी ॥
उपायैः स्तुत्याद्यैरपनयति रोषं कथमपी-
त्यहो मोहस्यैवं भवभवनवैषम्यघटना ॥१६॥

स्वय गुणी पुरुष भी प्रचुरधननिधि वाले धनाढ्यो के नेत्रो के मनोहर कोण देख कर हर्षित हो जाते हैं, और उन्ही की रोषयुक्त दृष्टि देख कर खिन्न हो जाते है। तव उनकी स्तुति (प्रशसा) आदि उपायो से वड़ी मुश्किल से उन्हे मना कर उनका रोष दूर करते हैं। अहो ! ससाररूपी भवन मे मोहनीयकर्म की ऐसी ही विषम रचना है।

सचमुच ससारभवन मे मोहनीयकर्मकृत विषमतायुक्त भयकर रचना है कि इसमे कला, विज्ञान एव विविध विद्याओ में निपुण विवेकादिगुणसम्पन्न विद्वान् स्वर्ण आदि प्रचुर धन के स्वामियो के प्रसन्न मनोहर नेत्रकोण देख कर आनन्दित हो उठता है और उन्ही धनिको की क्रोधयुक्त दृष्टि देख कर वह खिन्न हो जाता है, और तव विविध स्तुति, प्रशंसा, प्रणाम आदि (यानी आप तो वड़े उदारहृदय है, आप महादानी है, धर्मात्मा हैं, पुण्यवान है।) उपायो से वहुत प्रयत्न से उन्हे खुश करके उनका रोष ठडा करता है। यह सव मोह का ही नाटक है, जिसके नचाये जीव नाचता है। विवेकीपुरुष को मोह की इस विडम्वना से दूर रहना चाहिए।

स्त्री-पुत्र आदि वाह्यकुटुम्व मे आसक्त मनुष्यो को आभ्यन्तर कुटुम्व के दर्शन भी नही होते, इसमे मोह का पर्दा ही मुख्य कारण है, इसे ही कहते हैं

प्रिया प्रेक्षा पुत्रो विनय, इह पुत्री गुणरतिर्
विवेकाख्यस्तात परिणतिरनिद्या च जननी ॥
विशुद्धस्य स्वस्य स्फुरति हि कुटुम्बं स्फुटमिदं ।
भवे तन्नो दृष्टं तदपि वत सयोगसुखधी ॥१७॥

इस अन्तरगकुटुम्ब मे प्रेक्षा (तत्त्वचिन्ता) नाम की प्रिया है विनय नामक पुत्र है, गुणरति नाम की पुत्री है, विवेक नाम का पिता और शुद्ध निर्मल परिणति माता है। इस प्रकार विशुद्ध आत्मा का कुटुम्ब स्फटिक के समान स्पष्टतः प्रतिभासित होता है। इस कुटुम्ब को अनादि-ससार मे परिभ्रमण करते हुए प्राणी ने देखा ही नही, फिर भी उसे स्त्रीपुत्रादि बाह्यकुटुम्ब में सयोगसुख की बुद्धि (इच्छा) मौजूद है, यही आश्चर्य है।

कुटुम्ब दो प्रकार का है अन्तरगकुटुम्ब और बहिरग कुटुम्ब। स्त्री पुत्रादि-संयोगबहिरग कुटुम्ब है। इसमे मूर्ख जीव सुख मानता है, लेकिन यह संयोग जनित होने से सुख-दुखरूप है।

अन्तरग कुटुम्ब, एकान्तसुखरूप है,स्थायी है और उत्तम है, जिसे उसने अनादिसंसार मे परिभ्रमण करते हुए देखा तक नही। खेद है कि ऐसा आभ्यन्तर कुटुम्ब होते हुए भी उससे मिला तक नही। अगर आभ्यन्तर कुटुम्ब से मिलता तो उसे परम सुख का अनुभव होता, आत्मा मे आनन्द होता, आभ्यन्तर कुटुम्ब मे तत्त्वातत्त्व का चिन्तन करने वाली बुद्धि रूपी प्राण-प्रिया है, जो दु ख का नाश करने वाली है, विनय (नम्रता) रूपी पुत्र है, जो ज्ञानादि सम्पदाओ को बढाता है, सम्यक्त्वादि गुण मे प्रीतिरूपी पुत्री है, जो परमानन्द-मंगलदायिनी है। इस कुटुम्ब मे विवेक नामक पिता है जो कार्याकार्य, शुभाशुभ, हित-अहित गुण-दोष और हेय-उपादेय का विचार करता है और आत्मा को आपत्ति से बचाता है। तथा सर्वहितकारिणी पवित्र शुद्धपरिणति नामक माता है, जो परिपालन करने मे समर्थ है। जीव को ऐसा सर्वश्रेष्ठ आत्मिक भावो को प्रगट करने वाला अन्तरग कुटुम्ब मिला है, फिर भी मोहवश वह इसे देख नही पाता और बाह्य कुटुम्ब मे ही सयोगजनित सुख मानता है, भ्रान्तिवश उसी सयोगज सुख की इच्छा करता है।

पुरा प्रेमारंभे तदनु तदविच्छेदघटने ।
तदुच्छेदे दु खान्यथ कठिनचेता विषहते ॥
विपाकादापाकाहितकलशवत्तापवहुलात् ।
जनो यस्मिन्नरिगान् क्वचिदपि सुखं हन्त न भवे ॥१८॥

इस ससार मे कही भी सुख नही है। इस ससार मे पहले प्रेम का प्रारम्भ करने मे ही दु ख है, उसके वाद उस प्रेम को अखण्डरूप से टिकाने मे कष्ट है, और प्रेम (प्रेमपात्र) के नष्ट (वियोग) हो जाने पर अनेक दु ख होते है। जिन्हे कठोरहृदय व्यक्ति कुम्भार के आवे मे डाले हुए घडे के समान चारो ओर से तप्त हो कर सहन करता है और अन्त मे, वह दुष्कर्म के विपाक के कारण जन्मान्तर मे भी नरकादि-दुर्गतियो के दु ख पाता है। अत ससाररूपी आँवे मे जरा भी सुख नही है।

इस प्रत्यक्ष दृश्यमान ससार मे कही भी सुख नही है, सर्वत्र दु ख ही दु ख है। सर्वप्रथम तो ससार मे प्रेम करने के लिए नाना कष्ट उठाने पडते है, प्रेम हो जाने पर उसे निभाने और टिकाने के लिए दूसरे की इच्छानुसार चलना पडता है, जिससे अत्यन्त मानसिक क्लेश होता है, क्योंकि प्रेमी के प्रतिकूल चलते ही प्रेमभग होने का खतरा है। इतनी सब वाते हो जाने पर भी प्रेमपात्र का वियोग हो जाने या किसी कारणवश प्रेमभग हो जाने पर तो अत्यन्त दु ख होता है, जिसे वही सह सकता है, जो कठोरहृदय हो। क्योकि उसमे तो कुभार के आँवे मे डाले हुए घडे की तरह चारो ओर से सताप सहना पडता है। इस प्रकार ससारी जीव प्रेम को ले कर चारो ओर से महान् दु ख सहता है, फिर भी मरने के वाद उस मोहजनित प्रेम के फल (विपाकोदय) के रूप मे उसे दूसरे जन्म मे नरकादि दु ख सहने पडते है। इसलिए ससार मे जीव कही भी सुख नही पाता।

यह ससार मोहमहाराजा की समरभूमि है, इसे वताते है

मृगाक्षीदृग्वाणैरिह हि निहत धर्मकटकम् ।
विलिप्ता हृद्देशा इह च वहुलै रागरुधिरैः ॥

अमन्त्यूर्व्वं कूरा व्यसनशतगृध्राश्च तदियम् ।
महामोह क्षोणीरमणरणभूमि खलु भव ॥१६॥

ससाररूपी रणभूमि मे मृगनयना ललनाओं के कटाक्षवाणो मे धर्मराजा की सेना नष्ट हो गई है, इससे इस रणभूमि में अत्यन्त गाढ रागरूपी रक्त से सैकड़ो धर्मसुभटो के हृदयरूपी प्रदेश लथपथ हो गए है। जहाँ सैकडो व्यसनोरूपी क्रूर गिद्ध ऊपर (मस्तक पर या आकाश मे) घूम रहे हैं। इस कारण सचमुच यह ससार महामोहराजा की रणभूमि ही है।

वास्तव मे यह सृष्टि मिथ्यात्व एव विषय कषायादिरूप महामोहनीयकर्म की यानी मोहपृथ्वीपति की युद्धभूमि है, जहाँ मोह के कारण मृगनैनी स्त्रियो के कटाक्षरूपी वाणो से ब्रह्मचर्य आदि धर्मसैन्य का नाश हो रहा है, और स्त्री आदि के प्रति राग (आसक्ति) के परिणामरूपी रक्त से हृदय (मन) के स्थान—प्रदेश अत्यन्त लिप्त हो रहे हैं, तथा जहाँ शताधिक व्यसन (आफत) रूपी क्रूर गिद्ध ऊपर मडरा रहे हैं, वे धर्मसैन्य की लाश को नोचने की फिराक मे है। सचमुच यह ससार महामोहराजा की समरभूमि है, जहाँ अनेको धर्मसुभटो (आत्माओ) का पतन हुआ है, वे हारे हैं। यह सोच कर संसार के प्रति मोह का त्याग करना चाहिए।

हसन्ति क्रीडन्ति क्षणमथ च खिद्यन्ति बहुधा,
रुदन्ति क्रन्दन्ति क्षणमपि विवादं विदधते ॥
पलायन्ते मोद दधति परिनृत्यन्ति विवशा,
भवे मोहोन्मादं कमपि तनुभाज परिगता ॥२०॥

इस ससार मे मोह के अपूर्व उन्माद से उन्मत्त बने हुए प्राणी परवश हो कर क्षण मे हँसते हैं, किसी क्षण खेलने लग जाते हैं, किसी क्षण खिन्न हो उठते हैं, किसी समय रोने लगते है, किसी क्षण जोर से चिल्लाते हैं, विलाप करते हैं, फिर दूसरे ही क्षण विवाद करने लगते हैं, क्षणभर मे फिर भागदौड़ करने लगते हैं, किसी क्षण हर्षित हो कर नाचने लगते हैं; ससार में ये सब अद्भुत चेष्टाएँ मोह मे उन्मत्त हो कर प्राणी करते हैं।

इस ससार मे जीव मोह के नशे मे पागल हो कर अनेक प्रकार की चेष्टाएँ करते है। मोह के नशे मे बेभान हो कर जीव भूत-प्रेत से ग्रस्त व्यक्ति की तरह विभिन्न चेष्टाएँ करते है। वे मोहाधीन हो कर अपनी आत्मशक्तियो को भूल जाते हैं। अत. मोहराजा का नाटक बडा खतरनाक है, इससे बचने का प्रयत्न करना चाहिए।

यह ससार तत्त्वदृष्टि वाले मनुष्यो के हृदय को दाहकारक लगता है, इसे ही कहते है

> अपूर्णा विद्येव प्रकटखलमैत्रीव कुनय-
> प्रणालीवास्थाने विधववनितायौवनमिव ।
> अनिष्णाते पत्यौ मृगदृश इव स्नेहलहरी ।
> भवक्रीडा व्रीडा दहति हृदयं तात्त्विकदृशाम् ॥२१॥

ससार मे सम्बन्धित क्रीडाएँ तत्त्वदर्शी पुरुषो के हृदय को उसी प्रकार जलाती हैं, जैसे अपूर्ण विद्या उसके पढने वाले को, दुष्ट के साथ प्रत्यक्ष ज्ञात मैत्री, सभा मे अन्याय-परम्परा, विधवास्त्री का यौवन, अकुशल पति के प्रति मृगनयनी की स्नेहलहरी उस-उस व्यक्ति के हृदय को जलाती है।

जिस मनुष्य को तत्त्व का दर्शन हो जाता है, उसे ससार मे स्त्रियो के साथ की गई विनोदचेष्टाएँ लज्जाजनक एव दाहकारक लगती हैं। जैसे अधूरी पढी हुई विद्या से पण्डित को सभा मे लज्जा आती है, वह झेप जाता है, उसके मन मे सताप होता है, दुष्ट के साथ की गई मैत्री मित्र के हृदय को जलाती है, राजा की सभा मे अन्याय सज्जन के मन मे सताप पैदा करता है, विधवा स्त्री की युवावस्था प्रतिक्षण सतापकारक होती है, मूर्ख पति के सामने निपुण स्त्री की स्नेहतरगे निष्फल जाती है और उसके हृदय को जलाती रहती है, इसी प्रकार ससार की क्रीडाएँ तत्त्ववेत्ता के हृदय को जलाने वाली होती हैं।

> प्रभाते संजाते भवति वितथा स्वापकलना,
> द्विचन्द्रज्ञानं वा तिमिरविरहे निर्मलदृशाम् ॥
> तथा मिथ्यारूप. स्फुरति विदिते तत्त्वविषये,
> भवोऽयं साधूनामुपरत-विकल्पस्थिरधियाम् ॥२२॥

जैसे प्रभातकाल होने पर स्वप्न मे देखी हुई रचना निष्फल हो जाती है, अथवा रतौंधी (तिमिररोग) नष्ट होने पर निर्मल दृष्टि वाले जीव को दो चन्द्रमा देखने की भ्रान्ति मिथ्या प्रतीत होती है, इसी प्रकार विकल्प-रहित, शान्त और स्थिर बुद्धि वाले साधुओं को तत्त्वज्ञान होने पर यह ससार मिथ्यारूप लगता है।

जब जीव को आत्मा के परमार्थतत्त्व का यथार्थज्ञान हो जाता है, ममता-सम्बन्धी सकल्प-विकल्प शान्त हो जाते हैं और इससे आत्मरमणता के सम्बन्ध में उसकी बुद्धि निश्चल हो जाती है, तब मोक्ष-साधक मुनिजनों को ससार मिथ्यारूप प्रतीत होता है, जैसे सूर्योदय के समय स्वप्न की रचना असत्य लगती है, तिमिर रोग चले जाने के बाद दो चन्द्रमा का ज्ञान झूठा लगता है, इसी प्रकार संसार का यथार्थ ज्ञान हो जाने पर ससार का स्वरूप अविद्यमान (मिथ्या) लगता है, क्योंकि सभी सम्बन्ध कर्म के कारण ही उत्पन्न होते हैं यथार्थरूप मे तो कोई भी सम्बन्ध है ही नही।

प्रियावाणीवीणा - शयन-तनु - संवाधन-सुखै-
र्भवोऽयं पीयूषैर्घटित इति पूर्वं मतिरभूत् ॥
अकस्मादस्माकं परिकलिततत्त्वोपनिषदा-
मिदानीमेतस्मिन्न रतिरपि तु स्वात्मनि रतिः ॥२३॥

पहले हमारी वुद्धि (मान्यता) इस प्रकार की थी कि यह ससार प्रिया और उसकी मधुर वाणी, वीणानाद, शयन और शरीर-सवाहन (दवाना) आदि सब प्रकार के सुखरूपी अमृत से बना हुआ है, लेकिन अब हमे अचानक ही आत्मतत्त्व का उपनिषद (रहस्य) प्राप्त होने के कारण इस ससार मे जरा भी प्रीति उत्पन्न नही होती, केवल आत्मतत्त्व मे ही रुचि होती है।

पहले ससारस्वरूप के प्रति हमारी अज्ञानदशा थी। हमारी बुद्धि मे यह बात जमी हुई थी कि मनुष्यादि गतिरूपी यह ससार स्त्रियों के सुन्दर रूप, स्नेह, वाणीविलास, हावभाव सुन्दर गुदगुदी शय्या, शरीर पर तेल आदि की मालिश, स्नानसामग्री सुन्दरवस्त्र-परिधान इत्यादि

पदार्थों के सुखरूपी अमृत से भरा है, लेकिन अव हमे एकाएक तत्त्वज्ञान या ब्रह्मस्वरूपज्ञान होने से ससार के प्रति पहले का मोह नष्ट हो गया है और स्वात्म-स्वरूप मे प्रेम उत्पन्न हुआ है, इस कारण यह ससार विपम लगता है, उसके मुख भी दु खदायी लगते है, और आत्मिक सुख ही वास्तव मे सुखदायी लगते हैं, और उसी मे हमारी रुचि जागी है।

दधाना काठिन्यं निरवधिकमाविद्यकभव-
प्रपञ्चा' पाञ्चालीकुच-कलशवन्नातिरतिदा. ॥
गलत्यज्ञानाभ्रे प्रसृमररुचावात्मनि विधौ ।
चिदानन्दस्यन्द सहजे इति तेभ्योऽस्तु विरति ॥२४॥

अव अज्ञान से उत्पन्न इस ससार के प्रपच काष्ठ या पापाण आदि से निर्मित पुतली के समान वेहद कठोरता को धारण करने वाले स्तन-रूपी कलश की तरह अत्यन्त प्रीतिदायक व रुचिकर नही लगते। क्योकि अज्ञानरूपी वादल के विखरने पर आत्मज्ञानरूपी चन्द्रोदय हो जाने से स्वाभाविकरूप से चिदानन्दरस प्राप्त हो चुका है। अत अव ससार के प्रपचो से सर्वथा विरति हो, यही अच्छा है।

अज्ञानदशा मे उत्पन्न ससार-प्रपच माता-पिता आदि का सम्वन्ध वेहद कठोरता धारण करते है, जैसे काष्ठ अथवा पाषाण आदि की पुतली के स्तन मे अत्यन्त कठोरता रहती है, उसके मर्दन करने से आनन्द नही आता, इसी प्रकार ससार-प्रपच भी अव आनन्ददायक नही रहा। अव अज्ञानरूपी वादलो के विनाश हो जाने और आत्मज्ञानरूपी चन्द्रमा का उदय होने से स्वाभाविक चिदानद अर्थात् ज्ञानानद-रस स्वाभाविक उत्पन्न हो गया। अत अव तो ससार-प्रपच से छुटकारा मिले यही अच्छा है।

भवे या राज्यश्रीर्गजतुरगगो-सग्रहकृता ।
न सा ज्ञानध्यानप्रशमजनिता कि स्वमनसि ॥
बहिर्या प्रेयस्य. किमु मनसि ता नात्मरतयस् ।
तत स्वाधीन कस्त्यजति सुखमिच्छत्यथ परम् ॥२५॥

ससार मे हाथी, घोडा, गाय, वैल आदि के सग्रह से वनी हुई

राज्यलक्ष्मी होती है, तो क्या योगिजनों के मन में ज्ञान, ध्यान और प्रशम से उत्पन्न अन्तरंग लक्ष्मी नहीं होती ? अवश्य होती है। तथा जैसे इस संसार में बाह्य स्त्रियाँ हैं, इसी प्रकार योगियों के मानस में स्थित आत्मरति (आत्मा के प्रति प्रीति) क्या स्त्रीरूप में नहीं रहती? है ही। अतः कौन विद्वान् इस स्वाधीन सुख को छोड़ कर पराधीन सुख की वांछा करेगा ?

इस संसार में देवों और मनुष्यों में हाथी घोड़ा, गाय बैल आदि के संग्रह से राज्यलक्ष्मी बनती देखने-सुनने में आती है, वैसे ही बाह्य राजलक्ष्मी के त्यागी संयमी साधुओं के पास शास्त्राभ्यासरूपी करिगर्जनावली, तथा धर्म-शुक्लध्यान और बारह अनुप्रेक्षारूपी अश्वों के तरंग से उछलती, एवं प्रशम से उत्पन्न हुई शान्ति और स्थिरता से सुन्दर गति करने वाली गायों और साम्ययुक्त बैलों से सुशोभित लक्ष्मी नहीं है ? अवश्य है। मनुष्यादि बाह्य राज्य में रूपादि-अभिमानयुक्त सुन्दर प्रियाएँ होती हैं, तो क्या शुद्ध, आत्मरति (आत्मा के प्रति प्रीति) वाली प्रियाएँ योगियों के मन में नहीं होती ? अवश्य होती है। इस आत्मरति प्रिया को छोड़ कर अस्थिर, अभिमानी, अशुचिमय एवं दुःख-रूप बाह्य प्रिया से कौन प्रीति करेगा ? आत्मसुख स्वाधीन, स्थिर एवं हर्षप्रदायक है, जबकि परवस्तु का सुख पराधीन, अस्थिर एवं दुःखदायक है, तब भला कौन ऐसा मूर्ख होगा, जो पराधीन सुख चाहेगा ?

> पराधीनं शर्म क्षयि विषयकांक्षौघमलिनं,
> भवे भीतिस्थानं तदपि कुमतिस्तत्र रमते ॥
> बुधास्तु स्वाधीनेऽक्षयिणि करणौत्सुक्यरहिते ।
> निलीनास्तिष्ठन्ति प्रगलितभयाध्यात्मिकसुखे ॥२६॥

संसार में जितना भी सुख है, वह सब पराधीन, विनाशी, क्षणिक एवं विषयाकांक्षाओं से मलिन और भयदायक है, फिर भी कुबुद्धि व्यक्ति उसमें आनन्द मानता है। परन्तु विद्वान्, तो स्वाधीन, अक्षय, इन्द्रियों की अपेक्षा या उत्सुकता से रहित एवं भयविहीन अध्यात्म-सुख में मग्न रहते हैं।

संसार मे देवो और मनुष्यों को जो पुष्प, चन्दन, खानपान, स्त्री आदि पदार्थनिष्ठ सुख है, वह पदार्थाधीन है, नश्वर है, तथा शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श, इन पाँच विषयों की आकाक्षाओ से मलिन है, स्वपरजाति से या रोगादि से उत्पन्न भयो का स्थान है, फिर भी अज्ञानी जीव उसमे आनन्द मानता है।

परन्तु विद्वान् लोग तो आत्म-स्वभाव से उत्पन्न होने के कारण अपने ही अधीन, अक्षय (कायम रहने वाले) मन-और इन्द्रियों की उत्कंठा से रहित सभी प्रकार के भयो से दूर अध्यात्मसुख मे तल्लीन रहते हैं।

तदेतद् भावंते जगदभयदानं खलु भव-
स्वरूपानुध्यानं शमसुखनिदान कृतधिय ॥
स्थिरीभूते यस्मिन्विधुकिरणकर्पूरविमला।
यश'श्री प्रौढा स्याज्जिनसमयतत्त्वस्थितिविदाम् ॥२७॥

अत. बुद्धिमान लोग कहते हैं कि इस प्रकार से ससार के स्वरूप का चिन्तन (ध्यान) करना (शम) समता-सुख का कारण है, और यह जगत् को अभयदान देता है; तथा उस ध्यान मे स्थिर हो जाने से जिनागमतत्त्वज्ञाता पुरुषो की जगत् मे चन्द्रकिरण और कपूर के समान उज्ज्वल यशोलक्ष्मी बढ़ती है।

इस ससार के स्वरूप का चिन्तन करने से आत्मा शान्त बन जाता है, किसी प्रकार का पाप करने को सहसा उद्यत नहीं होता और जगत्-मात्र को अभयदान देता है। अत ससार-स्वरूप का चिन्तन करना समतासुख का मूलकारण है, उससे चित्त ज्ञानध्यान और सयमादि मे स्थिर हो जाता है और जिनसिद्धान्त के जीवादि नौ तत्त्वो को जानने वाला होता है, वह भव्य जीव जगत् मे चन्द्रकिरण एव कपूर के समान निर्मल यशोलक्ष्मी अर्थात् मोक्ष की वृद्धि करता है। इस श्लोक के अन्त मे अकित 'यश' शब्द से ग्रन्थकार उपाध्यायश्री यशोविजयजी ने अपना नाम सूचित किया है।

इति श्रीनय-विजय-गणि-शिष्य-श्रीयशोविजयेन
विरचिते अध्यात्म-सारप्रकरण प्रथम प्रबन्ध ॥१॥

वैराग्य-संभव

भवस्वरूपविज्ञानाद् द्वेषान्नैर्गुण्यदृष्टिजात् ।
तदिच्छोच्छेदरूपं प्राग् वैराग्यमुपजायते ॥१॥

ससार के स्वरूप का विशेष ज्ञान होने से, नैर्गुण्य (नि सार) दृष्टि मे देखने से उत्पन्न द्वेष (अरुचि) से आत्मा मे तत्काल उस संसार (जन्ममरणरूप) की इच्छा का उच्छेदनरूप वैराग्य पैदा हो जाता है। ससार के स्वरूप का विशेष वोध हो जाने से तथा ससारी जीवो को अपने आत्मपक्ष मे लेशमात्र भी गुण (सार) ससार मे नही दिखाई देता, जैसे शरीर मे सूजन होने से वह फूला हुआ (पुष्ट) दिखता है, किन्तु होता है पोला ही, वैसे ही ससार थोथे आडम्बरो से भरा है, नि सार है, दु.खमय एव भयानक है, इस प्रकार ससार के प्रति अरुचि (द्वेष) होने से ससारसुख की अभिलाषा से निवृत्तिरूप (ससार-विच्छेदनरूप) वैराग्य शीघ्र ही पैदा हो जाता है।

सिद्ध्या विषयसौख्यस्य वैराग्यं वर्णयन्ति ये ।
मतं न युज्यते तेषां यावदर्थाप्रसिद्धित ॥२॥

जो विषयसुख की सिद्धि को ले कर वैराग्य प्राप्त होने का निरूपण करते हैं, 'जब तक पदार्थ है, तब तक विषयसुख है, इस प्रकार का उनका मत अप्रसिद्ध (सिद्ध नही) है, इसलिए उचित नही है।

जो विषयलोलुप पुरुष पचविषयसुखो की प्राप्ति होने पर यानी भोगेच्छा तृप्त हो जाने पर वैराग्य की प्राप्ति होती है, इस प्रकार के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं, वह युक्ति-युक्त नही है, क्योकि प्रत्येक जीव को अगणित विषय ईष्ट होते है। क्या उन सभी विषयो की प्राप्ति (सिद्धि) हो सकती है? कदापि नही हो सकती। यदि तमाम इष्ट विषयो की प्राप्ति नही हो सकती तो सर्वविषयो की प्राप्ति के बाद

वैराग्य कैसे सभव हो सकता है ? अत. विषयो की प्राप्ति से वैराग्य होता है, ऐसा प्रतिपादन करना उचित नही है। जब तक विषयी विषय मे प्रवृत्ति करता है, तब तक उसकी कामाभिलाषा भी तृप्त नही होती है। यह वैराग्य से सर्वथा विपरीत दशा है।

इसलिए उनका मत बिलकुल झूठा है। इसी बात को अगले श्लोक मे बताते हैं—

अप्राप्तत्वभ्रमादुच्चैरवाप्तेष्वप्यनन्तश ।
कामभोगेषु मूढानां समीहा नोपशाम्यति ॥३॥

कामभोग अनंत बार प्राप्त हुए है, फिर भी कभी प्राप्त नही, हुए, इस भ्रम से मूढ जीवो की इच्छा शान्त नही होती।

जीव ने अनादिकाल से देव, मनुष्य आदि योनियो मे अनत बार कामभोगो का सेवन किया है, परन्तु मुझे ऐसा भोगविलास पहले कभी प्राप्त नही हुआ, केवल इसी जन्म मे मिला है, इस प्रकार की भ्रान्ति से वह कामभोग मे आसक्त होता है, उसकी अभिलाषा कभी शान्त नही होती, इसलिए विषय की सिद्धि (प्राप्ति) से विषय के प्रति विरक्ति होना कभी सम्भव ही नही है।

विषयै क्षीयते कामो नेन्धनैरिव पावक ।
प्रत्युत प्रोल्लसच्छक्तिर्भूय एवोपवर्द्धते ॥४॥

जैसे ईन्धन से अग्नि शान्त नही होती, अपितु अधिकाधिक भड़कती है, वैसे ही विषयो के सेवन करने से काम-वासना शान्त नही होती, परन्तु शक्ति बढ जाने से कामवासना बारबार अधिकाधिक बढती जाती है।

काम यानी वेदोदय से उत्पन्न कामविकार विषयो के उपभोग से क्षीण (शान्त) नहीं होता। जैसे आग मे ज्यो-ज्यो लकड़ी झौंकी जाती है, त्यो-त्यो वह अधिकाधिक भड़कती है, शान्त नही होती, वैसे ही काम भी विषयोपभोग से प्रबल हो कर अधिकाधिक बढता जाता है। उसमें फिर वैराग्य ही कैसे सकता है ?

सौम्यत्वमिव सिंहानां पन्नगानामिव क्षमा ।
विषयेषु प्रवृत्तानां वैराग्य खलु दुर्लभम् ॥५॥

सिंहो मे कभी सौम्यता नही आ सकती तथा सर्पो मे कभी क्षमा नहीं आ सकती, क्योंकि उनका स्वभाव ही क्रूर है, इसी प्रकार विषयों मे प्रवृत्त होने वाले जीवों को वैराग्य होना अतिदुर्लभ है।

अकृत्वा विषयत्यागं यो वैराग्यं दिधीर्षति ।
अपथ्यमपरित्यज्य स रोगोच्छेदमिच्छति ॥६॥

रोगी मनुष्य कितनी भी अच्छी औषध लेता हो, परन्तु कुपथ्य का सेवन करता हो तो उसे औषध लाभदायक नहीं होता; इसी प्रकार जो जीव तप, जप, आदि क्रिया शुद्ध करता हो, परन्तु विषय-वासना का त्याग नही करता; उसे क्रियादि से कोई लाभ नहीं होता। वह उन क्रियाओ मे ससार से मुक्त नही हो सकता।

न चित्ते विषयासक्ते वैराग्यं स्थातुमप्यलम् ।
अयोधन इवोत्तप्ते निपतन् बिन्दुरम्भस ॥७॥

जैसे तपे हुए लोहे के घन पर जलबिन्दु नहीं टिक सकते, वैसे ही विषयासक्त जीव के मन मे वैराग्य नही टिक सकता।

यदीन्दुः स्यात् कुहूरात्रौ फलं यद्यवकेशिनि ।
तदा विषयसंसर्गिचित्ते वैराग्यसंक्रम ॥८॥

यदि अमावस्या की रात को चन्द्रमा का उदय हो जाए, यदि वांझ वृक्ष फल दे दे तो विषयीजीव के हृदय मे वैराग्य का सक्रमण हो, अर्थात् ये दोनो बाते जैसे त्रिकाल मे भी सम्भव नही है; वैसे ही विषयासक्त चित्त मे भी वैराग्य कदापि संभव नही।

भवहेतुषु तद्द्वेषाद्विषयेष्वप्रवृत्तित ।
वैराग्यं स्यान्निराबाधं भवनैर्गुण्यदर्शनात् ॥९॥

इसलिए ससारवृद्धि के कारणो पर द्वेष (अरुचि) हो, तभी विषयों मे अप्रवृत्ति होती है, और विषयों मे अप्रवृत्ति होने से ससार को निर्गुण (निःसार) रूप मे देखने पर ही वैराग्य निराबाध निर्विघ्न होता है।

ससारवृद्धि का कारण मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग है, जब उनमे रुचि नही होती है और उन पर घृणा (द्वेष) उत्पन्न होता

है तथा विषयवासना मे अप्रवृत्ति होती है और जब साधक ज्ञानचक्षु से ससार को निर्गुण असार रूप मे देखता है, तभी उसे निराबाध-अखण्डित वैराग्य उत्पन्न होता है, और उसका वैराग्य चिरकाल तक स्थिर रहता है।

चतुर्थेऽपि गुणस्थाने नन्वेवं तत् प्रसज्यते ।
युक्तं खलु प्रमातॄणां भवनैर्गुण्यदर्शनम् ॥१०॥

यहाँ शिष्य शका प्रस्तुत करता है कि यो तो अविरति सम्यग्दृष्टि (भोगो मे प्रवृत्त) चौथे गुणस्थानक मे भी वस्तु को यथार्थरूप से प्रमाण से निश्चयरूप से ज्ञातापुरुष ससार की निर्गुणता असारता जानते है, क्या उन्हे वैराग्य हो सकता है ? और वह वैराग्य युक्त है ?

सत्यं चारित्रमोहस्य महिमा कोऽप्ययं खलु ।
यदन्यहेतुयोगेऽपि फलायोगोऽत्र दृश्यते ॥११॥

उपर्युक्त कथन सत्य है, परन्तु चारित्रमोहनीयकर्म की कुछ ऐसी महिमा है कि चौथे गुणस्थानक मे अन्य हेतुओ का योग होने पर भी फल का योग नही है, फल का अभाव दिखाई देता है।

वत्स ! तुम्हारी बात सत्य है कि चतुर्थ गुणस्थानकवर्ती सम्यग्दृष्टि आत्मा को संसार की निर्गुणता के दर्शन होते है, और भवनिर्गुणत्व-दर्शन वैराग्य का कारण है, परन्तु उसमे चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से वैराग्य स्थिर नही रहता है, भोगप्रवृत्ति जारी रहती है। इसलिए उसमे दूसरे योग होते हुए भी फल ज्ञान के कार्यरूप भोगादि से निवृत्ति का योग नही दिखाई देता।

दशाविशेषे तत्रापि न चेद नास्ति सर्वथा ।
स्वव्यापारहतासंगं तथा च स्तवभाषितम् ॥१२॥

चौथे गुणस्थान मे सम्यक्त्वदशा मे सर्वथा वैराग्य नही होता, ऐसी बात नही है, परन्तु वहाँ अपने आत्मिक स्वभाव मे रमणतारूप व्यापार के कारण विषयप्रवृत्ति होने पर भी आसक्ति का ह्रास होता है। श्री वीतराग-स्तोत्र मे कलिकाल सर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्रसूरीश्वरजी महाराज ने इसी प्रकार कहा है। वही श्लोक यहाँ उद्धृत करते हैं

यदा मरुन्नरेन्द्रश्रीस्त्वया नाथोपभुज्यते।
यत्र तत्र रतिर्नाम विरक्तत्वं तदापि ते ॥१३॥

हे देवाधिदेव नाथ! जब आप देवेन्द्र अथवा नरेन्द्र के ऐश्वर्य का उपभोग करते हैं, उस समय जहाँ तहाँ भी आपकी प्रीति दिखती है, उसमे वस्तुत आपकी विरक्त दशा ही थी।

हे वीतराग! पूर्वजन्मों में आपने (भ. ऋषभदेव ने) नरेन्द्र—वज्रनाभ चक्रवर्ती तथा देवेन्द्र सर्वार्थसिद्धि आदि देवलोकों मे, तथा भ. महावीर ने नन्दन राजपुत्र एव प्राणत आदि देवलोकों मे जिस राज्य-लक्ष्मी का उपभोग किया था, उस समय भी आपकी जो विलासात्मक रति थी, सुना है, वैराग्ययुक्त ही थी। तो फिर अर्हत्भव मे वैराग्य हो, इसमे तो कहना ही क्या?

इस श्लोक मे अरिहन्त भगवान् के गृहस्थवास मे चौथे गुणस्थानक में भी वैराग्य बताया है क्योंकि विषयासक्ति के अभाव में चौथे गुणस्थान में भी वैराग्य हो सकता है।

भवेच्छा यस्य विच्छिन्ना प्रवृत्ति. कर्मभावजा।
रतिस्तस्य विरक्तस्य सर्वत्र शुभवेद्यत. ॥१४॥

जिसकी भव (जन्ममरण) की इच्छा नष्ट हो गई है, उसकी विषयोपभोग आदि मे जो प्रवृत्ति होती है, वह निकाचित कर्म के उदय से होती है, उसमें उस विरक्त की जो प्रीति (रति) दिखाई देती है, वह भी सर्वत्र सातावेदनीयकर्म के उदय मे होती है। इससे उनका वैराग्य भाव नष्ट नही होता।

अतश्चाक्षेपकज्ञानात् कान्तायां भोगसन्निधौ।
न शुद्धि-प्रक्षयो यस्माद्धारिभद्रमिदं वच ॥१५॥

इसलिए आक्षेपक ज्ञान के कारण स्त्री तथा विषयभोग की सामग्री पास मे होते हुए भी उनकी शुद्धि का क्षय नही होता, ऐसा श्रीहरिभद्र सूरि का कथन है।

आत्मा को इस लोक और परलोक मे त्याज्य पदार्थों के प्रति तिरस्कार पैदा करने वाला ज्ञान आक्षेपक ज्ञान कहलाता है। ऐसे

आक्षेपक ज्ञान से युक्त महान् आत्मा के पास सुन्दर रमणी, तथा रमणीय भोगविलास के साधन आदि पास मे हो तो भी दृष्टि सम्यग् होने से उसके हृदय मे आसक्ति पैदा नही होती। शुद्ध (शुभ) भावनाओ के कारण उनके कर्ममल के क्षयरूप शुद्धत्व का नाश नही होता है। शुद्धि का क्षय न होने से ज्ञान की शुद्धि होती रहती है, और ज्ञान की शुद्धि से कर्म का क्षय होता है, ऐसे महापुरुषों का मनोवल तीर्थंकर भगवान् के समान् होता है। इससे उनका वैराग्यभाव हृदय से दूर नही होता। वे ससार मे रहते हुए भी जीवन्मुक्तदशा मे रहते है। योगदृष्टि-समुच्चय के १६४ से १६७ वे श्लोक मे आचार्य श्रीहरिभद्र सूरी ने इस प्रकार कहा है

मायाम्भस्तत्त्वत पश्यन्नुद्विग्नस्ततो द्रुतम् ।
तन्मध्ये न प्रयात्येव यथा व्याघातवर्जित: ॥१६॥

सारे ससार को वह तात्त्विक दृष्टि से मृगमरीचिका के समान देखता है, इसलिए कामभोग मे उद्विग्न नही होता तथा रागाविष्ट भी नही होता है, उसमे तन्मय भी नही होता है, ऐसा महान् आत्मा निर्विघ्नता से मोक्ष मे जाता है।

भोगान् स्वरूपत पश्यस्तथा मायोदकोपमान् ।
भुञ्जानोऽपि ह्यसंग. सन् प्रयात्येव परं पदम् ॥१७॥

विषयभागो को स्वरूपत इन्द्रजाल के समान जान कर विषयादि का उपभोग करते हुए भी उसमे आसक्त नही होता वह परमपद मोक्ष को प्राप्त करते है।

भोगतत्त्वस्य तु पुनर्न भवोदधिलघनम् ।
मायोदकदृढावेशात्तेन यातीह क पथा? ॥१८॥

और जो भवाभिनदी जीव ससार के भोग को तत्त्वरूप मानता है, वह आत्मा ससार-समुद्र का उल्लघन नही कर सकता। यह वास्तव मे मायाजल है। जैसे मृग-मरीचिका मे जल की प्रतीति देख कर उस जल को लेने जाता है, परन्तु हाथ कुछ नही आता, वैसे ही विषय

भोग है। ऐसा समझ कर इस मनुष्यलोक मे कौन इस कुत्सितमार्ग से अभीष्टस्थल पर पहुच सकता है ?

स तत्रैव भवोद्विग्नो यथा तिष्ठत्यसंशयं ॥
मोक्षमार्गेऽपि हि तथा भोगजंबाल मोहित. ॥१६॥

परमार्थदृष्टियुक्त जीव गृहस्थ में भी ससार मे उद्विग्न रहता है, जबकि भोगी मोक्षमार्ग मे भी भोगरूपी शैवाल (काई) से लिपटा रहता है।

परमार्थी जीव को ससार मे उदासीनता होती है, परन्तु भोगी जीव को मोक्षमार्ग से उदासीनता रहती है, वह सदा-सर्वदा विषय-मल से लिपटा रहता है। कदाचित् दीक्षा अगीकार कर ले तो भी उसकी भोगेच्छा शान्त नहीं होती, वह सयममार्ग मे उद्विग्न रहता है। इससे वह दोनो मार्गो से भ्रष्ट होता है।

धर्मशक्ति न हन्त्यत्र भोगयोगो बलीयसीम् ।
हन्ति दीपापहो वायुर्ज्वलन्तं न दवानलम् ॥२०॥

दीपक को बुझाने वाला वायु जैसे जाज्वल्यमान दावानल को नही बुझा सकता, वैसे ही भोग का योग अतिबलवती धर्मशक्ति का नाश नही कर सकता।

जिस आत्मार्थी जीव के पास श्रद्धायुक्त दृढ धर्मशक्ति हो उसे भोगो का सयोग नष्ट नही कर सकता। जो वायु दीपक को बुझा सकता है, वही वायु देदीप्यमान दावानल को नही बुझा सकता, किसी मे धर्म-शक्ति अल्प हो तो उसे भोग-सयोग दबा सकता है, परन्तु जिसमे धर्म की दृढता है उसके सामने भोगशक्ति जरा भी काम नही कर सकती। क्योकि भोगशक्ति से धर्म की शक्ति महान् होती है।

बध्यते बाढमासक्तो यथाश्लेष्मणि मक्षिका ।
शुष्कगोलवदश्लिष्टो विषयेभ्यो न बध्यते ॥२१॥

जैसे श्लेष्म (कफ) मे मक्खी फंस जाती है, वैसे ही विषय की गाढ आसक्ति में जीव फस जाता है, किन्तु जैसे सूखी मिट्टी के गोले मे मक्खी नही फसती है, वैसे ही आसक्ति मे रहित उदासीन जीव विषय मे नही फंसता है।

मक्खी श्लेष्म (कफ) में फंस जाने के बाद उसमें से निकल नहीं सकती, वह वहीं तड़फ-तड़फ कर मर जाती है। इसी प्रकार जीव भी विषयों की गाढ़ आसक्ति में फंस जाता है, उससे निकल नहीं सकता। फलतः अनेक पापकर्मों का बन्धन कर लेता है। विशेष विषयासक्ति के कारण उसके शरीर में भयंकर रोग उत्पन्न होते हैं, और वह तड़फ-तड़फ कर मर जाता है, तथा दूसरे जन्म में उस पापकर्म के फलस्वरूप अनेक दुःख भोगता है। परन्तु भोगतृष्णा में मन्दता होने पर विषय-वासना में आसक्ति नहीं रहती, जैसे मिट्टी के गोले में मक्खी नहीं फँसती, वह उस पर बैठती है तो भी जब चाहे तब उड़ सकती है, इसी प्रकार उदासीन जीव को विषय में आसक्ति नहीं होने से वे फँसते नहीं हैं और जब चाहें तब इस संसार को छोड़ कर संयम ग्रहण कर सकते हैं। ऐसे जीवों के गाढ़ कर्मबन्धन नहीं होता। निष्कर्ष यह है कि जहाँ आसक्ति है, वहीं पाप-कर्म बन्धन है और जहाँ अनासक्ति है, वहीं मुक्ति है।

बहुदोषनिरोधार्थमनिवृत्तिरपि क्वचित्।
निवृत्तिरिव नो दुष्टा योगानुभवशालिनाम् ॥२२॥

योग के अनुभवों से सम्पन्न पुरुषों के लिए निवृत्ति की तरह किसी-किसी प्राणी के बहुत-से दोषों का निरोध करने के लिए किसी समय अनिवृत्ति भी दोषरूप नहीं होती।

जो पुरुष योग (मोक्ष के साधक ज्ञानादि व्यापारों) के परिपक्व अनुभव से सुशोभित हैं, उनकी त्यागवृत्ति दूषणरहित होने से अनेक दोषों की निवृत्ति करने वाली होती है, वैसे ही किसी प्राणी के लिए आर्द्रककुमार की तरह भोगावली कर्म के उदय के कारण व्रत (चारित्र) भंग, आज्ञाविराधना, आर्तध्यानादि अतिचारों (दोषों) के निरोध के लिए, उत्पन्न न होने वाली अनिवृत्ति (भोगप्रवृत्ति) दूषणरहित समझी जाती है। यानी उनकी विषयभोग की प्रवृत्ति भी अनेक दोषोंरूपी रोगों को निकालने के लिए औषधसेवन की तरह निवृत्तिरूप मानी जाती है। किन्तु यह नियम सर्वत्र नहीं समझना चाहिए।

यस्मिन्निषेव्यमाणेऽपि यस्याशुद्धिः कदाचन ।
तेनैव तस्य शुद्धिः स्यात्कदाचिदिति हि श्रुतिः ॥२३॥

श्रुति में कहा है–जिन भोगों का सेवन करने से किसी समय जिसकी अशुद्धि होती है, उन्ही भोगों का सेवन करने से उस मनुष्य की कदाचित् शुद्धि भी होती है।

श्रुति का वचन है कि, एक जीव भोगों का सेवन करते समय अपनी आत्मा को कर्म से अशुद्ध करता है और दूसरे जीव को विषयसेवन करने से विषय में रहे हुए दुःख के परिणाम का अनुभव होने से वैराग्य-दशा उत्पन्न होती है, अतः वह उसकी शुद्धि का कारण है।

विषयाणां ततो बन्धजनने नियमोऽस्ति न ।
अज्ञानिनां ततो बन्धो ज्ञानिनां तु न कर्हिचित् ॥२४॥

इसलिए विषय कर्म का बन्धन करते ही हैं, ऐसा एकान्त नियम नहीं है। अज्ञानी का जिनसे बन्धन होता है और ज्ञानी को उनसे कभी बन्धन नहीं भी होता।

विषय में प्रवृत्ति करने से कर्मबन्धन और विषय से निवृत्ति करने से कर्मक्षय होता है, ऐसा एकान्त नियम नहीं है। अज्ञानी जीव की विषय मे प्रवृत्ति हो या न हो, फिर भी उसे कर्मबन्धन होता है और ज्ञानी की विषय में प्रवृत्ति हो या न हो, फिर भी कर्मबन्धन नहीं होता है। ज्ञानी सदा समतारस में निमग्न रहते हैं। ज्ञानी के लिए कर्मबन्धन का अभाव बताया है, वह नरकादिगमनयोग्य कर्म के बन्धन का निषेध किया है, परन्तु देवगति और मनुष्यगति का बन्धन छठे और सातवें गुणस्थानक के जीव को भी होता है तो चौथे गुणस्थान के जीव को होता ही है, परन्तु उसके नरकादि-गमनयोग्य कर्मों का बन्धन नहीं होता है।

सेवतेऽसेवमानोऽपि सेवमानो न सेवते ।
कोऽपि पारजनो न स्यादाश्रयन् परजनानपि ॥ २५ ॥

अज्ञानी जीव विषय का सेवन न करते हुए भी सेवन करता है, और ज्ञानी विषयसेवन करते हुए भी सेवन नहीं करता। जैसे कोई जीव परजन का आश्रय लेने पर भी परजन नहीं होता, वह स्वजन कहलाता है, वैसे ही ज्ञानी कर्ममय नहीं होता।

विषय का सेवन द्रव्य और भाव दो तरह से होता है। जो द्रव्य से विषय सेवन नही करता, किन्तु भाव से सेवन करता है, वह अज्ञानी जीव है और उसके कर्म-बन्धन होता है, किन्तु जो द्रव्य से विषय सेवन करता है, मगर भाव से सेवन नही करता, वह ज्ञानी है, उसके पापकर्म का बन्धन नही होता, क्योंकि वह जिनेश्वर भगवान् के समान गृहवास को त्याग करना चाहता है। जैसे कोई मनुष्य किसी कारणवश अपने कुटुम्बियो को छोड कर परजनो के साथ रहता है, फिर भी वह परजन नही होता, स्वजन ही कहलाता है। वैसे ही विशिष्टज्ञानी सम्यग्दृष्टि आत्मा ससार का आश्रय लेने मात्र से ससारी नही बन जाता, वह स्वधर्म मे ही स्थिर रहता है। इसलिए वह पाप-कर्म-बन्धन नही करता है।

अतएव महापुण्यविपाकोपहितश्रियाम् ।
गर्भादारभ्य वैराग्यं नोत्तमानां विहन्यते ॥२६॥

इसलिए महान् पुण्य-विपाक के योग से मोक्ष-लक्ष्मी जिनके निकट हो गई है। उन उत्तम पुरुषो का वैराग्य गर्भ से ले कर नष्ट नही होता है।

उत्तम पुरुषो का वैराग्य गर्भ मे ले कर केवलज्ञान की उत्पत्ति तक अखण्ड रहता है। उसका वैराग्य इतना सुदृढ रहता है कि विषयो का सेवन करते हुए एव चक्रवर्ती का एकछत्र राज्य करते हुए भी किसी भी प्रसग पर वैराग्य नष्ट नही होता। क्योंकि पूर्वभव के महान् पुण्यविपाक के कारण मोक्षलक्ष्मी उनके निकट आ जाती है।

विषयेभ्य प्रशान्तानामश्रान्तं विमुखीकृतै. ।
करणैश्चारुवैराग्यमेष राजपथ. किल ॥२७॥

जिसका मन विषयो से उपरत होने से प्रशान्त हो गया है। और इन्द्रियो को विषयो से निरन्तर (अविश्रान्त) पराङ्मुख करने के कारण सतत मनोहर वैराग्य उत्पन्न होता है, यही वैराग्य का राजमार्ग है।

स्वय निवर्तमानैस्तैरनुदीर्णैरयन्त्रितै ।
तृप्तैर्ज्ञानवतां तारयादसावेकपदी मता ॥२८॥

अपने आप निवृत्ति होने से उदीरणा से सहित और नियन्त्रण के

बिना तृप्त हुई इन्द्रियों से ज्ञानियों को जो वैराग्य होता है, वह वैराग्य एक पगडंडी मानी गई है।

सद्विवेकी एवं ज्ञानी सम्यग्दृष्टियों की इन्द्रियाँ स्वतः स्वाभाविक रूप से अपने अपने विषयों में निवृत्त होती हैं, उनको विषयों के प्रति किसी प्रकार की उदीरणा किए बिना तथा विषयों पर किसी प्रकार का नियन्त्रण (निरोध) किये बिना पूर्णाभिलाषा में तृप्त, अतएव अनातुर इन्द्रियों में जो वैराग्य होता है, उसे वैराग्य की पगडंडी समझना चाहिए। पूर्वाचार्यों ने विशिष्ट जीव की अपेक्षा से इसे एक मार्ग कहा है। सभी जीवों के लिए यह सार्वजनिक राजमार्ग नहीं है।

बलेन प्रेर्यमाणानि करणानि वनेभवत् ।
न जातु वशतां यान्ति प्रत्युतानर्थवृद्धये ॥२६॥

इन्द्रियों को बलपूर्वक प्रेरित करने (दबाने) से वे जंगली हाथी के समान कभी काबू (वश) में नहीं आती, बल्कि अनर्थ को बढ़ाने वाली बन जाती हैं।

इन्द्रियों को सदा व्रत, नियम, त्याग, आदि में लगाए रख कर वश में करना चाहिए। यदि उन्हें जबरन वश में किया जाएगा, अथवा आसक्ति-पूर्वक उनको स्वच्छंद छोड़ दिया जायेगा तो वे कदापि वश में नहीं होंगी। जैसे जंगल के स्वच्छन्द मदोन्मत्त हाथी पर जबर्दस्ती करने पर या उसे स्वच्छन्द छोड़ देने पर वह कभी काबू में नहीं आता, बल्कि वह भयंकर उत्पात मचाता है। इसी प्रकार इन्द्रियों को जबर्दस्ती करने पर वे अनर्थ बढ़ाती हैं, यानी आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान की परम्परा बढ़ाती हैं। इसलिए उन्हें वैराग्य-भावना से परिपुष्ट करने का प्रयत्न करना चाहिए। व्रत-नियम आदि से सावधानी पूर्वक उन पर अंकुश रखना और वैराग्य की भावनासे उन्हें परिपुष्ट करना ही वैराग्य-प्राप्ति का निरुपद्रव राजमार्ग है।

पश्यन्ति लज्जया नीचैर्दुर्ध्यानं च प्रयुञ्जते ।
आत्मानं धार्मिकाभासाः क्षिपन्ति नरकावटे ॥३०॥

जो धार्मिकाभास धर्मध्वजी लज्जा से नीचे देखते हैं, परन्तु मन

में दुर्ध्यान (बुरा चिन्तन) करते है, वे धूर्त अपनी आत्मा को नरक को कूप में डालते हैं।

जो बाहर से आकृतिमात्र से धार्मिक दिखाई देते हैं, तथा व्रतादि का झूठा आडम्बर रचते है, किन्तु अन्तर मे अधर्मी है, ऐसे धार्मिकाभास लोग व्रतपालन मे असमर्थ होने से लज्जावश नीचा मुँह कर लेते हैं, जबरन इन्द्रियो को वश मे करके वे दूसरो पर प्रभाव डालते हैं, परन्तु अन्तर मे आर्त-रौद्र आदि दुर्ध्यान (दुश्चिन्तन) करते रहते हैं, वे जीव अपनी आत्मा को नरकरूपी कुए मे गिराते हैं। कहने का आशय यह है कि साधक को शुद्धवृत्ति से धर्म का आचरण करना चाहिए, उसमें किसी प्रकार का दम्भ, ढोंग या आडम्बर नही रचना चाहिए, जो बाहर से धर्म का दिखावा करते हैं, मगर जीवन मे धर्म का अंश नही होता, वे अवश्य ही दुर्गतिरूपी कुँए में गिरते है।

वञ्चनं करणाना तद्विरक्तः कर्तुमर्हति।
सद्भावविनियोगेन सदा स्वान्यविभागवित् ॥३१॥

आत्मा को शुद्धभाव मे अर्पण करके निरन्तर स्व और पर के विभाग को जानने वाला उन-उन विषयो से विरक्त पुरुष इन्द्रियों को विषयो से वंचित (दूर) करने मे समर्थ हो सकता है।

जो हमेशा अपने जीव-स्वरूप और परस्वरूप अर्थात् पुद्गल तथा देहादि जड़-चेतन मे भेदज्ञान को जानता है वही इन्द्रियविषय से विरक्त है, वह जीव शुद्ध परिणाम के उपयोग से अर्थात् यह कार्य मेरी आत्मा के लिए हितकारी है, इसलिए यह कार्य मुझे करने योग्य है और अन्य सब त्याग करने योग्य है, ऐसी निश्चयदृष्टि के उपयोग से इन्द्रिय को अपने-अपने विषयो से वंचित कर लेता है, अर्थात् इन्द्रियो का दमन कर सकता है और वैराग्य की वृद्धि करता है। समर्थ आत्मार्थी जीव ही ऐसा कर सकता है, अन्य नही।

प्रवृत्तेर्वा निवृत्तेर्वा न संकल्पो न च श्रमः।
विकारो हीयतेऽक्षाणामिति वैराग्यमद्भुतम् ॥३२॥

जिस वैराग्य मे प्रवृत्ति हो चाहे निवृत्ति, किसी का संकल्प नही है और श्रम भी नही है तथा इन्द्रिय-विकार क्षीण होता जाता है, वह अद्भुत वैराग्य कहलाता है।

ससार मे दो वृत्तियाँ होती है प्रवृत्ति और निवृत्ति। ज्ञानी पुरुषों के दोनो वृत्तियो मे समानभाव होता है। उन्हे इन दोनों में न तो सकल्प-विकल्प होता है और न श्रम ही। अर्थात् इच्छा किये विना ही भोगो मे प्रवृत्ति होती है और प्रयास के विना ही विषयो मे निवृत्ति होती है, तथा इन्द्रियो का विकार उत्तरोत्तर क्षीण होता जाता है। वह अद्‌भुत वैराग्य कहलाता है।

दारुयंत्रस्थपांचालीनृत्यतुल्याः प्रवृत्तय ।
योगिनां नैव वाधायै, ज्ञानिनो लोकवितनः ॥३३॥

काष्ठयन्त्र मे पुतली के नृत्य के समान लौकिक व्यवहार मे ज्ञानी की प्रवृत्तिया होती हैं। फिर भी उन योगी के लिए समार-प्रवृत्ति पीडाकारक नही होती है।

ससार के स्वरूप को तथा विपयो के परिणाम को यथार्थरूप से जानने वाले मतिश्रुतादि ज्ञानी अथवा योगी का गृहस्थवास आदि लोकव्यवहार काठ की पुतली के समान होता है। फिर भी (पाप) कर्म वन्धन नही होता। जैसे कठपुतली नाचती-कूदती हैं, गिर जाती है, खड़ी भी रहती है। उन सब प्रवृत्तियो के समय उसके अन्तर में हर्ष या शोक का स्पर्श नही होता। वह सूत्रधार की प्रेरणा से सब करती है। इसी प्रकार ज्ञानी संसार की सभी प्रवृत्ति करते हैं, वह सब निकाचित भोगावली कर्म-रूपी सूत्रधार की प्रेरणा से करते हैं। उन सब में उनको रागादिभाव का स्पर्श नही होता और न वैराग्यभाव ही शिथिल होता है। इस श्लोक मे ज्ञानी और योगी दो विशेपण हेतु-पूर्वक दिये हैं! ज्ञानी हो, परन्तु उसमे योगविद्या की शक्ति न हो तो वह मनोवृत्ति को रोक नही सकता, इसलिए ज्ञानी और योगी दोनों विशेपताओ से युक्त हो, वही ऐसा समर्थ हो सकता है।

इयं च योगमायेति प्रकटं गीयते परै ।
लोकानुग्रहहेतुत्वान्नास्यामपि च दुषणम् ॥३४॥

अन्य दर्शनकारो ने पूर्वोक्त भोग-प्रवृत्ति मे वैराग्यदशा को स्पष्ट-रूप से 'योगमाया' कहा है। वह योगमाया लोकानुग्रह का कारण होने से दोषरूप नही होती।

सिद्धान्ते श्रूयते चेयमपवादपदेष्वपि ।
मृगपर्षत्परित्रास-निरासफलसंगता ॥३५॥

सिद्धान्त मे भी सुना जाता है कि अपवादमार्ग मे भी मृग के समान अज्ञ पुरुषो की पर्षदा (सभा) के खण्डन (भग) रूप फल के साथ सगत है।

पहले कही हुई वैराग्यदशा अपवादमार्ग मे कही है, ऐसा शास्त्रीय सिद्धान्त सुना जाता है। अपवादमार्ग में मृग के समान तुच्छ अज्ञ जीव, जो सूक्ष्म विचार को नही जानता, उसे इस प्रकार की समग्र देशना देना, एक प्रकार से परित्रासरूप है। यानी पूर्वकथित वैराग्यदशा की बात सुन कर अज्ञजनो के लिए खतरा यह है कि वे धर्म का त्याग कर सकते है। उससे धर्म से दूर होने के फलरूप सगति है। इसलिए यह सिद्ध होता है कि अल्पबुद्धि वाले को अपवाद-स्थानो की शुद्ध देशना (उपदेश) नही देनी चाहिए, क्योकि इससे कोई भी सात्त्विक फल नही मिलता। इसलिए मृगसदृश पर्षदा का निरास करना यही वृषभसमान श्रेष्ठ गीतार्थ की शुद्ध ज्ञानदशा जानना।

औदासीन्यफले ज्ञाने परिपाकमुपेयुषि ।
चतुर्थेऽपि गुणस्थाने तद्वैराग्यं व्यवस्थितम् ॥३६॥

जब ज्ञान परिपक्व होता है, तब उसका फल उदासीनता होती है। उस समय चौथे गुणस्थानक मे भी वैराग्य रहता है।

ज्ञान का फल उदासीनता है, अर्थात् जब स्व-पर-विवेक हो जाता है, तब जीव मे उदासीनभाव उत्पन्न होता है, उस समय ससार के सुख-दु:ख आदि सभी बातो मे वह मध्यस्थ-भाव रखता है, यही ज्ञान की परिपक्वदशा है। अर्थात् वस्तु को यथावस्थितरूप से ग्रहण करने मे वह कुशलता प्राप्त कर लेता है। इसलिए चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अविरति सम्यग्दृष्टि आत्मा मे भी पूर्वकथित विरक्तियुक्त वैराग्य होता है।

॥ इति वैराग्य-सम्भवाधिकार ॥

वैराग्य-भेद

तद्वैराग्यं स्मृतं दुःख-मोह-ज्ञानान्वयात् त्रिधा।
तत्राद्यं विषयाप्राप्तेः संसारोद्वेगलक्षणम् ॥१॥

वह वैराग्य तीन प्रकार का होता है—(१) दुःखगर्भित (२) मोहगर्भित और (३) ज्ञानगर्भित। इनमें से प्रथम दुःखगर्भित वैराग्य वह है, जो मनोवांछित विषयों की प्राप्ति न होने से संसार के प्रति उद्विग्नता (विरक्ति) से होता है।

अत्राङ्गमनसोः खेदो ज्ञानमाप्यायकं न यत्।
निजाभीप्सितलाभे च विनिपातोऽपि जायते ॥२॥

इस दुःखगर्भित वैराग्य में कारण है शरीर और मन का खेद। इसमें तृप्ति करने वाला ज्ञान होता ही नहीं है। यदि उसे ईष्ट वस्तु मिल जाए, तो उसका वैराग्य नष्ट भी हो जाता है।

दुःखगर्भित वैराग्य शरीर और मन के खेद से उत्पन्न होता है, अर्थात् भूख, प्यास, बीमारी तथा अपने कुटुम्ब के निर्वाह की चिन्ता आदि से होता है। इसमें मूल कारण दुःख ही होता है, और इसमें जो ज्ञान होता है, वह वैराग्य का पोषक नहीं होता। यदि उसे अपनी इच्छानुसार धनादि की प्राप्ति हो जाए तो वह वैराग्य टिकता नहीं है। दुःखगर्भित वैराग्य के कारण कदाचित् उसने चारित्र आदि अंगीकार कर लिया हो, तो भी उसका अभीष्ट मनोरथ पूर्ण होते ही वह चारित्र से भी भ्रष्ट हो जाता है। अतः यह वैराग्य उत्तम नहीं है।

दुःखाद्विरक्ताः प्रागेवेच्छन्ति प्रत्यागतेः पदं ॥
अधीरा इव संग्रामे प्रविशन्तो वनादिकम् ॥३॥

दुःख से घबरा कर साधुवेश धारण करने वाले साधक पहले से

ही वापस गृहस्थाश्रम मे आने की इच्छा कर लेता है, जैसे अधीर कायर पुरुष युद्ध मे जाने से पहले ही वनादि मे घुस जाने (छिप जाने) की इच्छा (इरादा) कर लेता है।

जो आजीविका अथवा बीमारी आदि से दु खित हो कर विरक्त होता है और दीक्षा ग्रहण करता है, उसका जब दु ख दूर हो जाता है, तब फिर वह गृहस्थवास मे जाने की इच्छा करता है, जैसे सग्राम में गया हुआ कायरपुरुष वन आदि मे घुस कर बैठ जाने की इच्छा करता है, उसी तरह दु खगर्भित वैराग्य वाला कायरता धारण कर लेता है, इसलिए ऐसे जीव को महाव्रत-ग्रहण करने का साहस नही करना चाहिए। यह वैराग्य अस्थिर होने से उपादेय नही है।

शुष्कतर्कादिक किञ्चिद्वै द्यकादिकमप्यहो।
पठन्ति ते शमनदीं न तु सिद्धान्त-पद्धतिम् ॥४॥

अहो ! इस प्रकार वैराग्य से सम्पन्न पुरुष शुष्क तर्कशास्त्र तथा वैद्यक आदि के ग्रन्थो का अध्ययन करते हैं परन्तु शमता (समता) रूपी नदी के समान सिद्धान्त-पद्धति को नही पढते।

दु खगर्भित वैराग्य वाले जीव के हृदय मे उत्तम वैराग्य नही होता। इसके कारण वादविवाद करने के लिए वह शुष्क तर्कशास्त्र आदि विद्याएँ पढता है, क्योकि वादविवाद से दूसरो को पराजित करने से जगत् मे अपनी कीर्ति बढती है; कोई आजीविका के लिए व्याकरण-शास्त्र आदि पढता है, कोई वैद्यक-विद्या पढ़ कर लोगो के रोग-निवारण करने के लिए औषध-उपचार करके अर्थप्राप्ति की इच्छा रखता है। आदि शब्द से ऐसा विरक्त ज्योतिषशास्त्र, मन्त्र-तन्त्र-विद्या आदि चमत्कारी विद्याओ मे भी प्रवृत्त होता है। अनुत्तर (निकृष्ट व अस्थायी) वैराग्य होने से उसे सासारिक लाभ भी बहुत होता है। यदि वह लाभ मिल जाता है तो फिर वह ससार (गृहस्थवास) मे चला जाता है। कदाचित् किसी कारणवश वह ससार मे प्रवेश नही करता हो तो भी साधुमार्ग में रह कर अनुपयोगी वैद्यक, मन्त्र, तन्त्र, ज्योतिष आदि का अभ्यास कर उसके द्वारा जनता पर अपना प्रभाव डाल कर केवल अपनी आत्म-प्रशसा, कीर्ति एव प्रतिष्ठा बटोरता रहता है।

ऐसा व्यक्ति अपने ससार को बढ़ाता है। अहो! आश्चर्य है कि ऐसा पल्लवग्राही विरक्त गृहवास के महादु.खों का अनुभव करके आर्हती दीक्षा लेने के बाद भी समतारस बढाने वाली सिद्धान्त-पद्धति (अध्यात्म-विद्या) का अध्ययन नही करता।

ग्रन्थपल्लवबोधेन, गर्वोष्मारणं च बिभ्रति।
तत्त्व ते नैव गच्छन्ति प्रशमामृतनिर्झरम् ॥५॥

दु खविरक्त साधक ग्रन्थों का पल्लवग्राही (ऊपर-ऊप० से) बोध प्राप्त करके गर्व की गर्मी बढा लेते हैं, किन्तु प्रशमामृत (शान्ति के अमृतमय) झरने के समान तत्त्व (अध्यात्म-रहस्य) को नहीं जानते या तत्त्वज्ञान हासिल नहीं कर पाते।

सचमुच दु खगर्भित-वैराग्य-सम्पन्न व्यक्ति कदाचित् एकाध किसी तात्त्विक ग्रन्थ का थोडा-थोडा, ऊपर-ऊपर से ज्ञान प्राप्त भी कर लेते है तो उनमें गर्वरूपी गर्मी आ जाती है। वे प्रशम के अमृतमय झरने के समान अध्यात्म के वस्तुस्वरूप को मै कौन हू? कहाँ से आया हू? कैसा हूं? कहाँ जाना है? मेरे जीवन में किस वस्तु की उपयोगिता है? इत्यादि बातों के रहस्य को नही जान पाते। तात्पर्य यह है कि दूसरो को उपदेश देने के लिए ही वे आगमो, या दर्शनों का अध्ययन करते है, मगर उससे अपने जीवन शान्तरस को पा कर उसे आचरण मे नही लाते; बल्कि उनमे थोड़े-से ज्ञान के अभिमान की गर्मी आ जाती है।

वेषमात्रभृतोऽप्येते, गृहस्थान्नातिशेरते।
न पूर्वोत्थायिनो यस्मान्नापि पश्चान्निपातिन.॥६॥

ये सिर्फ साधुवेषधारी हैं, ऐसे व्यक्ति गृहस्थो से अधिक (बढ़कर) नही हैं। क्योंकि न तो वे पूर्वोत्थायी है, और न वे पश्चात्निपाती हैं।

जिन पुरुषो को दु ख-गर्भित वैराग्य हुआ है, और इस कारण जो साधु बने हैं, वे केवल वेश से साधु हैं, वास्तव मे वे गृहस्थ से बढ़कर नही है, क्योकि वे पुर्वोत्थायी नही है अर्थात् वे मोक्ष की अभिलाषा से महाव्रत ग्रहण करने मे पहले उद्यत नही हुए थे और न वे पश्चात्-

निपाती ही हैं, अर्थात् जो पहले उद्यतविहारी (संयम में पुरुषार्थी) हो कर व्रत का पालन आदि करे, किन्तु फिर कुछ समय के बाद भ्रष्ट हो जाय, ऐसे पश्चात्निपाती भी नहीं हैं। इन दोनों से युक्त न होने से वे गृहस्थ से बढ़कर नहीं हैं; अर्थात् वे एक तरह से गृहस्थाश्रमी ही है।

गृहेऽन्नमात्रदौर्लभ्यं, लभ्यन्ते मोदका व्रते।
वैराग्यस्यायमर्थो हि, दुःखगर्भस्य लक्षणम् ॥७॥

घर में पूरा खाने को अन्न भी नहीं मिलता है और दीक्षा लेने के बाद खाने को रोज लड्डू मिलते हैं, तो फिर दीक्षा में दुःख ही क्या है? इस प्रकार के वैराग्यभास भावों से जो दीक्षा लेता है, वह दुःख-गर्भित वैराग्य का लक्षण है।

कुशास्त्राभ्याससम्भूत भवनैर्गुण्यदर्शनात्।
मोहगर्भं तु वैराग्यं मतं बालतपस्विनाम् ॥८॥

कुशास्त्रों के अध्ययन से संसार की निःसारता निर्गुणता जानने (देखने) से जो वैराग्य होता है, वह मोहगर्भित वैराग्य होता है। ऐसा वैराग्य बालतपस्वियों को होता है।

सद्भूतभावों को अप्रमाण और असद्भूतभावों को प्रमाण कहने (मानने) वाले शास्त्र कुशास्त्र कहलाते है, उनके पढ़ने-सुनने व मनन करने से गृहवास एवं जन्मादिरूप संसार को निर्गुण (निःसार, सुखरहित) जानने-देखने से जो वैराग्य पैदा होता है उसे (द्वितीय) मोह-गर्भित वैराग्य कहते हैं। यह वैराग्य अतत्त्वदर्शी परमार्थ को अप्राप्त, पंचाग्नितप आदि क्रियाकाण्डों में आसक्त बाल (अज्ञान) तपस्वियों को होता है। मोहगर्भित वैराग्य से युक्त साधक क्रियाकाण्डों में आसक्त बाल (अज्ञान) तपस्वियों को होता है। मोहगर्भित वैराग्य से युक्त साधक क्रियाकाण्डों में रत रह कर धर्म के नाम से आडम्बर रचता है, मिथ्यात्वी-क्रियाओं के प्रति उसका झुकाव ज्यादा होता है, इसलिए ऐसे साधक प्रायः चारित्रधर्म से विमुख हो कर पतित हो जाते हैं। इसलिए ऐसा वैराग्य उत्तम पुरुषों को नहीं होता।

सिद्धान्तमुपजीव्यापि ये विरुद्धार्थभाषिणः।
तेषामप्येतदेवेष्टं, कुर्वतामपि दुष्करम् ॥९॥

जो जिनेश्वर के सिद्धान्त का आश्रय ले कर भी अपनी बौद्धिक कल्पना से सिद्धान्त विरुद्ध प्ररूपण (उत्सूत्रभाषण) करते हैं, ऐसे साधक भले ही अतिदुष्कर तप आदि या कठोर क्रियाएँ करते हो, उनका वह वैराग्य मोह-गर्भित ही कहलाता है।

ससारमोचकादीनामिवैतेषां न तात्त्विक. ।
शुभोऽपि परिणामो, यज्जाता नाज्ञारुचिस्थिति ॥१०॥

क्योकि उनका शुभ परिणाम भी ससार-मोचकादि मत वालों के परिणाम की तरह तात्त्विक नही होता, और न ही उनकी वीतराग की आज्ञा मे रुचि स्थिर हुई होती है।

ससारमोचकादि मत का मन्तव्य है कि प्रत्येक जीव के जन्ममरण (भव) नियत ही होते हैं, इसलिए जो जीव रोग, चिन्ता आदि से दु खी हो रहे है, उनको जल्दी मार दिया जाए तो वह अपना भव जल्दी पूर्ण कर देता है और उसे चिरकाल तक दु ख भोगने नही पड़ते हैं। इसी प्रकार वह जीव ससार से और दु खो से भी जल्दी मुक्त होता है। इस मन्तव्य मे जीवदयादि रूप शुभभाव (परिणाम) प्रतीत होते हैं, परन्तु उसे घायल करना अथवा व्याधि से तडफते जीव को दु खमुक्त करने के लिए मार डालना, ऐसी दया भी निर्दयतारूप होने से वास्तव मे पापकर्मबन्धनरूप ही है। क्योकि मोहगर्भित वैराग्य वाले के भाव पापकर्मबन्धनरूप ही होते हैं। यद्यपि मोहगर्भित वैराग्य वाले के शुभपरिणाम मालूम होते हैं, मगर क्रियाकाण्डपरायणता स्वीकार कर वे लोकपूजा, प्रशसा एवं आडम्बर मे पड़ कर उलटे पापकर्मबन्धन के हिस्सेदार बन जाते हैं क्योकि उनमे आज्ञा-रुचि नही होती। और जिसमे आज्ञारुचि हो, उसे मोहगर्भित वैराग्य नहीं होता।

अमीषां प्रशमोऽप्युच्चैर्दोषपोषाय केवलम् ।
अन्तर्निलीनविषमज्वरानुद्भवसन्निभ. ॥११॥

मोहगर्भित वैराग्य वाले मे प्रशमभाव होता है, लेकिन वह होता है, दोषो के पोषण के लिए ही, क्योकि उसके अन्तरग मे तो मिथ्यात्व

होता है। जैसे अन्तरंग मे दवा हुआ विषमज्वर हो तो वह शरीर की धातुओ का शोषण करता रहता है। उसके द्वारा औषधिसेवन भी दोषो के पोषण के लिए होता है, वैसे ही अन्तरग (अप्रकट) मिथ्यात्व से युक्त साधक का प्रशम (कषायोपशान्ति) का गुण भी दोषपोषक होता है।

> कुशास्त्रार्थेषु दक्षत्वं शास्त्रार्थेषु विपर्ययः।
> स्वच्छन्दता कुतर्कश्च गुणवत्संस्तवोज्झनम् ॥१२॥
> आत्मोत्कर्षः परद्रोहः कलहो दम्भजीवनम्।
> आश्रवाच्छादनं शक्त्युल्लङ्घनेन क्रियादरः ॥१३॥
> गुणानुरागवैधुर्यमुपकारस्य विस्मृतिः।
> अनुबन्धाद्यचिन्ता च प्रणिधानस्य विस्मृतिः ॥१४॥
> श्रद्धा मृदुत्वमौद्धत्यमधैर्यमविवेकिता।
> वैराग्यस्य द्वितीयस्य स्मृतेयं लक्षणावली ॥१५॥

कुशास्त्रो के अर्थ करने मे कुशलता, शास्त्रो के अर्थ करने मे विपरीतता, स्वच्छन्दता, कुतर्कप्रियता, गुणीजनो के सत्सग का त्याग, ॥१२॥ अपने उत्कर्ष (वडप्पन) की डीग हाकना, दूसरो से द्रोह रखना, झगडा करना, दम्भयुक्त जीवन, पापो को ढकना, शक्ति से अधिक क्रिया का आदर करना ॥१३॥ गुणानुराग से रहित, परोपकार को भूल जाना, पुण्यानुवन्धक या पापानुबन्धक कर्म का विचार न करना, वैराग्यादि धर्मकार्यो मे उपयोगपूर्वक चित्त की एकाग्रता (प्रणिधान) न रखना ॥१४॥ श्रद्धा के विषय मे शिथिलता, उद्धतता, अधीरता और अविवेक, यह मोहगर्भित द्वितीय वैराग्य की लक्षणावली (लक्षणो की सूची) वताई है ॥१५॥

मोहगर्भित-वैराग्ययुक्त आत्मा कुशास्त्रो के अध्ययन एव अर्थ प्रतिपादन मे प्रवीण होता है, परन्तु सर्वज्ञ-कथित शास्त्रो मे प्रतिपाद्य विषयो के निरूपण मे उसकी बुद्धि उलटी होती है। वह गुरु-आज्ञा की उपेक्षा करके अपनी इच्छानुसार स्वच्छदतापूर्वक चलता है, हमेशा कुतर्क करता रहता है, ज्ञान-दर्शन-चारित्रयुक्त गुणीजनो की सगति छोड़ देता है, सर्वत्र अपने ही गुणो की प्रसिद्धि करता फिरता है, दूसरो से द्रोह करता है, उनकी कीर्ति का नाश करता है, हर वात पर लड़ाई-

झगडा करने को तैयार रहता है, अपना जीवन दम्भमय रखता है, व्रत-भग आदि अपराधो को दवाता (ढकता) रहता है, अपनी शक्ति न होने पर भी लोगो पर अपना प्रभाव डालने के लिए अपनी योग्यता देखे बिना ही कठोर कष्टकारक तप व क्रियाकाण्ड अपना लेता है, गुणीजनो के प्रति द्वेष रखता है, उनके छिद्र देखता रहता है, दूसरो के उपकार को भूल जाता है, कृतघ्न होता है। तीव्र कर्मबन्धनरूप भावी परिणामो का विचार नही करता और वैराग्यादि धर्मकृत्यो मे शुभ अध्यवसाय से रहित रहता है, अर्थात् धर्मकार्यों में उपयोगपूर्वक मन की एकाग्रता नही रखता, उसकी धर्म-फल के प्रति आस्था मे अनिश्चलता, स्वभाव मे उद्धतता (उद्दण्डता) अधीरता (विपत्ति में अस्थिरता), कार्य-अकार्य में अविवेकिता होती है। इन सब लक्षणो की परम्परा दूसरे मोहगर्भित वैराग्य मनुष्यो में समझना चाहिए।

ज्ञानगर्भं तु वैराग्य सम्यक्तत्वपरिच्छिदः।
स्याद्वादिन: शिवोपायस्पर्शिनस्तत्त्वदर्शिन. ॥१६॥

सम्यक्तत्त्वो के जानकार, स्याद्वाद (अनेकान्तवाद) से वस्तुतत्त्व का निर्णय करने वाले, मोक्ष के उपायो का स्पर्श करने (आचरण में लाने) वाले एव तत्त्वदर्शी आत्मा का वैराग्य ज्ञानगर्भित होता है।

जिसके गर्भ मे अर्थात् अन्त करण में ज्ञान रहा हो, उसे ज्ञान-गर्भित वैराग्य कहते है। यह वैराग्य उस आत्मा मे होता है, जिसमे जीवाजीवादि पदार्थों (सत्तत्वो) को यथास्थितरूप से निश्चय करने की रुचि हो, जो स्याद्वाद-शैली का ज्ञाता अर्थात् स्यात् नित्य अनित्य आदि वस्तु के अनतधर्म को जानने वाला हो, उसी की प्ररूपणा करने वाला हो, मोक्ष के उपायभूतरत्नत्रय ज्ञान-दर्शन-चारित्र के व्यापार को स्पर्श करने वाला हो, उसे स्वीकार करने वाला हो, उसके उपायो पर चिन्तन करने वाला हो और तत्त्वदर्शी अर्थात् सकल कर्मो की उपाधि से रहित सिद्धस्वरूप आत्मा को देखने वाला हो, उस आत्मा मे यह उत्तम वैराग्य होता है, और वह अपना आत्मकल्याण कर सकता है।

मीमांसा मांसला यस्य स्वपरागमगोचरा ।
बुद्धिः स्यात्तस्य वैराग्यं, ज्ञानगर्भमुदञ्चति ॥१७॥

जिस साधक की मीमासा (तत्त्व-विचारणा) विशाल हो, जिस की बुद्धि स्वपर (जैनसिद्धान्तो और कपिलादि शास्त्रो) आगमो का ज्ञानसम्पादन करके शुद्धमार्ग को पहिचान लेती है। उसमे ज्ञानगर्भित वैराग्य प्रगट होता है।

न स्वान्यशास्त्रव्यापारे प्राधान्यं यस्य कर्मणि ।
नाऽसौ निश्चयसंशुद्धं सार प्राप्नोति कर्मणः ॥१८॥

जिस संयमी आत्मा के कार्य मे स्व-पर-शास्त्र के (अनुसार) व्यापार (प्रवृत्ति अनुष्ठान) की प्रधानता (मुख्यता) नही है, वह निश्चयदृष्टि से परामर्यशुद्ध कर्म (क्रिया) का सारभूत फल नही पाता।

स्व-पर-शास्त्र के सम्बन्ध मे व्यापार का अर्थ है—स्वमत-परमत के शास्त्रो का अध्ययन, उनके अर्थो पर विचार और तदनुसार पुरुषार्थ। सिर्फ प्रत्युत्क्षेपणादि क्रिया मे ही उद्यत रहता हो, वह मुनि चरणसप्तति-रूप क्रिया का परमार्थशुद्ध मोक्षसाररूप फल नही प्राप्त कर सकता। शास्त्र मे कहा है

चरणकरणप्पहाणा ससमयपरसमयमुक्कवावारा ।
चरणकरणस्स सारं निच्छयसुद्ध व याणति ॥

सारांश यह है कि ज्ञानगर्भित वैराग्य मे सूक्ष्मभाव का अवलोकन करने वाला ज्ञान ही इष्ट है, स्थूलदृष्टिरूप ज्ञान अभीष्ट नही।

सम्यक्त्वमौनयोः सूत्रे गत-प्रत्यागते यतः ।
नियमो दर्शितस्तस्माद् सार सम्यक्त्वमेव हि ॥१९॥

क्योकि शास्त्र मे यह नियम बताया है कि जो सम्यक्त्व है, वही मौन (मुनित्व) है, और जो मौन है, वही सम्यक्त्व है, इन दोनो का अन्योन्याश्रय (गत-प्रत्यागत) सम्बन्ध है। इस कारण सम्यक्त्व ही सारभूत है।

श्री आचारागसूत्र मे बताया है 'ज सम्मति पासह, त मोणति

पासह । ज मोणति पासह, त सम्मति पासह' अर्थात् जो सम्यक्त्व (वीतरागोक्त जीवादि समग्र ज्ञेय पदार्थों को प्रमाण, नय, निक्षेप, द्रव्य, क्षेत्र, काल एव भाव से हेय-ज्ञेय-उपादेय के रूप मे यथावस्थितरूप से जानना, और श्रद्धापूर्वक मानना इस प्रकार का कारकसम्यक्त्व) है, वही मुनित्व (आश्रव आदि सर्व हेयपदार्थों से निवृत्ति प्राप्त करना) है, ऐसा समझो । जो मुनित्व है, वही सम्यक्त्व है, ऐसा समझो । मतलब यह है कि इन दोनो का परस्पर निश्चय (नियम से) सम्बन्ध बताया गया है । इसी कारण कहा है कि सम्यक्त्व ही सारभूत वस्तु है । क्योकि यह सिद्धान्त है सिज्झति चरणरहिया, दसणरहिया न सिज्झति' चारित्ररहित तो सिद्ध (मुक्त) हो सकता है, लेकिन दर्शन (सम्यक्त्व) रहित सिद्ध नही हो सकता । क्योकि सम्यक्त्व की शुद्धि से चारित्र की शुद्धि होती है। और शुद्ध सम्यक्त्व स्व-पर-शास्त्र के बोध से होता है।

अनाश्रवफल ज्ञानमव्युत्थानमनाश्रव ।
सम्यक्त्वं तदभिव्यक्तिरित्येकत्वविनिश्चय ॥२०॥

ज्ञान का फल आश्रवरहित होना है, और अनाश्रव (आश्रवत्याग) का फल है विषयो के प्रति अनासक्ति । इन दोनो की अभिव्यक्ति (प्रकट होना) ही सम्यक्त्व है । इस प्रकार इन दोनो की अभिन्नता (एकत्व) का निश्चय है ।

ज्ञान का फल है नवीन कर्मबन्धन का अभाव (अनाश्रव) अर्थात्-आश्रवनिरोध । आश्रव के निरोध के बिना ज्ञान, ज्ञान नही है । इसी कारण ज्ञान का फल अनाश्रव बताया है, और वही सम्यक्त्व है। आश्रवरहितता ही अव्युत्थान है यानी आत्मस्वभाव के विरुद्धभावों मे प्रवृत्त न होना है, जो रागादि विषयो की अनुत्पत्तिरूप है । तात्पर्य यह है कि आत्मा के लिए हितकारक कार्य मे ही प्रवृत्ति करना अनाश्रव है । और अनाश्रव है, वही सर्वचारित्रता (मुनित्व) है और वही सम्यग्ज्ञान है । अत अनाश्रवफल वाला ज्ञान और अव्युत्थान की उत्पत्ति (अभिव्यक्ति) को ही सम्यक्त्व समझना । इस प्रकार ज्ञान का फल अनाश्रव और अनाश्रव यानी सम्यक्त्व; यो दोनो का अनाश्रव-

न स्वभाव होने से एकत्व (अभेद) का निश्चय है। तात्पर्य यह है कि आत्मा में अनाश्रव को पैदा करने वाला ज्ञान है और अनाश्रव का होना चारित्र है, जो आत्मा का हितोपयोगी है, यही साधक-जीवन सम्यक्त्व का प्राकट्य है। इस प्रकार सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र तीनों के परस्पर समावेश होने से एकत्व (अभेद) का निश्चय करना चाहिए।

बहिर्निवृत्तिमात्रं स्याच्चारित्राद् व्यावहारिकात् ।
अन्तःप्रवृत्तिसारं तु सम्यक्प्रज्ञानमेव हि ॥२१॥

व्यावहारिक चारित्र से केवल बाह्यपदार्थों में निवृत्ति होती है। परन्तु अन्तःकरण की प्रवृत्ति की दृष्टि से श्रेष्ठफलदायक साररूप तो सम्यक्त्वसहित ज्ञान है।

जीववध आदि तथा धन-धान्य, कंचन-कामिनी आदि बाह्य पदार्थों का त्याग, साधारण मनुष्यों के चर्मचक्षुओं से ज्ञानव्यापार में दृश्यमान, क्रियात्मक संयम व्यवहारचारित्र से होता है। परन्तु अन्तःकरण के आर्त्त रौद्रध्यान आदि से निवृत्ति नहीं होती। अन्तःकरण से सम्बन्धित प्रवृत्ति यानी शुभ (धर्म) ध्यान तथा शुभ उपयोगादि में प्रवृत्ति की दृष्टि से श्रेष्ठफलदायक सार तो जिनेश्वरकथित सम्यक्त्वसहित प्रकर्ष ज्ञान ही है। यही उत्तम चारित्र है।

एकान्तेन हि षट्कायश्रद्धानेऽपि न शुद्धता।
सम्पूर्णपर्यायलाभाद् यन्न याथात्म्यनिश्चयः ॥२२॥

एकान्तरूप से षड्जीवनिकाय पर श्रद्धा रखने से शुद्धता नहीं होती, क्योंकि सम्पूर्ण पर्यायों के लाभ के बिना यथार्थस्वरूप का निश्चय नहीं होता।

समस्त नयों की अपेक्षा रखे बिना एकान्त पृथ्वी आदि षट्कायिक जीवों की रक्षा के प्रति श्रद्धा रखने से भी सम्यक्त्व की शुद्धता नहीं होती। अर्थात्—ये जीव हैं, इन्हें नहीं मारना चाहिए, ऐसी श्रद्धा का स्वीकार करने पर भी शुद्धता यानी आत्मा एवं चारित्र की निर्मलता नहीं होती। क्योंकि अभी तक सम्यक्त्व की अशुद्धता है। इससे स्वपर-

सम्बन्ध की दृष्टि से समग्र पर्यायो पदार्थसमूह के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप से उत्पन्न हुए विशेष धर्मों के ज्ञान का यथार्थ लाभ नही होता। तात्पर्य यह है कि विशिष्ट धर्मो का ज्ञान न होने से आत्मा के अपने स्वपर-सर्वपर्यायो के अश यथार्थ वस्तु स्वरूप का निश्चय नही होता।

यावन्तः पर्यया वाचां यावन्तश्चार्थपर्ययाः।
साम्प्रताऽनागतातीता स्तावद् द्रव्य किलैककम् ॥२३॥

जगत् मे वर्तमान, भूत और भविष्य के जितने वचन-पर्याय हैं, और जितने अर्थपर्याय है, वे सब मिल कर (समस्त पर्यायसहित) एक ही द्रव्य है।

वाणी के पर्याय जितनी सख्या मे हैं, यानी वाच्यशब्दो के भेद हैं जैसे जीव के जीव, जन्तु, जन्य, जन्मो, शरीरी, शरीरभृत, शरीरभाक्, शरीरधारी, देही, तनुमान, असुमान, प्राणी, चेतन, चिद्घन, चिदानन्द, चिद्विलासी, वेत्ता, ज्ञाता, ज्ञानी, द्रष्टा इत्यादि वाच्यधर्म के वाचक वचनपर्याय हैं तथा जितनी सख्या मे जीवादि समस्त पदार्थों के उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यस्वभाव की अपेक्षा से एव नर, नारक, बालक, युवक, वृद्ध, स्त्री, पुरुष, पण्डित और मुर्ख इत्यादि विशेषधर्म के प्रकार हैं, अर्थात् पूर्व-पूर्व पर्याय के नाश से उत्तर-उत्तर स्वभावरूप से उत्पन्न पदार्थ, उनमे भी वर्तमान, भूत एव भविष्यकाल के जो समस्त पर्याय है, इतने परिणाम मे समस्त वचन और अर्थ के पर्यायों की जितनी सख्या होती है, वे सब अश मिल कर सर्वांश मे सम्पूर्ण एक द्रव्य (जीवादि) होता है। यानी अपने द्रव्यत्वस्वरूप से जीवादि एक द्रव्य सिद्ध होता है।

स्यात्सर्वमयमित्येवं युक्तं स्वपरपर्ययै।
अनुवृत्तिकृत स्वत्वं परत्वं व्यतिरेकजम् ॥२४॥

इसी प्रकार स्व-पर-पर्यायो से युक्त एक ही द्रव्य सर्वपदार्थमय हो जाता है और उनमे अनुवृत्ति सहचारी गुण से स्वत्व और व्यतिरेक से उत्पन्न परत्व समझना चाहिए।

समस्त पदार्थ स्व (जीव अथवा अजीव के अपने) पर्यायो तथा

(परमाणु) या आत्मा के पर्यायो (धर्मों) से युक्त (सम्बन्धित) ते हैं। एक ही जीव आदि द्रव्य सर्वपदार्थों में व्याप्त (सर्वमय) होता और वे सब भी एक में व्याप्त होते हैं। पदार्थ मे जो स्वत्व है, वह हचारी (सहज) गुण की दृष्टि मे है। जैसे जीव मे नारकी आदि र्याय पहले था, वह स्वत्व अन्वय की दृष्टि से है। और व्यतिरेक भिन्नता निवृत्ति) की दृष्टि से परत्व (परभाववाला) जानना। जैसे व के अनादिकाल से अनन्त भेदो से युक्त वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श द्गलजनित होने से स्वत्वरहित है।

इसी बात को विशेष स्पष्ट करते हैं

ये नाम परपर्याया स्वास्तित्वायोगतो मता.।
स्वकीया अप्यमी त्यागस्वपर्याय-विशेषणात् ॥२५॥

जो परपर्याय हैं, वे सब अपने अस्तित्व के अयोग (असम्बन्ध) से ाने गए है। वे परपर्याय भी त्यागरूप स्वपर्याय के विशेषण से स्व ीय (स्वपर्यायी) कहलाते है।

जिन्हे परपर्याय कहा गया है, उन्हे भी आत्मा की विद्यमानता के सम्बन्ध की अपेक्षा से कहा गया है, वे परपर्याय भी त्याग व्यतिरेक प स्वपर्याय के विशेषण की दृष्टि से स्व (आत्मा) के पर्याय समझना ाहिए। जैसे घट के स्वपर्याय के त्याग (अभाव) वाला पट है। इसलिए ट भी घट के स्वत्यागरूप पर्याय की अपेक्षा से स्वकीय है। वैसे ही व-त्यागरूप सम्बन्ध की अपेक्षा से पर्याय भी आत्मा के लिए स्वकीय है और उन पदार्थों के स्वत्यागरूप सम्बन्ध की अपेक्षा से उसके लिए आत्मा भी स्वकीय है।

अतादात्म्येऽपि सम्बन्ध-व्यवहारोपयोगत.।
तेषां स्वत्वं धनस्येव व्यज्यते सूक्ष्मया धिया ॥२६॥

आत्मा मे उन परपर्यायो की तद्रूपता नही है, फिर भी सम्बन्धरूप व्यवहार के कारण वैसा प्रयोग होता है। जैसे धन धनिक से व्यवहार से अलग नही दिखता, वैसे ही सूक्ष्मबुद्धि से आत्मा मे परपर्यायो का स्वपर्यायत्व मालूम होता है।

आत्मा का परपर्यायों के साथ तादात्म्यभाव का सम्बन्ध नहीं है, तथापि व्यवहारनय की दृष्टि से उसका सम्बन्ध परपर्यायों के साथ दिखता है। जैसे धनिक का धन के साथ सम्बन्ध नहीं है लेकिन व्यवहारनय से धनिक और धन का सम्बन्ध मालूम होता है। इसी प्रकार आत्मा और परपर्यायों का भेद दिखता नहीं है यह बात सूक्ष्म बुद्धि से देखने पर ही प्रतीत होता है।

पर्यायाः स्युर्मुनेर्ज्ञानदृष्टिचारित्रगोचराः।
यथा भिन्ना अपि तथोपयोगाद् वस्तुनो ह्यमी ॥२७॥

जैसे मुनि के ज्ञान, दर्शन और चारित्र के पर्याय भिन्न होते हुए भी साथ ही रहते हैं, वैसे ही उपयोग की दृष्टि से निश्चयनय से वस्तु के ये अपने-अपने पर्याय होते हैं, व्यवहारनय से तो एक आत्मा ही होती है।

नो चेदभावसम्बन्धान्वेषणे का गतिर्भवेत् ?
आधारप्रतियोगित्वे द्विष्ठे न हि पृथक् द्वयोः ॥२८॥

अगर ऐसा न हो तो अभाव के सम्बन्ध मे अन्वेषण करने में क्या गति होगी ? इसलिए आधार और प्रतियोगी इन दोनो के विषय मे वह सम्बन्ध रहता है, परन्तु उन दोनो मे पृथक्-पृथक् नही रहता।

यदि परस्वरूप से बताते हुए पर्याय किसी भी तरह स्वकीय (आत्मा के) न हो, तो अभाव (अविद्यमानत्व) का सम्बन्ध ढूढने मे कौन-सा आधार रहेगा ? जैसे घट का अभाव-सम्बन्ध घट मे नही हो सकता, क्योंकि घट तो घट के भाव (अस्तित्व) का आधार है, अगर वह घटरहित भूतल में भी न रहे तो कहाँ रहेगा ? इसलिए उस अभाव का स्थान बताते है भूतलादि आधार और घटादि प्रतियोगी इन दोनो के विषय मे सम्बन्ध रहता है, इसलिए उन दोनो में वह सम्बन्ध अलग-अलग नही रहता।

इसी अपेक्षा से सर्वपर्याय से आत्मा भिन्न नही है, यह ध्यान रहे।

स्वान्यपर्यायसश्लेषात् सूत्रेऽप्येव निदर्शितम्।
सर्वमेकं विदन् वेद सर्व ज्ञानं तथैककम् ॥२९॥

स्वपर्याय और परपर्याय के सश्लेषण (सम्बन्ध) से सूत्र मे सर्व एक ही है, ऐसा कहा है। यानी एक द्रव्य को जानने वाला सर्वद्रव्य को जानने वाला सर्वद्रव्य को जानता है, और सर्वद्रव्य को जानने वाला एक द्रव्य को सम्पूर्ण जानता है।

आत्मा और आत्मा से भिन्न दूसरे पदार्थों के पर्यायों के परस्पर मिश्रण होने से आचारांग सूत्र मे कहा है जे एगं जाणइ; जे सव्वं जाणइ, जे सव्वं जाणइ, से एगं जाणइ जो एकद्रव्य को जानता है, वह सर्वद्रव्यों को जानता है और जो सर्वद्रव्यो को जानता है वह एक द्रव्य को जानता है। कहने का तात्पर्य यह है कि जो एक जीवादि द्रव्य को परिपूर्णरूप से जान लेता है, वह सर्वद्रव्यो को निर्विशेपरूप से जानता है, तथा जो सर्वद्रव्यो को जानता है, वह एक जीवादि के परिपूर्ण ज्ञान को जानता है। अत संग्रहनय के मतानुसार सर्वज्ञान एक ही है। उपर्युक्त वात का विश्लेषण करते है

आसत्तिपाटवाभ्यास-स्वकार्यादिभिराश्रयन्।
पर्यायमेकमप्यर्थं वेत्ति भावाद् बुधोऽखिलम् ॥३०॥

आसत्ति, पटुता, अभ्यास, और स्वकार्य आदि को ले कर एक पर्याय का भी आश्रय लेने वाला पण्डितपुरुष भाव से समग्र पदार्थों को जानता है।

आसत्ति यानी प्रस्तुत पदार्थ से सम्बन्धित ज्ञान के लिए निरन्तर अनुकूल बोध कराने वाले अभ्यास से समीपवर्ती होना, पाटव यानी तीक्ष्णबुद्धि से जिनवचन के बोध से उत्पन्न पटुता चातुरी, अभ्यास यानी गुरुमुख से श्रवण किये हुए अर्थ के सम्बन्ध में बार-बार युक्तायुक्त का विचार और स्वकार्य यानी उस वस्तु की स्वार्थक्रियाकारिता, अथवा जिससे जो स्वकार्य सिद्ध हो, उसका निश्चय करना, इत्यादि से हेतु, सम्बन्ध, और प्रमाणादि द्वारा एक भी पर्याय (वस्तु के धर्म)

का विधिपूर्वक धारण (आश्रय) करता (विचारता) हुआ पण्डित भाव से यानी चित्त के शुद्ध परिणाम से समग्र भाव को जान लेता है।

अन्तरा केवलज्ञानं प्रतिव्यक्तिर्न यद्यपि।
क्वापि ग्रहणमेकांशद्वारं चातिप्रसक्तिमत् ॥३१॥

यद्यपि केवलज्ञान के बिना प्रत्येक पदार्थ की अभिव्यक्ति नहीं होती, और किसी-किसी विषय में एकांशद्वार का ग्रहण (ज्ञान) होता है, तथापि छद्मस्थों को अनेक पर्यायों की प्राप्ति वाला ज्ञान हो जाता है।

यद्यपि समस्त पदार्थों (भावों) को हस्तामलकवत् आवरणरहित जानने और प्रगट करने वाले केवलज्ञान के सिवाय मति-श्रुतादि ज्ञान द्वारा प्रत्येक वस्तु के अनन्त पर्यायों की अभिव्यक्ति (बोध या कथन) नहीं हो सकती, अर्थात् केवलज्ञान के बिना मति आदि ज्ञानी प्रत्येक वस्तु के सर्वपर्यायों को नहीं जानते। किसी विषय में एकांशद्वार एकपर्यायरूप द्वार यानी मुख्यता अथवा उपाय वाला ज्ञान (ग्रहण) होता है, वह भी छद्मस्थों को अतिप्रसक्ति अनेकपर्यायप्राप्ति से युक्त होता है, जैसे जीव, धर्म, अधर्म और आकाश के अरूपित्व और परमाणु के रूपित्व का बहुपर्याय वाला ज्ञान छद्मस्थ को होता है, किन्तु अनन्तपर्याय वाला नहीं होता।

अनेकान्तागमश्रद्धा तथाऽप्यस्खलिता सदा।
सम्यग्दृशस्तयैव स्यात् सम्पूर्णार्थ-विवेचनम् ॥३२॥

फिर भी सम्यग्दृष्टि पुरुष को अनेकान्त से अनुप्राणित आगमों के प्रति सतत अस्खलित श्रद्धा होती है, और उसी श्रद्धा से ही सम्पूर्ण अर्थ का विवेचन हो सकता है।

ऐसा होते हुए भी सम्यग्दृष्टिसम्पन्न आत्मा को नित्यत्व आदि किसी एक ही पक्ष का आश्रय करके किसी पदार्थ का निश्चय न करने वाले अनेकान्त (सापेक्षवाद) से युक्त आगम सिद्धान्त के प्रति श्रद्धा सर्वदा अतिचाररहित अखण्डित होती है। इस प्रकार के शुद्ध दृष्टि-सम्पन्न व्यक्ति को उत्सर्ग-अपवाद, निश्चय-व्यवहारनयों से सम्पूर्ण पदार्थ के वस्तुस्वरूप का निश्चय हो सकता है। इसलिए ऐसा व्यक्ति

ागमश्रद्धा आदि के बल से प्रत्येक वस्तु की अनन्तपर्यायो का विवेचन यथार्थरूप से कर सकता है।

आगमार्थोपनयनाज्ज्ञाने प्राज्ञस्य सर्वगम्।
कार्यादिर्व्यवहारस्तु नियतोल्लेखशेखर ॥३३॥

आगम के अर्थो का उपनय अर्थघटन का आश्रय लेने से बुद्धिमान पुरुष को सर्वगामी ज्ञान हो जाता है और कार्य आदि का व्यवहार तो उसके निश्चय किये हुए उल्लेख के शेखर के समान होता है।

जिनोक्त सिद्धान्त मे कथित अर्थ के सम्बन्ध की स्मरणपूर्वक जानकारी करके उसका ध्यान करने मे बुद्धिमान पुरुष को स्थूल, सूक्ष्म वगैरह सभी भावो का ज्ञान हो जाता है। तात्पर्य यह है कि केवलज्ञानियो ने अपने ज्ञान मे जो साक्षात् देखा है, वही आगम मे है, और सम्यग्दृष्टि आत्मा भी उन्ही वचनो को श्रद्धा के साथ कहता है, इसलिए दोनो का ज्ञान तो सर्वगामी होने के समान है, इसलिए यहाँ यह कहा गया है कि प्राज्ञ पुरुष को आगमोक्त अर्थ का आश्रय ले कर जो श्रद्धात्मक ज्ञान होता है, वह सर्वगामी होता है। तथा परोपदेशादि क्रिया, तपस्या, विहार, वैराग्य का व्यवहार (प्रवृत्ति) तो बुद्धिमान साधक के लिए अवश्य (नियत-कर्त्तव्य) रूप होने से आगमोक्त विशेष वचन शेखर (सेहरे) के समान है। यानी तीर्थंकारो ने उत्तममार्ग की जो चित्ररेखा खीची है, उसी को सुन्दर बनाने के समान आचरण है।

तदेकान्तेन य कश्चिद् विरक्तस्यापि कुग्रह।
शास्त्रार्थबाधनात् सोऽयं जैनाभासस्य पापकृत् ॥३४॥

इसलिए जो कोई विरक्त साधक हो कर भी एकान्तरूप से एक ही पक्ष का कदाग्रह रखता है, वह कुग्रही है, क्योकि ऐसा कुग्रही शास्त्र के अर्थ का बाधक होने से जैनाभास और पापकारी होता है।

पूर्वोक्त दृष्टि से यदि कोई सर्वथा क्रिया का आग्रह रखता है या एकान्त ज्ञान का आग्रह रखता है, वह विरक्त या त्यागी हो, फिर भी

दुराग्रही है और शास्त्र के अर्थ का घातक है, वह जैनाभास है। मतलब यह है कि वह लोकोत्तर मिथ्यात्व से युक्त होने के कारण वास्तव में वह जैन नहीं है, और अपनी उत्सूत्रप्ररूपणा के पाप के कारण वह पापी है और इस पाप के फलस्वरूप दुःख पाता है।

उत्सर्गे वाऽपवादे वा व्यवहारेऽथ निश्चये।
ज्ञाने कर्मणि वाऽयं चेन्न तदा ज्ञानगर्भिता ॥३५॥

यदि यह कदाग्रह उत्सर्ग के विषय में, अपवाद के विषय में, व्यवहार या निश्चय के सम्बन्ध में हो, अथवा ज्ञान के विषय में या क्रिया के विषय में हो, तो वह ज्ञानगर्भित वैराग्य कहलाता ही नहीं है।

सामान्यतया साधुसमाचारी के सम्बन्ध में उत्सर्गमार्ग में अथवा अपवादमार्ग में, ज्ञान-दर्शन-चारित्र के व्यवहारमार्ग में या प्रवर्तनात्मक वस्तु के उत्पाद आदि व्यवहार के सम्बन्ध में, अथवा निश्चय में जीव के परम-निरंजन भावमय शुद्ध सत्ता के अवलम्बन वाले द्रव्यत्व के ही आश्रय के सम्बन्ध में या आभ्यन्तर ध्यानादि के निश्चय के सम्बन्ध में अथवा ज्ञान ही सर्वकार्यसाधक है, क्रिया से क्या लाभ? इस प्रकार एकान्त ज्ञानमार्ग में अथवा क्रिया ही समग्र अर्थसाधिका है, ज्ञान से क्या मतलब है? क्रियामार्ग में इस प्रकार का एकान्त कदाग्रह रखता है, वह चाहे कितना ही विरक्त साधक (मुनि) हो, फिर भी उसमें ज्ञानगर्भित वैराग्य नहीं है, उसका वैराग्य तो मोहगर्भित ही कहलाता है।

नयेषु स्वार्थसत्येषु मोघेषु परचालने।
माध्यस्थ्यं यदि नायात, न तदा ज्ञानगर्भिता ॥३६॥

अपने-अपने अर्थ के विषय में सभी नय सत्य हैं, तथा पर का विचार करने में अनर्थक (असत्य) हैं, इस प्रकार सभी नयों के विषय में जब तक मध्यस्थता नहीं आई, तब तक समझना चाहिए कि ज्ञानगर्भित वैराग्य नहीं है।

नय सात हैं। वे सभी अपने-अपने पक्ष के विषय में अपने-अपने

मन्तव्य यथार्थ तत्त्व का प्रतिपादन करने मे सत्य है, किन्तु अपने से अतिरिक्त नयो का विचार करने मे अयथार्थ (निरर्थक) है। अर्थात् निश्चयनय अपने मन्तव्य का जोरशोर से प्रतिपादन करता है, तभी वह सत्य लगता है, किन्तु व्यवहारनय की ओर से उसका मन्तव्य खण्डित होने लगे, तव निश्चयनय भी सर्वथा असत्य (अयथार्थ) लगता है। उस समय उस-उस नय को एकान्तरूप से पकड़ रखे या एकान्तरूप से तिरस्कार करे, अर्थात् पूर्वोक्त प्रकार से सभी नयो के मन्तव्य में माध्यस्थ्यभाव धारण न करे तो मानना चाहिए कि उस साधक का वैराग्य ज्ञानगर्भित नही है। तात्पर्य यह है कि सभी नयो के प्रति तटस्थता और तत्त्वपरीक्षणवुद्धि हो, वही ज्ञानगर्भित वैराग्य समझना चाहिए।

स्वागमेऽन्यागमार्थानां शतस्येव परार्धके।
नावतारवुधत्वं चेन्न तदा ज्ञानगर्भता ॥३७॥

जैसे परार्ध की संख्या में सौ की संख्या का समावेश हो जाता है, वैसे ही स्वागमो (जैनागमो) मे अन्यदर्शनीय आगमो के विषयो का समावेश करने (घटाने) का वुद्धि कौशल न हो तो उस साधक मे ज्ञानगर्भित वैराग्य नही है, ऐसा मानना चाहिए।

आज्ञयागमिकार्थानां यौक्तिकानां च युक्तित।
न स्थाने योजकत्वं चेन्न तदा ज्ञानगर्भता ॥३८॥

आगमोक्त जो अर्थ (वचन) आज्ञा से ग्राह्य हैं, उन्हे आज्ञाग्राह्य के रूप मे, तथा जो अर्थ (वाते) युक्तिग्राह्य है, उन्हे युक्ति से ग्रहण करने के रूप मे यथास्थान संयोजन करने की योग्यता यदि साधक मे नही है, तो उसका वैराग्य ज्ञानगर्भित नही है।

शास्त्रो मे वताई गई कई बाते हेतु, तर्क और युक्तियो वगैरह से ग्रहण नही की जा सकती, उन्हे जो जिनेश्वर की आज्ञा के रूप मे आगमप्रमाण (आप्तवचन=शब्दप्रमाण) से ग्रहण नही करता; तथा जो वाते युक्ति, तर्क एव दृष्टान्त आदि से ग्रहण की जा सकती है, उन्हे तदनुसार ग्रहण नही करता, अर्थात् जो पदार्थ जिस प्रमाण या

वाद से सिद्ध होता है, उसे इसी प्रमाण या वाद से सिद्ध करने के लिए यथास्थान संयोजनकुशलता जिसमे नही है, समझ लो, उसमे अभी ज्ञानगर्भित वैराग्य नही आया है।

गीतार्थस्यैव वैराग्यं ज्ञानगर्भं ततः स्थितम्।
उपचारादगीतस्याप्यभीष्टं तस्य निश्रया ॥३९॥

इसलिए यह सिद्ध हुआ कि ज्ञानगर्भित वैराग्य गीतार्थ को ही हो सकता है, औपचारिकरूप मे गीतार्थ के निश्राय मे अगीतार्थ को भी ज्ञानगर्भित वैराग्य माना गया है।

पूर्वोक्त कारणो से ज्ञानगर्भित वैराग्य सूत्र और अर्थो का नय-प्रमाण-हेतु-युक्त-तर्क-वाद-पुरःसर यथास्थान यथायोग्य व्याख्या एव स्वपरसिद्धान्त के जानकार गीतार्थ को ही होता है। हाँ, उपचार, व्यवहार या अपेक्षा से गीतार्थ के निश्राय में आज्ञाप्रधान के रूप मे गीतार्थ के अधीन रहने वाले अगीतार्थ भी मापतुषमुनि आदि की तरह ज्ञानगर्भित वैराग्य माना गया है।

सूक्ष्मेक्षिका च माध्यस्थ्यं सर्वत्र हितचिन्तनम्।
क्रियायामादरो भूयान् धर्मे लोकस्य योजनम् ॥४०॥

चेष्टा परस्य वृत्तान्ते मूकान्धबधिरोपमा।
उत्साहः स्वगुणाभ्यासे दुःस्थस्येव धनार्जने ॥४१॥

मदनोन्मादवमनं मद-सम्मर्दमर्दनम्।
असूयातन्तुविच्छेदः समतामृतमज्जनम् ॥४२॥

स्वभावान्नैव चलनं चिदानन्दमयात् सदा।
वैराग्यस्य तृतीयस्य स्मृतेयं लक्षणावली ॥४३॥

सूक्ष्मदृष्टि, माध्यस्थ्यभाव, सर्वत्र हितचिन्तन, क्रिया के प्रति अत्यन्त आदर, जनता को धर्म मे लगाना, दूसरों की बातों के सम्बन्ध मे मूक, अधे और बहरे के समान चेष्टा, अपने मे या आत्मा के गुणो को बढाने के अभ्यास के लिए उतना और वैसा ही उत्साह, जितना और जैसा उत्साह निर्धन को धन कमाने के लिए होता है, तथा काम-देव के उन्माद (कामोत्तेजना) का वमन (त्याग), जातिकुलादि अष्ट

मदसमूह का मर्दन (मार देना), असूया (दोषदृष्टि तथा डाह) के अंशमात्र (तन्तु) का भी उच्छेद, समतारूपी सुधा में डुबकी लगाना, सदैव अपने चिदानन्दमय स्वभाव मे अविचल (अटल) रहना, यह लक्षणावली तृतीय वैराग्य (ज्ञानगर्भित वैराग्य) की मानी गई है।

ज्ञानगर्भित वैराग्यसम्पन्न साधक में निगोद का अनादि-अनन्त धर्म भव्यत्व-अभव्यत्व आदि भावो को ग्रहण करने मे पैनी (निपुण और सूक्ष्म) दृष्टि होती है, तत्त्वपरीक्षा मे वह पक्षपात तथा रागद्वेषरहित माध्यस्थ्यभाव अपनाता है, समस्त प्राणियो के प्रति एकान्त हित-चिन्तन होता है, यानी उनके कल्याण तथा मोक्ष की प्राप्ति की भावना होती है। सयमानुकूल क्रिया के प्रति अत्यन्त सम्मान और उद्यम होता है, धर्मधन से रहित लोगो को उपदेश दे कर जिनोक्त सम्यक्त्व आदि धर्म मे जोडता है, अपने अतिरिक्त समस्त जनो की सासारिक प्रवृत्ति के वारे मे मूक, वधिर और अन्धे की तरह कहने, सुनने और देखने मे उदासीन रहता है, यानी वह वाणी से किसी सासारिक व्यक्ति की निन्दा या अतिशयोक्ति नही करता, न किसी की अच्छी-बुरी चेष्टा सुनता-देखता ही है, वह सतत धर्म-प्रवृत्ति-करने मे रत रहता है। जैसे दरिद्र या गरीव आदमी धन कमाने के लिए प्रवल उत्साह-पूर्वक प्रवृत्ति करता है, वैसे ही ज्ञानगर्भित वैराग्ययुक्त आत्मा भी ज्ञान, ध्यान, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, भावना एव स्वभाव-रमण आदि आत्म-गुणो को प्राप्त करने मे रात-दिन तीव्र उत्साहपूर्वक सहर्ष लगा रहता है। तथा कामविकारो को वह अन्तर से वमन की तरह त्याग देता है, वह कदापि कामविकारो के अधीन हो कर कामोन्मत्त नही होता। वह अपने जीवन मे जाति, कुल, वल, रूप, तप, ज्ञान, धनादि के लाभ एव ऐश्वर्य (वैभव) इन आठो से उत्पन्न मदो की शृखला को चूर-चूर कर देता है, तथा गुणो या गुणवानो के प्रति ईर्ष्या, द्वेष या डाह के तारो को जड से उखाड फेकता है, वह सभी प्राणियो के प्रति समतारूपी अमृत-सरोवर मे अवगाहन करता है, यानी सदैव समतामृतसिन्धु मे ही निमग्न रहता है, न किसी पर रागद्वेष करता है और न ही चिदा-नन्दमय स्वभाव मे लीन रहता है, उस आत्मस्वभाव से वह कदापि चलित नही होता। इस प्रकार इन ४ श्लोको मे ज्ञानगर्भित वैराग्य-

सम्पन्न साधक के अनेक लक्षण बताते हैं। ऐसे लक्षण जिस आत्मा में हो, उसमें ज्ञानगर्भित वैराग्य समझना चाहिए।

ज्ञानगर्भमिहादेयं द्वयोस्तु स्वोपमर्दतः।
उपयोगः कदाचित् स्यान्निजाध्यात्मप्रसादतः ॥४४॥

पूर्वोक्त तीनों प्रकार के वैराग्यों में से ज्ञानगर्भित वैराग्य ही यहाँ उपादेय (ग्रहण करने योग्य) है; बाकी के दोनों प्रकार के वैराग्यों का अपने-अपने उपमर्दन (नाश) को ले कर अपने अध्यात्म के प्रसाद कृपा से कदाचित् उपयोग हो सकता है।

पूर्वोक्त तीनों प्रकार के वैराग्यों में से मुमुक्षुजनों के लिए तृतीय ज्ञानगर्भित वैराग्य ही स्वीकार करने योग्य है। बाकी के दो वैराग्य—दुःखगर्भित और मोहगर्भित तो उनके अपने-अपने परिणामों का उपमर्द (नाश) हो जाने पर यानी दोनों के परिणाम मिट कर ज्ञानगर्भित परिणाम के हो जाने पर अध्यात्म के प्रसाद यानी आत्मा की प्रसन्नता स्वच्छता शुद्धता के लिए कदाचित् उपयोगी हो सकते हैं। तात्पर्य यह है कि जो आत्मा दुःख से या मोह से विरक्त होता है, उसे कालान्तर में जब ज्ञानगर्भित वैराग्य हो जाता है, तो पूर्वोक्त दोनों वैराग्य खत्म हो जाते हैं। इस दृष्टि से ये दोनों वैराग्य किसी समय किसी जीव को संयम-आराधना के मार्ग पर चढ़ाने में उपयोगी हो सकते हैं, बशर्ते कि इसमें अपने अध्यात्मभूप की कृपा हो जाए। ऐसा होने पर ये दोनों वैराग्य आगे चल कर स्वतः छूट जाते हैं, केवल ज्ञानगर्भित वैराग्य ही रह जाता है, जो ईष्टसिद्धि में सहायक होता है।

॥ इतिवैराग्यभेदाधिकारः ॥

वैराग्य-विषय

विषयेषु गुणेषु च द्विधा, भुवि वैराग्यमिदं प्रवर्तते।
अपरं प्रथमं प्रकीर्तितं परमध्यात्मबुधैर्द्वितीयकम् ॥१॥

इस पृथ्वी पर दो प्रकार के वैराग्य प्रचलित हैं--एक तो विषयों के सम्बन्ध मे और दूसरा गुणो के सम्बन्ध मे। अध्यात्म के विद्वानो ने इन दोनो मे से प्रथम वैराग्य को अपर और दूसरे को पर (प्रधान) कहा है।

इस विश्व मे पूर्वोक्त ज्ञानगर्भित वैराग्य दो प्रकार से प्रवर्तमान होता है--पहला इस लोक और परलोक से सम्बन्धित शब्दादि पाच विषयो के प्रति नि स्पृहता (विरक्ति) हो कर और दूसरा गुणो, यानी तप के प्रभाव से समुत्पन्न चारण, पुलाक, आमर्श-औषधि आदि लब्धियो-के विषय मे मदरहितता, निरहकारिता होना। इन दोनो मे से क्रमश प्रथम विषय-वैराग्य को अप्रधान (अपर) कहा है, क्योकि विषयो के प्रति अविरक्ति तो सामान्य पुरुषो मे भी निन्द्य होने से विषयवैराग्य आसान है, किन्तु दूसरा गुणवैराग्य कठिन होने से उसे प्रधान (पर) कहा है। गुणवैराग्य में दुर्निवार्य राग, द्वेष, मोह आदि से विरक्ति करनी होती है, तया उनसे विरक्ति न हो तो भी जगत् मे कई साधक महात्मा की तरह पूजे जाते हैं, इसलिए वह दुर्गम है, किन्तु विषयवैराग्य उपकारी है।

विषया उपलम्भगोचरा अपि चानुश्रविका विकारिण।
न भवन्ति विरक्तचेतसां विषधारेव सुधासु मज्जताम् ॥२॥

शास्त्रो आदि से या अनुभवी पुरुषो से कर्णपरम्परा से सुने हुए विषय के उपलब्ध (प्राप्त) होने पर भी विरक्तचित्त साधको के लिए उसी तरह विकार पैदा करने वाले नही होते, जिस तरह अमृत मे निमग्न पुरुष को विषधारा नही होती।

इन्द्रियो द्वारा ग्रहण करने योग्य इस लोक मे प्रवर्तमान विषय तथा गुरुमुख से, आगमो से सुने हुए स्वर्गादि-सम्बन्धी भूत तथा भविष्य के इन्द्र, चक्रवर्ती आदि के विषय विषय के दुष्परिणामो के ज्ञान से जिनका चित्त अत्यन्त उदासीन और विरक्त है, उन पर विकारो का बल जरा भी नही चल सकता। जैसे अमृतधारा मे डूबे हुए पुरुष को विषधारा पीड़ित नही कर सकती, वैसे ही विरक्तचित्त पुरुष को इन्द्रिय-विषय भी विकृत करने मे जरा भी समर्थ नही होते।

सुविशालरसालमंजरी-विचरत्कोकिलकाकलीभरैः।
किमु माद्यति योगिनां मनो निभृतानाहतनादसादरम् ॥३॥

शान्त और अनाहत ॐ कार आदि ध्वनि मे मस्त (आदर वाले) योगियो का मन क्या विशाल आम्रवृक्ष की मंजरी पर विचरण करने वाली कोयल के मधुरशब्द सुन कर मत्त (मोहित) हो सकता है? कभी नही।

योगशास्त्र मे बताया है कि शरीर मे स्थित ब्रह्मरन्ध्र मे अनाहतनाद होता है, यानी वहाँ अनायास ही अर्हं, सोऽहं या ॐ की सतत ध्वनि होती रहती है। योगिजन जब ध्यानस्थ हो जाते है तो ब्रह्मरन्ध्र से उठी हुई उस अनाहतध्वनि को सुनते है, और उसमे तल्लीन हो कर महान् आनन्दसागर मे डूब जाते है, क्या उस समय विशाल आम्रवृक्ष की डाली पर बैठी हुई कोयल की मधुर आवाज से उनका मन मदोन्मत्त या आनन्दित हो सकता है? कदापि नही, क्योकि वे अनाहतनाद मे इतने एकाग्र एव निश्चल होते हैं, कि कोकिल का शब्द उनके कानो मे पहुचता भी नही है।

रमणी-मृदुपाणि-कंकण-क्वणनाकर्णनपूर्णघूर्णना.।
अनुभूतिनटी-स्फुटीकृतप्रियसंगीतरता न योगिनः ॥४॥

अनुभूतिरूपी नटी से प्रकट होने वाले प्रिय (आध्यात्म) सगीत मे मग्न योगी रमणियो के कोमल कणो के ककणो की ध्वनि सुन कर कभी आसक्त नही होते।

योगिजनो को योगविद्या के प्रभाव से आत्मस्वरूप आदि की

साक्षात् अनुभूति (अनुभवज्ञान) होती है, इसलिए वे उस अनुभूतिरूपी नटी के स्पष्ट और हृदयाल्हादकारी नृत्य और वाद्यसहित सगीत (आत्म-सगीत) मे इतने मस्त हो जाते है कि घिर ललनाओ के कोमल हाथो से पडे हुए रत्नजटित स्वर्णकंकणों के कर्णप्रिय रणकार उनके कर्णकुहरो मे भर जाय तो भी वे उसमे आसक्त नही होते। तात्पर्य यह है कि योगिजनो से आत्मिक अनुभूति के हृदयहारी मधुर सगीत की अपेक्षा नारियो के शृंगारयुक्त मधुरनाद रुचिकर नही होते, न उन्हे ये विचलित ही कर सकते हैं।

स्खलनाय न शुद्धचेतसा ललनापंचमचारुघोलना।
यदिय समतापदावली - मधुरालापरतेर्न रोचते ॥५॥

शुद्धचित्त वाले साधको को रमणियों के पचमस्वर की यह मधुर-ध्वनि स्खलित नही कर सकती, क्योकि समता की कोमलकान्त-पदावली के मधुर आलाप में रत साधको को ललनाओ का यह पंचमनाद रुचिकर नही होता।

रागादि दोषो की मदता एव विषयो के प्रति विरक्ति होने से जिनका मन विशुद्ध है, उन योगिजनो को क्रीडा करती हुई ललनाओ की पचमस्वर मे की गई मनोहर मूर्च्छना धर्मध्यान मे बाधाकारक नही होती, क्योकि वे समस्त प्राणियो के प्रति तुल्यवृत्तिरूप समता के स्वरूप और फल के प्रतिपादक शास्त्रवचनो के मधुर शान्तसुधारसमय आलाप मे इतने मस्त होते है कि उन्हे स्त्रियो की पचमस्वर से की हुई यह मनोहर ध्वनि कदापि पसद नही आती।

सततं क्षयि शुक्रशोणितप्रभवं रूपमपि प्रिय न हि।
अविनाशि - निसर्गनिर्मलप्रथमानस्वकरूपदर्शिनाम् ॥६॥

अविनाशी, स्वभाव से निर्मल और विराट् आत्म-स्वरूप देखने वाले योगिजनो को सतत क्षीण होने वाला, वीर्य और रज से उत्पन्न युवती-रूप कदापि प्रिय नही लगता।

आत्मा का स्वरूप, विनाश के कारणरूप रोगादि से कभी आक्रान्त नही होता इसलिए वह अक्षय है और अपने सहज स्वभाव से निर्मल

है, क्योंकि आत्मा अपने आप मे कर्मरूपी पक-मल के अभाव के कारण पवित्र है तथा विराट् है। आत्मा के उस विशुद्ध विराट् अतरंग रूप एवं सौन्दर्य को ज्ञानचक्षुओं से देखने वाले योगिजनो को रोगादि से व्याप्त होने के कारण विनश्वर, तथा पिता के वीर्य एवं माता के रज से उत्पन्न अशुचिमय युवती का रूप सौन्दर्य प्रीतिकारक नही होता। वे सतत शुद्ध आत्मस्वरूप देखने मे ही मस्त रहते है।

परदृश्यमपायसकुलं विषयो यत्खलु चर्मचक्षुष ।
न हि रूपमिदं मुदे यथा निरपायानुभवैकगोचरम् ॥७॥

जिस प्रकार अपायो से रहित तथा अनुभवमात्रगोचर आत्म-स्वरूप योगियो को मोदकारक होता है, उस प्रकार अन्यजनो द्वारा देखने योग्य अपायो से व्याप्त (नाशवान) एवं चर्मचक्षु का विषय यह शारीरिक रूप (सौन्दर्य) प्रीतिकारक नही होता।

अपाय यानी वियोग या विनाश से रहित, सदा एक-सी स्वाभाविक स्थिति मे रहने वाला तथा निरावरणपूर्ण ज्ञान (अनुभव)-मात्र का विषय (जो अनुभव से ही जाना-देखा जा सके) है, ऐसा आत्मस्वरूप जिस प्रकार योगियो को आनन्ददायक होता है, उस प्रकार का आनन्द-दायक यह शरीरसौन्दर्य (रूप) नही होता, क्योंकि वह रूप परस्त्री-लम्पटो द्वारा देखा जाता है, हरण किया जा सकता है अथवा अनेक पापो या कष्टो को पैदा करने वाले अपायो से घिरा है तथा वह केवल चर्मचक्षुओ का विषय है।

गति-विभ्रम-हास्य-चेष्टितैर्ललनानामिह मोदतेऽबुध. ।
सुकृताद्रिपविष्वमीषु नो विरतानां प्रसरन्ति दृष्टय ॥८॥

मूर्ख आदमी इस (चक्षु के) विषय मे स्त्रियो की गति (चालढाल), विलास, हास्य और चेष्टाओ को देख कर आनन्द पाते है, लेकिन सुकृत-रूपी पर्वत का भेदन करने में वज्र के समान इन स्त्रियो के विषय मे विरक्तजनो की दृष्टियाँ जरा भी नही दौडती।

स्त्रियो की राजहस के समान सुन्दर चालढाल, हावभाव, विलास (देदीप्यमान अलकारों एव शरीर की साजसज्जारूप विभ्रम), मुख-

नेत्रादि के विकासरूप हास्य, तथा वक्र भ्रुकुटि द्वारा कटाक्षयुक्त दृष्टि एवं अंगोपांगो की चेष्टाएँ देख-देख कर अज्ञानीजन ही मुदित होते हैं, किन्तु आत्मा के लिए हितकारक धर्मकृत्य अथवा सुख के कारणरूप शुभकर्म (सुकृत) रूपी पर्वत को चूर-चूर करने में वज्र के समान नारियों की गति आदि चेष्टाओं के सामने कामनाओं से निवृत्त विरक्त साधक आँख उठा कर भी नहीं देखते, तब फिर आसक्त तो होंगे ही कैसे ?

न मुदे मृगनाभि-मल्लिका-लवली-चन्दनचन्द्रसौरभम् ।
विदुषां निरुपाधिबाधितस्मरशीलेन सुगन्धिवर्ष्मणाम् ॥९॥

उपाधिरहित रूप में कामदेव के बाधक शील से जिनके शरीर सुगन्धित हैं, उन विद्वानों को कस्तूरी, मालतीपुष्प, लवंगलता, चन्दन और कपूर की सौरभ आनन्ददायक नहीं होती ।

यथार्थरूप से आत्म-स्वरूप के ज्ञाता विद्वानों का शरीर, समस्त क्लेशों (उपाधियों) से रहित तथा कामदेव के बाधक शील-स्वाभाविक शुद्धाचरण अथवा ब्रह्मचर्य से सुगन्धित होता है, इसलिए उन्हें कस्तूरी, मालती के फूल चन्दन, कपूर, आदि की सौरभ आकर्षित नहीं कर सकती । क्योंकि शील की सुगन्ध शाश्वत है, आत्मगुण प्रकट करने वाली एवं चिदानन्दमयी है, जबकि कस्तूरी आदि की सुगन्ध क्षणिक, और आसक्ति पैदा करने वाली है, उसके प्रति आकर्षण कैसे हो सकता है ?

उपयोगमुपैति यच्चिरं, हरते यन्न विभावमारुत ।
न ततं खलु शीलसौरभादपरस्मिन्निह युज्यते रतिः ॥१०॥

जो चिरकाल तक उपयोग में आता है, तथा विभावरूपी वायु जिसका हरण नहीं कर सकती, उस शील की सौरभ के सिवाय जगत् में अन्य किसी भी प्रीति करना उचित नहीं है ।

उपर्युक्त शीलरूपी सौरभ चिरकाल तक स्थायी रहती है, निर्दोष शुद्ध आचरण से उत्पन्न हुई शीलसौरभ अक्षय होती है, इस कारण वह सदा के लिए उपयोगी होती है, तथा उस शीलसौरभ को आत्महित का शत्रुरूप जीव का रागादि विभावपरिणामरूपी वायु हरण नहीं कर सकता, न पुष्प की सौरभ की तरह उसे देशान्तर में कोई ले जा

सकता है। अत शीलसौरभ सर्वोत्कृष्ट है, सकलगुणनिधान है। इसे छोड कर जगत् मे अन्य किसी भी नाशवान सुगन्ध मे रुचि रखना उचित नही है।

मधुरैर्न रसैरधीरता क्वचनाऽध्यात्मसुधालिहां सताम्।
अरसैः कुसुमैरिवालिनां प्रसरत्पद्मपरागमोदिनाम् ॥११॥

विकासित कमलों के पराग मे मुदित होने वाले भौंरो को जैसे नीरस पुष्पो मे कोई आतुरता नही होती, वैसे ही अध्यात्मरूपी अमृत का आस्वादन करने वाले सत्पुरुषो को पौद्गलिक मधुररसों मे कही भी अधीरता नही होती।

अध्यात्म (सद्ज्ञान-क्रियात्मक आत्मा की शुद्धपरिणतिरूपी) सुधा का आस्वादन करने वाले सतजनों को दूध, दही, शक्कर, घृत आदि षट्-रसों के सम्बन्ध मे किसी क्षेत्र-कालादि को ले कर लोलुपता (आतुरता) नही होती। जैसे विकसित कमलों के पराग की सुगन्ध से भरे हुए फूलों के रजकण मे आनन्द मानने वाले भौंरो को नीरस पुष्पो के आस्वादन मे कभी आसक्ति नही होती, वैसे ही आध्यात्मामृततृप्तमुनिवरों को दूध, शक्कर आदि मधुररसो के आस्वादन मे कभी आसक्ति नही होती।

विषमायतिभिर्नु किं रसैः स्फुटमापातसुखैर्विकारिभिः।
नवमेऽनवमे रसे मनो यदि मग्नं सततविकारिणि ॥१२॥

निर्दोष और सतत विकाररहित नौवें शान्तरस मे यदि मन मग्न हो गया हो तो उसे भयकर (विषम) परिणाम वाले, ऊपर ऊपर से (भोगकाल मे ही) सुखकारक एव विकारयुक्त अन्य रसो से क्या लाभ है ? कुछ भी नही।

जिसके परिणाम मे भी विकार न दिखाई दे, ऐसे निरन्तर अविकारी और दोषरहित नौवें शान्तरस नामक रसाधिराज मे जिसका चित्त लीन हो गया है, उसे अन्य सभी रस फीके लगते हैं, क्योंकि वे केवल भोग के समय सुखदायी लगते हैं, बाद मे परिणाम मे दु सह दु खदायी और विकारी (आत्मपरिणति को विकृत करने वाले) होते हैं, अत. उन देह विकृतिकारी दुग्धादि-रसों से आत्मा का क्या प्रयोजन सिद्ध हो

सकता है ? वास्तविक आत्म सुख के कारण शान्तरस के स्वाद के सामने अन्य सभी रस फीके हैं।

मधुरं रसमाप्य निष्पतेद् रसनातो रसलोभिनां जलम्।
परिभाव्य विपाकसाध्वसं, विरतानां तु ततो दृशोर्जलम् ॥१३॥

मधुर रस को पा कर स्वादलोलुप लोगो की जीभ से पानी टपकने लगता है, लेकिन विरक्त जीवो को उसके भयकर परिणामो का विचार करने मे आँखो मे आंसू आ जाते हैं।'

आश्चर्य है कि षट्रसयुक्त भोजन देखते या सुनते ही रसलोलुप लोगो के मुह मे लार टपकने लगती है, जबकि विरक्तजन उस रस को देख कर विचार में पड जाते हैं कि यह स्वादिष्ट भोजन कितने आरम्भ-समारम्भ से बना है, रसलोलुपतावश खाऊँगा तो इसके फल-स्वरूप भयकर कर्मबन्धन होगे और उनका दारुण फल भोगना पडेगा। मै तो अनादिकाल से इन पौद्गलिक रसो का उपयोग कर रहा हू कभी इससे तृप्त नही हुआ, मै कब अनाहारी पद प्राप्त करूँगा ? इत्यादि विचार करते-करते बरबस उसकी आँखो मे आँसू आ जाते हैं। रागी और विरागी के रसास्वादन मे कितना अन्तर है।

इह ये गुणपुष्पपूरिते धृतिपत्नीमुपगुह्य शेरते।
विमले सुविकल्पतल्पके क्व बहि स्पर्शरता भवन्तु ते ? ॥१४॥

जो साधक इस जगत् मे गुणरूपी पुष्पो से परिपूर्ण निर्मल शुभ विकल्परूपी पलँग पर धृतिरूपी पत्नी का आलिगन करके सोते है, वे स्त्री आदि के बाह्य स्पर्श मे आसक्त क्यो होगे ?

इस ससार मे चरणकरणादि या ज्ञान-श्रद्धादि गुणो-रूपी पुष्पो से परिपूर्ण निर्मल शुभ अध्यवसाय रूपी पलंग, चित्तसतोप एवं स्थिरता (धीरता) रूपी पत्नी का आलिगन करके जो सोते हैं, वे मुनिवर शय्या, स्त्री, पुष्प, चदन आदि बाह्य पदार्थों के स्पर्श के लिए क्यो लालायित होगे ? अर्थात् जो गुणप्राप्ति मे तत्पर है, मन मे शुभ विचार करता है तथा धैर्य धारण करता है, उसे ससार के इन्द्रियविषयो के स्पर्श मे कही मोह नही होता।

हृदि निर्वृतिमेव बिभ्रतां न मदे चन्दनलेपनाविधि ।
विमलत्वमुपेयुषां सदा सलिलस्नानकलाऽपि निष्फला ॥१५॥

हृदय में जो परमशान्ति धारण किये हुए हैं, उन्हें शरीर पर चन्दन के लेप करने से कोई प्रसन्नता नहीं होती। सदा निर्मल आत्मभावों को प्राप्त करने वालों के लिए जल से स्नान करने की कला भी निष्फल है।

सांसारिक भोगासक्त जीव शरीर पर चन्दन का लेप करने में सुख मानता है, तथा पानी से स्नान करने में शरीर की शुद्धि मानता है, लेकिन हृदय में मोक्षसुख अथवा परभाववर्जनरूप सुस्थिति एकाग्रतापूर्वक धारण करने वाले मुनियों के लिए चंदन का लेपन आल्हादकारक नहीं होता, तथा निरन्तर तप, संयम व शुभभावनादि से जिन्हें निर्मलता—कर्ममल से रहितता प्राप्त हो रही है, उनके लिए जलस्नान की कला—कुशलता भी व्यर्थ है। क्योंकि आत्मा में निहित मल को शुद्ध करने में जल समर्थ नहीं है।

गणयन्ति जनु स्वमर्थवत्सुरतोल्लाससुखेन भोगिनः ।
मदनाहिविषोग्रमूर्च्छनामयतुल्यं नु तदेव योगिनः ॥१६॥

भोगीजन मैथुन के विलासरूप सुख से अपना जन्म सफल मानते हैं, लेकिन योगिजन उसी सुख को कामरूपी सर्प के विष की उग्रमूर्च्छनारूपी व्याधि के सदृश मानते हैं।

भोगी लोग स्त्रियों के साथ रतिक्रीडा के सुख से अपना जन्म सार्थक समझते हैं, जबकि योगी लोग उसी भोगसुख को कामदेवरूपी सर्प के विष से हुई उग्रमूर्च्छना (सारे शरीर में तेजी से विष फैलने से हुई) व्याधि के समान मानते हैं।

अब तक लोकविषयक पंचेन्द्रिय-विषयों से वैराग्य का वर्णन किया, अब परलोक-सम्बन्धी विषयों से वैराग्य का वर्णन करते हैं

तदिमे विषयाः किलैहिका न मुदे केऽपि विरक्तचेतसाम् ।
परलोकसुखेऽपि निःस्पृहाः परमानन्दरसालसा अमी ॥१७॥

इसलिए विरक्तचेता मुनियों को इहलोक-सम्बन्धी ये कोई भी

विषय आनन्ददायक नही होता । तथा परम आनन्दरस मे मग्न हो कर अन्य रसो से भी उदासीन ये मुनिवर परलोकसुख के बारे मे नि:स्पृह होते है ।

पूर्वकथनानुसार पाँचो इन्द्रियो के विषयो से जिनका चित्त विरक्त हो चुका है, वे इहलोक में चक्रवर्ती आदि की सुखसमृद्धि तथा परलोक मे स्वर्गादिसुख की जरा भी स्पृहा नही करते । उन्हे तो केवल परमानन्दरस-मोक्षसुख की महान् अभिलाषा रहती है, उसकी प्राप्ति के लिए वे सतत पुरुषार्थ करते रहते हैं ।

मदमोहविषादमत्सरज्वरबाधाविधुरा' सुरा अपि ।
विषमिश्रितपायसान्नवत् सुखमेतेष्वपि नैति रम्यताम् ॥१८॥

देवता भी मद, मोह, विषाद एव मत्सररूप ज्वरों से पीडित होते हैं। इसलिए विषमिश्रित खीर के समान देवो का सुख भी रमणीयकोटि में नही आता ।

देवो को भी अपनी महर्द्धि का अभिमान होता है, तथा उस पर मोह-ममत्त्व भी होता है । कोई बलवान् देवता किसी देव के विमान, अलकार, रत्न, देवांगना आदि को ले जाता है, तो उसे खेद भी होता है तथा एक दूसरे की ऋद्धि देख कर परस्पर डाह भी होता है । वह देवता भी मर्त्यं लोक के जीव की तरह मद आदि ज्वर से व्याकुल रहता है, छटपटाता रहता है । अत देवो का सुख विषमिश्रित खीर के समान भयंकर है । ऐसी खीर खाने मे तो स्वादिष्ट लगती है, मगर उसका परिणाम मौत है । इसी प्रकार देवलोक के सुख परिणाम मे दु खरूप हैं, तब फिर ऐसे सुख मे रमणीयता कहाँ ?

रमणीविरहेण वह्निना बहुबाष्पानिलदीपितेन यत् ।
त्रिदशैर्दिवि दु खमाप्यते, घटते तत्र कथं सुखस्थिति ? ॥१९॥

स्वर्ग मे देवता देवागना के विरहरूपी अग्नि को अनेक चक्षुरूपी वायु से भडका-भडका कर दु ख पाते है, अत स्वर्ग मे सुख की स्थिति कैसे घटित हो सकती है ?

किसी देव की देवांगनाओं को कोई अन्य बलवान् देव उठा ले जाता है अथवा देवियों का च्यवन हो जाता है, तब उनके विरह में वह देव विलाप करता है, आंखों से अश्रुप्रवाह बहता है। अतः स्वर्ग में देवता शोकाग्नि से पीडित होते हैं, वहाँ भी सुख कहाँ ?

प्रथमानविमानसम्पदां च्यवनस्यापि दिवो विचिन्तनेव।
हृदयं न हि यद् विदीर्यते द्युसदां तत्कुलिशाणुनिर्मितम् ॥२०॥

देवलोक में से च्यवन होने वाला है, यों विचार करके बड़े विमानों की सम्पदा वाले देवों का हृदय फटता नहीं, क्योंकि उनका हृदय वज्र के परमाणुओं से बना हुआ है।

स्वर्ग में देवताओं के पास उत्कृष्ट विमान, भवन, उपवन, वापी, रत्न, आदि सम्पत्तियाँ होती हैं, जब च्यवन का समय निकट आता है, तब कदापि न मुर्झाने वाली पुष्पमाला भी मुर्झाने लगती है। उसके साथ-साथ देवता का मुखकमल भी मुर्झा जाता है, हृदय के साथ-साथ शरीर का ढांचा भी शिथिल पड़ जाता है, देवांगनाएँ भी उसे छोड़ कर चली जाती है, उसके वस्त्रों की निर्मल शोभा भी फीकी हो जाती है। यह देख कर देव विलाप करता है कि अब मुझे स्त्री के गर्भवास रूपी नरक में वास करना पड़ेगा। हाय ! कहाँ रतिनिधान-सी देवांगनाएँ और कहाँ अशुचि से भरी हुई बीभत्स मानुषी स्त्री ? इस प्रकार स्वर्ग की वस्तुओं को याद करके देव रात-दिन विलाप करता हुआ महान् दुःख का अनुभव करता है। परन्तु उसका हृदय फटता नहीं, मालूम होता है, उसका हृदय वज्र के कठोर परमाणुओं से बना है।

विषयेषु रतिः शिवार्थिनो न गतिष्वस्ति किलाखिलास्वपि।
घननन्दनचन्दनार्थिनो गिरिभूमिस्वपरद्रुमेष्विव ॥२१॥

जैसे सघन नन्दनवन के चन्दनवृक्षों के अभिलाषी को पर्वतीय भूमि पर उगे हुए अन्यवृक्षों पर प्रीति नहीं होती, वैसे ही मोक्षार्थी योगीजन को समस्त (चारों) गतियों के विषयों पर प्रीति नहीं होती।

कल्पवृक्ष आदि वृक्षों से व्याप्त मेरुपर्वत है। जहाँ नन्दनवन नाम का विशाल सुरम्य वन है। उस वन के चन्दनतरु के अभिलाषी पुरुष

का पर्वतीय सामान्य वृक्षो के प्रति कोई आकर्पण नही होता, उसी प्रकार प्रशमजन्य अमृतरस मे निमग्न मोक्षार्थी साधक को चतुर्गतिक संसारी विपयो, खासकर स्वर्गादि-विषयसुखो के प्रति कोई आकर्पण नही होता।

इति शुद्धमतिस्थिरीकृताऽपरवैराग्यरसस्य योगिन ।
स्वगुणेषु वितृष्णतावहं परवैराग्यमपि प्रवर्तते ॥२२॥

इस प्रकार जिसने अपनी शुद्ध बुद्धि मे अपरवैराग्यरस को स्थिर कर (जमा) लिया है, ऐसे योगियो को आत्मगुणो के प्रति निःस्पृहता धारण करने वाला पर वैराग्य भी उत्पन्न हो जाता है।

पूर्वोक्त कथानुसार भोगाशसा आदि दोपो से रहित शुद्ध बुद्धि मे जिस साधन ने अनुत्कृष्ट वैराग्य को रस शान्तपरिणाम का स्थायी-भाव स्थिर निश्चित कर लिया है, उस योगी को तप, ज्ञान, सयम आदि आत्मिक गुणो से उत्पन्न हुई लब्धियो के प्रभाव के सम्बन्ध मे भी निःस्पृहता प्राप्त कराने वाला प्रधान (परम उत्कृष्ट) वैराग्य-रस भी हो जाता है।

विपुलर्द्धि-पुलाकचारणप्रवलाशीविषमुख्यलब्धय ।
न मदाय विरक्तचेतसामनुषंगोपनता पलालवत् ॥२३॥

आनुपगिक प्राप्त हुई, विपुलर्द्धि, पुलाक, चारण और प्रवल आशी-विप आदि लब्धियाँ विरक्तचित्त पुरुष के लिए अनाज के भूसे की तरह होती है, वे उसमे मद नही पैदा कर सकती।

ढाईद्वीप प्रमाण मनुष्यक्षेत्र मे स्थित जीवो के मनोगत पर्यायो या द्रव्यो को जानने वाला ज्ञान विपुलमति मनःपर्यायज्ञान होता है, जो एक प्रकार की लब्धि है। चक्रवर्ती की सेना को चूर्ण कर देने वाली शक्ति पुलाकलब्धि होती है, उड कर किसी भी स्थान पर जाने-आने की शक्ति जघाचरण-विद्याचरण लब्धि कहलाती है। उपकार या अपकार करने मे समर्थ शक्ति आशीविपलब्धि होती है। इसके अलावा मणि, मत्र औपधि आदि की भी कई ऋद्धि-सिद्धियाँ होती है। ये सब लब्धियाँ ज्ञान-दर्शन-चारित्र, तप, सयम की विशुद्ध आराधना से

मुनियों को प्राप्त होती है। फिर भी विरक्तचेता मुनि को इनके प्राप्त होने पर भी अभिमान नहीं जागता और न किसी प्रकार की इनके प्रयोग द्वारा प्रसिद्धि आदि की कामना या तमन्ना होती है। क्योंकि इन विशेष उपलब्धियों से विरक्त साधक मोक्षसुख की उपलब्धि को ही सर्वस्व मानता है। मोक्षसुख की उपलब्धि के सामने इनको वह तुच्छ समझता है। वह समझता है कि तप-संयमादि-प्रसंग से प्राप्त ये लब्धियाँ तो अनाज के साथ होने वाले भूसे की तरह तुच्छ है। इसी कारण उसे इन लब्धियों के प्राप्त होने पर गर्व नही होता।

कलिताऽतिशयोऽपि विबुधानां मदकृद्गुणव्रजः।
अधिकं न विदन्त्यमी यतो निजभावे समुदञ्चति स्वतः ॥२४॥

अतिशय को प्राप्त कोई भी महान् गुणसमूह विद्वज्जनों में अभिमान पैदा करने वाला नहीं होता। क्योंकि उन्हे अपने शुद्ध आत्म स्वभाव में उल्लास (निरतिशय आनन्द) होने से वे उससे बढ़कर अधिक (अतिशय) किसी को भी नहीं मानते।

लोगों के मन में अद्भुत चमत्कार आदि उत्पन्न करने वाले प्रभाव को गुणातिशय कहते है। अथवा पूर्वश्लोक के अनुसार अनेक लब्धियाँ प्राप्त हो जाना भी गुणातिशय है। इन गुणातिशयों के प्राप्त होने पर भी पण्डितजनों को अहंकार नहीं होता, क्योंकि वे अपने आत्मा के निजी गुणों-ज्ञान-दर्शन-चारित्र में तन्मय रहते हैं, अपने आत्मस्वभाव में ही रमण करते है और इसे ही सर्वश्रेष्ठ मानते है। श्रीसनत्कुमार ने घास के जलते पूले के समान चक्रवर्ती के वैभव को छोड़ दिया और मुनि बन कर दुष्कर तप किया, जिससे उन्हे अनेक लब्धियाँ प्राप्त हुई, फिर भी वे अपने शरीर के प्रति निरपेक्ष थे। उनके शरीर में कई प्रकार के रोग उत्पन्न हो गए थे, वे अपने कफ, थूक आदि की लब्धि से उन रोगों का निवारण कर सकते थे, फिर भी उन्होंने उन लब्धियों का उपयोग नहीं किया और एकमात्र आत्मस्वभाव में ही तल्लीन रहे।

हृदये न शिवेऽपि लुब्धता सदनुष्ठानमसंगमंगति।
पुरुषस्य दशेयमिष्यते सहजानन्दतरंगसंगता ॥२५॥

जब योगी का सदनुष्ठान निःसंगता को प्राप्त हो जाता है, तब उनके हृदय में मोक्ष के प्रति भी लुब्धता (आसक्ति) नहीं होती। सहजानन्द की तरंग का रंग प्राप्त होने पर साधक के लिए यही दशा ईष्ट है।

उस विरक्त साधक के मन में सकल कर्मबन्धन से रहित मोक्ष के प्रति भी अत्यासक्ति नहीं होती तो देवादि के सुखों की अभिलाषा, तो हो ही कहाँ से सकती है? कहा भी है—'**मोक्षे भवे च सर्वत्र, निःस्पृहो मुनिसत्तम**' अर्थात् वही मुनि उत्तम है, जो मोक्ष या संसार में सर्वत्र निःस्पृह रहता है। यहाँ शंका होती है तो फिर मोक्ष के लिए सत्क्रिया या रत्नत्रय का अनुष्ठान वे क्यों करते हैं? इसका समाधान है उनका समस्त सदनुष्ठान आसक्तिरहित स्वभाविक आत्मस्वरूप-रमणतारूप होता है। उनकी सत्क्रिया परप्रेरणा या आसक्ति से निरपेक्ष हो कर सहजभाव से होती है। मुमुक्षुसाधक उसी सहजानन्द तरंग की दशा को प्राप्त करते हैं, जो उनके लिए अभीष्ट है।

इति यस्य महामतेर्भवेदिह वैराग्यविलासभृन्मनः।
उपयन्ति वरीतुमुच्चकैस्तमुदारप्रकृतिं यशःश्रियः ॥२६॥

इस तरह इस लोक में जिस महाबुद्धिशाली योगी का वैराग्य-विलास से पूर्ण मन होता है, उस उदारप्रकृति वाले के निकट मोक्षलक्ष्मी वरण करने के लिए उत्कण्ठापूर्वक सामने आती है।

पूर्वकथनानुसार इस विश्व में जिन महामतिमान मोक्षसुख में मग्नबुद्धि वाले योगिजनों का मन वैराग्य के विलास से उत्तरोत्तर वृद्धिगत होता हुआ परिपूर्ण हो जाता है, उस उदारस्वभाव वाले योगियों के पास यशोलक्ष्मी (मोक्षलक्ष्मी) अत्यन्त उत्कण्ठा के साथ आ कर उनके गले में वरमाला डाल देती है। इस श्लोक में अंकित 'यशः'-शब्द से उपाध्याय श्री यशोविजयजी ने अपना नाम सूचित किया है।

इति श्रीमहोपाध्याय-श्रीयशोविजयगणिविरचिते
अध्यात्मसार-प्रकरणे द्वितीयः प्रबन्धः ॥

ममत्व-त्याग

निर्ममस्यैव वैराग्यं स्थिरत्वमवगाहते ।
परित्यज्येत्तत' प्राज्ञो ममतामत्यनर्थदाम् ॥१॥

ममतारहित पुरुष का वैराग्य ही स्थिरता प्राप्त करता है; इसलिए बुद्धिशाली साधक को अत्यन्त अनर्थकारिणी ममता का त्याग करना चाहिए।

वैराग्य को स्थिर करने के लिए ममत्व का त्याग करना चाहिए। जब तक घरबार, शरीर, धन, कुटुम्ब आदि पर ममत्वबुद्धि नष्ट नही होती, तब तक वैराग्य स्थिर नही होता। इसलिए आत्महितैषी प्राज्ञ पुरुष को इस लोक और परलोक में नाना प्रकार के अनर्थ और उपद्रव करने वाली ममता धन, गृह, देह, परिवार आदि के प्रति मेरेपन के परिणाम--का जडमूल से त्याग कर देना चाहिए।

विषयैः किं परित्यक्तैर्जागर्ति ममता यदि ।
त्यागात् कञ्चुकमात्रस्य भुजगो न हि निर्विषः ॥२॥

जिसके हृदय मे ममता जागृत है, उसके द्वारा विषयो का त्याग कर देने मात्र से क्या लाभ ? कचुकी का त्याग कर देने से ही साप निर्विष नही वन जाता।

'मेरा परिवार इतना बडा है, मैं ऊँचे खानदान का हूँ,' 'मेरे पास करोडो का माल था', मेरी साख इतनी जमी हुई थी, ये और इस प्रकार की ममता जब तक अन्तर्मन मे जड जमाए बैठी रहती है, तब तक केवल मुनिदीक्षा ग्रहण कर लेने और वेष बदल लेने से कोई लाभ नही होता। जैसे कचुकी (काचली) के त्याग करने मात्र से सर्प विषरहित नही हो जाता, वैसे ही विषयो या गृहस्थी के छोड़ देने

मात्र से कोई भी पुरुष त्यागी नही कहलाता। ममत्व के त्याग से ही कोई साधक त्यागी कहला सकता है।

कष्टेन हि गुणग्राम प्रगुणीकुरुते मुनि'।
ममताराक्षसी सर्व भक्षयत्येकहेलया ॥३॥

जिस गुणो के पुज को मुनि बडे कष्ट से उपार्जन करता है, उन सब गुणो को ममताराक्षसी एक ही कौर में चट कर जाती है।

चिरकाल तक तप, व्रत, संयम, नियम, इन्द्रियदमन आदि करके बडे परिश्रम से जिन गुणो से संयमी मुनि अपनी आत्मा को सुसज्जित करता है, उन सब चिरसंचित गुणो को ममतारूपी (कामनारूपी) राक्षसी एक ही ग्रास मे खा जाती है।

जन्तुकान्तं पशूकृत्य द्रागविद्यौषधिवलात्।
उपायैर्वहुभि' पत्नी ममतो क्रीडयत्यहो ॥४॥

अहो! ममतारूपी पत्नी अविद्यारूपी औषधि के वल पर जीवरूपी पति को झटपट पशु-सा वना कर अनेक उपायो से क्रीडा कराती है, नचाती है।

आश्चर्य है कि ममतारूपी पत्नी, अपने वश मे करके अपने वशीभूत जीवरूपी पति को ममता की उत्पत्ति की मूलकारणभूत अविद्या-अज्ञानरूपी प्रभावशाली जड़ीबूटी के सामर्थ्य से अनायास ही पशु-सा वना कर यानी भक्ष्य-अभक्ष्य, गम्य-अगम्य सवको अपना लेने वाले पशु के समान अविवेकी वना कर अनेक प्रकार से नाच नचाती है, अर्थात् जीव को अनेक प्रकार से खेलाती है। कभी कहती है 'मेरे लिए अमुक किस्म के गहने जल्दी लाओ, कभी कुछ फर्माइश करती है, कभी कुछ, वेचारा जीव ममता-प्रिया के वशीभूत हो कर आनन्द से इधर-उधर उसके नचाये नाचता रहता है, दौडधूप करता रहता है।

एक परभवे याति, जायते चैक एव हि।
ममतोद्रेकत सर्व सम्बन्धं कलयत्यथ ॥५॥

जीव परभव मे अकेला ही जाता है और अकेला ही पैदा होता है,

फिर ममता बढा कर उसके कारण सभी सम्बन्धों को दिमाग में जमा लेता है।

शुद्ध आत्मा के साथ ममता के कारणभूत किसी भी वस्तु का सम्बन्ध नहीं है। ससारी जीव धन, परिवार आदि से रहित हो कर अकेला ही अगले जन्म में जाता है, और अकेला ही उत्पन्न होता है, फिर भी ममत्व बढ़ जाने के कारण माता-पिता, भाई-बहन, स्त्री-पुत्रादिरूप समस्त सम्बन्ध झूठा (असत्) होने पर भी ममत्ववश सच्चा मानता है।

व्याप्नोति महतीं भूमिं वटबीजाद् यथा वट ।
तथैकममताबीजाद् प्रपञ्चस्यापि कल्पना ॥६॥

जैसे वटवृक्ष के एक बीज से पैदा हुआ वटवृक्ष बहुत-सी भूमि को घेर लेता है, वैसे ही ममतारूपी बीज से ससार के विशाल प्रपञ्च की कल्पना होती है।

बड का बीज बहुत ही छोटा होता है, परन्तु जब वह विशाल वृक्ष का रूप धारण कर लेता है, तब अपनी शाखा-प्रशाखाओं से वह बहुत विशाल जगह मे फैल जाता है, इसी प्रकार जन्मादि अंकुर के कारणभूत ममता का एक बीज भी प्रारम्भ मे बहुत ही सूक्ष्म होता है, लेकिन फैलते-फैलते वह सारे जगत् के प्रपञ्च के रूप मे फैल जाता है। अर्थात् जगत् के माता पिता, भाई आदि परिवार, तथा अन्य स्वजन-परिजन, स्वसम्प्रदाय, स्वजाति, स्वराष्ट्र स्वनगर, आदि सम्बन्धों की स्वत्वमोह (ममत्वप्रपच) के कारण सब कल्पना होती है।

माता पिता मे भ्राता मे, भगिनी वल्लभा च मे ।
पुत्रा सुता मे मित्राणि ज्ञातय सस्तुताश्च मे ॥७॥

यह मेरी मा है, यह मेरा भाई है, यह मेरी बहन है, यह मेरी प्रिया है, ये मेरी पुत्र-पुत्रियाँ हैं, ये मेरे मित्र है, ये जातिबन्धु हैं, ये मेरे पूर्वपरिचित हैं। इस प्रकार ससार मे ज्यो-ज्यों मनुष्य बडा होता जाता है, त्यो-त्यो ममता आगे से आगे बढती जाती है।

इत्येवं ममताव्याधिं वर्धमानं प्रतिक्षणम्।
जनः शक्नोति नोच्छेत्तुं विना ज्ञानमहौषधम् ॥८॥

इस प्रकार ममतारूपी व्याधि प्रतिक्षण बढ़ती ही जाती है। ज्ञानरूपी महौषध के विना मनुष्य इस ममता की बीमारी को नही मिटा सकता।

पहले कहे अनुसार ममता एक फैलने वाली छूत की बीमारी है, यह जब एक बार लग जाती है तो माता-पिता आदि सम्बन्धों के रूप मे ही नही, ससार के समस्त सजीव-निर्जीव पदार्थों के साथ भी ममत्व-सम्बन्ध की कल्पना करती हुई प्रतिपल बढ़ती ही जाती है। इस बीमारी को मिटाने मे वस्तुस्वरूप के आद्योपान्त यथावस्थित स्वरूप को बताने वाले बोध (ज्ञान) रूपी महौषध के सिवाय और कोई समर्थ नही है। इस जगत् मे मेरा कोई नही है और न मैं किसी का हूँ, इस प्रकार का ज्ञान सस्कारो मे बद्धमूल होने से ही इस ममतारूपी महाव्याधि का समूल-नाश हो सकता है।

ममत्वेनैव निःशंकमारम्भादौ प्रवर्तते।
कालाकालसमुत्थायी धनलोभेन धावति ॥९॥

प्राणी इस ममता के कारण ही निःशंक हो कर आरम्भ-समारम्भ आदि मे पडता है। धन के ममत्वरूप लोभ के कारण व्यक्ति योग्य-अयोग्य सभी समय उठ कर दौड़धूप करता रहता है।

इतनी सब उखाड-पछाड करने मे सिवाय इस प्रकार की ममता के कि 'यह मेरी पत्नी है, यह मेरी माँ है, इसका भरण-पोषण (निर्वाह) मुझे करना ही चाहिए', और कोई कारण नही है, इसी विशाल ममता को ले कर प्राणी परिणाम का विचार किये विना निःशंक हो कर अनेक प्रकार के आरम्भ-समारम्भो मे दिल खोल कर प्रवृत्त होता है, तथा अनर्थदण्डरूप कार्य भी बेधड़क करता रहता है, पापकर्मबन्धन का कोई विचार न करके बेखटके मकान आदि बनवाता है, धन के लोभ मे आ कर रात-दिन एक कर देता है, सर्दी, गर्मी, बरसात, या बाल्यवय, यौवनवय या बुढ़ापा नही देखता और न ही महासागर या

महारण्य देखता है, ममता के वश हो कर धनोपार्जन के लिए बेतहाशा अंधी दौड लगाता है।

स्वयं येषां च पोषाय खिद्यते ममतावश ।
इहामुत्र च ते न स्युस्त्राणाय शरणाय वा ॥१०॥

स्वय ममता के वश हो कर जिनके भरण-पोषण के लिए मनुष्य रात-दिन खिन्न रहता है, वे इस लोक और परलोक मे रक्षा के लिए या शरण देने के लिए तैयार नही होते। प्राणी ममता के वशीभूत हो कर स्वजन-पुत्र आदि का पालन-पोषण करता है, उनके लिए अनेक प्रकार से कष्ट भी पाता है, किन्तु उस पर जब कोई आफत या सकट आ पड़े या किसी मुसीबत मे फँस जाय या देवयोग से कोई मानसिक सताप आ पड़े, तब वे पुत्रादिस्वजन आँखे फेर लेते हैं, मुह मोड़ लेते हैं, न वे रक्षा के लिए आते है, न उसको आश्रय ही देते है। जब वे इसलोक मे अपने बन कर रक्षा और आश्रय नही दे सकते, तब परलोक (स्वर्गादि) मे तो वे रक्षक एव शरणदाता हो ही कैसे सकते है? सब अपनी-अपनी स्वार्थसिद्धि मे तन्मय है, यह सब जानते हुए भी स्वत्वमोहवश अज्ञानी बन कर उन्ही का पोषण करता रहता है, अपना कुछ भी नही करता।

ममत्वेन बहून् लोकान् पुष्णात्येकोऽर्जितैर्धनै ।
सोढा नरकदु.खानां तीव्राणामेक एव तु ॥११॥

ममत्ववश मनुष्य स्वय अकेला ही धन कमा कर उससे अनेक लोगो का पालन-पोषण करता है, किन्तु, उसके परिणामस्वरूप नरक के तीव्र दु खो को भोगता है वह अकेला ही। यह पुत्र, परिवार आदि मेरा है, इनको जरा भी तकलीफ न हो, ऐसा सोच कर किसी की सहायता लिये बिना अकेला ही धन कमा-कमा कर उससे अनेक लोगो का पोषण करता है। वे जो भी चीज माँगते है, उन्हे खुशी-खुशी ला कर देता है, उस पापकर्म के फलस्वरूप स्वय अकेला ही नरक मे दारुण दु खो को भोगता है। उन भयकर दु खो को सहते समय उसकी सहायता के लिए पुत्रादि कोई भी नहीं आता, उल्टे, पुत्रादि तो उक्त मोही व्यक्ति द्वारा छोड कर गए हुए धनमाल को पा कर गुलछर्रे उडाते

है, खूब मौज लूटते है, उधर वह बेचारा अकेला नरक मे सताप भोगता है। इसलिए सब दुखो के मूल ममत्व का त्याग करना चाहिए।

ममतान्धो हि यन्नास्ति, तत्पश्यति, न पश्यति।
जात्यन्धस्तु यदस्त्येतद्भेद इत्यनयोर्महान् ॥१२॥

जन्मान्ध व्यक्ति तो जो वस्तु विद्यमान है, उसे नही देखता, मगर ममतान्ध व्यक्ति, जो वस्तु अविद्यमान है, उसी को अस्तित्वरूप मे देखता है। यही बडा भारी अन्तर इन दोनो मे है।

ममता मे अधा जीव जन्म से अन्धा नही होता, लेकिन ममत्व का पर्दा पडा होने के कारण उसके विवेकनेत्र खुले नही होते। इसलिए वह नास्तिक असत्य=अविद्यमान पदार्थ को अपना मान लेता है। जैसे स्वजन आदि उसके अपने नही होते, फिर भी उन्हे अपने मानता है। इसलिए उसे मिथ्यादृष्टि—अन्ध कहते हैं। वह अपने चर्मचक्षु से आत्मिक अर्थ को नही देखता। इसलिए वह देखता हुआ भी अधा ही है। जबकि जन्मान्ध जन्म से अन्धा होता है। वह विद्यमान घट-पटादि वस्तुओ को नही देख पाता। परन्तु उसे ज्ञानीजनो का सयोग या सम्पर्क मिल जाय तो वह आत्मार्थ को देख भी सकता है। यही महान् अन्तर ममतान्ध और जन्मान्ध मे है।

प्राणानित्यताध्यानात्[1] प्रेमभूम्ना ततोऽधिकम्।
प्राणापहां प्रियां मत्वा मोदते ममतावश ॥१३॥

ममता के वश हो कर प्राणी प्राणो का नाश करने वाली अपनी प्रियतमा को अभिन्न या अनित्य मानता है, इसलिए प्रेमातिशय के कारण प्राणो से भी अधिक मान कर आनन्द मानता है।

ममत्वबुद्धि से प्रेरित हो कर मनुष्य धर्म के जीवनरूप व्रतादि भावप्राणो तथा आयुष्य-इन्द्रियादि द्रव्यप्राणो का नाश करने वाली प्रिया को अपने से अभिन्न (अथवा अनित्य) मानता है, यानी वह यह मानता है कि यह प्रियतमा ही मेरा जीवन है। इस प्रकार वह उसे अपनी प्राणरूपा मानता है। तथा अतिशय प्यार के कारण उसे प्राणो

१ 'अनित्यता' के बदले कहीं-कहीं 'अभिन्नता' भी पाठ है।

से भी अधिक मान कर आनन्दित होता है। वह यों नहीं सोचता कि मूरीकान्ता के समान यह प्रिया मेरे द्रव्य-भाव प्राणों को नष्ट कर रही है। क्योंकि वह उसके अगाध मोह में अंधा होता है।

कुन्दान्यस्थीनि दशनान् मुखं श्लेष्मगृहं विधुम् ।
मांसग्रन्थी कुचौ कुम्भौ हेम्नो वेत्ति ममत्ववान् ॥१४॥

ममतावान पुरुष स्त्रियों के हड्डियों के दाँतों को कुन्दपुष्प की कलियाँ समझता है। श्लेष्म के घर मुख को पूर्ण चन्द्रमा मानता है, माँस की गाँठ के समान स्तनों को सोने के कलश समझता है। यह सब ममता की विडम्बना है।

मनस्यन्यद् वचस्यन्यत् क्रियायामन्यदेव च ।
यस्यास्तामपि लोलाक्षीं साध्वीं वेत्ति ममत्ववान् ॥१५॥

जिस स्त्री के मन में कुछ और है, अथवा मन में किसी दूसरे (यार) के प्रति प्रीति है, वचन में प्रेमवचन से विरुद्ध कुछ और होता है, अथवा वचन से अन्य पुरुष के प्रति प्रेम बताती है। और कार्यरूप में कुछ और ही होता है, यानी पति आदि का अनिष्ट करती है, अथवा शरीर से रमणादिक्रिया किसी और के साथ करती है। ऐसी चंचल नेत्र वाली दुष्टा स्त्री को ममत्ववान् पुरुष परमसती मानता है।

या रोपयत्यकार्येऽपि रागिणः प्राणसंशये ।
दुर्वृत्ता स्त्री ममत्वान्धस्तां मुग्धामेव मन्यते ॥१६॥

दुराचारिणी स्त्री अपने प्रेमी प्रति के प्राणों को संकट में डालने वाले चोरी आदि अकार्य में प्रवृत्त कर देती है, अथवा प्राणों का खतरा पैदा हो जाय, ऐसे दुष्कर कार्य में अपने प्रियतम को डाल देती है, फिर भी उसके मोह (ममत्व) में अंधा विवेकचक्षुरहित पुरुष उसे 'यह मेरी प्रिया है', ऐसा मान कर भोली ही समझता है।

चर्माच्छादितमांसास्थिविण्मूत्रपिठरीष्वपि ।
वनितासु प्रियत्वं यत्तन्ममत्वविजृम्भितम् ॥१७॥

स्त्रियों की देह ऊपर से चमड़े में मढ़ी हुई है, तथा माँस, हड्डियों,

विष्ठा और मूत्र की पिटारी है, फिर भी ऐसी घिनौनी स्त्रियों के प्रति जो प्रीति है, वह केवल ममता का ही विलास है।

लालयन् बालकं तातेत्येवं ब्रूते ममत्ववान् ।
वेत्ति च श्लेष्मणा पूर्णामंगुलीममृताञ्चिताम् ॥१८॥

ममतावान् पुरुष अपने पुत्र को लाडप्यार करता हुआ, तात (बापू) कह कर बुलाता है, यानी स्वयं उसका पुत्र बन जाता है। और श्लेष्म (लीट) से भरी हुई अपने मुह मे डाली हुई उँगली को ममता के कारण घृणा किये बिना अमृत मे सनी हुई सुखदायिनी मानता है।

पंकार्द्रमपि नि.शंका सुतमंकान्न मुञ्चति ।
तदमेध्येऽपि मेध्यत्वं जानात्यम्बा ममत्वत ॥१९॥

मोही माता अपने पुत्र को कीचड़ या विष्ठा से भरे हुए जान कर भी नि शंक हो कर अपनी गोद से नीचे नही छोडती। ममत्ववश वह उसके अपवित्र (गंदे) हो जाने पर भी अथवा उसकी विष्ठा (टट्टी) आदि अशुचि को भी पवित्रता से युक्त समझती है।

मातापित्रादि सम्बन्धोऽनियतोऽपि ममत्वत ।
दृढ़भूमिभ्रमवतां नैयत्येनावभासते ॥२०॥

जिसके हृदय मे भ्रम मजबूत स्थान जमाए हुए है, उन्हे माता, पिता, आदि का अनिश्चित-सम्बन्ध भी ममत्ववश निश्चित प्रतीत होता है।

माता-पिता, भाई-बहन आदि का सम्बन्ध प्रत्येक जन्म मे निश्चित नही है। इस जन्म मे जो सम्बन्ध मिला है, वह पूर्वजन्म के सम्बन्ध से मिला है। और भविष्य मे अगले जन्म मे अपने-अपने कर्मानुसार अलग-अलग गतियो मे जन्म लेगे। प्रत्येक जन्म मे वे ही माता-पिता भाई-बन्धु मिले, ऐसा एकान्त नही है। परन्तु दिमाग मे भ्रम जड जमा लेता है, उसे ममत्ववश ये सब अनियत सम्बन्ध भी नियत लगते है। भ्रम मे हृदयभूमि मजबूत हो जाने पर शास्त्र या आप्त पुरुष चाहे जितना बोध दे, उसे वह बोध बिलकुल नही लगता।

भिन्ना प्रत्येकमात्मानो, विभिन्ना: पुद्गला अपि ।
शून्य: संसर्ग इत्येवं य: पश्यति स पश्यति ॥२१॥

प्रत्येक आत्माएँ भिन्न-भिन्न है, पुद्गल भी आत्मा से भिन्न है, और उनका किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है, इस प्रकार जो देखता है, वही देखता (द्रष्टा) है ।

प्रत्येक आत्मा की सत्ता पृथक्-पृथक् है, वे सभी अपनी-अपनी सत्ता के आधारभूत होने से पृथक्-पृथक् हैं, अन्य परमाणुओं के संयोग से उत्पन्न हुए शरीरादि पदार्थ भी आत्मा से भिन्न-भिन्न है । निश्चयदृष्टि से आत्मा से ये विशेषरूप से अलग हैं । व्यवहार से किसी का किसी के साथ एक जन्म का सम्बन्ध होता है, फिर भी समस्त पदार्थों की अपनी-अपनी सत्ता पृथक्-पृथक् होती है । इसलिए वास्तव मे किसी के साथ किसी का सम्बन्ध नही है । इस प्रकार जो पदार्थों को भिन्न-भिन्न सत्ता के रूप में परमार्थदृष्टि से देखता है, वह तत्त्वतः द्रष्टा है, विवेकचक्षु वाला है ।

अहंताममते स्वत्व-स्वीयत्व-भ्रमहेतुके ।
भेदज्ञानात् पलायेते रज्जुज्ञानादिवाहिभी: ॥२२॥

जैसे रस्सी के ज्ञान से सर्प का भ्रम नष्ट हो जाता है, वैसे ही भेदज्ञान से स्वत्व और स्वकीयत्वरूप भ्रम के हेतु अहत्व और ममत्व नष्ट हो जाते हैं ।

जब पारस्परिक सम्बन्ध का अभावरूप भेदज्ञान हो जाता है, तब स्वत्व अर्थात् अपनेपन या अपने स्वामित्व का भाव तथा स्वकीयत्व अर्थात् यह धन आदि मेरा है, इस प्रकार का परपदार्थों के प्रति ममत्व-भाव, इन दोनो मिथ्याज्ञान के हेतुरूप भ्रमो को उत्पन्न करने वाले क्रमश अहत्व और महत्व की यानी मैं और मेरेपन की बुद्धि उसी तरह नष्ट हो जाती है, जिस तरह रस्सी की वास्तविक जानकारी होते ही उसमें जो पहले साप की भ्रान्ति थी, वह तुरन्त नष्ट हो जाती है ।

किमेतदिति जिज्ञासा तत्त्वान्तज्ञानसम्मुखी ।
व्यासंगमेव नोत्थातु दत्ते क्व ममतास्थिति: ॥२३॥

'यह क्या है ?' इस प्रकार की जो तत्त्वान्त के ज्ञान के सम्मुख होने की जिज्ञासु हुई, वही व्यामोह को उत्पन्न नही होने देती, तब फिर ममता को स्थिर कैसे रहने देगी ?

जिस साधक को 'यह क्या है ?' यानी इस आत्मा, स्त्री, पुत्र, वैराग्य का स्वरूप क्या है ? इनमे परस्पर क्या सम्बन्ध है ? वह किसी प्रकार का है ? इसका मूल क्या है ? इसका अन्त क्या है ? अपनी बुद्धि से ज्ञान हो सके, ऐसी प्रत्यक्ष आत्मादि वस्तुएँ कैसी-कैसी हैं ? इनका परमार्थ (तत्त्व) मुझे जानना चाहिए, इस प्रकार तत्त्व यानी वस्तु के मूलस्वरूप के अन्त अन्तिम रहस्य का निश्चय (ज्ञान) की जो जिज्ञासा (जानने की इच्छा) उत्पन्न हुई है, वह योगी के मन मे व्यामोह (आसक्ति) पैदा ही नही होने देती, तब फिर वहाँ ममता कैसे मजबूती से अपना आसन जमा सकेगी ? क्योंकि तब उसका अस्तित्व ही खत्म हो जाएगा !

प्रियार्थिन. प्रियाप्राप्ति विना क्वाऽपि यथा रति' ।
न तथा तत्त्वजिज्ञासोस्तत्त्वप्राप्तिं विना क्वचित् ॥२४॥

जैसे प्रेमिका के अभिलाषी कामुक को प्रेमिका के मिले विना और कही भी प्रीति नही होती, वैसे ही तत्त्वजिज्ञासु साधक को तत्त्वज्ञान (परमार्थज्ञान) की प्राप्ति के विना कही भी चैन नही पड़ता । उसकी रुचि तत्त्वज्ञान के अतिरिक्त किसी भी पदार्थ मे नही होती ।

अतएव हि जिज्ञासां विष्कम्भति ममत्वधी' ।
विचित्राभिनयाक्रान्त सम्भ्रान्त इव लक्ष्यते ॥२५॥

इसी कारण ममत्वबुद्धि जिज्ञासा को रोक देती है । और तब वह विचित्र प्रकार के अभिनयो से व्याप्त मनुष्य सम्भ्रान्त-सा (हक्का-बक्का-सा) दिखाई देता है ।

अहता और ममता ये दोनो तत्त्व जिज्ञासा के लिए शत्रुरूप है, इसलिए ममता की बुद्धि तत्त्वज्ञान की परिणति (जिज्ञासा) मे रुकावट डालती है । यही कारण है कि ममत्वबुद्धि से युक्त मानव हाथ, मुंह, आँख और अन्य अगो से तरह-तरह के अभिनय (अगविन्यास-चेष्टा) करता हुआ हक्का-बक्का-सा (भयभीत-सा) प्रतीत होता है ।

धृतो योगो, न ममता हता, न समताऽदृता ।
न च जिज्ञासितं तत्त्वं, गतं जन्म निरर्थकम् ॥२६॥

जिसने योग (मुनिजीवन) धारण किया, किन्तु जिसकी ममता मरी नहीं, और न उसने समता को श्रद्धापूर्वक अपनाया, न ही तत्त्व की जिज्ञासा की, उसका मनुष्यजन्म निरर्थक गया, समझो ।

जिसने सर्वसंग-परित्याग करके मुनिवेष धारण किया, किन्तु जिसकी मोहममता नष्ट नहीं हुई, समस्त जीवों के प्रति समता का आराधन नहीं किया, और न जीवादि तत्त्वों को जानने की उत्कण्ठा प्रकट की, उसका यह अमूल्य मानवजन्म निष्फल गया, समझना चाहिए ।

जिज्ञासा च विवेकश्च ममतानाशकावुभौ ।
अतस्ताभ्यां निगृह्णीयादेनामध्यात्मवैरिणीम् ॥२७॥

जिज्ञासा और विवेक ये दोनों ममता को नष्ट करने वाले हैं । इसलिए इन दोनों से अध्यात्मवैरिणी ममता का निग्रह करना चाहिए । अध्यात्म की वैरिणी ममता है, यह जहाँ भी घुस जाती है, अध्यात्म परिणति का सफाया कर डालती है। अतः इस (ममता) का निरोध करने के लिए तत्त्वजिज्ञासा तथा शरीर और आत्मा अथवा स्वपरपदार्थ का भेदविज्ञान (विवेक) इन दोनों को अपनाए। इन दोनों के द्वारा ममतारूपी दुश्मन को हृदयरूपी घर से निकाल देना चाहिए, या उसका भलीभांति निग्रह कर देना चाहिए और अध्यात्म में तन्मय बन जाना चाहिए ।

॥ इति ममता-त्यागाधिकारः ॥

समता

त्यक्तायां ममतायां च समता प्रथते स्वत.।
स्फटिके गलितोपाधौ यथा निर्मलतागुणा.॥१॥

जैसे उपाधिरहित हुए स्फटिक (बिल्लौरी काच) में निर्मलता के गुण स्वत: प्रगट हो जाते हैं, वैसे ही ममता का त्याग होने पर समता स्वत: प्रगट होती है।

जैसे शाण आदि पर घिसने से प्रकाश को ढकने वाले मिट्टी, पाषाण, कचरा आदि मल (उपाधि) दूर होते ही उस स्फटिकमणि मे निर्मलता का गुण स्वत: अभिव्यक्त हो जाता है वैसे ही जैसे-जैसे आत्मा पर से ममता का मैल दूर होता जाता है, वैसे-वैसे उसमे समता का प्रकाश स्वत. प्रकाशित होने लगता है। तात्पर्य यह है कि समता को प्रगट करने के लिए ममता का त्याग अत्यन्त-आवश्यक है। अत अव समताधिकार कहते है।

प्रियाप्रियत्वयोर्यार्थैर्व्यवहारस्य कल्पना।
निश्चयात्तद्व्युदासेन स्तैमित्यं समतोच्यते॥२॥

पदार्थों को ले कर उनमें जो प्रियत्व या अप्रियत्व के व्यवहार की कल्पना है, उसका निश्चय (परमार्थ) से नाश करके निश्चल स्थिर हो जाना ही समता कहलाती है।

जगत् के सजीव, निर्जीव एव मिश्र सभी पदार्थों को ले कर उनमे प्रियत्व (मनोज्ञ) एव अप्रियत्व (अमनोज्ञ) अर्थात् उन सभी प्रकार के पदार्थ अपना मतलब हो, तव तो ईष्ट (प्रिय) लगते हैं, और मतलब न हो, तव वे अनिष्ट (अप्रिय) लगते है। जो प्रिय लगते है उनमे प्रवृत्ति और जो अप्रिय लगते है, उनसे निवृत्तिरूप व्यवहार की कल्पना होती है। निश्चयनय से कोई भी पदार्थ अपने आप मे

न तो सर्वथा ईष्ट ही है, और न अनिष्ट ही। यह तो व्यवहार के लिए मन की कल्पना है। इसलिए निश्चयदृष्टि से पदार्थों के प्रति प्रियत्व या अप्रियत्व के सकल्प-विकल्प का त्याग करके निश्चल परिणाम रखना ही समत्व कहलाता है।

तेष्वेव द्विषत. पुंसस्तेष्वेवार्थेषु रज्यत'।
निश्चयात् किञ्चिदिष्टं वानिष्टं वा नैव विद्यते ॥३॥

पुरुप उन्ही पदार्थों पर द्वेष करता है और उन्ही के प्रति राग (मोह) करने लगता है। निश्चयदृष्टि से तो कोई भी पदार्थ न तो ईष्ट है, न अनिष्ट। व्यवहार से कल्पना करने वाले मनुष्य को वस्त्र, आभूषण, स्त्री, आहार आदि जो पदार्थ पहले प्रयोजन का साधक होता है, वही पदार्थ निष्प्रयोजन हो जाने पर वाधक वन जाता है, अनिष्ट लगने लगता है। जिस पदार्थ के प्रति द्वेप पैदा होता था, उसी पदार्थ की आवश्यकता होने पर प्रसन्नता होती है। इसलिए प्रियत्व-अप्रियत्व की कल्पना प्रयोजन-अप्रयोजन पर निर्भर रहती है। वास्तव मे निश्चय से तो कोई भी वस्तु न तो ईष्ट (प्रिय) है, और न अनिष्ट ही। अपने मन की कल्पना से ही मनुष्य वस्तु को ईष्ट या अनिष्ट मान लेता है। विवेकी साधक को इस कल्पना को छोड कर समता का स्वीकार करना चाहिए।

एकस्य विषयो य. स्याद् स्वाभिप्रायेण पुष्टिकृत्।
अन्यस्य द्वेष्यतामेति स एव मतिभेदत ॥४॥

जो विपय एक व्यक्ति को अपने अनुकूल अभिप्राय के कारण पुष्टि-कारक (रुचिकारक) लगता है, वही विपय दूसरे मनुष्य के अपने अभि-प्राय से भिन्न होने के कारण द्वेषरूप (अप्रिय) हो जाता है।

जो शब्दादि-विपय किसी मनुष्य को अपने अनुकूल अभिप्राय को ले कर अपने शत्रु को दी गई गाली के श्रवण की तरह आनन्ददायक लगते हैं, वे ही शब्दादि-विपय अपने शत्रु के मित्र, स्वजन आदि सुनते हैं, तो उन्हे अपने प्रतिकूल अभिप्राय होने से वे द्वेपकारक हो जाते हैं। मतलब यह है कि एक ही समय मे एक ही मनुष्य को दी गई गाली

अपने-अपने अभिप्राय के अनुसार एक को ईष्ट और दूसरे को अनिष्ट लगती है। इससे सिद्ध होता है कि कोई भी पदार्थ सर्वथा ईष्ट या अनिष्ट नही होता।

विकल्पकल्पितं तस्माद् द्वयमेतन्न तात्त्विकम् ।
विकल्पोरमे तस्य द्वित्वादिवदुपक्षय ॥५॥

इसलिए ईष्ट और अनिष्ट ये दोनो विकल्प मन कल्पित विकल्प हैं, परमार्थ से (वस्तूत) ये सत्य नही है। विकल्प से उपरत (निवृत्त) होने से द्वित्व आदि की तरह उस ईष्टानिष्ट का क्षय होता है, तव समत्वगुण प्रगट होता है।

पूर्वोक्त कथनानुसार ईष्ट और अनिष्ट ये दोनो प्रकार के विकल्प मन के वितर्क से कल्पित हैं, किन्तु परमार्थदृष्टि से ये सत्य नही है। उस मन के विकल्प से निवृत्ति होने से ईष्टानिष्ट का रागद्वेपरूप द्वित्व आदि के समान क्षय हो जाता है। जैसे रक्त और पीतरग से रगे हुए वस्त्र के एक भाग मे रक्तत्व का दूसरे भाग मे पीतत्व का सकल्प होता है, परन्तु उस वस्त्र को धो देने से फिर द्वित्व का संकल्प नही होता, वह एकरग हो जाता है। इसी प्रकार पृथक्-पृथक् एकत्व के अस्तित्व के नष्ट हो जाने से ईष्टानिष्टरूप विकल्प भी नष्ट हो जाता है।

स्वप्रयोजनसंसिद्धिः स्वायत्ता भासते यदा ।
बहिरर्थेषु संकल्पसमुत्थानं तदा हतम् ॥६॥

जव साधक को ऐसा प्रतिभासित होने लगता है कि अपने प्रयोजन की सिद्धि अपने हाथ मे है, तव बाह्यपदार्थों के सम्बन्ध मे सकल्प की उत्पत्ति नष्ट हो जाती है।

जव तक जीव को ऐसा लगता है कि अपने प्रयोजन की सिद्धि बाह्यपदार्थों से ही हो सकती है, तब तक वह स्त्री, पुत्र, धन आदि बाह्यपदार्थों के उपभोग मे ही दौड लगाता है। परन्तु जव उसे ऐसा प्रतीत होने लगता है कि अपने प्रयोजन की सिद्धि अपने ही अधीन है, तव आत्मा मे भिन्न (बाह्य) पौद्गलिक पदार्थों मे ईष्टानिष्ट या अपने-पराये के विकल्प की उत्पत्ति नष्ट हो जाती है।

लब्धे स्वभावे कण्ठस्थस्वर्णन्यायाद् भ्रमक्षये ।
रागद्वेषानुपस्थानात् समता स्यादनाहता ॥७॥

भ्रान्ति का क्षय होने पर गले में पड़े हुए सोने के आभूषण की तरह आत्मस्वभाव (स्वरूप) की साक्षात् प्राप्ति हो जाती है। और उससे रागद्वेष की अनुत्पत्ति होने से बेरोकटोक समता प्राप्त होती है।

विषयादि मे सुख के ज्ञान की भ्रान्ति का नाश होने पर जैसे गले मे पड़ा हुआ सोने का आभूषण ढूंढने के लिए अन्यत्र नही जाना पडता, वह साक्षात् दिखाई देने लगता है, वैसे ही आत्मस्वरूप की उपलब्धि हो जाने पर रागद्वेषरूप यह वैभाविक भ्रम दूर हो जाता है, रागद्वेष का तूफान शान्त हो जाता है। अर्थात् आत्मस्वरूप का साक्षात्कार होने से अन्य किसी की अपेक्षा नही रहती और उससे किसी जगह आत्मा का अभिलाषारूप (राग का) परिणाम और किसी जगह आत्मा के अप्रीतिरूप (द्वेषरूप) परिणाम की उत्पत्ति नष्ट हो जाती है। अतः फिर किसी से रोकटोक न हो सके, ऐसी निराबाध समता प्राप्त हो जाती है।

जगज्जीवेषु नो भाति द्वैविध्य कर्मनिर्मितम् ।
यदा शुद्धनयस्थित्या तदा साम्यमनाहतम् ॥८॥

जब शुद्धनय की मर्यादा से जगत् के जीवो मे कर्मकृत द्वैत (द्विविधता) प्रतिभासित नही होता, तभी अनिवार्य अप्रतिबद्ध समता प्राप्त होती है।

जगत् के जीवो मे कर्मो की विचित्रता को ले कर जीव अच्छा-बुरा, उच्चनीच आदि विभावो के रूप मे देखता है, किन्तु जब जीव की शुद्ध सत्ता (सिद्धतुल्य स्वरूप) को ग्रहण करने वाले शुद्ध द्रव्यार्थिक नय (सिद्धत्वरूप को मुख्य तथा अन्यरूपो को गौणरूप से ग्रहण करने वाले नय) की मर्यादा से देखता है, तब उसमे तीनों जगत् मे स्थित त्रस-स्थावर सभी जीवो के सम्बन्ध मे ज्ञानावरणीयकर्म द्वारा कृत इष्टानिष्टत्वादिरूप द्वित्व का विकल्प लक्षित नही होता। सर्वत्र एकस्वरूप प्रतिभासित होता है, तभी अनिवार्य समता पैदा होती है।

स्वगुणेभ्योऽपि कौटस्थ्यादेकत्वाध्यवसायतः ।
आत्मारामं मनो यस्य तस्य साम्यमनुत्तरम् ॥९॥

एकत्व के अध्यवसाय (निश्चय) से, आत्मा के गुणों से और कूटस्थ-रूप से एकमात्र आत्मा में ही स्थित रहने से जिसका मन आत्मा मे ही रमण करता है, उसी की समता को अनुत्तर (सर्वोत्कृष्ट) समझो। अभेदरूप से समस्त आत्माओ मे (अभेदग्राही नय की दृष्टि से) एकत्व-बुद्धि आ जाने से, आत्मा के ज्ञानादिगुणों मे भी भेददृष्टि का त्याग करने से तथा उत्पाद-व्यय आदि की अपेक्षारहित, लोहे के घन की तरह निरन्तर निश्चल एक परिणाम आत्मस्वरूप परिणाम—रहने से जिसका मन आत्मारामी वन जाता है, उसी साधक की समता को सर्वोत्कृष्ट समझो।

समतापरिपाके स्याद् विषयग्रहशून्यता ।
यथा विशदयोगानां वासीचन्दनतुल्यता ॥१०॥

समता की परिपक्वता हो जाने से विपयो का आग्रह समाप्त हो जाता है, और उससे निर्मल योग वाले मुनियो मे कुल्हाडी से छेदन और चन्दन से पूजन दोनों अवस्थाओ मे समता आ जाती है।

पूर्वोक्त समता जव पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है, अर्थात् समता जव पूर्ण विशुद्धता पर दृढतापूर्वक स्थिर हो जाती है, तव शब्दादि और इच्छादि विपयो के सम्वन्ध मे सुखप्रदायकता की तरह वेदन का सर्वथा अभाव हो जाता है। इस प्रकार विषयग्रहण-शून्यता हो जाने से ज्ञान-ध्यान-तप आदि मोक्षसाधक व्यापार वाले निर्मल मन-वचन काययोग से सम्पन्न योगी के शरीर को कोई कुल्हाड़े से काटे या चन्दन से पूजा करे, उन दोनो पर समदृष्टि हर्पशोक के अभाव से समता होती है, क्योंकि उनमें रागद्वेप के परिणामो का अभाव हो जाता है।

किं स्तुमः समतां साधो ! या स्वार्थप्रगुणीकृता ।
वैराणि नित्यवैराणामपि हन्त्युपतस्थुषाम् ॥११॥

हे साधु ! हम आपकी समता की कितनी स्तुति (प्रशसा) करे ?, जिस समता को आत्मा के प्रयोजन से अनेक गुणो से सुसज्जित

करने से जिन जीवों का परस्पर नित्य- विरोध है, वे पास में हों तो उनके वैरभाव को भी शान्त कर देती है।

हे मोक्षसाधक साधो! पूर्वोक्त समता की हम कितनी स्तुति करे? क्योंकि आपकी समता का प्रभाव अचिन्त्य है। उसका गुणगान करना भी अशक्य है। आत्मा के प्रयोजनभूत मुक्तिरूप कार्य के लिए जिस समता के सुसज्ज होने से—अर्थात् समतापूर्वक ज्ञान, दर्शन, ध्यान, भावना, सयम और तप के सम्बन्ध मे सुसज्जित (उद्यत) होने पर पास में रहे हुए हस और बिल्ली, साँप और नेवला, मोर और साँप सिंह और मृग आदि शाश्वत जातिगत वैरी प्राणियों के भी वैरभाव समाप्त हो जाते हैं। कदाचित्क वैर वालो के वैर का तो कहना ही क्या? अर्थात् समतानिष्ठ साधक के सान्निध्य मे आते ही दूसरों के परस्पर वैरभाव नष्ट हो जाते हैं, तो फिर अपने वैरादिक का नाश हो जाए, इसमे आश्चर्य ही क्या?

किं दानेन तपोभिर्वा यमैश्च नियमैश्च किम्?
एकैव समता सेव्या तरी संसारवारिधौ ॥१२॥

दान करने या तप करने से क्या लाभ? अथवा यमों और नियमो के पालन से भी क्या फायदा? एकमात्र समता की ही आराधना करनी चाहिए, जो ससार-रूपी समुद्र मे नौका के समान है।

समता के बिना दान देने, तपस्या करने, महाव्रतो-अणुव्रतो का पालन करने या ध्यान, स्वाध्याय आदि नित्यनियमो के पालन से कोई लाभ नही होता। क्योंकि समतारहित (रागद्वेषादि के अभाव से रहित) दान आदि से न तो कर्मनिर्जरा होती है, न मोक्षरूप फल प्राप्त होता है, इसलिए चार गति वाले ससारसमुद्र को पार करके मुक्ति प्राप्त करने के लिए एकमात्र समतारूपी नौका को ही अपनाना चाहिए, वही समस्त प्रवृत्तियो या कार्यो के साथ मुख्यरूप से सेवनीय है।

दूरे स्वर्गसुखं मुक्तिपदवी या दवीयसी।
मन सन्निहितं दृष्टं स्पष्टं तु समतासुखम् ॥१३॥

स्वर्ग का सुख तो दूर है और मुक्ति की पदवी और भी ज्यादा दूर

है, परन्तु अपने मन के समीप ही रहा हुआ समता का सुख तो प्रत्यक्ष और स्पष्ट है। देवलोक में रहने वाले देवों का पचेन्द्रिय-विषयो से उत्पन्न सुख तो चक्षु आदि इन्द्रियो से अग्राह्य दूरस्थ-प्रदेश मे है, इसलिए दूर है, और अनन्तसुखमय मोक्षस्थान तो और भी अत्यन्त दूर प्रदेश मे है, ये दोनों स्पष्ट दिखाई नही देते, परन्तु रागद्वेषादि-रहित मन की परिणति से उत्पन्न स्वाभाविक, स्वाधीन एवं मन के निकटस्थित समतासुख तो प्रत्यक्ष अनुभूत है, और अपने हृदय में देखा हुआ है, इसलिए वह तो स्पष्ट निकट और अनुभवसिद्ध है, जबकि स्वर्गादि का या मोक्ष का सुख तो परोक्ष है, अत. उसका अनुभव ही नही होता।

दृशो. स्मरविषं शुष्येत् क्रोधताप. क्षयं व्रजेत् ।
औद्धत्यमलनाश स्यात् समतामृतमज्जनात् ॥१४॥

समतारूपी अमृत के कुंड मे स्नान करने से आँखो मे से कामविष सूख जाता है, क्रोध का ताप क्षीण हो जाता है, उद्धतता (उद्दण्डता)-रूपी मल नष्ट हो जाता है।

जो योगी समतासुधा के सरोवर मे सदा स्नान करता है, उसकी दृष्टि कामविकार से रहित हो जाती है, स्वपर को संतप्त करने वाला क्रोधरूपी ज्वर शान्त हो जाता है, तथा उच्छृंखलता, उद्धतता और उग्रतारूपी महापाप-मल भी नष्ट हो जाता है। अत समता का अपूर्व प्रभाव है, उसके सामने कोई भी टिक नही सकता।

जरामरणदावाग्निज्वलिते भवकानने ।
सुखाय समतैकैव पीयूषघनवृष्टिवत् ॥१५॥

जरा और मृत्युरूपी दावाग्नि से जलते हुए इस ससाररूपी वन के लिए, सुख-शान्ति के लिए अमृतमय मेघवृष्टि के समान एक समता ही है।

बुढ़ापा और मौत इन दोनो का भयकर दु.ख दावानल की तरह ससार के प्रत्येक प्राणी को जला रहा है। इन दोनो सतापो से प्रज्वलित ससाररूपी अरण्य में अमृतमय मेघो की वृष्टि के समान अगर कोई

सुखदायिनी है तो एकमात्र समता ही है। समता के सिवाय प्राणी को संसार मे कोई भी सुख देने वाली वस्तु नही है।

आश्रित्य समतामेकां निर्वृता भरतादय ।
नहि कष्टमनुष्ठानमभूत्तेषां तु किञ्चन ॥१६॥

केवल समता का ही आश्रय ले कर भरत चक्रवर्ती आदि ने मोक्ष प्राप्त किया है, उन्होने कुछ भी कष्टकारी (क्रिया) नही की थी।

सिर्फ एक समता का ही अंगीकार करके भरत चक्रवर्ती, मरुदेवी माता, सूर्ययशा आदि आठ राजा वगैरह ने केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष पद प्राप्त कर लिया था। उन्होने कष्टकारी तप, केशलोच, परीषह आदि का सहन नही किया था और न ही व्रत-सयमादि अनुष्ठान ही किया था। केवल एक समता के सहारे वे भवसागर पार कर गए थे।

अर्गला नरकद्वारे, मोक्षमार्गस्य दीपिका।
समता गुणरत्नानां संग्रहे रोहणावनि ॥१७॥

समता नरक मे प्रवेश करते हुए जीव को रोकने दरवाजे की अर्गला के समान है, वह मोक्षमार्ग में प्रकाश करने वाली दीपिका है, गुणरत्नो का सग्रह करने मे रोहणाचल पर्वत के समान है। अत समता साधक के लिए अनिष्ट-निरोधक एव इष्ट-सम्पादक है।

मोहाच्छादितनेत्राणामात्मरूपमपश्यताम् ।
दिव्याञ्जनशलाकेव समता दोषनाशकृत् ॥१८॥

जिनकी आँखे मोह से आच्छादित हैं, अतएव जो आत्मा के स्वरूप को देख नही सकते, उनके लिए समता दिव्य अजनशलाका (सलाई) की तरह है, जो नेत्ररोगनाशक की तरह अज्ञानादि दोषो का नाश करने वाली है। दिव्यचक्षु के रोगो (अज्ञानादि) का नाश होने पर आत्मस्वरूप स्पष्ट जाना जा सकता है।

क्षण चेत: समाकृष्य समता यदि सेव्यते।
स्यात्तदा सुखमन्यस्य यद्वक्तुं नैव पार्यते ॥१९॥

जीव एक क्षण के लिए भी समस्त विषयो से चित्त को खींच कर (समेट कर) यदि समता का सेवन करे तो उसे जो सुख मिले, उसका दूसरो को सामने वर्णन करना भी शक्य नही है। यानी वह अपूर्व आनन्द अनिर्वचनीय होता है। समता के आनन्द का अनुभव समतावान् ही कर सकता है।

कुमारी न यथा वेत्ति सुखं दयितभोगजम् ।
न जानाति तथा लोको योगिनां समतासुखम् ॥२०॥

जैसे कुआरी कन्या पति-सहवास के सुख को नही जानती, वैसे ही सांसारिक लोग योगिजनो को प्राप्त होने वाले समतासुख को नही जानते।

नति-स्तुत्यादिकाशंसाशरस्तीव्रः स्वमर्मभित् ।
समतावर्मगुप्तानां नार्तिकृत्सोऽपि जायते ॥२१॥

नमस्कार, स्तुति, प्रशसा, यश आदि की लिप्सा वे तीखे बाण है, जो साधक की आत्मा के मर्मस्थान का भेदन कर देते हैं, परन्तु समतारूपी कवच (बख्तर) पहन कर जिन्होने पहले से ही अपनी आत्मा की सुरक्षा कर ली हो, उन्हे ये सब पीड़ाकारी नही होते।

राजादि भक्तिपूर्वक मुझे नमस्कार करे, सभी लोग मेरी प्रशसा करे, मेरी प्रसिद्धि हो, मेरी सर्वत्र प्रतिष्ठा हो, तथा लोग आहार, उपधि, शय्या आदि से मेरा सत्कार करे इत्यादि लोकैषणा (लालसा) रूपी बाण बडा तीक्ष्ण है, अत्यन्त दु.सह है वह अपने धर्म (सयमी) जीवन-स्थान अथवा नि स्पृहता (मर्मस्थान) को बींध देता है। परन्तु जिन साधको ने समतारूपी कवच पहन कर आत्मसुरक्षा कर ली है, उन्हे उपर्युक्त यशोलिप्सा या प्रतिष्ठा-लालसा पीड़ा-कारिणी नही होती। तात्पर्य यह है कि समताधारी को पूजाप्रतिष्ठा की इच्छा नही होती।

प्रचितान्यपि कर्माणि जन्मनां कोटिकोटिभि ।
तमांसीव प्रभा भानो क्षिणोति समता क्षणात् ॥२२॥

जैसे सूर्य की प्रभा घने से घने अन्धकारसमूह को क्षणभर में नष्ट

कर देती है, वैसे ही कोटि-कोटि जन्मों के संचित कर्मों को समता एकक्षण में नष्ट कर देती है।

कोटानुकोटि जन्मो में बाँधे हुए ज्ञानावरणीय आदि गाढ़ कर्मों के जत्थो को समता (सर्वत्र समदृष्टित्व) एक क्षण मे यानी अल्प-काल के सेवन (आराधन) से ही उसी तरह नष्ट कर डालती है, जिस तरह सूर्य की किरणे रातभर के घोर अन्धकारसमूह को क्षणभर मे खत्म कर देती है।

अन्यलिगादिसिद्धानामाधार' समतैव हि।
रत्नत्रयफलप्राप्तेर्यया स्याद् भावजैनता ॥२३॥

अन्यलिग (जैनसाधको से भिन्न वेप) आदि से जो सिद्ध (मुक्त) हुए है, उनकी साधना का आधार समता ही रही है। जिस समता से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-रूप रत्नत्रय के फल की प्राप्ति होने से भावजैनत्व प्राप्त होता है।

जैनसाधु के अतिरिक्त साधुसंन्यासियों के दड, कमंडलु भगवाँ कपड़े आदि वेप मे, गृहस्थवेश मे या स्वयबुद्धादि के रूप मे जो सिद्ध (सम्पूर्ण कर्मो से मुक्त) या केवलज्ञानी हुए हैं, उनकी साधना का एकमात्र आधार समत्व ही रहा है। जिस समता की आराधना से रत्नत्रयरूप फल की प्राप्ति होती है, उसी से भावजैनत्व प्राप्त होता है। तात्पर्य यह है कि समता के कारण शुद्ध उपयोग से जिनवरप्रणीत शास्त्रों का वोध प्राप्त होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि वे भी समता के आधार से मुक्त ही होते है।

ज्ञानस्य फलमेषैव नयस्थानावतारिण.।
चन्दनं वह्निनेव स्यात् कुग्रहेण तु भस्म तत् ॥२४॥

समस्त नयो के अपने-अपने स्थान में स्थापित करने वाले ज्ञान का फल भी यह समता ही है, अन्यथा वह ज्ञान कुग्रह (कदाग्रह) से उसी प्रकार भस्म हो जाता है, जैसे आग से चन्दन भस्म हो जाता है।

नैगमादि सातों नयो को अपने-अपने स्थान पर यानी अनेकान्तवाद की मर्यादा द्वारा यथार्थ वस्तुस्वरूप तथा मोक्ष के आराध्यत्व के

सम्बन्ध मे सयोजन करने के स्वभाव वाले ज्ञान (शास्त्राध्ययन) की सफलता का कारण भी पूर्वोक्त समता ही है। समता न हो तो नय का ज्ञान भी अग्नि से चन्दन के स्वाहा हो जाने की तरह कदाग्रह से-एकान्त-ग्राही कुवोध से सद्ज्ञान भी स्वाहा हो जाता है। तात्पय यह है कि समतायोगी वक्ता पुरुष ही नयो के ज्ञान को अपने-अपने स्वरूप मे स्थापित करने के योग्य (समर्थ) हो सकता है ; अन्य नही।

चारित्रपुरुषप्राणा. समताख्या गता यदि।
जनानुधावनावेशस्तदा तन्मरणोत्सवः ॥२५॥

चारित्ररूपी पुरुष के समतारूपी प्राण यदि चले जाँय तो मनुष्यो का उसे वदना करने के लिए दौड कर पहुचने का आवेश ही मानो उसकी मृत्यु के महोत्सव सा-हो रहा है।

सर्वविरति और देशविरति-रूप चारित्र (सयम) के व्यवहाररूप पुरुष के समत्वरूपी प्राणो का नाश होते ही, उस समय भक्तजनो का वदनादि के लिए चारो तरह से उमडने का आवेश उस मृत चारित्र की मरणोत्तर और्ध्वदैहिक क्रिया करने का मानो मृत्युमहोत्सव है। तात्पर्य यह है कि उस समय विवेकी पुरुष यो समझते है कि भक्तो का यह आवागमन चारित्रपुरुष की मरणोत्तर क्रिया करने के लिए महोत्सवरूप है।

सत्यज्य समतामेकां स्याद्यत्कष्टमनुष्ठितम्।
तदीप्सितकरं नैव बीजमुप्तमिवोषरे ॥२६॥

एक समता को छोड कर जो भी कष्टकारी क्रिया की जाती है, वह ऊषरभूमि मे वोये हुए वीज के समान अभीष्ट फल देने वाली नही होती।

मोक्ष की साधना मे मुख्य वस्तु समता को छोड़ कर यदि जीव कष्टकारी तपस्या, भिक्षाचर्या, केशलोच, पादविहार आदि अनुष्ठानो मे परिश्रम करता है, तो उसके वे सव अनुष्ठान उसी प्रकार निष्फल होते है, जिम प्रकार बंजर भूमि में वीज बोने से वे निष्फल जाते है।

मतलब यह है कि समता के विना कष्टप्रद क्रियाएँ भी अभीष्टफल-वती नही होती।

उपाय समतैवेका मुक्तेरन्य क्रियाभर ।
तत्तत्पुरुषभेदेन तस्या एव प्रसिद्धये ॥२७॥

मुक्ति का एकमात्र उपाय समता है, इसके विना अन्य सब क्रिया-कलाप उस उस पुरुष (पात्र) के भेद को ले कर उस समता की सिद्धि के लिए ही है।

मोक्ष का एकमात्र साधन समता ही है, उसके सिवाय दूसरे सब क्रियाकाण्ड लघुकर्मी-गुरुकर्मी, अल्पश्रुत-बहुश्रुत इत्यादि साधको के परिणामो या योग्यता के भेद से बताये गए हैं, जो समता की ही सिद्धि के लिए है। यानी दूसरी सब क्रियाएँ समता की प्राप्ति के लिए ही की जाती है।

दिङ्मात्रदर्शने शास्त्रव्यापार स्यान्न दूरग. ।
अस्या. स्वानुभव पारं सामर्थ्याख्योऽवगाहते ॥२८॥

शास्त्र का व्यापार (प्रवृत्ति) केवल दिशादर्शन के बारे मे ही होता है, वह दूर तक साथ नही आ सकता। इसलिए समता का सामर्थ्य नामक आत्मानुभव ही इस समता के तीर तक पहुँचाता है।

जैनागम आदि शास्त्रो का व्यापार (साध्य को प्राप्त कराने वाली क्रिया) सिर्फ थोडा-सा दिग्दर्शन कर देता है, वह किसी के साथ दूर तक नही जाता। अर्थात् शास्त्र इस प्रकार जरा-सा मार्गदर्शन कर देता है "भव्यजीव ! यदि तुम मुक्ति जाना चाहते हो तो इस पथ को अंगीकार करो।" परन्तु शास्त्र किसी का हाथ पकड कर नही ले जाते। अर्थात् वे आत्मादि के स्वरूप को या केवलज्ञान को प्राप्त करने मे भावसाधन नही है। समता का सामर्थ्य नामक योग ही आत्मानुभव का साक्षात्कार कराता है। वही केवलज्ञान प्राप्त करवा कर भवसागर मे पार उतारता है। अत समता की शक्ति महत्तर है।

परस्मात्परमेषा यन्निगूढ तत्त्वमात्मन. ।
तदध्यात्मप्रसादेन कार्योऽस्यामेव निर्भरः ॥२९॥

इस कारण यह समता ही आत्मा का पर से भी पर (सर्वोत्कृष्ट) अतिगूढ तत्व है। अतः समता के विषय में अध्यात्म के प्रसाद (प्रताप) से समता पर ही निर्भर हो कर उद्यम करना चाहिए।

पूर्वोक्त कारणों से यह समता आत्मा का अतिगूढ (अपने सर्व आत्म प्रदेशों से व्याप्त) तत्त्व (परम रहस्य) है, समस्त योगों की अपेक्षा उत्कृष्ट योग है। इसलिए अध्यात्म (मन) की प्रसन्नता से पण्डितपुरुषों को इस समता के विषय में ही हर मूल्य पर पुरुषार्थ करना चाहिए। निम्नोक्त प्रकार के पुरुषार्थ से समता उत्पन्न करनी चाहिए "सब प्राणियों को सुख प्रिय है, दुःख अप्रिय है, संसार भयरूप है, जीने की सबकी इच्छा है, इसलिए मुझे सब प्राणियों का हित-चिन्तन करना, हितकर वचन बोलना, और हितकर कार्य करना चाहिए, क्योंकि समस्त प्राणी मेरे समान धर्म वाले हैं। इस प्रकार के चिन्तन से सभी जीवों पर समदृष्टि रखना ही समता-वृद्धि का उपाय है।

॥ इति समताधिकार ॥

सदनुष्ठान

परिशुद्धमनुष्ठानं जायते समतान्वयात् ।
कतकक्षोदसंक्रान्ते कलुषं सलिलं यथा ॥१॥

जैसे कतक (निर्मली) का चूर्ण मैले पानी में डालने से वह निर्मल हो जाता है, वैसे ही समता के योग से अनुष्ठान भी परिशुद्ध हो जाता है।

विष-गरोऽननुष्ठानं तद्धेतुरमृतं परम् ।
गुरुसेवाद्यनुष्ठानमिति पंचविधं जगु: ॥२॥

गुरुसेवा आदि अनुष्ठान विष, गर, अननुष्ठान तद्धेतु और उत्कृष्ट अमृत के रूप में पाँच प्रकार का कहा है।

प्रभुभक्ति, गुरुसेवा, तप, जप, ध्यान, षडावश्यक, दान आदि अनुष्ठान (क्रियाएँ) मोक्ष के उद्देश्य से किये जाते हैं, परन्तु उन-उन अनुष्ठानो के कर्ताओ का आशय भिन्न-भिन्न होने से वे पाँच प्रकारो मे परिगणित कर दिये गये है--(१) विषानुष्ठान, (२) गरानुष्ठान (३) अननुष्ठान, (४) तद्धेतु-अनुष्ठान एवं (५) अमृतानुष्ठान। इन पांचो का लक्षण क्रमश कहते है

आहारोपधिपूजर्द्धि-प्रभृत्याशंसया कृतम् ।
शीघ्रं सच्चित्तहन्तृत्वाद्विषानुष्ठानमुच्यते ॥३॥

आहार, उपधि, पूजा, ऋद्धि आदि की इच्छा से जो अनुष्ठान (क्रिया) किया जाता है, वह तत्काल शुभ चित्त को हरण करने वाला होने से विषानुष्ठान कहलाता है।

स्वादिष्ट मनोज्ञ आहार की प्राप्ति के इरादे से, वस्त्रपात्रादि धर्मोपकरणो की प्राप्ति के उद्देश्य से, धर्मिष्ठजनो-भक्तो द्वारा पूजा, भक्ति,

सत्कार, प्रतिष्ठा, प्रशसा या प्रसिद्धि की लिप्सा से, ऋद्धि-शिष्य-शिष्या या भक्त-भक्ता के रूप मे परिवारवृद्धि की इच्छा से किया हुआ तप-जप-ध्यानादि शुद्ध अनुष्ठान भी तत्काल अपने शुभ चित्त—शुभ या शुद्ध परिणामरूप धर्मप्राणो का नाश करने वाला होने से वह अनुष्ठान विप के समान हो जाता है, इसलिए उसे विषानुष्ठान कहते हैं।

स्थावरं जगमं चाऽपि तत्क्षणं भक्षितं विषम् ।
यथा हन्ति तथेदं सच्चित्तमैहिकभोगत ॥४॥

जैसे स्थावर या जगम विप तो खाने पर उसे खाने वाले को तत्काल मार डालता है, वैसे ही यह विषानुष्ठान भी ऐहिकभोग इस जन्म में प्राप्त होने वाले अनुकूल खान-पान आदि की आकाक्षा से करने पर शुभचित्त को खत्म कर देता है।

विप दो प्रकार का होता है स्थावर और जगम। सोमल, सखिया, वच्छनाग आदि स्थावर विप होता है और सर्प आदि के मुख से निकला हुआ विष जगम होता है। इन दोनो मे से किसी एक विप को खाने पर वह खाने वाले को तत्काल मार देता है, इसी प्रकार इस जन्म मे प्राप्त होने वाले अनुकूल खान-पान आदि भोगो की प्राप्ति की आकाक्षा से किया हुआ अनुष्ठान कर्ता के शुभचित्त मन के शुभ परिणामो का तत्क्षण नाश कर देता है। इसलिए इसे विषानुष्ठान कहा है।

दिव्यभोगाभिलाषेण कालान्तर-परिक्षयात् ।
स्वादृष्टफलसम्पूर्तेर्गराऽनुष्ठानमुच्यते ॥५॥

दिव्यभोगो की लालसा से सदनुष्ठान करने पर वह अपने पुण्य-कर्म के फल की पूर्णता को कालान्तर मे क्षय कर देता है। इसलिए इस प्रकार की आकाक्षा से किया हुआ अनुष्ठान गरानुष्ठान कहलाता है।

देवलोक मे प्रवर्तमान विषययोग यानी देवागनाओ का स्पर्श, उत्तमगन्ध, रस और रूप, तथा देव-देवेन्द्र-विद्याधर चक्रवर्ती के पद या स्वर्गादि सुखो की प्राप्ति की आकाक्षा से किये हुए तप-जपादि अनुष्ठान अर्थात् मेरे द्वारा किये हुए तप, चारित्र-पालन आदि के फल

के रूप मे मुझे अमुक देव सम्बन्धी भोगो की प्राप्ति हो, इस प्रकार की प्रार्थना से किये गये अनुष्ठान से—अपने पुण्य कर्म के फल के रूप मे मागे हुए पूर्वोक्त दिव्यभोगो की प्राप्ति (पूर्ति) होने के बाद कालान्तर (भवान्तर) में पूर्वकृत पुण्यकर्मो का क्षय हो जाने के कारण इस प्रकार की फलाकाक्षा से किया गया अनुष्ठान गरानुष्ठान कहलाता है।

यथा कुद्रव्यसंयोगजनितं गरसंज्ञितम्।
विषं कालान्तरे हन्ति तथेदमपि तत्त्वत.॥६॥

जैसे कुद्रव्यो के संयोग से उत्पन्न गर नामक विष कालान्तर मे मारता है, इसी प्रकार यह गरानुष्ठान भी वस्तुत कालान्तर (दूसरे आदि जन्म) में आत्मा का हनन कर देता है।

जैसे काच के टुकड़े आदि प्राणघातक पदार्थों को मिलाने से गर नाम का विप बन जाता है, उसका भक्षण करने से वह भक्षणकर्ता को ६ महीने या १२ महीने मे धीरे-धीरे नाश कर देता है इसी प्रकार जो अनुष्ठान निदान (नियाणे) के साथ किया जाता है, वह सद्धर्म के फल का विनाशक होने से कालान्तर (जन्मान्तर) मे आत्मा का ही नाश कर डालता है, इसलिए वास्तव मे इसे गरानुष्ठान कहा जाता है।

निषेधायानयोरेव विचित्रानर्थदायिनो.।
सर्वत्रैवानिदानत्वं जिनेन्द्रै: प्रतिपादितम्॥७॥

विचित्र प्रकार के अनर्थ करने वाले इन दो प्रकार के अनुष्ठानो के निषेध करने के लिए ही तीर्थंकर भगवन्तो ने सर्वत्र (क्रियाओ के साथ) निदान का निषेध किया है।

ससारवृद्धि करने वाले, नरक और तिर्यञ्चगति मे ले जाने वाले तथा अनेक प्रकार के महान् अनर्थ, क्लेश और उपद्रव करने वाले विषानुष्ठान और गरानुष्ठान, इन दोनो का निषेध करने के लिए ही जिनेश्वरो ने धर्मव्यापाररूप निदान (यानी फलाकांक्षा) से रहित प्रत्येक धर्मानुष्ठान करने का प्रतिपादन किया है।

प्रणिधानाद्यभावेन कर्मानध्यवसायिन.।
संमूर्च्छिम-प्रवृत्ताभमननुष्ठानमुच्यते॥८॥

प्रणिधान (मन की एकाग्रता) आदि के अभाव से, अध्यवसायरहित पुरुष का सम्मूर्च्छिम की प्रवृत्ति के समान सूने मन मे अथवा देखादेखी जो क्रिया होती है, उसे अननुष्ठान कहते है।

प्रणिधान यानी की जाने वाली क्रिया मे मन की एकाग्रता, ध्यान या उपयोग, आदि शब्द से आदर तथा प्रयत्न आदि से रहित, अध्यवसायरहित यानी लक्ष्य के शुभ परिणाम से रहित, सूने मन से, जिज्ञासारहित, देखादेखी, भौंरे, कोड़े, पतगिये आदि की तरह शून्य चित्त से चलने-फिरने, घूमने की क्रिया (अनुष्ठान) अननुष्ठान अथवा अन्योन्यानुष्ठान कहलाता है।

ओघसंज्ञाऽत्र सामान्यज्ञानरूपा निबन्धनम् ।
लोकसंज्ञा च निर्दोषसूत्रमार्गानपेक्षिणी ॥९॥

इस अननुष्ठानरूप अनुष्ठान (क्रिया) मे प्रवृत्ति का कारण सामान्य ज्ञानरूप ओघसज्ञा तथा निर्दोष सूत्रमार्ग की अपेक्षारहित लोक सज्ञा है।

इस अननुष्ठानरूप क्रिया मे ओघसंज्ञा और लोकसंज्ञा दो कारणो से प्रवृत्ति होती है। सामान्य-विशेषतारहित सर्वसाधारण बोध के स्वभाव वाली, चालू प्रवाह की ओर दृष्टि ओघसंज्ञा कहलाती है, तथा सूत्र कथित निर्दोषमार्ग की अपेक्षा से रहित साधारण आदमी की-सी दृष्टि लोकसज्ञा कहलाती है। मतलब यह है कि इस अननुष्ठानरूप अनुष्ठान में ओघसंज्ञा और लोकसज्ञावश प्रवृत्ति नही होती।

न लोकं नाऽपि सूत्रं, नो गुरुवाचमपेक्षते ।
अनध्यवसितं किञ्चित् कुरुते चौघसंज्ञया ॥१०॥

ओघसज्ञा से प्रवृत्ति करने वाला व्यक्ति लोक की, सूत्र की या गुरुवचन की अपेक्षा नही रखता, वह अपनी आत्मा के अध्यवसाय से रहित कुछ, न कुछ क्रियादि करता रहता है।

ओघसंज्ञा से अनुष्ठान करने वाला व्यक्ति जनप्रवृत्ति की अपेक्षा नही रखता, अर्थात् अमुक क्रिया किसलिए और किस कारण से चल

रही है, इसका कोई तयशुदा विचार नही करता, तथा उक्त क्रिया के विषय मे शास्त्र क्या कहता है ? इस ओर भी उसकी दृष्टि नही जाती और गुरु ने इस क्रिया को किस तरह करने का आदेश निर्देश किया है ? गुरु की राय इस विषय मे क्या है ? इस सम्बन्ध में भी किसी प्रकार के विचार करने की अपेक्षा नही रखता। आत्मा की आवाज एव अध्यवसाय (संकल्प) से रहित शून्य चित्त से, कुछ भी समझे-बूझे बिना यो ही कुछ न कुछ आवश्यकादि अनुष्ठान अपनी इच्छा से करता रहता है। यही अननुष्ठानक्रिया का लक्षण है।

शुद्धस्यान्वेषणे तीर्थोच्छेदः स्यादितिवादिनाम् ।।
लोकाचारादरश्रद्धा लोकसंज्ञेति गीयते ।।११।।

'शुद्धमार्ग का ही अन्वेषण करने से तीर्थ का उच्छेद होता है ; ऐसा कहने वालों का लोकप्रवृत्ति के प्रति आदर और श्रद्धा रखकर तदनुसार चलना लोकसंज्ञा कहलाती है।

शास्त्रोक्त विधि के अनुसार शुद्ध दीक्षाप्रदान तथा सूत्राऽध्ययन आदि करना शुद्ध है, इस प्रकार से शुद्ध का अन्वेषण करने से यानी उसी का इतिकर्तव्य के रूप मे निश्चय करने से तीर्थ जिनशासन का उच्छेद नाश हो जायगा, इस प्रकार कहने वाले प्राणी कहते है कि अगर शुद्ध का आग्रह रखोगे तो फिर जिनशासन का ही लोप हो जाएगा। शुद्ध अनुष्ठान आजकल हो नही सकता, इसलिए बहुजन-समाज जिस प्रकार करे, तदनुरूप हमें कर लेना चाहिए, इस प्रकार लोहप्रवाहलक्षी, लोकाचारपरायण, लोकव्यवहार के प्रति श्रद्धा एव आदर से युक्त लोकदृष्टि लोकसज्ञा कहलाती है।

शिक्षितादिपदोपेतमप्यावश्यकमुच्यते ।
द्रव्यतो भावनिर्मुक्तमशुद्धस्य तु का कथा ? ।।१२।।

शिक्षित आदि पदो से युक्त आवश्यक भी द्रव्य से आवश्यक कहलाता है, तब फिर भावरहित अशुद्ध आवश्यक की बात ही क्या की जाय ? उसे तो द्रव्यावश्यक भी नही कहा जा सकता।

शिक्षा का अर्थ है क्रिया को परिपक्व बनाने के लिए अभ्यास

करना। इस प्रकार की शिक्षा जिसे प्राप्त हो गई है, उसे शिक्षित कहते हैं। ऐसे शिक्षित आदि पदों—कर्तव्यसम्बन्धी कुशलता पैदा करने के स्थानों-से युक्त तथा आदि शब्द से उपयोग से रहित क्रियानुष्ठान भी द्रव्य आवश्यक यानी भाव-आवश्यक के कारणरूप उद्देश्य से किया जाने वाला आवश्यक कहलाता है। तो फिर अशुद्ध और सूत्र की अपेक्षारहित अविधिपूर्वक किया हुआ तथा भावरहित यानी शुभ परिणामपूर्वक विशिष्ट उपयोग से रहित आवश्यक किया हो, उसकी तो बात ही क्या की जाय ? तात्पर्य यह है कि उसे तो द्रव्यावश्यक भी नहीं कहा जा सकता ! क्योंकि उसमे भाव-आवश्यक का कारण समाविष्ट नही होता है।

तीर्थच्छेदभिया हन्ताविशुद्धस्येव चादरे।
सूत्रक्रियाविलोप स्याद् गतानुगतिकत्वत ॥१३॥

अफसोस है ! तीर्थ का उच्छेद हो जायगा, इस भय से अशुद्ध को ही अपनाने से तो गतानुगतिकता के कारण शास्त्रोक्त क्रिया का ही लोप हो जाता है उससे फिर तीर्थरक्षा कैसे होगी ?

जिनशासन के विनाश हो जाने के डर से अशुद्ध (सूत्रविरुद्ध शिष्यादि को दीक्षा, तथा आवश्यकयादि क्रिया का स्वीकार करने से गतानुगतिकता के कारण अर्थात् एक व्यक्ति कुमार्ग पर चलता है तो उसे देख कर दूसरा और तीसरा भी इसी कुमार्ग से चले, देखादेखी सभी उसी कुपथ पर चलें, ऐसे भेड़ियाधसान के कारण तो शास्त्रोक्त समस्त क्रियाविधि का ही लोप हो जायगा, फिर आपने तीर्थरक्षा कहाँ की ? उलटे आपने तो तीर्थ का ही उच्छेद कर दिया।

धर्मोद्योतेन कर्तव्यं कृतं बहुभिरेव चेत्।
तदा मिथ्यादृशां धर्मो न त्याज्य. स्यात्कदाचन ॥१४॥

जिस कार्य को अनेक लोगों ने किया, उसे ही धर्म मे पुरुषार्थी को करना चाहिए , अगर ऐसी बात कहते है, तो फिर मिथ्यादृष्टियों द्वारा किया हुआ धर्म कदापि त्याज्य नहीं होगा, वह शाश्वत रहेगा।

यदि ऐसा कहते है कि सूत्र की अपेक्षा रखे विना वहुत से जन-समुदाय ने जिस कार्य का आचरण किया हो, धर्मपुरुषार्थी को उसी का आचरण करना चाहिए, तव तो बौद्ध आदि मिथ्यात्वी का धर्म कभी भी त्याज्य नही होगा। क्योकि उसे अनेक लोगोने अपनाया है, क्योकि जैनो की अपेक्षा दूसरे धर्मों के अनुयायियो की संख्या बहुत अधिक है। अगर मिथ्यादृष्टि-आचरित उन धर्मो का त्याग करना अभीष्ट हो, तो यह तुम्हारे अपने कथन के खिलाफ है कि तुमने अनेको द्वारा आचरित कार्य प्रमाणित नही किया। यदि ऐसा कहते हो कि वह तो जिनमत के विरुद्ध हुआ, कि तुमने प्रकारान्तर से सूत्रोक्त क्रिया का ही अगीकार किया है।

तस्माद् गत्यानुगत्या यत् क्रियते सूत्रवर्जितम्।
ओघतो लोकतो वा तदनुष्ठानमेवहि ॥१५॥

इसलिए गतानुगतिकता से यानी सूत्रोक्त आचाररहित ओघलोक-सज्ञा से—देखादेखी से जो अनुष्ठान किया जाता है, वह अननुष्ठान ही कहलाता है। अत मोक्षसाधक न होने से उसका त्याग करना चाहिए।

इस अननुष्ठानरूप अनुष्ठान मे कायक्लेश होने से इसे अकामनिर्जरा का निमित्त वताया है, किन्तु सकामनिर्जरा तो उपयोगसहित (शुभ) प्रवृत्ति करने से होती है।

अकामनिर्जरांगत्वं कायक्लेशादिहोदितम्।
सकामनिर्जरातु स्यात् सोपयोग प्रवृत्तित ॥१६॥

इस अनुष्ठान मे उठना बैठना, उग्रविहार आदि का कायक्लेश होने से अत्यधिक शरीरश्रम होने के कारण वह अकामनिर्जरा का निमित्त होती है। अर्थात् मोक्ष के उद्देश्य से उत्पन्न हुआ न होने से वह अनुष्ठान मोक्ष का कारण नही वनता, इसलिए वह अनुष्ठान (अनुनुष्ठान) कुछ को मनुष्यगति, कुछ को व्यन्तर आदि गति प्राप्त कराने वाले पुण्य का कारण होने से सासारिक सुख का निमित्त हो जाता है, ऐसा आप्त पुरुषो ने आगमो मे कहा है। किन्तु सकामनिर्जरा यानी मोक्ष के

उद्देश्यपूर्वक शुद्ध उपयोगसहित साध्य की दृष्टि से प्रवृत्ति करने पर ही होती है। इसलिए अननुष्ठानरूप अनुष्ठान करने वाले किसी विरले पुरुष की ही सकामनिर्जरा होती है, बाकी के बहुत-से पुरुषों की नही होती। इसलिए यह त्याज्य है।

सदनुष्ठानरागेण तद्धेतुर्मार्गगामिनाम्।
एतच्च चरमावर्तेऽनाभोगादेर्विना भवेत् ॥१७॥

मार्गानुसारी पुरुषों को सदनुष्ठान के प्रति अनुराग से तद्धेतु अनुष्ठान होता है। यह अनुष्ठान अनाभोगादि के बिना चरमावर्त के धनी (जिसके एक-पुद्गल-परावर्त ससार बाकी रहता है, उस जीव) को प्राप्त होता है।

सत् यानी वीतराग के द्वारा कथित अनुष्ठान मोक्षप्राप्ति के उपाय की आराधना के प्रति प्रीति (अनुराग) से तद्धेतु जिसमे प्रवृत्ति का कारण मोक्ष है; ऐसा अनुष्ठान मार्गानुसारी को होता है। यह तद्धेतु-अनुष्ठान अनाभोग क्रिया मे अनुपयोग तथा आदि शब्द से क्रिया के प्रति अनादर, विस्मृति, फलाकांक्षा इत्यादि से रहित अन्तिम-पुद्गल-परावर्त संसार बाकी रहता है, तब जीव को प्राप्त होता है।

धर्मयौवनकालोऽस्य भवबालदशाऽपरा।
अत्र स्यात् सत्क्रियारागोऽन्यत्र चासत्क्रियादरः ॥१८॥

यह चरम पुद्गलपरावर्तकाल धर्म की जवानी का समय है, इसके अतिरिक्त समय ससार की बाल्यावस्था है। इस चरम-पुद्गलपरावर्त-काल मे सत्क्रिया (धर्मक्रिया) के प्रति अनुराग होता है, जबकि उससे पहले के काल मे असत्क्रिया के प्रति आदर होता है।

जब एक-पुद्गलपरावर्तनकाल शेष रहता है, तब वह समय धर्म की युवावस्था का समय है। इसके विपरीत अनेक-पुद्गलपरावर्तन का काल मोह की वृद्धि करने वाला होने से ससार की बाल्यावस्था (कुमारावस्था) है। इस चरमावर्तकाल में सत्क्रिया पर अनुराग होता है, अर्थात् स्वरूप से सुन्दर अहिंसादिमय सर्वज्ञोक्त विधियुक्त वन्दन-आवश्यक-व्रतपालनादिरूप क्रिया पर प्रीति होती है। इसके सिवाय

अनेक-पुद्गलपरावर्त में पूर्वोक्त क्रिया से विपरीत क्रिया पर प्रीति (आदर) होती है, क्योंकि उस क्रिया में सावद्यादि दोष का चिन्तन नहीं होता।

भोगरागाद्यथा यूनो बालक्रीडाऽखिला ह्रिये।
धर्मे यूनस्तथा धर्मरागेणासत्क्रिया ह्रिये ॥१९॥

जैसे युवक को भोग के राग (आसक्ति) के कारण बाल्यक्रीड़ा लज्जाकारक लगती है, वैसे ही धर्म के सम्बन्ध में यौवनप्राप्त पुरुष को धर्म के प्रति अनुराग के कारण असत्क्रिया लज्जाजनक लगती है।

युवावस्था में पहुँचने के बाद पुरुष को भोगविलास से प्रीति होती है, उस समय उसे बाल्यकाल की सारी क्रीडाएँ लज्जाजनक लगती हैं। यानी बचपन के मिट्टी का घरौंदा बनाना, लकडी के घोड़े पर बैठना, परस्पर दूल्हा-दुलहिन बनना इत्यादि बच्चों के खेल खेलने में लज्जा आती है। इसी तरह सद्गतिदाता धर्म के सम्बन्ध में तरुणपुरुष को धर्म के प्रति अनुराग होने से असर्वज्ञकथित, अविधिकृत, मोक्ष के उपाय से रहित असत्क्रिया करने में लज्जा आती है।

चतुर्थं चरमावर्ते तस्माद् धर्मानुरागत।
अनुष्ठानं विनिर्दिष्टं बीजादिक्रमसंगतम् ॥२०॥

इसलिए चरमावर्तकाल में धर्म के प्रति अनुराग के कारण बीज आदि के क्रम से युक्त चौथा (तद्धेतु) अनुष्ठान बताया है।

धर्म के प्रति अनुराग होने से चरमपुद्गलपरावर्तन वाले मनुष्य को तद्धेतु नाम का चौथा अनुष्ठान बताया है। जब एक-पुद्गल-परावर्त जितना संसार शेष रहता है, तब परब्रह्म-प्राप्ति के उपाय का सेवन सद्धर्म के प्रति प्रीतिभाव होने से जीव को होता है। मोक्षोपायरूप हेतु के लिए जो अनुष्ठान हो, वही तद्धेतु-अनुष्ठान होता है। वह अनुष्ठान कैसा है ? बीजादि के क्रम से युक्त की तरह है, अर्थात् विधिपूर्वक बोये हुए बीज से अंकुर आदि की उत्पत्ति होती है, वैसे ही धर्मरूपी बीज से सम्यक्त्व-रूपी अंकुर की उत्पत्ति (प्रादुर्भाव) होती है, फिर

वह क्रमश विकसित होता होता मोक्षरूपी फल प्राप्त कर लेता है। इसी क्रम को आगे चार श्लोक द्वारा बताते है

बीजं चेह जनान् दृष्टवा शुद्धानुष्ठानकारिण ।
बहुमान प्रशंसाभ्यां चिकीर्षा शुद्धगोचरा ॥२१॥

जिन शासन के सन्दर्भ मे शुद्ध अनुष्ठानकर्ता मनुष्यो को देख कर उनके बहुमान, प्रशसा एव सत्कार द्वारा शुद्ध विषय वाली क्रिया करने की इच्छा ही यहाँ बीज है।

जिनशासन मे तद्धेतु नामक शुद्धानुष्टान करने के उदयकाल मे शुद्ध अनुष्ठान करने वाले भव्य साधको को देख कर शुद्ध अनुष्ठान के प्रति हार्दिक प्रेम और शुद्ध क्रिया की स्तुति द्वारा शुद्ध-अनुष्ठान करने से सम्बन्धित क्रिया करने की इच्छा पैदा होती है, वही बीजरूप है, धर्मवृक्ष के बीजारोपण करने मे कारणभूत है।

तस्या एवानुबन्धश्चाकलक कीर्त्यतेऽङ्कुर ।
तद्धेत्वन्वेषणा चित्रा स्कन्धकल्पा च वर्णिता ॥२२॥

उस शुद्ध अनुष्ठान करने की इच्छा के निष्कलक अनुबन्ध को ही अकुर कहते है। और उसके हेतु की विविध प्रकार की गवेषणा को स्कन्धरूप बताया है।

आगमानुसार पूर्वोक्त शुद्ध अनुष्ठान करने की इच्छा के ही आकाक्षादि दोष (कलक) रहित अनुबन्ध (सतत मनोरथ-श्रेणी के प्रवर्तन या सहचारित्त्व) को धर्मवृक्ष का अकुर कहा जाता है। उसके हेतु की नाना प्रकार की गवेषणा यानी उस अनुष्ठान की शुद्धि की प्राप्ति के हेतु काल-विनय आदि की विकलतारहित उत्पत्ति के साधनो की अन्वेषणा इसके साथ परम्परागत धर्म के अनुसधान के विचार को ही धर्मरूपी वृक्ष का स्कन्धरूप कहा है।

प्रवृत्तिस्तेषु चित्रा च पत्रादिसदृशी मता।
पुष्पं च गुरुयोगादिहेतुसम्पत्तिलक्षणम् ॥२३॥

उन अनुष्ठानो मे विचित्र प्रकार की प्रवृत्ति को ही पत्रादिसदृशी

मानी है तथा गुरुसमागम आदि कारणों में समृद्धि प्राप्त करने को पुष्परूप कहा है।

पूर्वोक्त अनुष्ठान की शुद्धि के कारणरूप आठ प्रकार-काल, विनय आदि ज्ञान-दर्शन-चारित्र के आचरण के सम्बन्ध में श्रद्धा, आसेवना आदि अनेक प्रकार की जो प्रवृत्ति है, वह पत्र, शाखा, प्रशाखा आदि के तुल्य मानी गई है। तथा गीतार्थ, आचार्य आदि गुरुओं के संयोग समागम, शास्त्रश्रवण तथा अभ्यास वगैरह शुद्धकारण की सम्पत्ति से युक्त पुरुष ही कालविनयादि अंगों का सेवन करने में समर्थ होता है, इसलिए धर्मवृक्ष के पुष्पों की समृद्धि तद्रूप मानी गई है।

भावधर्मस्य सम्पत्तिर्या सद्देशनादिना।
फलं तदत्र विज्ञेयं नियमान्मोक्षसाधकम् ॥२४॥

तथा सद्देशना आदि के रूप में जो भावधर्म की प्राप्ति होती है, उसी को यहाँ निश्चय से मोक्षसाधक फल समझना चाहिए।

गीतार्थ, आचार्य आदि के समागम से सत्-निर्दोष-वस्तुस्वरूप यथावस्थितरूप में कहने वाली देशना तथा तत्सम्बन्धी प्रश्न आदि से भावधर्म की औपशमिक, क्षायिक, या क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की अथवा आत्मा के सहजधर्म की जो समृद्धि-प्राप्ति, उसे ही यहाँ आवश्यकरूप से मोक्षसाधक फल जानना चाहिए।

सहजो भावधर्मो हि सुगन्धश्चन्दनगन्धवत्।
एतद्गर्भमनुष्ठानममृतं सम्प्रचक्षते ॥२५॥

चन्दन की सुगन्ध की तरह जो सहज और शुद्ध भावधर्म है, उस भाव धर्म से मिश्रित (तद्गर्भित) अनुष्ठान ही अमृतानुष्ठान कहलाता है।

सहज-स्वाभाविक यानी आत्मा का वास्तविक रूप तथा शुद्ध-सर्वदोषरहित भावधर्म आत्मा का ज्ञानादि के सम्बन्ध में परिणमनरूप, शुद्धोपयोग, चन्दन और उसकी सुगन्ध की तरह सहज-शुद्ध भावधर्म आत्मा से अभिन्न है। यह प्रत्यक्ष दृश्यमान भावधर्म-आत्मधर्म जिसके गर्भ में रहा हुआ है, ऐसा अनुष्ठान-मोक्ष के उपाय का सेवन अमृतानुष्ठान कहलाता है।

जैनीमाज्ञां पुरस्कृत्य प्रवृत्तं चित्तशुद्धित. ।
संवेगगर्भमत्यन्तममृतं तद्विदो विदु ॥२६॥

जिनेश्वर की आज्ञा को समक्ष रख कर चित्तशुद्धिपूर्वक जो कार्य अत्यन्त सवेग के साथ प्रवृत्त होता हो, उसे उसके जानकार (तीर्थकर आदि) अमृतानुष्ठान कहते है।

जिनेश्वरकथित आज्ञा अर्थात् सिद्धान्त मे कहे हुए मार्ग को आगे करके समस्त धर्मकार्यों के सम्बन्ध मे आगमो मे उक्त विधान को मुख्य करके, अत्यन्त सवेग मोक्ष की अभिलाषा-के साथ चित्तशुद्धि-पूर्वक यानी मन के शुद्ध उपयोग से जो अनुष्ठान किया जाता है, वह अमृतानुष्ठान कहलाता है, ऐसा तद्विज्ञ तीर्थंकरादि कहते है।

शास्त्रार्थालोचनं सम्यक् प्रणिधानं च कर्मणि ।
कालाद्यंगाविपर्यासोऽमृतानुष्ठानलक्षणम् ॥२७॥

भलीभाति शास्त्रो के अर्थ का चिन्तन, क्रिया के विषय मे मन की एकाग्रता तथा कालादि अगो का अविपर्यास, यह अमृतानुष्ठान का लक्षण है।

जिस भव्यप्राणी का शुद्धभाव से अच्छी तरह शास्त्रो (जिनागमो) मे कथित जीवादि पदार्थों का नय-हेतु-प्रमाण-निक्षेप आदि द्वारा सम्यक् पर्यालोचन उत्पत्ति-स्थिति-व्यय द्वारा चिन्तन हो, तथा क्रियादि के के सम्बन्ध मे मन की एकाग्रता हो, तथा काल यानी अग-उपाग आदि शास्त्रो के अध्ययन-अध्यापन की क्रिया का अवसर (समय) इत्यादि जो अंग उपाय यानी सदनुष्ठान तथा मोक्ष के विषय मे जीव के प्रयोजक हैं, आदि शब्द से विनय, बहुमान वगैरह २४ अग आचार के भेद समझ लेने चाहिए। अर्थात् इन सब कालादि अगो का अवि-पर्यास अन्यथा आचरण नही हो, उसे अमृतानुष्ठान का लक्षण समझना चाहिए।

द्वय हि सदनुष्ठान त्रयमत्रासदेव च ।
तत्रापि चरमं श्रेष्ठ मोहोग्रविषनाशनात् ॥२८॥

इन पाँच प्रकार के अनुष्ठानो मे अन्तिम दो अनुष्ठान सत् है और

पहले के तीन असत् है। उन अन्तिम दो अनुष्ठानो मे भी अन्तिम अनुष्ठान मोहरूपी उग्रविप का नाशक होने से श्रेष्ठ है।

पूर्वोक्त पाँच अनुष्ठानों मे से अन्तिम दो को सुन्दर तथा प्रथम तीन को असुन्दर समझना चाहिए। अन्तिम दो मे से भी आखिर का अमृतानुष्ठान अज्ञान अथवा मोहनीयकर्मरूप उत्कट विपविकार का नाश करने वाला होने से वही सर्वश्रेष्ठ व मुख्य है।

आदर करणे प्रीतिरविघ्न सम्पदागम.।
जिज्ञासा तज्ज्ञसेवा च सदनुष्ठानलक्षणम् ॥२६॥

आदर, क्रिया करने मे प्रीति, अविघ्न, ज्ञानादि सम्पत्ति की प्राप्ति, जिज्ञासा और उसके विज्ञो की सेवा, यह सद्नुष्ठान का लक्षण है।

आदर यानी व्रतो का ग्रहण, तपस्या और वैयावृत्य आदि का स्वीकार तथा करने मे प्रीति, (श्रद्धा) यानी विहार, आवश्यक आदि क्रियाएँ करने मे रुचि, अविघ्न धर्म के सम्बन्ध मे विघ्न न डालना, निर्विघ्न धर्माचरण, ज्ञानादि लक्ष्मी की प्राप्ति तथा वास्तविक धर्मादि जानने की इच्छा, तथा उन वस्तु-धर्म के जानकार (विशेपज्ञ) गीतार्थ मुनियों की सेवा, यह सर्वश्रेष्ठ मोक्ष के उपायरूप सदनुष्ठान के लक्षण हैं।

भेदैर्भिन्नं भवेदिच्छा-प्रवृत्तिस्थिरसिद्धिभि ।
चतुर्विधमिद मोक्षयोजनाद् योगसंज्ञितम् ॥३०॥

इच्छा, प्रवृत्ति, स्थिरता और सिद्धि इस प्रकार चार भेदो से युक्त तथा जीव को मोक्ष के साथ योजन करने--जोडने वाला होने से यह चतुर्विध योगसंज्ञक अनुष्ठान है।

यह पूर्वोक्त अनुष्ठान इच्छा=शास्त्र के अर्थ को जानने की अभिलाषा, प्रवृत्ति व्रतादि प्रयोजन वाले शास्त्र के सम्बन्ध मे प्रवृत्ति करना, स्थिरता व्रतो की अतिचाररहितता, और सिद्धि दूसरो को धर्म प्राप्त कराने वाली शक्ति, इन चारो के भेद से चतुर्विध है तथा जीव को मोक्ष के साथ जोडने सम्बद्ध कराने वाला होने से योग-संज्ञक है।

इच्छा तद्वत्कथा प्रीतियुक्ताऽविपरिणामिनी ।
प्रवृत्ति पीलनं सम्यक् सर्वत्रोपशमान्वितम् ॥३१॥

योगस्वरूप के दर्शन वाली कथा, विपरिणाम-रहित और प्रीतियुक्त हो, वह इच्छायोग कहलाता है, तथा सर्वत्र उपशम से युक्त, व्रतादि का सम्यक् पालन करना, प्रवृत्तियोग कहलाता है।

गुरुदेव से योग के स्वरूप—दर्शन का धर्मोपदेश विपरिणामरहित योगधर्म से विमुख करने वाला न हो, अपितु सम्मुख करने वाला हो, एव प्रीतिदायक हो, वह इच्छायोग कहलाता है, तथा सर्वत्र समस्त प्राणियो के विपय मे, सर्वकाल मे और समस्त कर्तव्य के विपय मे, शान्ति से युक्त सम्यक् जिस परिणाम से, जिस भागे (विकल्प) से व्रतो को ग्रहण किया हो, उसी प्रकार उन व्रतों का विधिपूर्वक पालन करना प्रवृत्तियोग कहलाता है ।

सत्क्षयोपशमोत्कर्षादतिचारादिचिन्तया ।
रहितं तु स्थिर सिद्धि. परेषामर्थसाधकम् ॥३२॥

सत्क्षयोपशम के उत्कर्ष से अतिचारादि की चिन्तारहित योग स्थिरयोग कहलाता है और दूसरो के अर्थ का साधक सिद्धयोग कहलाता है।

प्रवृत्तियोग मे अतिचारसहित प्रवृत्ति होती है, परन्तु जब उसका अच्छा अभ्यास हो जाता है, तब उसमे अतिचार दोप लगने की चिन्ता नही रहती, तब स्थिरयोग कहलाता है, क्योकि उदयप्राप्त मोहनीयकर्म का अनुभव द्वारा क्षय और उदय मे नही आए हुए मोहनीयकर्म के उदय का निरोध क्षयोपशम कहलाता है, उस क्षयोपशम का उत्कर्प सम्यक् उत्कर्प हो जाता है। अतिचार के साथ आदि शब्द है, इसलिए आदि शब्द से अतिक्रम, व्यतिक्रम, और अनाचार दोष की चिन्ता भी इस योग मे नही रहती। तथा अन्य प्राणियो को अर्थसाधक—धर्म को सिद्धि दिलाने वाला अनुष्ठान सिद्धियोग कहलाता है।

भेदा इमे विचित्रा स्यु क्षयोपशमभेदत ।
श्रद्धाप्रीत्यादियोगेन भव्यानां मार्गगामिनाम् ॥३३॥

ये भेद श्रद्धा, प्रीति वगैरह के योग से मार्गानुसारी भव्यजीवों के क्षयोपशम के भेद से विभिन्न प्रकार के होते हैं।

इससे पूर्व कहे हुए इच्छायोग वगैरह प्रकारों से युक्त क्षयोपशम के भेद से यानी जीवों के उत्कर्ष-अपकर्षरूप परिणामों की तरतमता से योग के अनेक भेद हो जाते है। ये सब योग मार्गानुसारी मोक्षाभिलाषी भव्यजीवों की श्रद्धा, देव-गुरु-धर्म के प्रति प्रीति और रुचि वगैरह के योग से होते है। इन चारों योगों मे से किसी भव्यात्मा के श्रद्धायोग और किसी के प्रीतियोग इत्यादि होते है, ऐसा समझो।

क्षयोपशम में विविध डिग्रियाँ होने से इच्छायोग आदि के असंख्य भेद होते है। जैसे किसी का मंद क्षयोपशम आदि के कारण मन्दकोटि का इच्छायोग होता है, किसी को मध्यम श्रद्धा आदि के कारण मध्यम-कोटि का इच्छायोग और उत्कृष्ट श्रद्धा, आदि के कारण उत्कृष्ट कोटि का इच्छायोग होता है। इसके भी श्रद्धा, प्रीति आदि की मन्दता, मध्यता एवं तीव्रता आदि के कारण असंख्य भेद हो जाते है। इसी के कारण इच्छा आदि योग मे भी असंख्यभेद होते है, इसलिए कहा गया कि क्षयोपशम की न्यूनाधिकता के कारण असंख्य भेद होते हैं।

अनुकम्पा च निर्वेद संवेग प्रशमस्तथा।
एतेषामनुभावा स्युरिच्छादीनां यथाक्रमम्। ३४॥

इन इच्छादि योगों के क्रमश अनुकम्पा, निर्वेद, संवेग और प्रशम ये चार-चार प्रभाव होते है।

पूर्वोक्त लक्षण वाले इच्छा, प्रवृत्ति, स्थिर और सिद्धि नामक योग के क्रमश अनुकम्पा, निर्वेद, संवेग और प्रशम ये चार अनुभाव अर्थात् उससे उत्पन्न हुए सफल व उत्तम प्रभाव होते है। अनुकम्पा दो प्रकार की है द्रव्य से और भाव से। दु खी प्राणी को देख कर उसके दु ख का प्रतीकार करना द्रव्य अनुकम्पा है, और धर्म-रहित जीव को धर्म प्राप्ति कराना, धर्म मे जोडना भाव—अनुकम्पा है। ससार को निर्गुण (असार) जान कर उससे उदासीनताभाव रखना निर्वेद है, मोक्ष की अभिलाषा और देव-गुरु-धर्म के प्रति आस्तिकता तथा सामर्थ्य होते हुए भी अपराधी के प्रति क्षमा रखना प्रशम है ये चारों प्रभाव होते है।

कायोत्सर्गादिसूत्राणां श्रद्धामेधादिभावत ।
इच्छादियोगे साफल्य देशसर्वव्रतस्पृशाम् ॥३५॥

कायोत्सर्गादि सूत्रो के प्रति श्रद्धा, मेधा आदि भावनाओ से देशविरति और सर्वविरति वालो को इच्छादि योग मे सफलता मिलती है।

काया से होने वाले व्यापार (क्रिया) का त्याग कार्योत्सर्ग कहलाता है। कायोत्सर्ग आदि आवश्यक-सूत्र के प्रति श्रद्धा, अर्थात् जिनप्रवचनोक्त क्रिया मे रुचि, इच्छा (रुचि) और आस्तिकता होना इच्छायोग की सफलता समझनी चाहिए। मेधा अर्थात् शास्त्रोक्त सूक्ष्म अर्थ को ग्रहण करने वाला चित्त का धर्म, उस मेधा (धारणा) शक्ति से समस्त व्रतो की प्रतिज्ञा का पालन करना प्रवृत्तियोग की सफलता है। आदि शब्द से धृति तथा धारणा समझ लेना चाहिए। धृति यानी चित्त की स्वस्थता। धृति से अतिचारादि की उत्पत्ति न होने से स्थिरयोग मे उसकी सफलता जानना चाहिए और धारणा यानी पूर्वापरगुणो का निरन्तर स्मरण तथा उपयोग। धारणा के द्वारा उत्तम अर्थ=मोक्ष की साधना मे साधक समर्थ हो जाता है। इसलिए इसको सफलता सिद्धियोग के विषय मे समझनी चाहिए। उन श्रद्धा आदि भावनाओ से यानी श्रद्धादि परिणाम की प्राप्ति से देशविरति और सर्वविरति साधको की इच्छादि योग मे उपर्युक्त क्रम से सफलता समझनी चाहिए।

गुडखण्डादिमाधुर्यभेदवत् पुरुषान्तरे ।
भेदेऽपीच्छादिभावानां दोषो नार्थान्वयादिह ॥३६॥

गुड, खाड (शक्कर) आदि की मधुरता के भेद के समान इस योग मे भी इच्छादि भावो को ले कर अलग-अलग पुरुषो मे भेद होने पर भी उन इच्छादि पदार्थों के अन्वय (सम्बन्ध) रूप होने से उनमे कोई दोष नही।

जैसे गुड, खाँड, शक्कर, मिश्री आदि के नाम मे भेद होने पर भी उन सबमें माधुर्य एक ही है, वैसे ही भिन्न-भिन्न पुरुषो मे इच्छादि-योग भी भिन्न-भिन्न होने पर भी उन सब मे अनुस्यूत योग तो है ही, इसलिए कोई आपत्ति नही है। तात्पर्य यह है कि गुड, खाड आदि की मधुरता मे कमी-बेशी होने पर भी इन सभी मे माधुर्य होने के कारण अथवा एक

गुड का दूसरे गुड से या एक शक्कर का दूसरी शक्कर से माधुर्य मे भेद (तारतम्य) होने पर भी वे सभी मधुर कहलाते है, इससे कोई भी इन्कार नही कर सकता। इसी प्रकार इच्छादि भावो (धर्म-परिणामो) का व्यक्ति-व्यक्ति मे अन्तर होते हुए भी यानी न्यूनाधिकता होने पर भी उन सबमें इच्छादि भावो (अर्थो) का अन्वय (परम्परा से सम्बन्ध) होने से उसमे दोषापत्ति की गुँजाइश नही है। तात्पर्य यह है कि श्रद्धादि भावो की साधक मे अल्पता अधिकता होने पर भी वहाँ इच्छायोग आदि योगो मे से कोई एक योग तो है ही। अल्पता होने पर भी योग का सर्वथा अभाव तो नही है। अत इसे योग कहने में कोई हर्ज नही।

येषा नेच्छादिलेशोऽपि तेषा त्वेतत्समर्पणे।
स्फुटो महामृषावाद इत्याचार्या' प्रचक्षते ॥३७॥

जिसमें लेशमात्र भी इच्छादियोग न हो, उसे इस शास्त्र को सिखाने से स्पष्टत महामृषावाद (बड़ा झूठ) लगता है, ऐसा पूर्वाचार्य कहते है।

श्रद्धादि के अभाव के कारण जिस व्यक्ति मे जरा भी इच्छादियोग प्रतीत न होते हो, उस गाढमिथ्यात्वी जीव को इन योगों के प्रतिपादक शास्त्र पढाने से या व्रतादि देने से स्पष्टरूप से महान् दुर्लभवोधित्व के कारणरूप महामृषावाद का पाप लगता है। क्योंकि प्रतिज्ञा आदि का भग करना महामृषावाद भी कोटि में आता है। आचार्यश्री हरिभद्रसूरीजी म० ने ललितविस्तरा नामक ग्रन्थ मे इसका उल्लेख किया है।

उन्मार्गोत्थापन बाढमसमंजसकारणे।
भावनीयमिदं तत्त्व, जानानैर्योगविंशिकाम् ॥३८॥

असमंजस (अयोग्य या असगत) कारण का सेवन करने पर यह समझना चाहिए कि उन्मार्ग का उत्थापन कर दिया है, या जगाया गया है। यह तत्त्व योगविंशिका के ज्ञाताओ के लिए विचारणीय है।

श्रद्धाहीन पुरुष को शास्त्रो का अध्ययन कराने या उसे उपदेश प्रेरणा आदि दे कर के अनुष्ठान मे जोड़ने से वह मोक्षमार्ग का उल्लघन

करके स्वेच्छा से उन्मार्ग की स्थापना करेगा, अथवा शान्त किये हुए उन्मार्ग को फिर से जगाएगा, प्रगट करेगा। इससे क्रिया और सूत्र-सिद्धान्त का नाश होगा। आचार्यश्री हरिभद्रसूरीश्वर-रचित बीस प्रकरण वाली विंशिका नामक पुस्तिका की १६ वी 'योगविंशिका' के जानकार को इस तत्त्व पर परमार्थदृष्टि से विचार करना चाहिए।

त्रिधा तत्सदनुष्ठानमादेयं शुद्धचेतसा।
ज्ञात्वा समयसद्भावं लोकसंज्ञां विहाय च ॥३८॥

अत शुद्धचित्त वाले साधक को शास्त्र के परमार्थ को जान कर लोकसंज्ञा को छोड कर शुद्ध चित्त मे मन-वचन-काया से शुद्ध क्रिया करनी चाहिए।

अत जिसकी चित्तवृत्ति रागादिकलक से रहित शुद्ध है, ऐसे पुरुष को पूर्वोक्त सदनुष्ठान (प्रशस्त आगमो मे उक्त सिद्धि की साधनारूप) तथा जनागम के परमार्थ को जान कर एव लोकसज्ञा का त्याग करके यानी शास्त्र एव गुरु के वचनो के अनुसार मन-वचन-काया की एकाग्रता-पूर्वक कृत-कारित-अनुमोदित यो तीनो प्रकार से आदर के साथ सदनुष्ठान का स्वीकार करना चाहिए।

॥ इति सदनुष्ठानाधिकार ॥

मनःशुद्धि

उचितमाचरणं शुभमिच्छतां प्रथमतो मनसः खलु शोधनम् ।
गदवतामकृते मलशोधने कमुपयोगमुपैतु रसायनम् ॥१॥

अपना शुभ आचरण चाहने वाले पुरुषों के लिए सर्वप्रथम मन की शुद्धि करनी उचित है। क्योंकि रोगियों के मल की शुद्धि के बिना कौन-सा रसायन लाभदायक हो सकता है ?

शुभ आत्मा के लिए सद्धर्ममय मंगल अथवा सद्गति वगैरह चाहने वाले पुरुषों को सर्वप्रथम अशुभ विकल्पों के त्याग और स्थिरता की प्राप्ति के द्वारा चित्तवृत्ति का शुद्धि=निर्मलता करनी अनिवार्य है। और आचरण यानी शुभ भावना का अभ्यास करने आदि के रूप में उसके उपाय का सेवन करना योग्य है। जैसे रोगी मनुष्यों की मल शुद्धि हुए बिना -- विवेचनादि द्वारा पेट साफ हुए बिना, ताम्रभस्म आदि कोई भी महारसायन दिया जाय तो किस काम का ? वह रोग-निवारण का क्या कार्य कर सकता है ? कुछ भी नहीं, उसी प्रकार मन की शुद्धि के बिना किया हुआ धर्मानुष्ठान भी मुमुक्षुजन के लिए लाभदायक नहीं होता।

परजने प्रसभं किमु रज्यति, द्विषति वा स्वमनो यदि निर्मलम् ।
विरहिणामरतेर्जगतो रतेरपि च का विकृतिर्विमले विधौ ॥२॥

अगर तुम्हारा मन निर्मल हो तो दूसरे लोग तुम पर राग करें या द्वेष करें, उससे तुम्हारी क्या हानि है ? चन्द्रमा की किरणों को देखने से विरहीजनों को अप्रीति होती है और जगत् के अन्य जीवों को प्रीति होती है, इससे निर्मल चन्द्र में क्या विकृति हो सकती है ?

हे आत्मन् ! यदि तेरा मन राग-द्वेष-मोह के जालरूप दोष से रहित शुद्ध है तो दूसरे लोग यानी मित्र, सेवक, शत्रु आदि परजन तेरे

प्रति राग करे, यानी तेरे रूप, गुण वगैरह पर मुग्ध हों या भक्तिराग में तत्पर हों, अथवा द्वेष करे यानी धर्म के प्रति द्वेष के कारण उपसर्गादि करे तो उससे योगीजन को क्या हर्ष शोक हो सकता है ? अथवा दु:सह क्या हो सकता है ? कुछ भी नहीं। उदाहरण के तौर पर-विरही जनों=खासकर अपने पति के विरह मे दु:खित नारियों को अथवा स्त्रियों के विरह में सतप्त पुरुषो को चन्द्रोदय से सताप हो तथा जगत् के दूसरे लोगो को चन्द्रमा की शीतल किरणो के स्पर्श व प्रकाश से आनन्द हो तो इन दोनों स्थितियों में स्वभाव से निर्मल (शुद्ध) और मेघावरणरहित चन्द्रमा मे कौन-सी विकृति आ जाती है ? कोई भी नही।

रुचितमाकलयन्नुपस्थितं स्वमनसैव हि शोचति मानवः।
उपनते स्मयमानमुख पुनर्भवति तत्र परस्य किमुच्यताम् ? ॥३॥

मनुष्य अपनी-अपनी अभीष्ट वस्तु को प्राप्त हुई न जान कर अपने मन में शोक (चिन्ता) करता है, और उस वस्तु के प्राप्त होते ही पुन प्रसन्नमुख हो जाता है, तो उसमे दूसरे को कारण कैसे कहा जा सकता है ?

हे आत्मन् ! यद्यपि अपनी अभीष्ट सुखादिवस्तु के पाने के लिए उपाय करने पर भी प्राप्त नही हुई जान कर अपने चित्त मे शोक करता है, और उसी वस्तु के प्राप्त होने पर पुन हर्षित हो उठता है। इसमें अपने ही मन के सिवाय अन्य देवदत्तादि का क्या कोई कारण है ? नही। अर्थात् अन्य कोई भी कारणभूत नही है।

चरणयोगघटान् प्रविलोठयन् शमरसं सकलं विकिरत्यध ।
चपल एव मन कपिरुच्चकै रसवणिग्विदधातु मुनिस्तु किम् ? ॥४॥

यह अत्यन्त चपल मन-रूपी बदर चारित्र के योगरूपी घडो को उलटा कर सारा का सारा शमत्वरस नीचे गिरा देता है, ऐसी दशा मे मुनिरूपी रस-व्यापारी क्या करे ?

अपने अनुभव से प्रत्यक्ष यह मनरूपी मर्कट अत्यन्त चचल है। वह सर्वविरति और देशविरति-रूपी चारित्र के योग यानी क्षमा, मृदुता,

स्थिरता आदि समग्र अर्थसाधक शान्तरसरूपी घी आदि से भरे घडो को उन्मत्त हो कर विषय, कषाय, तृष्णा—मोह-मदरूपी गाढ़ कीचड़ से लथपथ दुर्गममार्गरूपी भूतल पर उलटा कर गिरा देता है, उन्हे रसरहित कर देता है। ऐसे समय मे साधुरूपी रसव्यापारी उसके निवारण का क्या उपाय करे? कदाचित् स्वाध्यायादि के लिए तत्पर होता है तो चित्तरूपी कपि कुछ क्षणो के लिए स्थिर हो सकता है, इसके सिवाय उसके निवारण का और कोई उपाय नही है।

सतत कुट्टितसंयमभूतलोत्थितरजोनिकरैः प्रथयंस्तमः।
अतिदृढैश्च मनस्तुरगो गुणैरपि नियंत्रित एष न तिष्ठति ॥५॥

निरन्तर अपने पैरो से खूदे हुए समयरूपी भूतल को उखाड़ने से उड़ी हुई धूलि के पुज से अन्धेरा-सा फैलाता हुआ मनरूपी घोडा अत्यन्त मजबूत रस्सो से जकड़ने पर भी स्थिर नहीं रहता।

इस श्लोक मे मन को घोड़े की उपमा दी गई है। मुनि १७ प्रकार के सयम (चरण) से कर्मरूपी धूल को दवा-दवा कर पत्थर के समान वनाता रहता है। लेकिन मनरूपी घोडा इतना चंचल है कि वह हमेशा सयम-रूपी भूतल पर उछल-कूद कर दवे हुए उस भूतल को उखाड देता है और उस धूल को चारो ओर फैला कर अज्ञान या पापरूपी अधेरे का-सा दृश्य उपस्थित कर देता है। उस मनरूपी अश्व पर सवार मुमुक्षु आत्मा मनरूपी घोड़े को काबू मे करने के लिए अत्यन्त मजबूत ज्ञानरूपी रस्से-लगाम से बाँधता है, फिर भी वह स्थिर नही रहता। इतना दुर्दम्य है मनरूपी अश्व!

जिनवचोघनसारमलिम्लुचः कुसुमसायक-पावकदीपकः।
अहह कोऽपि मनःपवनो बली शुभमतिद्रुमसंततिभंगकृत् ॥६॥

अहा! यह मनरूपी पवन अत्यन्त बलवान है, क्योकि वह जिन-वचनरूपी कपूर को उड़ा ले जाता है, कामरूपी अग्नि को प्रज्वलित कर देता है, शुभमतिरूपी वृक्षावली को नष्टभ्रष्ट कर डालता है।

हे आत्मन्! अफसोस है कि सबके देखते ही देखते सर्वत्र अबाधित गति वाला मनरूपी पवन अद्भुत शक्तिशाली है, क्योकि यह तीर्थंकर

के सिद्धान्त-वचनरूपी घनसार (विशेष परमार्थ के सारभूत)—कपूर को तस्कर की तरह चुरा लेता है, यानी उसके उपयोग का हरण करने के कारण चोर है। कामदेवरूपी आग को भडकाता है, कामोत्तेजक है, शुभ धर्म की मंगलमयी बुद्धिरूपी अभीष्ट श्रेय-फलदात्री काम-तरुघटा को उखाड़ फेंकता है। इस प्रकार वश मे न किया हुआ मन अनेक उपद्रव मचाता है।

चरणगोपुरभंगपर' स्फुरत्समयबोधतरूनपि पातयन्।
भ्रमति यद्यतिमत्तमनोगज क्व कुशलं शिवराजपथे तदा ॥७॥

चारित्ररूपी नगरद्वार (सदर दरवाजे) को तोडने मे तत्पर और स्फुरणा होते हुए सिद्धान्त के बोधरूपी वृक्षो को उखाडता हुआ मदोन्मत्त मनरूपी हाथी जहाँ भ्रमण करता हो, वहाँ मोक्षरूपी राजमार्ग मे कुशलता कहाँ से हो ? कदापि नही हो सकती।

हे आत्मन् ! चारित्र यानी सर्वविरतिरूपी मोक्षपुरी मे प्रवेश करने के मुख्य दरवाजे को तोडने मे उद्यत और विभिन्न प्रकार के वस्तु-स्वरूप को ग्रहण करने में समर्थ जागृतस्वभाव वाला देदीप्यमान जैन सिद्धान्तबोध ज्ञान के प्रकाररूपी तरुओ सत्फल देने वाले वृक्षो-को उखाड़ फेंकता हुआ अत्यन्त मतवाला बना हुआ मनरूपी हाथी स्वच्छन्दरूप से घूम रहा हो, वहाँ मोक्षनगर के राजमार्ग पर चलना मोक्षहेतुपूर्वक की जाने वाली क्रिया की सडक पर चलना—कैसे हितावह हो सकता है ? ऐसे मे मोक्ष के राजपथ पर चलना खतरे से खाली नही है।

व्रततरून् प्रगुणीकुरुते जनो, दहति दुष्टमनोदहन पुन ।
ननु परिश्रम एष विशेषवान् क्व भविता सुगुणो पवनोदये ॥८॥

योगिजन इधर व्रतरूपी वृक्षो को सिंचन करके तैयार करता है, उधर दुष्टमनरूपी आग उन्हे जला डालती है, तब सद्गुणरूपी उद्यान के लिए किया गया यह परिश्रम कब विशेष फलदायक हो सकता है ?

एक ओर योगीजन प्राणातिपात-विरमणादि व्रतो रूपी सद्गतिरूपी फल के दाता वृक्षो को परिषहसहन, तपरूप उद्यम और सद्भावरूप

जलरस-सिंचन करके पुष्पपत्रसहित फल देने में समर्थ बनाता है, दूसरी ओर इन वृक्षों को रौद्रध्यान के परिणाम वाली मनरूपी आग जला कर भस्म कर डालती है। अत. हे साधक ! तू विचार कर कि इस प्रकार तेरे देखते ही देखते मनरूपी आग तेरे तैयार किये हुए वृक्षों को जला रही है, तब तपसंयम में अत्यन्त परिश्रम से तैयार किये हुए, व्रत-वृक्षों से सुशोभित निरतिचारादि-गुणरूप अथवा धर्म-शुक्लध्यानादि रमणीय सद्गुणरूपी उपवन की वृद्धि एव सफलता कैसे होगी ? अर्थात् तेरा परिश्रम अपने फलों के भार से लचीले वृक्षों से सुशोभित उद्यान को कब विशेषरूप से तैयार सकेगा ?

अनिगृहीतमना विदधत्परां न वपुषा वचसा च शुभक्रियाम् ।
गुणमुपैति विराधनयाऽनया बत दुरन्त भवभ्रममञ्चति ॥९॥

जिसने मन का निग्रह नहीं किया, ऐसा साधक इस शरीर और वचन से चाहे जितनी शुभ क्रिया करले, वह मन की इस विराधना के कारण कुछ भी गुणवत्ता को प्राप्त नहीं करता, बल्कि दुरन्त ससार-परिभ्रमण को ही प्राप्त करता है।

जिन व्यक्ति ने स्वेच्छा से विषयों में भटकते हुए मन का निग्रह-निरोध नहीं किया, वह शरीर (विविध शरीरचेष्टाओं) से या वचन (स्वाध्यायादि वचन-व्यापार) से चाहे जितनी उत्तम सद्गतिदात्री, जिनोक्त तप.सयमरूप उत्कृष्ट (शुभ) क्रिया कर ले, परन्तु मन की इस विराधना के कारण क्रिया के फलरूप गुण को नहीं पा सकता, प्रत्युत दुष्पार (दु ख से पार होने योग्य) संसार में परिभ्रमण को प्राप्त करता रहता है। इसलिए मन को वश में करके ही समस्त शुभ क्रियाएँ करनी चाहिए, अन्यथा अनर्थपरम्परा ही बढ़ेगी।

अनिगृहीतमना कुविकल्पतो नरकमृच्छति तन्दुलमत्स्यवत् ।
इयमभक्षणजा तदजीर्णतानुपनतार्थविकल्पकदर्थना ॥१०॥

मन का निग्रह न करने वाला मनुष्य खराब विकल्पों के कारण तन्दुलमत्स्य की तरह नरक में जाता है। वह नरकगमनरूपी विडम्बना

अप्राप्त पदार्थों के विकल्पों द्वारा दी गई है, जो भोजन किये बिना ही उत्पन्न हुए अजीर्ण (अपच) की तरह है।

जिसने मन को आश्रवों से रोका नहीं, वह जीव हिंसादि दुष्ट अध्यवसाय के कारण दुर्ध्यानतत्पर तन्दुलमत्स्य की तरह, बिना ही कुछ पाए, सिर्फ मन के दुर्विकल्पों के कारण सातवीं नरक की यात्रा कर लेता है। तन्दुलमत्स्य बाहर से एक भी जीव को नहीं मारता, न उसके मुंह में एक भी मछली आती है, सिर्फ मन के दुर्विकल्पों के कारण ही वह नरक के महाभयंकर दुःख पाता है। इसी प्रकार जो रातदिन धन, स्त्री या भोगसमग्री की प्राप्ति के लिए मन से बुरी-बुरी कुलाचें भरता रहता है, उसके पल्ले तो एक भी पदार्थ का भोग नहीं पड़ता, फिर भी वह केवल मन के बुरे विचारों के कारण नरक का मेहमान बन जाता है, उसकी यह विडम्बना भोजन किये बिना ही हुए अजीर्ण के समान है। मन को उन्मुक्त छोड़ कर साधना करने वाला साधक दुर्ध्यानरूपी अतिसार का रोगी है। जो साधना का आनन्द-भोग (भोजन) तो कुछ कर नहीं पाता, मगर अतिसार के कारण दुःख पाता रहता है।

मनसि लोलतरे विपरीततां, वचननेत्रकरेङ्गितगोपना।
व्रजति धूर्ततया ह्यनयाऽखिलं निबिडदम्भपरैर्मुषितं जगत् ॥११॥

यदि मन अत्यन्त चंचल होता है, तो वचन, नेत्र, हाथ और शरीर की चेष्टाओं का जो गोपन (छिपाव) करना पड़ता है, वह गुप्ति विपरीतता को ही लाती है। अत्यन्त गूढ दाम्भिक पुरुषों ने इसी प्रकार की धूर्तता करके सारे जगत् को ठगा है।

जिसका मन अत्यन्त चंचल होता है, वह अपनी असली स्वाभाविक स्थिति को छिपाने के लिए बहुत ही ध्यान से वचन बोलता है, आँखें नीची करके बगुले की तरह फूंक-फूंक कर चलता है, हाथों से भी ज्यादा लटके नहीं करता, उन्हें बहुत ही धीमे-से हिलाता है, तथा शरीर की अन्य चेष्टाएँ भी बहुत सावधानी से यतनापूर्वक करता है, परन्तु व्यवहार में अपने अयोग्यता या दोष=ऐब को छिपाने या दबाने (ढकने) के

लिए की गई यह दम्भ पूर्ण यतना या (मन-वचन-काया की) गुप्ति यतना के फल के विपरीत दुर्गति का फल देती है। यानी उसकी की गई धूर्ततापूर्ण यतना उसी को खा जाती है, उसी के ही लिए विपरीत परिणाम लाती है। अतिगूढ़ दम्भ करने में निपुण धूर्तों (मक्कारों) ने ही ऐसी (पूर्वोक्त) धूर्तता करके दुनिया ठग खाई हैं, ऐसे धूर्तों ने ही जगत् को अपनी मक्कारी से लूटा है।

मनस एव तत. परिशोधनं नियमतो विदधीत महामति.।
इदमभेषजसंवननं मुनेः परपुमर्थरतस्य शिवश्रियः ॥१२॥

इसलिए वुद्धिमान पुरुष को अवश्यमेव मन की परिशुद्धि करनी चाहिए, क्योंकि मन की शुद्धि परमपुरुषार्थ (मोक्ष) मे रत मुनि के लिए मुक्तिलक्ष्मी को वश मे करने के हेतु औषधरहित वशीकरण है।

पूर्वोक्त कथनानुसार मन को वश में किये विना सभी क्रियाएँ निष्फल हैं। इसलिए परमपुरुपार्थ (मोक्षपुरुपार्थ) की साधना मे रत वुद्धिमान साधक को अन्य सभी साधनों को गौण करके मुख्यरूप से समस्त प्रयत्नों से नियमित (अनिवार्य) रूप से मन को परिशुद्ध (निर्मल) वनाना चाहिए। क्योंकि मन शुद्धि आत्मा के सर्वोत्कृष्ट अर्थ कार्य जो मोक्ष है, उसमे तत्पर मुनि के लिए सर्वोत्कृष्ट मोक्षलक्ष्मी को आकर्पित करने के लिए जडी-बूटी या यंत्रतंत्रादि के विना ही अमोघ वशीकरणोपाय है।

प्रवचनाब्जविलास-रविप्रभा प्रशमनीरतरंगतरंगिणी।
हृदयशुद्धिरुदीर्णमदज्वर-प्रसरनाशविधौ परमौषधम् ॥१३॥

हृदय की शुद्धि प्रवचनरूपी कमल का विकास करने मे सूर्य की प्रभा के समान है। प्रशमजल के तरंगों वाली सरिता है और उदय-प्राप्त आठ प्रकार के मदरूपी ज्वर के प्रसार (फैलाव) को मिटाने के लिए महान् रसायण (औषध) के समान है।

जव अन्त करण की शुद्धि हो जाती है, तव अच्छे विचार पैदा होते हैं, और तभी हृदय मे सिद्धान्तरूपी कमल खिल जाता है, अर्थात् उससे आगमोक्त विविध अर्थों के स्फुरणरूप विकास करने में वह मन

शुद्धि सूर्य की कान्ति बन जाती है। मन शुद्धि से इन्द्रिय, मन, कषाय आदि का दमन—शमन हो जाता है, और तब हृदय से प्रशमरूपी तरंग उछलती है, जो मिल कर प्रशमतरंग-समूह-रूप महानदी बन जाती है। मन.शुद्धि जाति, कुल बल आदि उत्पन्न हुए मद (अहंकार) रूपी ज्वर (बुखार) को सर्वांगीणरूप से नष्ट करने मे एक महौषधि है एक रसायण है।

अनुभवामृतकुण्डमनुत्तरव्रत-मरालविलासपयोजिनी।
सकलकर्मकलंकविनाशिनी, मनस एव हि शुद्धिरुदाहृता ॥१४॥

अनुभवरूपी अमृत के कुण्ड के समान महाव्रतरूपी राजहस के क्रीडा करने की कमलिनी के समान, तथा समस्त कर्म—कलक का नाश करने वाली एकमात्र मन की शुद्धि ही कही गई है।

संसार मे और कोई वस्तु नही, सिर्फ मन.शुद्धि ही निर्धारित वस्तु को ग्रहण करने वाले ज्ञान (अनुभव) अमृत (जन्म-मरणादि रोग का हरण करने वाले पीयूष) के कुण्ड द्रह के समान, सर्वोत्तम महाव्रतरूपी (अतिनिर्मलस्वभावरूप होने से) राजहस के सहजानन्दस्वरूप में रमण (विलास) करने के लिए कमलिनी के समान है, तथा ज्ञानावरणीय आदि सारे कर्मो या-जीवन मे किये हुए समस्त अपवादरूप दुष्कर्मों रूपी मल या कलक को धो डालने वाली है।

प्रथमतो व्यवहारनयस्थितोऽशुभविकल्पनिवृत्तिपरो भवेत्।
शुभविकल्पमयव्रतसेवया हरति कण्टक एव हि कण्टकम् ॥१५॥

मन शुद्धि करने के लिए सर्वप्रथम व्यवहारनय मे रह कर अशुभ विकल्पों से निवृत्ति के लिए शुभ विकल्पमय महाव्रतों के पालन आराधन (अर्थात् जीवरक्षा, तप, जप, महाव्रतपालन, अनुष्ठान आदि) में तत्पर हो जाना चाहिए। जैसे काटा काँटे से निकलता है, वैसे अशुभ विकल्परूपी काँटे को शुभविकल्पप्रवृत्तिरूपी बढिया काँटे से निकालने मे कोई दोष नही है।

विषमधीत्य पदानि शनैः शनैर्हरति मंत्रपदावधि मान्त्रिकः।
भवति देशनिवृत्तिरपि स्फुटा गुणकरी प्रथमं मनसस्तथा ॥१६॥

जैसे मान्त्रिक मंत्र के पदों की समाप्ति तक धीरे-धीरे मंत्रपदों को बोल कर विषहरण कर देता है, जहर उतार देता है, वैसे ही मन की देश (अंश) से निवृत्ति भी स्पष्टरूप से गुणकारी होती है।

देवाधिष्ठित विशिष्ट अक्षरसमूह मंत्र कहलाता है। उसके ज्ञाता को मांत्रिक कहते हैं। मान्त्रिक मंत्र के अंत में स्वाहा आदि शब्द आता है, वहाँ तक मंद-मंद ध्वनि से मंत्र के पदों को बोल-बोल कर सर्प आदि के विष को उतार देता है प्राणियों के शरीर में व्याप्त विष को नष्ट कर देता है, उसी प्रकार मन के देश से अर्थात् अल्परूप में—रागी अवस्था की शुभविकल्पों की प्रवृत्ति (सेवन) करके मन के अशुभविकल्पों से निवृत्ति करने से भी वह स्पष्टतः अनुभूत स्थैर्य एवं प्रसन्न मन वगैरह दृष्ट (प्रत्यक्ष) फल के रूप में गुणकारक होती है। अर्थात् मन शुद्धि करने से कार्य में निर्विकल्प (विकल्परहित) सहज सुख देने जैसी हो जाती है।

च्युतमसद्विषयव्यवसायतो लगति यत्र मनोऽधिकसौष्ठवात् ।
प्रतिकृति पदमात्मवदेव वा तदवलंबनमत्र शुभं मतम् ॥१७॥

अशुभ (असद्) विषयों के व्यापार से निवृत्त मन अतिप्रसन्नता के कारण जिस पदार्थ पर लग जाता है यानी तन्मय हो जाता है, वह पदार्थ भी आत्मा की तरह अथवा परमात्मा की प्रतिकृति की तरह इस मन शुद्धि में शुभ अवलम्बनरूप माना गया है।

मन में चिन्तनीय आर्त रौद्रध्यानादि अशुभव्यापार से निवृत्त मन अतिप्रसन्नता या शुभसंकल्प की कुशलता से ध्यान, आवश्यक, आत्म-स्वरूपचिन्तन आदि जिस पदार्थ के चिन्तनादि में लीन हो जाता है, वह पद, वस्तु अथवा क्रिया आदि आत्मस्वरूप की तरह या जिनप्रतिमा की तरह मन की शुद्धि का सुन्दर अवलम्बन हो जाता है।

तदनु काचन निश्चयकल्पना विगलितव्यवहारपदावधिः ।
न किमपीति विवेचनसंमुखी भवति सर्वनिवृत्तिसमाधये ॥१८॥

उसके बाद 'मेरे लिए व्यवहार किसी काम का नहीं है', इस प्रकार का विवेचन करने में सम्मुख तथा जिसमें व्यवहार के पदों (स्थानों) का

अन्तिम सिरा भी समाप्त हो गया है, इस प्रकार की कोई अपूर्व-(अद्भुत) निश्चयनय की कल्पना संपूर्णरूप से निवृत्ति की समाधि के लिए होती है।

इस प्रकार अशुभविकल्पो का नाश करने के वाद भी शुभविकल्प का व्यवहार तो जीवन मे उपस्थित रहता है, किन्तु आत्मार्थी साधक 'मुझे व्यवहार से कोई प्रयोजन नही है', इस प्रकार जव व्यवहारमार्ग का उल्लंघन करने मे तत्पर होता है, तव अपूर्वकोटि के निश्चयनय की कल्पना उत्पन्न होती है **'एगोऽहं नत्थि मे कोई नाहमन्नस्स कस्सइ'** अर्थात् मै अकेला हूँ, मेरा कोई नही है, और न मै किसी का हूँ, इस प्रकार मे दैन्यरहित प्रसन्नमन से अपनी आत्मा को उपदेश दे। ऐसे समय मे शुभविकल्प भी समाप्त हो जाते हैं।

तात्पर्य यह है कि निश्चय की उस कल्पना से ही व्यवहारनय के पद-यानी रागी अवस्था के स्थान की सीमाएँ समाप्त हो जाती हैं। यानी ऐसे साधक की व्यवहारदशा की पूर्ति पर्याप्तरूप से हो चुकी होती है। इस प्रकार उपर्युक्त विवेक यानी निश्चय और व्यवहार, स्व और पर के स्वरूप का परस्पर पृथक्करण करने के सम्मुख अर्थात् विपर्यास-रहित, निष्पन्नप्राय, शुद्धलक्ष्यसम्पन्न अर्थात् तदनुरूप परिणाम वाली, अपूर्व=सूक्ष्मभाव को ग्रहण करने वाली, निश्चय की=पारिणामिक आत्मस्वभाव की कल्पना 'सर्वशुभाशुभसंकल्प की राशि की अथवा शुभ मे प्रवृत्ति एवं अशुभ से निवृत्ति की स्थिति समाधि, एकाग्रता के लिए होती है।

इह हि सर्वबहिर्विषयच्युत हृदयमात्मनि केवलमागतम् ।
चरणदर्शनबोध-परम्परापरिचित प्रसरत्यविकल्पकम् ॥१८॥

इस निर्विकल्पक दशा मे मन समस्त वाह्यविषयो से रहित, केवल आत्मा के विषय मे ही लीन, ज्ञान-दर्शन-चारित्र की परम्परा से अभ्यस्त तथा विकल्पो के प्रसार से रहित हो जाता है।

ऐसी निर्विकल्पकदशा मे आत्मा के सिवाय अन्य समस्त चिन्तनीय वाह्यपदार्थों से मुक्त एकाग्रता के कारण सिर्फ शुद्ध आत्मस्वभाव मे

लयलीन समता की स्थितिरूप—चारित्र, दर्शन अथवा सामान्यबोध एवं विशेषग्राही बोध ज्ञान की अविच्छिन्न-परम्परा द्वारा परिचित= अभ्यस्त तथा विकल्परहित स्थिर समुद्र की तरह तरंगरहित मन, आत्मा के विषय मे व्याप्त रहता है।

तदिदमन्यदुपैत्यधुनाऽपि नो, नियतवस्तुविलास्यपि निश्चयात् ।
क्षणमसंगमुदीतनिसर्गधीहतबहिर्ग्रहमन्तरुदाहृतम् ॥२०॥

इस प्रकार अब भी योगी का मन नियतवस्तु (चैतन्य) के विषय मे विलासी होने पर भी निश्चयस्वभाव के कारण अन्य कुछ भी ग्रहण नही करता, क्योंकि, ऐसी निश्चयनय की अवस्था मे चित्त मे क्षण-भर भी असग तथा उदितनिसर्गबुद्धि द्वारा बहिर्मुखी ज्ञान नष्ट हो जाता है।

तरगरहितता प्राप्त करने से निश्चय की प्राप्ति के समय भी योगी का मन स्वभावत चैतन्यरूप नियत वस्तु के विषय मे रमण करता है, इस कारण निश्चयस्वभाव को ले कर अन्य व्यावहारिक रागादि विकल्पो को ग्रहण नही करता, क्योकि ऐसी निश्चयकल्पना की दशा मे सिर्फ क्षणादि काल तक असग-आलम्बनरहित होने के कारण चित्त का उदयप्राप्त सिर्फ स्वभावग्राही बुद्धि से बहिर्मुखी ज्ञान नष्ट हो जाता है।

कृतकषायजय गभीरिम प्रकृतिशान्तमुदात्त उदारधी ।
स्वमनुगृह्य मनोऽनुभवत्यहो गलितमोहतम परम मह ॥२१॥

क्रोधादि कषायो पर विजय पाने वाला उदारबुद्धि साधक अपने चित्त को अनुकूल बना कर गभीरतायुक्त, प्रकृति से शान्त, उदात्त, मोहान्धकार के नाश से युक्त परम ज्योतिर्मय जो आत्मस्वरूप है, उसका अनुभव करता है।

उदार यानी विकाररहित होने से प्रशस्त बुद्धिशाली पुरुष क्रोधादि कषायो पर विजय प्राप्त करके अपने चित्त को आत्मस्वरूपानुकूल बना कर अत्यन्त गम्भीर अगाध, स्वभाव से ही स्थायीभाव को प्राप्त शान्त=सतापरहित, उदात्त तथा जिसके मोहनीयकर्म से उत्पन्न

अज्ञानान्धकार सर्वथा नष्ट हो गया है, ऐसा सर्वोत्कृष्ट तेजो ज्योति रूप जो आत्मस्वरूप है, उसका अनुभव करता है।

गलितदुष्टविकल्पपरम्परं धृतविशुद्धिमनो भवतीदृशम् ।
धृतिमुपेत्य ततश्च महामतिः समधिगच्छति शुभ्रयश श्रियम् ॥२२॥

जिसके मन ने विशुद्धि धारण कर ली है, उसके मन मे दुष्ट विकल्पो की परम्परा समाप्त हो जाती है, उसके बाद वह महाबुद्धिमान योगी धैर्य धारण करके उज्ज्वल यशोलक्ष्मी (मोक्षलक्ष्मी) प्राप्त कर लेता है।

जिस मन मे से दुष्ट (अशुभ) विकल्पो की परम्पराएँ समाप्त हो जाती है, उसका वैसा मन स्वाभाविकरूप से शुद्धता प्राप्त कर लेता है। उस समय मन शान्ति, उदात्तता एव गम्भीरता के गुण (धृति) धारण कर लेता है। ऐसा महामति उदारचेता योगी स्थिरता (धीरता) धारण करके समस्त कर्मकलंकरहित उज्ज्वल यशरूपी लक्ष्मी-मुक्तिलक्ष्मी प्राप्त कर लेता है। तात्पर्य यह है कि भलीभाँति मन-वचन-काया के योग (व्यापार) के निरोधरूप विधि से ले कर योग की सादि-अनन्त स्थिति को प्राप्त कर लेता है। यश शब्द से ग्रन्थकर्ता 'श्रीयशोविजयजी' ने अपना नाम सूचित किया है।

इति श्रीमहोपाध्याय-यशोविजयगणि-विरचिते ।
अध्यात्मसार-प्रकरणे तृतीय. प्रबन्ध ॥३॥

सम्यक्त्व

मन शुद्धिश्च सम्यक्त्वे सत्येव परमार्थत ।
तद्विना मोहगर्भा सा प्रत्यपायानुबन्धिनी ॥१॥

सम्यक्त्व के होने पर ही परमार्थत (वस्तुत) मन की शुद्धि होती है। सम्यक्त्व के विना हुई मन शुद्धि मोहगर्भित तथा प्रत्यपाय मे सम्बन्धित होती है।

तात्त्विक दृष्टि से सद्भाव को ग्रहण करने वाली मन की शुद्धि (निर्मलता) सम्यग्दर्शन प्राप्त होने से ही होती है। सम्यक्त्व के विना हुई मन शुद्धि मोह (अज्ञान) से मिश्रित तथा प्रत्यपाय=गुणहानि के निरन्तर सम्बन्ध वाली यानी विपरीत-फलदायिनी होती है।

सम्यक्त्वसहिता एव शुद्धा दानादिका क्रिया ।
तासां मोक्षफले प्रोक्ता यदस्य सहकारिता ॥२॥

दान आदि समस्त क्रियाएँ सम्यक्त्वसहित हो, तभी वे शुद्ध हो सकती हैं, क्योकि उन क्रियाओ के मोक्षरूपी फल मे यह सम्यक्त्व सहयोगी-सहकारी है।

अभयदान, सुपात्रदान तथा तप-जपादि क्रियाएं सम्यक्त्वसहित (श्रद्धा से ओतप्रोत) हो कर करने पर ही शुद्ध होती है, वे अपना कार्य करने मे समर्थ-निर्दोष होती है। क्योकि दानादि क्रियाओ के द्वारा मोक्षफल प्रदान करने मे यह सम्यक्त्व भी सहकारी है। साथ रह कर जो क्रियाओ को सफलता दिलाए, वह सहकारी कहलाता है। इसलिए मोक्षरूपी फल देने मे मुख्य सामर्थ्य तो इस सम्यक्त्व का ही है। सम्यक्त्व के विना शुद्ध क्रियाएँ निष्फल होती हे।

कुर्वाणोऽपि क्रिया ज्ञाति-धन-भोगास्त्यजन्नपि ।
दु खस्योरो ददानोऽपि नान्धो जयति वैरिण ॥३॥

अन्धा मनुष्य चाहे जितनी क्रियाएँ (शारीरिक चेष्टाएँ) कर ले, वह अपनी जाति, धन और भोगो का भी त्याग कर दे; तथा कष्टो को अपने हृदय मे स्थान दे दे (यानी कितने ही दुःख सह ले) तो भी वह शत्रु को जीत नही सकता।

नेत्रहीन मनुष्य शब्दवेधी अस्त्रप्रहारादि कामचेष्टाएँ कर ले, एकवशीय ज्ञातिजन, स्वर्णादि धन और इष्ट स्त्री-भोजनादि भोगो का त्याग कर दे तथा दुःखसमूह को हृदय में स्थान दे दे, यानी हृदय समस्त कष्टो को सह ले, फिर भी शत्रुओं को जीत नही सकता, वश मे नही कर सकता। इस श्लोक मे तात्पर्य यह है कि सम्यक्त्वनेत्र से रहित प्राणी मोहादि को पराभूत (पराजित) करके मोक्षराज्य को प्राप्त नही कर सकता।

कुर्वन्निवृत्तिमप्येव कामभोगास्त्यजन्नपि ॥
दुःखस्योरो ददानोऽपि मिथ्यादृष्टिर्न सिध्यति ॥४॥

इसी प्रकार निवृत्ति (सतोष) करता हुआ, कामभोगो का त्याग करता हुआ और दुःख मे भी हृदय स्थान देता हुआ, मिथ्यादृष्टि सिद्ध (मुक्त) नही होता।

जिस प्रकार जन्मान्ध राजकुमार किसी भी प्रयत्न से वैरी को नही जीत सकता, उसी प्रकार मोहान्ध (अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव) भी शास्त्रोक्त पचयमादिरूप निवृत्तिमार्ग पर चलता हो या पचविषयो, विषयवासनाओ का त्याग करके दीक्षा ग्रहण करके हृदय से कायक्लेश, परीषह, उपसर्ग आदि सहता हो, पृथ्वी-शयन भिक्षाटन, वनवासादि कष्टसमूह को हृदय से सहता हो, यानी सर्वदुष्कर क्रियाएँ हृदय से करता हो; फिर भी वह कर्मशत्रु को जीत नही सकता। वस्तु को विपरीत रूप से ग्रहण करने वाली मिथ्यादृष्टि जब तक है, तब तक उसे सिद्धि= मुक्ति प्राप्त नही होती, वह मोक्षसुख को प्राप्त नही कर सकता।

कनीनिकेव नेत्रस्य कुसुमस्येव सौरभम्।
सम्यक्त्वमुच्यते सारं सर्वेषां धर्मकर्मणाम् ॥५॥

आँखो मे पुतली की तरह एव पुष्प मे सुगन्ध की तरह सभी धर्म-कार्यो का सार सम्यक्त्व है।

समस्त धर्मकार्यो मे अर्थात् धर्म के लिए जीव को ब्रह्मस्वरूप की प्राप्ति होने के लिए अथवा धर्म के जो-जो कार्य है, उन सब मे सारभूत आत्मिक फल की प्राप्ति के लिए वल सामर्थ्यरूप सम्यक्त्व को ही कहा है। क्योकि सम्यक्त्व से ही सद्दे देव, गुरु और धर्म की परीक्षा करने का सामर्थ्य प्राप्त होता है। सम्यक्त्वधारी सत्यासत्य की परीक्षा कर सकता है, सदा न्यायमार्ग पर चल सकता है, उसमे कदाग्रह नही रहता, उत्कृष्ट रुचि (श्रद्धा) उत्पन्न होती है। जैसे आँखे तो हो, परन्तु उनमे देखने के सामर्थवाली पुतली न हो तो प्राणी देख नही सकता, इसलिए आँखो का सा० पुतली है, तथा पुष्प मे भी सुगन्ध न हो तो कोई उसे ग्रहण नही करता, क्योकि उहका सारा सुगन्ध है, इसी प्रकार समस्त धर्म क्रियाओ का स्वरभूत तत्त्व सम्यक्त्व है। सम्यक्त्व के बिना उसमे सामर्थ्य नही आ सकता।

तत्त्वश्रद्धानमेतच्च गदित जिनशासने।
सर्वे जीवा न हन्तव्या , सूत्रे तत्त्वमीतिष्यते ॥८॥

जिनशासन मे इस सम्यक्त्व को तत्त्वश्रद्धानरूप कहा है। और 'समस्त जीवो को नही मारना चाहिए' इसे तत्त्व के रूप मे शास्त्र मे प्रतिपादित किया है।

इस समग्र धर्मक्रिया के सारभूत सम्यक्त्व को जिनागम मे तीर्थकरो ने तत्त्वश्रद्धान तत्त्वभिलापारूप कहा है और वह तत्त्व यथार्थ वस्तु जिनेश्वरोक्त आचारागादि सूत्र मे इस प्रकार से कहा है 'सर्वजीवो का हनन नही करना चाहिए।' सर्वजीवो मे त्रस और स्थावर एकेन्द्रिय से ले कर पचन्द्रिय तक के समस्त प्रकार के १० प्राणो मेयथा-योग्य प्राण धारण करने वाले प्राणी, जीवन धारण करने वाले जीव हनन करने योग्य नही है। अपनी तरह सभी को सुख प्रिय है, दुख से सभी भय पाते है, अत किसी भी जीव को नही मारना। हिंसा आत्मा का स्वभाव नही होने से महाअधर्म है और जो वस्तुस्वभाव—आत्मस्वभाव

है, वही धर्म है, और वह सब परभाव से निवृत्ति में तत्पर हो कर करने योग्य है। वस्तुत हिंसा परभाव की प्रवृत्ति है। अत पचवाक्यात्मक अनुमान इस प्रकार सिद्ध होगा 'समस्त जीव हनन करने योग्य नही है प्रतिज्ञावाक्य। 'क्योंकि वह स्वपर के प्रकर्ष दु ख का कारण है हेतु आत्मघात की तरह दृष्टान्त, जो स्व और पर के दु ख का हेतु है, वह त्याज्य है --उपनय और इसी प्रकार हिंसा भी त्याज्य है निगमन।

शुद्धो धर्मोऽयमित्येतदधर्म रुच्यात्मक स्थितम्।
शुद्धानामिदमन्यासां रुचीनामुपलक्षणम्॥७॥

यह (अहिंसारूप) धर्म शुद्ध (निर्दोष) है और यही (श्रद्धान) धर्म-रुचिरूप श्रद्धान अन्य शुद्ध रुचियो का उपलक्षण है।

यह धर्म समस्त जीवो की अहिंसारूप आत्मपरिणति शुद्ध है। अर्थात् सर्वनिवृत्ति के मूल रूप में आत्मस्वभावरूप होने से निर्दोष है। इसी प्रकार पूर्वकथित जीव का श्रद्धान धर्मरुचिरूप है। धर्म यानी निवृत्तिरूप आत्मस्वभाव अथवा षड्जीवनिकाय के वध का निषेध होने से **चारित्रधर्म** अथवा अपने घात के दु ख की तरह पर के घात के दु ख का बोध होने से **सामायिक धर्म**। इस प्रकार के धर्म के विषय मे जो रुचि--अभिलाषा, वही जिसका स्वरूप है, ऐसा जो सम्यक्त्व है, वह धर्मरुचि सम्यक्त्व कहलाता है। इसी तरह उपलक्षण से और भी निर्दोष रुचियाँ है-निसर्ग, उपदेश, आज्ञा, सूत्र, बीज, अभिगम, विस्तार और सक्षेप-क्रियारूप रुचियो का उपलक्षण ज्ञापक हैं। कोई लघुकर्मी जीव क्षयोपशम की पटुता से अपने आप कथित तत्त्व का अभिलाषी हो जाता है, उसे **निसर्गरुचि** समझना। जो जीव गुरु का उपदेश सुन कर तत्त्वाभिलाषी हो, उसे **उपदेशरुचि** जानना। जो प्राणी राग-द्वेष-मोहरहित जिनेश्वर के प्रति प्रतीतिवश तत्त्वरुचि वाला हो, उसे **आज्ञारुचि** समझना। जो अग, उपाग आदि सूत्रो के पठनपाठन मे लीन हो जाय, उसे **अभिगमरुचि** जानना। जिस प्राणी को एक देश (अंश या सिरा) प्राप्त होने पर वटवृक्ष के बीज की तरह अनेक प्रकार से तत्त्व मे अवगाहन करने वाली बुद्धि हो उसे **बीजरुचि** समझना।

तथा नय, निक्षेप वगैरह के विस्तार से जीवो की अहिंसा को जान कर तदनुरूप बुद्धि हो जाय, उसे **विस्ताररुचि** जानना। अनेक प्रकार के अनुष्ठान (क्रियाएं) करने की जिसमे रुचि हो, उसे क्रियारुचि जानना एव सक्षेप मे जैनतत्त्व के रहस्य को जानने की अभिलाषा जिसमे हो, उसे सक्षेपरुचि समझना। इस प्रकार ये दश और दूसरी भी इसी प्रकार की शुद्धरुचियाँ सम्यक्त्व का स्वरूप है।

अथवेद यथातत्त्वमाज्ञयैव तथाऽखिलम्।
नवानामपि तत्त्वानामिति श्रद्धोदितार्थत ॥८॥

अथवा जैसे यह अहिंसारूप तत्त्व आज्ञारूप कहा है, इसी प्रकार जीवादि नौ तत्त्वो पर भी श्रद्धा करने, आज्ञा आदि रुचियो द्वारा जानने को भी सम्यक्त्व कहा है।

इससे पूर्व 'सर्वजीवो को नही मारना' इस तत्त्व पर श्रद्धा को सम्यक्त्व कहा था। अब दूसरी तरह से सम्यक्त्व का स्वरूप बताते हैं--जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, सवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष इन नौ तत्त्वो को जिनवचनानुसार निसर्ग आदि रुचि से जानना, इसे भी सम्यक्त्व का लक्षण कहा है।

इहैव प्रोच्यते शुद्धाऽहिंसा वा तत्त्वमित्यत ।
सम्यक्त्व दर्शित सूत्रप्रामाण्योपगमात्मकम् ॥९॥

शुद्ध अहिंसा अथवा शुद्धतत्त्व जिनप्रणीत आगमो मे ही कहा है, इस प्रकार सूत्र के प्रमाणत्व के स्वीकार करने को भी सम्यक्त्व कहा है।

अतिव्याप्ति, अव्याप्ति और असभव आदि दोषो से रहित अहिंसा (विधि-निषेधात्मक उभयरूप) अथवा तत्त्व यानी पारमार्थिक अहिंसादि वस्तुस्वरूप जिनागम मे ही वर्णित है, अन्य दर्शनो या अन्य आगमो मे नही। इस प्रकार अहिंसा और तत्त्व को जान कर जिनेन्द्रप्रणीत आगम के प्रमाणत्व का स्वीकार अथवा 'यथार्थ कहा है' इस प्रकार परीक्षा करके सिद्धान्त का निर्णय करना और सूत्र को प्रमाणभूत स्वीकार करना ही सम्यक्त्व है।

शुद्धाहिंसोक्तितः सूत्रप्रामाण्यं तत एव च ।
अहिंसाशुद्धधीरेवमन्योन्याश्रयभीर्न तु ॥१०॥

(सूत्र मे) शुद्ध अहिसा की उक्ति होने से सूत्र की प्रमाणता सिद्ध होती है, और उसी को ले कर प्राणी अहिसा के प्रति शुद्ध बुद्धि वाला होता है, इस प्रकार अन्योन्याश्रयदोप का खतरा नही रहता ।

अच्छी युक्तियो से निर्मल (शुद्ध) अहिसा की प्राणिवध के निषेधरूप देशना (उक्ति) होने से सूत्र का प्रमाणत्व शुद्ध (दोपरहित) सिद्धान्तत्व सिद्ध होता है। और प्रमाणभूत सूत्र के पठन-श्रवण से अहिसारूप धर्म के विपय मे जीव शुद्धबुद्धि वाला होता है । इस प्रकार अन्योन्याश्रय नामक दोप का भय नही रहता । अन्योन्याश्रय दोप का जो आक्षेप लगाया जाता है कि सूत्र की प्रमाणता सिद्ध होने पर अहिसा के विपय मे शुद्धबुद्धि सिद्ध हो और शुद्धबुद्धि शुद्ध होने से सूत्र की प्रमाणता सिद्ध होती है। परन्तु यह दोप यहाँ घटित नही होता । शास्त्र मे जो शुद्ध अहिसा का उपदेश है, उससे शास्त्र की प्रमाणता स्वत: सिद्ध होती है । अहिसा के उपदेश वाले शास्त्र के श्रवण करने से स्वत. अहिसा-पालन-बुद्धि उत्पन्न होती है । अत यहाँ अन्योन्याश्रय दोप नही है ।

नैव यस्मादहिंसाया सर्वेषामेकवाक्यता ।
तच्छुद्धताववोधश्च सभवादिविचारणात् ॥११॥

चूँकि सभव (हिसा की उत्पत्ति, हिसक, हिस्य) आदि का विचार करने पर अहिसा के सम्बन्ध मे सभी मतो की एकवाक्यता नही होती। तथा अहिसा की शुद्धता (विराधना के परिहार) का उपाय और ज्ञान भी उन-उन (अन्य) शास्त्रो से होता नही ।

यहाँ पर प्रश्न उठता है कि क्या जैनागमों मे ही अहिसा का उपदेश है ? साख्यदर्शन, भागवतमत, पाशुपतमत, बौद्धमत आदि के शास्त्रो मे भी तो अहिसा का उपदेश है ? इसका उत्तर ग्रन्थकार देते है पूर्वोक्त जैनेतर मतो के शास्त्रो मे अहिसा के स्वरूप का प्रतिपादन करने मे एकवाक्यता नही है । इसलिए कहा गया है कि जैन आगमो मे अहिसा की

जैसी एकवाक्यता है, वैसी अन्यमतीय शास्त्रों में नहीं है। इसके अतिरिक्त अहिंसा की शुद्धता अर्थात् उसकी विराधना के परिहार का उपाय और उसका बोध (ज्ञान) भी जिनवचन के जैसा अन्यमतीय शास्त्र मे नही मिलता। क्योंकि संभव अर्थात् हिंसा की उत्पत्ति, हिंसक एवं हिंस्य आदि का विचार अन्यमतीय शास्त्रों मे युक्तिसंगत नहीं है। इसलिए जब उनमे हिंसादि के प्रतिपादन का अभाव है, तो अहिंसा के भी सम्यक् प्रतिपादन का अभाव सिद्ध होता है। इसलिए जैनशास्त्रों मे ही हिंसा-अहिंसा का सम्यक् युक्तिसंगत विचार है, इसी कारण हम कहते हैं कि 'जैनागमो मे ही अहिंसा का प्रतिपादन है।'

यथाऽहिंसादय पञ्च व्रतधर्मयमादिभि ।
पदै कुशलधर्माद्यै कथ्यन्ते स्व-स्वदर्शने ॥१२॥

अन्यदर्शन वाले अपने-अपने दर्शन मे अहिंसादि पाँचो को व्रत, धर्म, यम आदि शब्दो से तथा कुशलधर्म आदि शब्दो मे जिस-जिस रूप मे पुकारते है, उसे आगे बताते है।

प्राहुर्भागवतास्तत्र व्रतोपव्रतपञ्चकम् ।
यमांश्च नियमान् पाशुपता धर्मान् दशाऽभ्यधुः ॥१३॥

इन सब दर्शनो मे भागवतमत वाले पाँच व्रत और पाँच उपव्रत, यो दश मानते है, तथा पाशुपतमत वाले पाँच यम और पाँच नियम, इस प्रकार दश धर्म को मानते है।

भागवत धर्म अर्थात् भक्तिमार्गीय पौराणिक वैष्णव अहिंसादि पाँच व्रत एव सतोषादि पाँच उपव्रत मानते हैं, तथा पाशुपत यानी रुद्रमत वाले नैयायिक अहिंसादि पाँच यम और अक्रोधादि पाँच नियम, इस प्रकार १० धर्म मानते है।

अहिंसा सत्यवचनमस्तैन्य चाप्यकल्पना ।
ब्रह्मचर्यं तथाऽक्रोधो ह्यार्जवं शौचमेव च ॥१४॥

सतोषो गुरुशुश्रूषा इत्येते दश कीर्तिता ।
निगद्यन्ते यमा सांख्यैरपि व्यासानुसारिभि ॥१५॥

अहिंसा, सत्यवचन, अचौर्य, अकल्पना (निष्परिग्रह) और ब्रह्मचर्य तथा अक्रोध, आर्जव, शौच, सन्तोष एवं गुरुशुश्रूषा, ये दस कहे हैं। इनमें से पहले के पाँचों को व्यासमार्गानुगामी व सांख्यमत वाले यम के रूप में मानते हैं।

अहिंसासत्यमस्तैन्यं ब्रह्मचर्यं तुरीयकम् ।
पंचमो व्यवहारश्चेत्येते पंच यमाः स्मृताः ॥१६॥

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, चौथा ब्रह्मचर्य और पाँचवा व्यवहार (परिग्रहत्याग); ये पाँच यम कहे गए हैं।

अक्रोधो गुरुशुश्रूषा शौचमाहारलाघवम् ।
अप्रमादश्च पञ्चैते नियमाः परिकीर्तिताः ॥१७॥

अक्रोध (क्षमा), गुरुशुश्रूषा, शौच, (शरीरादि की पवित्रता) आहार की लघुता (अल्पाहार) तथा अप्रमाद (अकार्य मे प्रवृत्ति, कार्य से निवृत्तिरूप प्रमाद अथवा असावधानीरूप प्रमाद का त्याग) ये पाँचों नियम कहलाते हैं।

बौद्धैः कुशलधर्माश्च दशेष्यन्ते यदुच्यते ।
हिंसाऽस्तेयाऽन्यथाकाम पैशुन्यं परुषानृतम् ॥१८॥
सभिन्नालापव्यापादमभिध्या - दृग्विपर्ययम् ।
पापकर्मेति दशधा कायवाङ्-मानसैस्त्यजेत् ॥१९॥

बौद्ध दश कुशलधर्मों को मानते हैं। जैसा कि वे कहते हैं हिंसा, अस्तेय, अन्यथा काम (दुष्ट परिणाम से परस्त्री के साथ मैथुन-सेवन करना) पैशुन्य (चुगली), परुषानृत मन-वचन द्वारा कठोर और असत्य बोलना), सभिन्नालाप (परमर्मभेदी असम्बद्ध प्रलाप), व्यापाद (द्रोह का चिन्तन), अभिध्या (परधन हरण करने की इच्छा), और दृग्विपर्यय (कुशलधर्म से विपरीतदृष्टि), इस प्रकार दश प्रकार के पापकर्मों (पापबन्धकर्ता कर्मों) का मन, वचन और काया से त्याग करना चाहिए।

ब्रह्मादि पदवाच्यानि तान्याहुर्वैदिकादयः ।
अतः सर्वैकवाक्यत्वाद्धर्मशास्त्रमदोऽर्थकम् ॥२०॥

वैदिक आदि मत वाले अहिंसा आदि को ब्रह्म आदि पद से वाच्य करते है (पुकारते है), उन सबका एक ही वाच्यार्थ होने से यह धर्म-शास्त्र सार्थक है।

वेद-पारगत वैदिक आदि यानी जैमिनीय (मीमांसक) वगैरह पूर्वोक्त अहिंसा आदि व्रतो को ब्रह्मादि पद से सम्बोधित करते है। जैसे कि वे कहते है शुद्धब्रह्म, परब्रह्म, लक्ष्यब्रह्म, शब्दब्रह्म और ब्रह्मतत्त्व। इन पाँच पदो द्वारा पाँचो व्रतो को क्रमश कहते है। इस तरह वे दावा करते है कि पूर्वकथनानुसार सर्व धर्मशास्त्रो की एकवाक्यता (सब मे धर्मत्व को ले कर) एक सरीखा वाच्यार्थ होता है, इसलिए यह धर्मशास्त्र सार्थक है।

क्व चैतत्सम्भवो युक्त इति चिन्त्यं महात्मना।
शास्त्र परीक्षमाणेनाव्याकुलेनाऽन्तरात्मना ॥२१॥

यह अहिंसादि धर्म का संभव (उत्पत्ति) किस शास्त्र मे कहा हुआ युक्त (उचित) है? इसके लिए परीक्षा करने वाले महात्मा को अव्यग्र-चित्त से शास्त्र पर चिन्तन (विचार) करना चाहिए।

इस अहिंसादि धर्म का संभव (परमार्थ से प्राणिवध के त्याग आदि की उत्पत्ति) कौन-से शास्त्र मे अथवा दर्शन मे युक्तिसंगत है? इस प्रकार अहिंसा का प्रतिपादन करने वाले शास्त्र-ग्रन्थ की परीक्षा सत्यासत्य का निर्णय करने वाले महात्मा पुरुष को अपने मत पर दृष्टिराग तथा परमत-द्वेष से उत्पन्न चित्त के व्याक्षेप (व्याकुलता) से रहित हो कर यानी माध्यस्थ्यभाव धारण करके धर्मार्थी आन्तरिक वृत्ति अन्तरात्मा से कुशाग्रबुद्धिपूर्वक उसका पर्यालोचन (विचार) करना चाहिए।

जैसे ससार मे सोने की परीक्षा कष, छेद और ताप, इन तीनो प्रकारो से होती है, वैसे ही शास्त्र की परीक्षा भी इन्ही तीन प्रकारो से होती है। अविरुद्ध कार्य का उपदेश करने वाला वाक्य कष कहलाता है। जैसे स्वर्ग और मोक्ष के इच्छुक को तप, ध्यान, ब्रह्मचर्य, समिति, गुप्ति और दानादि से शुद्ध हुई क्रिया करनी चाहिए, इस प्रकार के

विधिवाक्यों का उपदेश जिस ग्रन्थ मे जगह-जगह हो, तथा 'किसी भी प्राणी की हिंसा नही करनी, असत्य नही बोलना चाहिए, इत्यादि निषेधात्मक वाक्यों का भी उपदेश हो' यानी जिस ग्रन्थ मे बहुधा विधिनिषेधात्मक वाक्य प्रतीत होते हो, वह कषशुद्ध कहलाता है, तथा जिसमे विधि-निषेध को सफल करने वाली तथा व्रतादि का पालन करने वाली क्रिया का विधान हो, जैसे 'शुद्धभिक्षा ग्रहण करनी चाहिए दोषरहित बाह्य चेष्टा करनी चाहिए' इत्यादि उपदेशवाक्य जिसमे प्राय. उपलब्ध होते हो, उसे छेदशुद्ध समझनी चाहिए। यदि तापशुद्ध न हो तो इन दोनों प्रकार की शुद्धि या निष्फल है। वह तापशुद्धि कष और छेद दोनो के मूलाधाररूप आत्मवाद के स्वरूप वाली यानी आत्मा की उत्पत्ति और विनाश होता है या नही ? इस प्रकार का जो विचार है, वह शास्त्र की परीक्षा करने मे तापरूप होता है। अत कष और छेद को सफल बनाने वाली तापपरीक्षा के सम्बन्ध मे कहते है

प्रमाणलक्षणादेस्तु नोपयोगोऽत्र कश्चन ।
तन्निश्चयेऽनवस्थानादन्यथार्थस्थितेर्यत ॥२२॥

इस प्रकार की शास्त्रपरीक्षा मे प्रमाण एव लक्षण आदि कोई भी उपयोग नही होता, क्योकि जीवादि पदार्थो की उससे अन्यथा स्थिति होने के कारण उसका निश्चय करने मे अनवस्थादोष उत्पन्न होने की सम्भावना है।

प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम (शाब्द) वगैरह प्रमाण तथा लक्षण (तटस्थ और स्वरूप इन दो भेदो वाला अनुमापक=पृथक्करणकर्ता) इत्यादि से कार्यसिद्धि दिखाई नही देती, इसलिए इनका शास्त्रपरीक्षा मे कोई उपयोग नही है। क्योकि इनसे निर्णय करने मे आत्मा की उत्पत्ति और विनाशरूप हिंसा के सम्भव (उत्पत्ति) की सिद्धि का निर्णय करने मे अनवस्थादोष प्राप्त होता है। कारण, प्रमाण और लक्षणादि की शक्ति निश्चित स्वरूप को ग्रहण करने की नही होती। पदार्थ की परिस्थिति ही अन्य प्रकार की है, प्रमाण एव लक्षण जो व्यवस्था करते हैं, उसकी अपेक्षा जीवादि पदार्थो की व्यवस्था अलग

ही प्रकार की है। और प्रमाण की व्यवस्था पदार्थ की व्यवस्था करते में अलग प्रकार की है।

> प्रसिद्धानि प्रमाणानि, व्यवहारश्च तत्कृत ।
> प्रमाणलक्षणस्योक्तौ ज्ञायते न प्रयोजनम् ॥२३॥

समस्त प्रमाण प्रसिद्ध है। उनके द्वारा किया जाने वाला व्यवहार भी प्रसिद्ध है। इसलिए प्रमाण को लक्षण बताना यहाँ निष्प्रयोजन है।'

प्रत्यक्षादि समस्त प्रमाण लोक में प्रसिद्ध है, इसलिए उन्हे सिद्ध करने की जरूरत नही, वे अनादिकाल से सिद्ध हैं। जैसे प्रमाण लोक मे अनादिसिद्ध हैं, वैसे ही उनके द्वारा किया गया व्यवहार भी प्रसिद्ध है। जलपान करना, शर्दी-गर्मी से रक्षा करना, आदि व्यवहार समस्त लोक मे अनादिसिद्ध है। इसलिए उनका लक्षण करने से कोई प्रयोजन सिद्ध नही होता, क्योकि उनका लक्षण आत्मा आदि वस्तुओ के विषय मे यथार्थ घटित नही होता। उससे व्यामोह की निवृत्ति हो नहीं सकती। जबकि प्रमाणो के लक्षण का निश्चय करने का फल व्यामोह से निवृत्ति ही है।

> तत्राऽत्मा नित्य एवेति येषामेकान्तदर्शनम् ।
> हिंसादय. कथं तेषां कथमप्यात्मनोऽव्ययात् ॥२४॥

'आत्मा नित्य ही है' ऐसा जिनका एकान्त मत है, उनकी दृष्टि से आत्मा का कभी नाश (घात) न होने के कारण हिंसादि किस प्रकार घटित हो सकते है ? नहीं हो सकते।

भागवत, पाशुपत, सांख्य एवं औपनिषदिक आदि दर्शनो के मत से आत्मा उत्पत्तिविनाशरहित एकस्वभाववाला कूटस्थ नित्य है। वे कहते हैं कि आत्मा नित्य, शुद्ध बुद्ध, मुक्त स्वभाव वाला सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान ब्रह्म है, इसलिए पर्याय की अपेक्षा से वह अनित्य नहीं है। जब इस प्रकार वे एकान्तवादी आत्मा के सर्वथा एक नित्यपक्ष का समर्थन करते है, तब उनके मत की दृष्टि से हिंसा-अहिंसा, बन्ध-मोक्ष आदि किस प्रकार संभव हो सकते है ? किसी प्रकार नही। फिर उनके मत

से किसी भी परिणाम से जीव के पर्याय का कदापि नाश नही होता। और जीवहिंसा है जीव के पर्यायो का नाश करना, उसे दुख देना या उसे क्लेश उपजाना। आत्मा को अविनाशी कूटस्थ नित्य आत्मा के पक्ष मे किसी प्रकार की हिंसा कैसे घटित होगी? जब जीवहिंसा ही घटित नही होती, तब अहिंसाधर्म के पालन की बाते भी हवाई कल्पना ही सिद्ध होती है।

मनोयोगविशेषस्य ध्वंसो मरणमात्मन.।
हिंसा तच्चेन्न तत्त्वस्य सिद्धेरार्थसमाजत ॥२५॥

मन तथा उसके व्यापार का विनाश ही आत्मा की मृत्यु है। इसलिए वही हिंसा है। परन्तु इसके उत्तर मे सिद्धान्तवादी (जैन) कहते हैं, अगर इसे ही हिंसा कहते हो तो यह कथन भी अयथार्थ है, सिद्ध नही होता, आपके कथन से भी। क्योकि इस प्रकार तो आर्थ (सद्भूत परमार्थ) के हिंसाभावस्वरूप तत्त्वकी सिद्ध होती है। हिंसक और हिंसनीय के संयोग होने से हुई हिंसा की उत्पत्ति से उसकी सिद्धि होती है। और उसकी सिद्धि होने से सद्भूत हिंसा सिद्ध होती है, परमार्थहिंसा मनोयोग का नाश होने से सिद्ध नही होती, क्योकि मन जड़ है, वह आत्मा से भिन्न भी है। अत. मन का नाश होने से आत्मा का क्या बिगड़ता है? कुछ भी नही। जडवस्तु की हिंसा होती ही नही और जडवस्तु की कोई हिंसा कहलाती नही। क्योकि उसे शस्त्रादि के प्रहार से कुछ भी होता नही। तथा मनोयोग हिंस्य तथा हिंसक कैसे हो सकता है? उसके निमित्त से मन को पापकर्मो का बन्ध, होता है, ऐसा कहा नही जा सकता, क्योकि मन जड है। यदि जड वस्तु को भी हिंस्य-हिंसक कहा जाय तो फिर किसी को भी मोक्ष नही हो सकेगा। अचित्त अन्न-वस्त्रादि जडपदार्थो से भी मन के नाश की तरह हिंसाकारित्व प्राप्त होने से मोक्ष होगा ही नही। तथा मनरहित जो एकेन्द्रिय जीव है, उनका मरण ही नही होगा, क्योकि मनोयोग के नाश का अभाव है। यदि मन को हिंसक कहेगे तो सारे जगत् का जीना ही कठिन हो जाएगा, क्योकि सबका मन जड है।

नैति बुद्धिगता: दु:खोत्पादरूपेयमौचितीम् ।
पुंसि भेदाग्रहात्तस्या परमार्थाव्यवस्थिते ॥२६॥

दु ख को उत्पन्न करने वाली बुद्धि मे स्थित यह हिंसा भी उचित नही, क्योकि बुद्धि को पुरुष (आत्मा) से अत्यन्त भिन्न माना है। इसलिए परमार्थत (वस्तुत:) यहाँ भी हिंसा की व्यवस्था नही हो सकती ।

प्रकृति आदि २५ तत्वो मे से एक बुद्धि (महत्तत्व) भी है, वह जड तत्त्व है। उनके (साख्यादिदर्शनो के) मतानुसार बुद्धि में परिणत हो कर रही हुई यह हिंसा दु ख को उत्पन्न करने वाली होती है, यह कथन भी उचित नही है। क्योकि बुद्धि प्राणी (आत्मा=पुरुष) से बिलकुल अलग है । इसलिए जडबुद्धि द्वारा भी किसी प्रकार से जीवहिंसा की उत्पत्ति और उसके निमित्त से पापकर्म का बन्ध नही होता । इसलिए बुद्धि से तद्रूप हिंसातत्व की व्यवस्था नही हो सकती । दूसरे विषय को छोड कर अपने ही विषय मे रहना व्यवस्था कहलाती है। ऐसी व्यवस्था हो नही सकती । तात्पर्य यह है कि साख्यादिमत मे बुद्धि आत्म सत्तासे बिलकुल भिन्न बताई है। अत' उस बुद्धि द्वारा की गई हिंसा जीव के पापबन्ध के लिए नही होती । जैसे देवदत्त के द्वारा किये गये भोजन से यज्ञदत्त का पेट नही भर जाता, इससे क्रिया के फल का अभाव हुआ । ऐसा होने से सभी क्रियाएँ व्यर्थ गई और मोक्ष का भी अभाव हुआ । अत बुद्धि मे निहित दु खादि को उत्पन्न करने वाली हिंसा सगत नही है ।

न च हिंसापदं नाशपर्याय कथमप्यहो !
जीवस्यैकान्तनित्यत्वेऽनुभवाबाधक भवेत् ॥२७॥

अहो ! जीव को एकान्त नित्य मानने से नाश का पर्यायरूप हिंसा शब्द किसी प्रकार से भी अनुभव का अबाधक नही होगा । मतलब यह है कि वह अनुभव का बाधक ही होगा ।

जीव को एकान्तरूप से सर्वथा अपरिणामी (एक परिणाम से दूसरे परिणाम को जो प्राप्त न हो) नित्य-निरतर एक स्वभाव वाला मानने से 'हिंसा है' इस प्रकार का जो स्वीकार है वह नाश का पर्यायवाची

हिंसाशब्द सर्वसाधारण के अपने प्रत्यक्षज्ञान का अवाधक नही होगा, वल्कि वाधक ही होगा। नाश का समानार्थक हिंसाशब्द यदि नित्य आत्मा के साथ जोड़ दे, तो वह अनुभव मे ही वाधक होगा। यदि किसी भी प्रकार मे उसका नाश मानेगे तो मृत को ही आत्मारहितत्व प्रतीत होने से नित्यत्व की ही क्षति होगी। क्योंकि हिंसादि परिणामी आत्मा के विषय मे ही सभव है, अपरिणामी (नित्य) आत्मा मे हिंसादि सभव नही।

शरीरेणाऽपि सम्बन्धो नित्यत्वेऽस्य न संभवी।
विभुत्वे न च संसार कल्पित' स्यादसंशयम् ॥२८॥

जीवात्मा को यदि नित्य माने तो उसका शरीरादि के साथ सम्वन्ध संभव नही है। इस इस विभु-सर्वव्यापक माने तो नि सदेह यह ससार कल्पित नही हो सकेगा।

इस आत्मा का नित्यत्व सर्वथा जन्ममरणरहित एक स्थिरस्वभाव-रूप सिद्ध हो जाय, तव तो उस आत्मा का शरीर के साथ सम्वन्ध भी सम्भव नही हो सकता, तव फिर धन, कुटुम्व, भवन आदि के साथ तो सम्भव ही कहाँ से हो ? जव आत्मा शरीर के साथ विलकुल सम्वन्ध ही नही रखता तो फिर हिंसादि की वात ही क्या करना ? अर्थात् हिंसादि की संभावना ही कैसे हो सकती है ? क्योकि शरीर का सम्वन्ध तो उसी के साथ सिद्ध है, जो किसी भी प्रकार से अनित्य और क्रिया वाला हो। तथा एक ही आत्मा का विभुत्व ससार मे समग्रव्यापक सिद्ध हो जाय, तव तो सचमुच अनेक जन्ममरण के परावर्तरूप ससार-कल्पित मनुष्य, नारक, तिर्यञ्च वगैरह भेद उसमे नही हो सकते। सकललोकव्याप्त एक ही आत्मा को जन्ममरण प्राप्त होते ही लोक के समस्त आत्माओ का एक साथ ही जन्ममरण हो जायगा क्योकि व्यापक होने के कारण एक आत्मा सदा सर्वत्र स्थित होने से उसका विभाग ही नही हो सकेगा।

आत्मक्रियां विना च स्यान्मिताणुग्रहण कथम् ?
कर्यं सयोगभेदादिकल्पना चापि युज्यते ? ॥२९॥

आत्मा में क्रिया न हो तो त्रस आत्मा से परिचित परमाणुओं का ग्रहण कैसे होगा ? नही हो सकेगा। तथा संयोग और भेद वगैरह की कल्पना भी उसमे कैसे युक्तियुक्त होगी ? नही होगी।

हे प्राज्ञ ! शरीर के सम्बन्ध का अभाव इस कारण भी जान लेना चाहिए आत्मक्रिया यानी जीव की क्रिया के विना अर्थात् रागादि के अध्यवसाय से जीवप्रदेशो के स्फुरणारूप व्यापार के विना परिचित परमाणुओं का ग्रहण कैसे हो सकता है ? परिचित परमाणुओं का ग्रहण करने मे कोई नियामक न हो तो परमाणुओं के जत्थे स्वय अत्यन्त बडा या अत्यन्त छोटा हो जाना, तथा सयोगगृहीत परमाणुओं के परस्पर मिलन मे मस्तक वगैरह अग की रचना और भेद पूर्वगृहीत परमाणुओं का वियोग हो जाना, इत्यादि अर्थात् वेदना आदि की रचना कल्पना भी जीव के व्यापार के विना कैसे हो सकती है, किसी भी प्रकार नही हो सकती। तात्पर्य यह है कि जैसा जीवप्रदेश का स्फुरणारूप व्यापार होता है, वैसे ही पुद्गलो की राशियां ग्रहण होता हैं। और उसी से वारंवार ग्रहण किये जाते हुए वे परमाणु पूर्व-परिणत परमाणुओं के साथ सयुक्त होते हैं और पूर्वपरिणत परमाणुओं में से कई असाररूप हुए परमाणुपुद्गल उसी आत्मव्यापार से पृथक् हो जाते है। इस प्रकार आत्मक्रिया के विना शरीर-सम्बन्ध होता नहीं और आत्मक्रिया आत्मा को एकान्त नित्य मानने से हो नही सकती। कदाचित् आत्मा में क्रिया की सम्भावना मान भी ले तो उसके नित्यत्व की क्षति हो जाती है।

अदृष्टाद्देहसंयोग स्यादन्यतरकर्मज ।
इत्थं जन्मोपपत्तिश्चेन्न तद्योगाविवेचनात् ॥३०॥

अदृष्ट से किसी भी कर्म से उत्पन्न हुआ देह का सयोग हो सकता है, (इसलिए आत्मक्रिया की कोई अपेक्षा नही रहती) इस पर जैन सिद्धान्ती उत्तर देते हैं कि यदि इस प्रकार जन्म की संगति विठाना चाहोगे तो वह सभव नही हो सकेगी, क्योकि उस शरीर के योग का ज्ञान (उन कर्मो को) नही है। अत आत्मक्रिया के विना देह का संयोग हो ही नहीं सकता।

हे विद्वान् ! आत्मक्रिया के विना ही किसी भी कर्म से उत्पन्न (अनेक प्रकार के पूर्वकृत कर्मों मे से किसी एक कर्म से पैदा) हुआ देह सयोग=आत्मा का शरीर के साथ सम्बन्ध अदृष्ट से--पूर्वकृत पुण्यपाप के संस्कार से हो सकता है। अत उसमे आत्मक्रिया से क्या सरोकार है ? यो कहने वाले को जैन सिद्धान्ती उत्तर देते है--या आपके कथनानुसार जन्म (शरीरोत्पत्ति) मानते है तो वह वन नही सकती, क्योकि उसके योग का विवेचन (पृथक्करण) नही है यानी उस अदृष्ट के स्वोत्पत्तिरूप व्यापार (योग) को यथार्थ ज्ञान नहीं, तथा कर्म भी जीव की क्रिया व्यापार से ही उत्पन्न होते है अथवा उस शरीर के योग (उचित उपाय) का ज्ञान उन कर्मों को नही होता। अकेले कर्म जड़ होने के कारण जीव (चैतन्य) के व्यापार के विना उन-उन अगोपाग आदि के विभागानुसार देह रचना करने में असमर्थ है।

कथंचिन्मूर्ततापत्तिर्विना वपुरसंक्रमात् ।
व्यापारायोगतश्चैव यत्किञ्चित्तदिद जगुः ॥३१॥

शरीर के विना भी उसमे सक्रम न होने से आत्मा को किसी भी प्रकार से मूर्तता की प्राप्ति हो जायगी। यह जो प्रतिवादी ने वात कही है, वह तथ्यहीन है, क्योंकि उस आत्मा के व्यापार का ही अयोग है।

पूर्वपक्ष (वादी) यो कहता है कि शरीर के विना प्रवेश करने का आत्मा का स्वभाव न होने पर भी किसी अचिन्त्य महिमा के प्रभाव से आत्मा साकाररूप (मूर्तत्व) धारण कर लेता है। यानी आत्मव्यापार न होते हुए भी वह साकार हो जाएगा, उसे शरीर की प्राप्ति हो जाएगी। इसके उत्तर मे जैन सिद्धान्ती कहते है इस प्रकार वादी के कथन मे कोई सार नही है। क्योकि जव आत्मा के व्यापार का अयोग-असम्वन्ध है, तव व्यापार के अभाव मे साकारता की प्राप्ति भी असम्भव है। जो स्व-अर्थक्रिया करता है, वही साकारता प्राप्त कर सकता है और जो स्वार्थक्रिया नही करता, वह आकाशपुष्प की तरह असत् है। अत आत्मा को साकारता की प्राप्ति कहा से होगी ? कही से भी नही।

निष्क्रियोऽसौ ततो हन्ति हन्यते वा न जातुचित् ।
किञ्चित्केनचिदित्येव न हिंसाऽस्योपपद्यते ॥३२॥

इस प्रकार आत्मा निष्क्रिय होने से वह कदापि किसी को मारता नही और न किसी के द्वारा मारा जाता है। इसलिए इस (नित्य) आत्मा को हिंसा प्राप्त नही होती।

आत्मा को सर्वथा नित्य मानने वाले का आत्मा निष्क्रिय=स्वार्थ-क्रियाकारी न होने से कदापि किसी भी पदार्थ को (जीव या जड को) वह मारता नही, तथा न वह किसी भी शस्त्रादि से या पुरुष से कदापि मारा जाता है। अर्थात् न तो वह किसी को हानि पहुचा सकता है और न उसे कोई हानि पहुंचा सकता है। कारण, आत्मा निष्क्रिय होने से शरीररहित है, इसलिए उस पर शस्त्रादि का व्यापार नही हो सकता। इस प्रकार इस पूर्वकथित आत्मा को हिंसा प्राप्त नही होगी, क्योंकि जो पदार्थ देह से भिन्न तथा अभिन्न हो, उसी पर हिंसा लागू हो सकती है, पर यह तथाकथित आत्मा तो देह से सर्वथा भिन्न है, इस कारण हिंसा की इसमे उत्पत्ति नही होती, तब भला अहिंसा की सभावना भी भी उक्त मत मे कैसे हो सकती है ? कथमपि नही।

अनित्यैकान्तपक्षेऽपि हिंसादीनामसम्भव ।
नाशहेतोरयोगेन क्षणिकत्वस्य साधनात् ॥३३॥

एकान्त अनित्यपक्ष मे भी हिंसा आदि की सम्भावना नही है। क्योकि क्षणिकता को सिद्ध करने से नाश के कारण का अयोग है, अर्थात् नाश का कारण रहता नही।

जो किसी भी प्रकार से नित्य (सर्वदा-स्थायी) नही है, अर्थात् जिसका एकान्तत द्रव्य और पर्याय दोनो से सर्वथा अन्वयरहित नाश हो जाता है, वस्तु को एकान्त अनित्य मानने वाले उस बौद्धमत मे भी तद्रूप पक्ष, प्रतिज्ञा या स्वीकार करने से हिंसा-अहिंसा, बन्ध-मोक्ष आदि सभव नही हैं, क्योकि उनके मतानुसार 'जगत् मे सभी पदार्थ क्षणिक हैं,' इस क्षणिकवाद द्वारा आत्मा का एकान्त क्षणिकत्व सिद्ध प्रमाणित करने से नाश (हिंसा) के कारणभूत हिंस्य-हिंसकरूप वस्तु के अस्तित्व

तथा उनके परस्पर सम्बन्ध का ही अभाव (अयोग) है, तब उसमे हिंसादि कैसे घटित हो सकते हैं? हिंसा भी स्वय विनाशी होने से हिंसारूप नही रहती। आत्मा भी उनके मतानुसार प्रतिक्षण स्वत. उत्पन्न एवं विनष्ट होता है, अत उसे कोई मारने वाला नही, वह भी किसी को मारता नही।

न च सन्तानभेदस्य जनको हिंसको भवेत्।
सांवृतत्वादजन्यत्वाद् भावत्वनियतं हि यत् ॥३४॥

सन्तानपरम्परा का भेद (नाश) करने वाला हिंसक होगा, यह कहना भी यथार्थ नही है, क्योकि वह हिंसक तो सिर्फ विद्यमानता मे ही रहता है, तथा अजन्य यानी सन्तान का जनक-उत्पादक नही है तथा वह सन्तान सिर्फ उत्पत्ति में ही निश्चित है। इसलिए उसे हिंसा कहना अयथार्थ है, वह हिंसा ही नही है।

एकान्त अनित्यवादियो का कहना है कि "यह सारा जगत् क्षणिक भाव से निश्चित है, प्रतिक्षण द्रव्य का उत्पाद और विनाश स्वत होता रहता है, परन्तु प्रथम क्षण में उत्पन्न हो कर दूसरे क्षण मे नाश होने के समय वह अपनी सन्तान छोड़ जाती है। इसलिए निरन्तर उत्पन्न होने वाले एक सरीखे ज्ञान के क्षणो की परम्परारूप सन्तान के नाश का जनक सन्तान का विच्छेद करने वाला ही हिंसक होगा। अर्थात् आत्मा का अभाव होने पर भी उसकी सतान का नाश करने वाला हिंसक कहलाएगा, इसलिए हमारे मत से हिंसा घटित हो सकती है।" परन्तु उनका यह कथन कल्पनामात्र है। वहाँ हिंसा घटित नही होती। अत. जो उस समय का व्यवहार (हिंसा का वर्तन) है, वह केवल व्यवहारमात्र है, तथा वह अजन्य है, यानी उस सन्तान का कोई जनक नही है। क्योकि सन्तान मतिकल्पित होने से अवस्तु है, मिथ्या है, कल्पनामात्र है। आकाशपुष्प की तरह उसे कोई भी अपने धर्म से पैदा नही करता। तथा वह सन्तान सिर्फ उत्पत्ति में ही नियत है, वह स्थितिमान (स्थायी) नही है। उत्पन्न होने के एक क्षण बाद तुरंत ही वह अवस्तुरूप होने से हिंसा का विषय नही रहती।

नरादि: क्षणहेतुश्च शूकरादेर्न हिंसक. ।
शूकरान्त्यक्षणेनैव व्यभिचारप्रसंगत: ॥३५॥

मनुष्य आदि (हिंसक) तो एक क्षणमात्र का हेतु है, सूअर आदि (हिंस्य) का हिंसक वह रहता नही है। क्योकि सूअर के अन्तिम क्षण तक वह मनुष्य रहता ही नही है। इसलिए सूअर मारने वाला कौन है ? अगर कहो कि मनुष्य है तो सूअर से अन्तिम क्षण के साथ व्यभिचारदोष का प्रसग आता है।

मनुष्य, सिह आदि (हिंसक) क्षणिकवाद के अनुसार क्षणमात्र स्थायी होगे, वे सूअर, मृग आदि पशुओ के हिंसक नही हो सकेंगे। क्योकि मनुष्यादि तो क्षण स्थायी हे, उसका सूअर के अन्तिम क्षण के साथ व्यभिचार दोष (विरोध) का प्रसग आएगा। कारण यह है कि प्रहार करने के कार्य मे बहुत क्षण लगते है, और सूअर आदि हिंस्य पदार्थों की स्थिति तो क्षणिक है। इसलिए प्रहार के समय कदाचित् मनुष्य और सूअर दोनो ही नही रहेगे, अथवा दोनो मे से कोई एक नही रहेगा। अनिष्टापत्ति यह आएगी कि जब हिंस्य और हिंसक दोनो का या दोनो मे किसी एक का अभाव है तो हिंसा किसकी होगी ? अथवा हिंसा करेगा कौन ? तथा उस हिंसा की प्रतिपक्षीरूप अहिंसा भी किसकी होगी ?

अनन्तरक्षणोत्पादे बुद्धलुब्धकयोस्तुला ।
नैवं तद्विरति क्वापि तत शास्त्राद्यसगति ॥३६॥

अनन्तर क्षण मे उत्पत्ति मानने पर बुद्ध और शिकारी दोनो की समानता दिखाई देगी। और ऐसा होने से कही भी विरति नही होगी और इससे शास्त्रादि भी असगत होगे।

जिसके बीच मे दूसरा क्षण नही है, उस अनन्तर क्षण में उत्पत्ति होती है, तुरत दूसरे क्षण ही विनाश होता है, यानी उत्पत्ति के क्षण के तुरन्त बाद ही मरण की सिद्धि होने से सुगत और धीवर (या व्याध) दोनो मे समानता प्रतीत होगी। यानी एक मान्यता के द्वारा मार देता है, दूसरा बाण आदि के द्वारा मारता है, दोनो के द्वारा मारने की क्रिया मे दया न होने से दोनो एक सरीखे कहलाएँगे। क्योंकि क्षण-

क्षण मे मरण होने से वुद्ध और व्याध इन दोनो मे से किसी मे विरति क्षण-विनाश का विराम नही होगा। और इस दृष्टि से प्रतिक्षण मरण और उत्पत्ति होने से शास्त्रादि भी असंगत हो जायेंगे, यानी शास्त्र की उत्पत्ति, उसका अध्ययन, श्रवण, धर्मकृत्य, वन्ध, मोक्ष वगैरह सवकी अयोग्यता हो जायगी। इसलिए एकान्त अनित्यपक्ष मे भी हिंसा की उत्पत्ति न होने से अहिंसाधर्म भी घटित नही होगा।

घटन्ते न विनाऽहिंसा, सत्यादीन्यपि तत्त्वत ।
एतस्यावृत्तिभूतानि तानि यद्भगवान् जगौ ॥३७॥

अहिंसा के विना सत्य आदि भी तत्त्वत घटित नही होते, क्योकि सत्य आदि तो अहिंसा की रक्षा के लिए वाडरूप है, इस प्रकार जिनेश्वर भगवान् ने कहा है।

अहिंसा की ही जब उत्पत्ति सिद्ध नही होती, तब अहिंसा की उत्पत्ति के विना सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य वगैरह भी वास्तविकरूप से घटित नही होते, वे भी युक्तिसंगत सिद्ध नही होते। क्योकि सत्य आदि तो अहिंसारूपी वाटिका की रक्षा के लिए वाडरूप है, ऐसा भगवान् ने कहा है। जव खेत या वाड़ी ही नही है, तो वाड़ किसके लिए की जाएगी ? तथैव अहिंसा के विना सत्य आदि किसकी रक्षा करेंगे ? यह व्यर्थ होने से किसी की रक्षा कोई नही करेंगे। इसलिए सत्य आदि का अस्तित्व भी वास्तव में सिद्ध नही होता।

मौनीन्द्रे च प्रवचने युज्यते सर्वमेव हि ।
नित्यानित्ये स्फुटं देहाद् भिन्नाभिन्ने तथात्मनि ॥३८॥

जिनेन्द्र भगवान् के प्रवचन मे आत्मा नित्य तथा अनित्य है, देह से भिन्न भी है, अभिन्न भी है, इसलिए इसमे अहिंसा आदि सव स्पष्टरूप से घटित हो जाते हैं।

मौनीन्द्र अर्थात् मुनियो के इन्द्र श्री जिनेश्वर भगवान् के सिद्धान्त मे वस्तुस्वरूप का समग्र दोषरहित यथार्थ कथन किया है। क्योकि वे जगत् की उसकी तीनो काल की अवस्था मे यथार्थरूप से मानते-जानते

है, उनके द्वारा कथित आगमो मे हिंसा-अहिंसा, सत्य-असत्य आदि सब घटित होते हैं, क्योकि वहाँ आत्मा को नित्य तथा अनित्य एवं देह से भिन्न तथा अभिन्न रूप मे प्रतिपादित किया है। जैसे कि आत्मा चैतन्य से स्थिरस्वरूप एव अविनाशी होने से द्रव्य से नित्य है। लेकिन पर्यायो का स्वभाव उत्पत्ति एव विनाश का होने से पर्याय की अपेक्षा से आत्मा कथंचित् अनित्य भी है। तथा चैतन्यरूप भिन्नसत्ता की अपेक्षा से भिन्न होने से आत्मा देह से कथंचित् भिन्न है, कारण मृतशरीर मे आत्मा नही दिखाई देता, तथा कथंचित् अभिन्न भी है, क्योकि दूध और पानी की तरह, अग्नि और लोहपिंड की तरह वह (आत्मा) शरीर को व्याप्त करके बैठा हुआ है। तथा पुष्पमाला, चदन, स्त्री वगैरह एव कांटा, तलवार और ज्वर वगैरह ईष्ट और अनिष्ट पदार्थो के स्पर्श के कारण शरीर से सम्बन्धित सुख-दु.ख का अनुभव करता है। इसलिए आत्मा मे पूर्वोक्त सभी बातें (हिंसा-अहिंसादि) स्पष्टरूप मे घटित होती है।

आत्मा द्रव्यार्थतो नित्य पर्यायार्थाद्विनश्वर ।
हिनस्ति, हिंस्यते तत्तत्फलान्यप्यधिगच्छति ॥३९॥

आत्मा द्रव्यार्थदृष्टि से नित्य है और पर्यायार्थदृष्टि से विनश्वर (अनित्य) है। इस कारण वह दूसरों का हनन करता है और स्वय दूसरो से हनन भी किया जाता है और उस-उस फल को भी प्राप्त करता (भोगता है।

आत्मा (जीव) द्रव्यार्थदृष्टि से चैतन्यत्व, सत्व (कालत्रयेऽस्तित्व) असंख्यातप्रदेशित्व इत्यादि को ले कर शाश्वतता के कारण नित्य है, अर्थात् अविनश्वर और अनुत्पन्न-रूप है। तथा पर्यायार्थदृष्टि से नर-नारक आदि पर्याय, मदबुद्धि-तीव्रबुद्धि आदि तथा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-स्वभावरूप पर्यायो के अर्थ से विनश्वर (अनित्य) है। इसी प्रकार आत्मा देह से भिन्न और अभिन्न है। आत्मा विविध परिणाम वाला होने से अपने सिवाय दूसरे वनस्पति आदि जीवो का विनाश करता है तथा कोई देवदत्त आदि द्वारा विनष्ट होता है। उस अहिंसा-अहिंसादि के फल को भी क्रमश. पर के विनाश और अपने विनाश के फल-

स्वरूप नरक-स्वर्गादि की प्राप्ति भी इस जन्म या अन्यजन्म में करता है।

इह चानुभव' साक्षी व्यावृत्यन्वयगोचर ।
एकान्तपक्षपातिन्यो युक्तयस्तु मिथो हता ॥४०॥

इस विषय में अन्वय और व्यतिरेक के विषयवाला अनुभव ही साक्षी है। और एकान्तवाद की पक्षपातिनी युक्तियाँ तो परस्पर कट जाती हैं।

श्री जिनेश्वरकथित नित्यानित्य और भिन्नाभिन्न आत्मस्वरूप के निश्चय के सम्बन्ध में व्यावृत्ति=दूसरे पर्याय की उत्पत्ति के कारण पूर्वपर्याय से निवृत्ति अर्थात् उत्पाद-व्ययरूप व्यतिरेकदृष्टि, तथा अन्वय ध्रुवसत्ता से सर्वत्र सम्बद्ध हो कर रहना, ये दोनों अन्वय व्यतिरेक जिसके विषय है, ऐसा अनुभव सबको अपने स्वरूप को प्रत्यक्ष जानने का ज्ञान ही साक्षी साक्षात्द्रष्टा है। इसी प्रकार स्व और पर के ज्ञानादि की तरतमतारूप व्यावृत्ति और कालान्तर में स्वयकृत कार्यों की स्मृतिरूप प्रवृत्ति का सभी अनुभव करते है, इसलिए अनेकान्तवादपक्ष ही युक्तिसगत लगता है। इसके इसके विपरीत सर्वथा नित्य या सर्वथा अनित्य एकान्तवादपक्ष का स्वीकार करने मे प्रवेश करने वाली युक्तियाँ अर्थात् साधक-बाधक प्रमाण की स्थापना द्वारा अर्थनिश्चय करने के प्रकार परस्पर पूर्वापर असम्बद्ध होने से स्वत. खण्डित हो जाते है। तात्पर्य यह है कि पहले निष्क्रियत्व का कारण बता कर फिर क्रिया का प्रतिपादन करना 'वदतो व्याघात' जैसा है।

पीडाकर्तृत्वतो देहव्यापत्त्या दुष्टभावत ।
त्रिधा हिंसागमे प्रोक्ता नहीत्थमपहेतुका ॥४१॥

दूसरो को पीड़ा देने से, स्वय देह को नष्ट करने से और दुष्ट परिणाम से, यो तीन प्रकार की हिंसा जिनागम मे कही है। इस प्रकार मानने से वह हिंसा अहेतुक या कोरी काल्पनिक नही है, अपितु सहेतुक है।

यद्यपि जिनेश्वररचित सिद्धान्त मे आत्मा का सर्वथा विनाश नही बताया है, तथापि दूसरों को दु:ख उत्पन्न करने से, स्वयं शरीर का नाश करने से तथा परजीव का घात चिन्तन करने जैसे अशुभ अध्यवसाय से, यो तीन प्रकार से जीवघातरूप हिंसा कही है, गति, फल और विपाक (उदय) को बताते हुए। कारण यह है कि कथंचित् नित्य तथा अनित्य और देह से भिन्न तथा अभिन्न आत्मा मानने पर ही इस उक्त हिंसा का सम्भव हो सकता है। इस प्रकार सिद्ध हुई हिंसा, अहेतुक यानी वास्तव मे न होते हुए कपोलकल्पित नही है, अपितु वास्तविक और सहेतुक है।

हन्तुर्जाग्रति को दोषो हिंसनीयस्य कर्मणि।
प्रसक्तिस्तदभावे चान्यत्रापि मुधा वच: ॥४२॥

हिंस्य जीव का कर्म उदय मे आने से उसका वध होता है, उसमे हिंसक का क्या दोष ? और उस हिंसक के अभाव मे दूसरे किसी हिंसक को वह हिंसा करनी ही पड़ती, इस प्रकार यदि कोई कहता है तो व्यर्थ की बकवास है।

यहाँ शका होती है कि मृग आदि जो जीव मारा जाता है, (हिंस्य) वह तो उसके पूर्वजन्म में दूसरो को मारने आदि से बँधा हुआ मृत्युरूपी फल देने वाला कर्म जागृत होने (उदय मे आने) से ही मारा जाता है, इसमे हिंसा करने वाले का क्या अपराध है ? क्योकि मरने वाले जीव ने अपने ही कार्य के उदय से मृत्यु पाई है। अगर मरने वाले जीव को देवदत्त नामक (हिंसक) व्यक्ति नही मारता यानी उसने उक्त जीव की हिंसा न होती तो भी उसके बदले यज्ञदत्त नामक दूसरा कोई उसे जरूर मारता, क्योकि उसके मरणफल देने वाला कर्म उदय मे आगया था, वह तो अवश्य मरता ही। फिर हिंसक को हिंसा का दोष क्योंकर लगेगा ? इसका खण्डन करते हुए कहते है कि ऐसा मानना मिथ्या बकवास है। मारने के दुष्परिणाम आते ही हिंसाजनित पापकर्मबन्धन (दोष) हो गया ? जीव मरे या न मरे, यह बात दूसरी है।

हिंस्यकर्मविपाकेयं दुष्टाशयनिमित्तता ।
हिंसकत्वं न तेनेदं वैद्यस्य स्याद्रिपोरिव ॥४३॥

दुष्ट अध्यवसाय के निमित्त से होने वाली यह हिंसा हिंस्य जीव के कर्मविपाकरूप है, इस कारण शत्रु की तरह वैद्य को यह हिंसकपन प्राप्त नही होता ।

इस दुष्टाशय (निर्दयता के कारण हुए क्रूर आशय) अशुभ परिणामरूप निमित्त कारण से होने वाली हिंसा हिंस्य जीव के पूर्व पापकर्म के बन्ध के फल के उदय वाली है । इस कारण क्रूर अध्यवसाय के कारण वाली हिंसा भी दुष्टाशय वाली न होने से दूषित अवयवों को काटने वाले अथवा किसी व्याधि पर दवा देने वाले वैद्य को यह पूर्वोक्त हिंसाकर्म का फल शत्रु की तरह नही लगता । मतलब यह है कि दुष्ट अध्यवसाययुक्त होने से वह कर्म शत्रु को जैसे अशुभफल देता है, वैसा अशुभफल वैद्य को नहीं मिलता ।

इत्थं सदुपदेशादेस्तन्निवृत्तिरपि स्फुटा ।
सोपक्रमस्य पापस्य नाशात् स्वाशयवृद्धित ॥४४॥

इस प्रकार सदुपदेश आदि से, सोपक्रमी पाप के नष्ट होने से और उससे अपने शुभ अध्यवसाय की वृद्धि होने से उस हिंसा से निवृत्ति भी साफतौर से हो जाती है ।

हिंसा-अहिंसा का स्वरूप, गति और फल वगैरह समझाते हुए सदुपदेश एव हितकर प्रेरणा देने से तथा उस पर श्रद्धा रखने से, उपदेशकर्ता (वक्ता) और श्रोता इन दोनो के सोपक्रम=शुभ परिणाम से साध्य अर्थात् विनाश योग्य पाप (अशुभ) कर्मो का नाश होने से और इस कारण अपने करुणादिरूप शुभ अध्यवसायो मे वृद्धि होने से, यानी इन तीन कारणों से उस हिंसा से निवृत्ति (निषेध) भी स्पष्टत होती है, इसलिए जैनशासन में हिंसा भी घटित होती है ।

अपवर्गतरोर्बीजं मुख्याऽहिंसेयमुच्यते ।
सत्यादीनि व्रतान्यत्र जायन्ते पल्लवा नवा. ॥४५॥

अहिंसा मोक्षरूपी वृक्ष का वीज है, इसलिए इसे मुख्य (धर्म) कहा गया है। तथा सत्य आदि व्रत इसी अहिंसावृक्ष के नये-नये अंकुररूप में उत्पन्न होते है।

पूर्वोक्त स्वरूप वाली अहिंसा (प्राणिदया) रागादिसमूह नष्ट हो जाने के कारण मोक्षरूपी वृक्ष (अक्षयसुखरूप फलदाता होने से) का वीज=उत्पत्ति स्थान है, इसलिए अहिंसा समस्त व्रतों में प्रधान है। ऐसा तीर्थंकर आदि महापुरुष कहते हैं। तथा सत्य (मिथ्याभाषण-त्याग) आदि महाव्रत इस मोक्षवृक्ष के नये-नये अंकुरों के समान हैं। क्योंकि वे व्रत अहिंसा-व्रत के ही परिवाररूप हैं। इसलिए वृक्ष के उद्गम से पत्रादि-परिवार की तरह अहिंसा के परिणाम (वृद्धि) उत्पन्न होने से सत्यादि का भी परिणाम उत्पन्न होता है।

अहिंसा सम्भवश्चेत्थं दृश्यतेऽत्रैव शासने।
अनुबन्धादिसंशुद्धिरप्यत्रैवास्ति वास्तवी ॥४६॥

इस प्रकार अहिंसा का सभव इस जिनशासन मे ही दिखाई देता है। तथा अनुवन्ध वगैरह की शुद्धि भी वास्तविक रूप से जिन-शासन में ही है।

पूर्वकथनानुसार वास्तविक अहिंसा की उत्पत्ति जिनागमों मे ही हम देखते हैं। क्योंकि उनमे ही आत्मा को नित्य-अनित्य एव देह से भिन्न-अभिन्न माना गया है। इस प्रकार अन्य किसी भी शासन (मत) में नही माना गया है। तथा अनुवन्ध यानी अहिंसा की वृद्धि और शुद्धि के अनुसार वोलना, वैठना, उठना, गमन करना, आहार-विहार करना आदि क्रिया मे यतनापूर्वक प्रवृत्ति करना। आदि शब्द से प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय एव निगमन आदि का ग्रहण करना चाहिए। अर्थात् अनुबन्धादि की सशुद्धि-सम्यक् प्रकार से शुद्धि=सकल धर्म व्यवहार मे हिंसारूप मैल का त्याग करना, यह भी सच कहे तो जैनमत मे ही है। क्योंकि इसमें ही इसी प्रकार की प्रवृत्ति दिखाई देती है।

हिंसाया ज्ञानयोगेन सम्यग्दृष्टेर्महात्मनः।
तप्तलोहपदन्यासतुल्याया नानुबन्धनम् ॥४७॥

सम्यग्दृष्टिसम्पन्न महात्मा को ज्ञान का योग होने से तपे हुए लोहे पर पैर रखने जैसी हिंसा का अनुवन्ध (सम्वन्ध) नही लगता।

सम्यग्दृष्टिसम्पन्न श्रावको को घर आदि के वनाने वगैरह के आरम्भ मे तथा व्यवहार मे नदी पार करते हुए मुनि (यानी वैसे सम्यग्दृष्टि महात्मा शुद्धस्वभाव वाले उत्तम पुरुष) को स्वपर के समान सुख-दु खरूप यथार्थ वस्तुस्वरूप को वताने वाले ज्ञान का योग होने से अर्थात् सर्वत्र दयावान् होने से, आग पर तपाये हुए लोहे के लाल-लाल पात्र पर पैर रखने जैसी अनुकम्पनसहित प्रवृत्ति वाली हिंसा (प्राणिविराधना) के अनुवन्ध सम्वन्ध यानी हिंसा का अनुसरण करने वाली दुर्गति को देने वाले कर्मवन्ध की उत्पत्ति नही होती, कारण यह है, उसमें दुष्ट आशय न होने से करुणारस द्वारा उस हिंसा के अनुवन्ध का नाश हो जाता है।

सतामस्याश्च कस्याश्चिद् यतनाभक्तिशालिनाम् ।
अनुबन्धो ह्यहिंसाया जिनपूजादिकर्मणि ॥४८॥

यतना और भक्ति से सुशोभित सत्पुरुषो (सम्यग्दृष्टि मानवो) को जिनपूजादि क्रिया मे कभी कुछ हिंसा होती भी है, तो भी उसे अनुवन्ध अहिंसा का ही होता है।

जीवरक्षार्थ पृथ्वी तथा जल का शोधन करना और पानी छानना तथा जिनेश्वर के प्रति पूज्यवुद्धि, उनके गुणो और उपकारो का स्मरण उनके प्रति प्रीति और बहुमान आदि के रूप मे भक्ति इन दोनो (यतना और भक्ति) से सुशोभित सम्यग्दृष्टि सत्पुरुषो को जिनपूजा, मुनिदान वगैरह क्रियाओ मे किसी प्रकार की पुष्प, अग्नि, वायु या जलादि-जनित हिंसा की संभावना होते हुए भी उन्हे वास्तव मे अहिंसा (प्राणिदया) का अनुवन्ध (अहिंसा के अनुसार गति देने वाले शुभकर्म का वन्ध होता है, किन्तु हिंसा के अनुसार कर्मवन्ध) नही होता। यद्यपि उनके द्वारा कृत जीवविराधना मे पीडा देना और देहनाश करना, ये दो हिंसा के कारण मालूम होते है, तथापि दुष्ट अध्यवसाय-

रूप तीसरे कारण का अभाव होने से अनुबन्ध अहिंसा का ही होता है।

हिंसानुबन्धिनी हिंसा मिथ्यादृष्टेस्तु दुर्मतेः ।
अज्ञानशक्तियोगेन तस्याहिंसाऽपि तादृशी ॥४९॥

दुष्टबुद्धि वाले मिथ्यादृष्टि की गृहारम्भादि-जनित हिंसा हिंसानुबन्धी होती है, तथा उसकी अहिंसा भी अज्ञानशक्ति के सम्बन्ध के कारण हिंसा जैसी ही होती है।

जिसकी बुद्धि गाढरागादि-दोषों से दूषित हो गई है, उस मिथ्यादृष्टि (जिनेन्द्रप्ररूपित तत्त्व के विषय में विपरीत श्रद्धा वाले) को गृहादि के आरम्भ-समारम्भ में हुई जीवविराधना हिंसा के अनुबन्ध वाली (हिंसा के फलस्वरूप दुर्गतिदात्री) होती है। तथा उस मिथ्यादृष्टि की अहिंसा भी, जिससे ज्ञान के फल मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती, ऐसे अज्ञान से अन्यथा विपरीत-वस्तुबोधरूप शक्ति के सम्बन्ध से वह अहिंसा भी हिंसा जैसी है, मोक्षफलरूप नहीं है; क्योंकि वह अहिंसा पहले कुछ सुखरूप फल दे कर फिर अनेक जन्म में दुःख का कारण बनती है, इसलिए वह हिंसानुबन्धी होती है।

येन स्यान्निह्नववादीनां दिविषद्दुर्गतिः क्रमात् ।
हिंसैव महती तिर्यग्नरकादिभवान्तरे ॥५०॥

यही कारण है कि निह्नवादि की देवलोक में भी दुर्गति होती है। उसके बाद भवान्तर में तिर्यंच, नरक वगैरह भवों में बड़ी हिंसा प्राप्त होती है, अर्थात् वे जीवहिंसा करने वाले बनते हैं।

यहाँ शंका होती है कि जो अहिंसा है, वह हिंसानुबन्धी कैसे हो सकती है ? इसका समाधान है—जिनवचनों को विपरीतरूप में प्ररूपणा करने वाले निह्नवादि तथा स्वच्छन्दमन.कल्पित प्रवृत्ति करने वाले अन्य मत के दार्शनिक अहिंसादि व्रतों का पालन करते हुए भी तथा आगामी जन्म में देव हो जाने पर भी उन्हें किल्विषिक आदि नीच देवयोनि प्राप्त होती है। ऐसी गति अहिंसा का फल नहीं हो सकती। वह हिंसा का ही फल है, यों समझ लेना चाहिए। वहाँ से च्यव कर वह

क्रमशः जन्मपरम्परा के क्रम से भूचर, खेचर, जलचर वगैरह तिर्यञ्च-गति में और फिर तिर्यंच और तत्पश्चात् नरक में उत्पन्न हो कर बार-बार ससार मे पतित होता है। पापकर्म की परिणति से अल्पसम्पत्ति में भी महाअभिमानपूर्वक भोगादि में प्रवृत्ति होने से पाप की परम्परा ही प्रगट होती है।

साधूनामप्रमत्तानां सा चाहिंसानुबन्धिनी।
हिंसानुबन्धविच्छेदाद् गुणोत्कर्षो यतस्तत. ॥५१॥

अप्रमत्त साधुओं से होने वाली हिंसा भी अहिंसानुबन्धी होती है। क्योंकि हिंसा के अनुबन्ध का विच्छेद होने से इसके विपरीत जहाँतहाँ से उसके गुणो की वृद्धि होती जाती है।

मिथ्यात्वादि समस्त प्रमादों से रहित मोक्षसाधक साधुओं को धर्म-क्रिया करते समय गमनादिक्रिया के समय निकटवर्ती किसी जीव पर पैर आ जाए, किन्तु उसे तुरत न उठाया जा सकने के कारण कीट आदि की विराधना हो जाय तो भी वह हिंसा अहिंसा के अनुबन्ध वाली मोक्षादि-सुखसाधक होती है, क्योंकि हिंसा के अनुबन्ध का विच्छेद होने से हिंसा के कारणों का निवारण हो जाने से उलटी वह ज्ञानादि गुणों की वर्द्धक होती है। गुणप्रकर्ष अहिंसा का फल ही है।

मुग्धानामियमज्ञानात् सानुबन्धा न कर्हिचित्।
ज्ञानोद्रेकाप्रमादाभ्यामस्या यदनुबन्धनम् ॥५२॥

अज्ञानता के कारण भोले-भाले मूढ लोगों के लिए वह अहिंसा अनुबन्ध वाली नही होती। क्योंकि अहिंसा का अनुबन्ध प्राय ज्ञान और अप्रमाद से ही होता है।

यह पूर्वोक्त अहिंसा मोक्ष और वस्तु के यथार्थस्वरूप के अज्ञान से तथा वस्तु का स्वरूप हो, उससे विपरीतरूप से जानने से जिन वचनरूपी अमृत के स्वाद से रहित मूर्खजनो को अनुबन्ध वाली (ससार पर्यन्त साथ रहने वाली तथा मोक्ष का अनुसरण करने वाली) कदापि नही होती। क्योंकि अहिंसा का अनुबन्ध मोक्षमार्ग का अनुसरण करने वाले स्याद्वादानुगामी प्रबल बोध मे तथा अकर्तव्य में अकर्तव्य की बुद्धि

एव कर्तव्य में कर्तव्य की बुद्धिरूप सावधानी (अप्रमत्तता) से ही होती है। मूर्खजनो मे अज्ञान और प्रमाद है, इसलिए अहिंसा का अनुबन्ध नही होता।

एकस्यामपि हिंसायामुक्त सुमहदन्तरम् ।
भाववीर्यादि-वैचित्र्यादहिंसायां च तत्तथा ॥५३॥

एक ही प्रकार की हिंसा मे भी भाव और वीर्य की विचित्रता के कारण बहुत बडा अन्तर बताया है, इसी प्रकार अहिंसा मे भी अन्तर समझना चाहिए।

एक जाति के जीवविषयक अथवा एक ही मृगादिजीवविषयक हिंसा (जीव-विराधना) मे भी राग-द्वेषरूपी परिणाम तथा कार्य की विशेष प्रकार की सिद्धिरूप भाववीर्य—चित्त के उत्साह वगैरह की विभिन्नता (हानि-वृद्धिरूप तरतमता) के कारण उसके फल मे तथा बन्ध मे बहुत बडा अन्तर बताया गया है। इसी प्रकार से अहिंसा के सम्बन्ध मे भी अन्तर समझ लेना चाहिए। तात्पर्य यह है कि कोई पुरुष बहुत तीव्रभाव से हिंसा करता है, कोई मन्दभाव से करता है, हिंसा का का कार्य तो दोनो मे एकसरीखा है, परन्तु तज्जनित फल और पाप-कर्म के बन्ध मे बहुत अन्तर होता है। मनोभावो की तरतमता एव वीर्यादि की तरतमता ही इसमे कारण समझना चाहिए।

सद्य कालान्तरे चैतद्विपाकेनापि भिन्नता ।
प्रतिपक्षान्तरालेन तथा शक्तिनियोगत ॥५४॥

हिंसा और अहिंसा के विपाक की दृष्टि से यह भेद है, कारण, तथा प्रकार की शक्ति के नियोग से प्रतिपक्ष के अन्तराल को ले कर तत्काल या कालान्तर मे उसका उदय होता है।

पूर्वोक्त कारणो को ले कर हिंसा तथा अहिंसा के उपार्जित किए हुए कर्मो की स्थिति के परिपाक से हुए विपाक (उदय) के कारण विभिन्नता होती है, क्योकि पूर्वोक्त बन्ध के अवसर पर भाव तथा वीर्य की विचित्रता के अनुरूप कर्म-सामर्थ्य (शक्ति) के तथा जीव के परिणामो के नियोग से विपाक के सम्मुख करने में व्यापार की स्फुरणारूप प्रेरणाएँ

किसी जीव को तत्काल (अन्तर्मुहूर्त आदि मे) और किसी को वर्षों या जन्मो के बाद (कालान्तर मे) प्रतिपक्ष के अन्तराल से (शुभकर्म के प्रतिपक्षी अशुभकर्म और अशुभकर्म के प्रतिपक्षी शुभकर्मरूप प्रतिपक्ष द्वारा किये हुए अपने उदय मे व्यवधान मे) तत्काल या कालान्तर मे तीव्र-मन्द आदि भेद से कर्म को उस फल (विपाक) के रूप मे भोगा जाता है। जैसे किसी ने हिंसाजनित कर्मबन्धन किया, उसके बाद वह अहिंसा का पालन करता है, उसका फल भी उदय मे आ जाए और उसके बाद पूर्वकृत हिंसा का फल मिले, ऐसी स्थिति मे कालान्तर में हिंसा का फल मिलता है, और प्रतिपक्ष का बीच मे व्यवधान न हो तो तत्काल भी फल मिलता है। इसी प्रकार अहिंसा के परिणाम के सम्बन्ध मे जान लेना चाहिए। इस प्रकार हिंसा-अहिंसा के विविध बन्धनो के समान विपाक मे विभिन्नता होती है।

हिंसाऽप्युत्तरकालीन-विशिष्टगुणसंक्रमात् ।
त्यक्ताविध्यनुबन्धत्वादहिंसैवातिभक्तित: ॥५५॥

धर्मकार्य में हुई हिंसा भी उत्तरकाल मे विशिष्ट गुणो की प्राप्ति होने से तथा अतिभक्ति से अविधि के अनुबन्ध का त्याग करने से अहिंसा ही कहलाती है।

धर्मकार्य अर्थात् दान, विहार, देवपूजा आदि मे जो भी पृथ्वी, जल और पुष्प आदि जीवो की विराधना के कारण स्वरूप से तो हिंसा है, परन्तु वह यतना-पूर्वक और अतिभक्तिभाव से युक्त होने के कारण उत्तरकाल मे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रादि गुणो की प्राप्ति होने से तथा देव-गुरु-धर्म का बहुमान करने से एव आगम से विपरीत अविधि का त्याग होने से वह हिंसा भी अहिंसा का फल उत्पन्न करती है, तथा मन के परिणामो को शुद्ध करती है, इसलिए एक तरह से अहिंसा ही कहलाती है, जो सद्धर्म में समाविष्ट हो जाती है

ईदृग्भंगशतोपेताऽहिंसा यत्रोपवर्ण्यते ।
सर्वांशपरिशुद्धं तत् प्रमाणं जिनशासनम् ॥५६॥

जिस शासन मे इस प्रकार के सैकडो भग (विकल्प)-सहित अहिंसा का वर्णन किया गया है, वह सर्वांश मे अतिशुद्ध जिनशासन (जिनमत) ही प्रमाणभूत है।

इस तरह जिस शासन मे पूर्वोक्त सैकडो प्रकार से युक्त अहिंसा का वर्णन है, भलीभाँति सभव, अनुबन्ध और शुद्धि वगैरह के रूप में विस्तृत कथन है, तथा सम्यक्‌रूप से वस्तु का प्रतिपादक, सर्वांशशुद्ध यानी जानना और पालन करना इत्यादि सब तरह से शुद्ध है, वह जिनशासन (जिनागम) ही स्वीकार्य होने से सर्वत्र प्रमाणभूत है।

अर्थोऽयमपरोऽनर्थ इति निर्धारणं हृदि।
आस्तिक्यं परमं चिह्नं सम्यक्त्वस्य जगुर्जिना ॥५७॥

अहिंसा का उपर्युक्त सब अर्थ सद्‌वस्तु है, इसके अतिरिक्त सब अनर्थ असद्‌रूप है, इस प्रकार हृदय मे निश्चय करना सम्यक्त्व का आस्तिक्यरूप उत्कृष्ट चिह्न है, ऐसा जिनेश्वरो ने कहा है।

अहिंसा-प्रतिपादक यह जिनोक्त सिद्धान्त अथवा सिद्धान्त मे कहे हुए आत्मादि सभी पदार्थ, यही अर्थ है साध्य सद्‌वस्तु है, इसके अलावा दूसरे सभी दर्शन या मत अनर्थ—असद्‌भूत हैं, अनुपादेय होने से अनिष्टरूप है, इस प्रकार हृदय मे एकाग्रतापूर्वक निश्चय करना सम्यक्त्व का आस्था (आस्तिक्य)-रूप श्रेष्ठ चिह्न=प्रथम निशानी का हृदय मे रहना सम्यक्त्वसूचक लक्षण है, ऐसा सर्वज्ञ तीर्थंकरो ने कहा है।

शम-सवेग-निर्वेदानुकम्पाभि परिष्कृतम्।
दधतामेतदच्छिन्नं, सम्यक्त्वं स्थिरतां व्रजेत् ॥५८॥

शम, सवेग, निर्वेद और अनुकम्पा से सुशोभित इस आस्तिक्य को सतत धारण करने वाले भव्यजीवो का सम्यक्त्व स्थिरता को प्राप्त होता है, अविचल हो जाता है।

शम का अर्थ है शान्ति, क्षमा अथवा समता, सवेग का अर्थ है मोक्षाभिलाषा, तथा देव-गुरु-धर्म के प्रति प्रीति, निर्वेद का अर्थ है— ससार के प्रति उदासीनता वैराग्य और अनुकम्पा का अर्थ है दु.खी और धर्मरहित व्यक्ति के प्रति द्रव्य और भाव से दया करना। इन गुणो से सुशोभित जीवो एव इस (पूर्वोक्त) आस्तिक्य को निरन्तर, अतिचार दोष-रहित, अखण्डरूप से धारण करने वाले भव्यजीवो का सम्यक्त्व स्थिर, निश्चल, सुदृढ और ठोस होता है।

॥ इति सम्यक्त्वाधिकार. ॥

मिथ्यात्व-त्याग

मिथ्यात्वत्यागतः शुद्ध सम्यक्त्वं जायतेऽङ्गिनाम् ।
अतस्तत्परिहाराय यतितव्यं महात्मना ॥१॥

मिथ्यात्व का त्याग करने से प्राणियों को शुद्ध सम्यक्त्व प्राप्त होता है, इसलिए उस मिथ्यात्व के त्याग के लिए महात्मा को प्रयत्न करना चाहिए ।

जिनेश्वर के उपदेश से विपरीतरूप में वस्तु पर श्रद्धा रखना अथवा वैसे जानना मिथ्यात्व है । इस मिथ्यात्व का त्याग करने से, प्राणियों की दृष्टि सम्यक् और शुद्ध होती है, इसलिए सत्पुरुष—महात्मा को मिथ्यात्व को जड़ से उन्मूलन करने के लिए प्रयत्न उद्यम करना चाहिए ।

नास्ति नित्यो, न कर्ता च, न भोक्तात्मा, न निर्वृत ।
तदुपायश्च नेत्याहुर्मिथ्यात्वस्य पदानि षट् ॥२॥

आत्मा नही है, आत्मा एकान्त नित्य है, आत्मा कर्ता नही है, भोक्ता नही है, मुक्त नही है, मुक्ति का उपाय कोई भी नही है, इस प्रकार मिथ्यात्व के ६ पद— स्थानक कहे हैं ।

(१) पाँच महाभूतों के अलावा जन्मान्तर में जाने वाला कोई आत्मा नामक पदार्थ नही है । (२) तथा अनुत्पन्न अविनश्वर और एक स्थिर-स्वभावी नित्य आत्मा है । (३) आत्मा निष्क्रिय होने से किसी भी क्रिया (कर्म) का कर्ता नही है, (४) आत्मा जब अकर्ता है, तो कृतकर्मों का भोक्ता भी नही है, (५) कर्म के बन्धनों का अभाव होने से आत्मा कभी मुक्त नही होता, (६) तथा मोक्ष प्राप्त करने का कोई उपाय— साधन भी नही है, क्योंकि जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादि होने से

उनका वियोग (अलग होना) सभव नही। इस प्रकार जिनवरो ने मिथ्यात्व के ६ पद (षट्स्थानक) कहे है।

एतैर्यस्माद् भवेच्छुद्ध-व्यवहारविलघनम्।
अयमेव च मिथ्यात्व-ध्वंसी सदुपदेशत ॥३॥

जिन पूर्वोक्त ६ स्थानकों से शुद्ध व्यवहार का उल्लघन होता है, वही व्यवहार शुद्ध उपदेश के कारण मिथ्यात्व को नाश करने वाला होता है।

जिन कारणो से 'आत्मा नही है' इत्यादि पूर्वोक्त ६ बातो से सर्व-जनसम्मत न्याय से युक्तियुक्त व्यवहार का उल्लघन होता है, मोक्षादि समग्रमुख को प्राप्त कराने वाले, दान-शील आदि स्वरूप वाले और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप वास्तविक लोकोत्तर व्यवहार का अतिक्रमण होता है, तथा खेती, व्यापार वगैरह लौकिक प्रवृत्तिरूप व्यवहार का भी उल्लघन होता है, इस प्रकार त्रिविध व्यवहार का खासतौर से लोप होता है और यह उल्लंघन सबके लिए अनिष्टकारक है। तथा (इसके विपरीत) यह शुद्ध व्यवहार ही सदुपदेश (सद्देशना यथार्थ सत्य पदार्थ का उपदेश) द्वारा आत्मा के विरोधी एव व्यवहार का लोप करने वाले छह स्थानो मे सभव नही है, वह असद्देशनादिरूप मिथ्यात्व का नाश कर देता है।

नास्तित्वादिग्रहे नैवोपदेशो नोपदेशक ।
तत कस्योपकार. स्यात् संदेहादिव्युदासत. ॥४॥

नास्तित्व आदि का आग्रह रहते हुए उपदेश और उपदेशक घटित (उचित) नही होते। नास्तित्वादि के उपदेश से सदेह आदि का निरा-करण होने पर किसका उपकार होगा? क्योकि नास्तित्ववाद के अनुसार जब श्रोता आदि ही नहीं है, तो वक्ता किसका उपकार करेगा?

'जीव आदि पदार्थ सर्वथा नही है' इस प्रकार नास्तित्व का तथा आदि शब्द से नित्यत्व-अनित्यत्व वगैरह का आग्रह रखने पर उपदेश दूसरों की प्रवृत्ति-निवृत्ति के कारणरूप हिताहित का व्याख्यान संगत नही होता; क्योकि आत्मा आदि का अभाव होने से उपदेश का भी

अभाव हो जाता है, और इसी कारण उपदेशक का भी अभाव हो जाता है, इसलिए इन दोनो के अभाव मे उपदेश और उपदेशक ये दोनो चीजे घटित नही होती। तथा नास्तित्ववादि के उपदेश से सदेहादि का नाश करके किसका उपकार होगा ? क्योकि नास्तिवादियो के मत से श्रोतादि का अभाव होने से किसी का भी उपकार नही होगा।

येषां निश्चय एवेष्टो व्यवहारस्तु सगत ।
विप्राणां म्लेच्छभाषेव स्वार्थमात्रोपदेशनात् ॥५॥

जैसे ब्राह्मणो के लिए म्लेच्छभापा वोलने लायक नही है, किन्तु अपने स्वार्थ प्रयोजनमात्र के जितना ही वे उसका प्रयोग करते है, वैसे ही जिनको निश्चयनय ही ईष्ट है, उनके लिए व्यवहारनय का उपदेश सगत (अनादर करने योग्य) है।

आत्मादि वस्तु के स्वरूप को नही जानने वाले पुरुषो को निश्चयनय का भाव समझाने के लिए व्यवहारनय का मतलव के जितना उपयोग किया जाता है। स्वार्थमात्र के उपदेश से यानी विद्यमान और अविद्य-मान प्रयोजन के अनुसार केवल उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य ही अभिधेय है, अथवा साधारण जनो के अभीष्ट यानी द्रव्य, भोग, सुख वगैरह की प्राप्तिरूप व्यवहार के उपदेश से निश्चय- यानी स्वाभाविक चैतन्यस्वभावमात्र अथवा केवल भूत की सत्तामात्र अथवा केवल क्षणविनाशित्व का निश्चय ईष्ट-प्रमाणरूप है, तथा उत्पत्ति-विनाशादि पूर्वोक्त व्यवहार अथवा अवतार वगैरह कथनरूप व्यवहार ब्राह्मणो को प्राण कण्ठ मे आ जाएँ तो भी म्लेच्छ भापा का प्रयोग नही करना चाहिए, इसकी तरह निरादररूप में सगत-उचित है। तात्पय यह है कि अपने अभीष्ट स्वार्थ को पूर्ण करने वाले जल, मिट्टी वगैरह से शुद्धि करने की तरह कुछ है, परन्तु परमार्थरूप से नही, उन्हे व्यवहार का उल्लघन करने वाला मिथ्यात्व होता है।

यथा केवलमात्मान जानान श्रुतकेवली ।
श्रुतेन निश्चयात्सर्वं श्रुत च व्यवहारत ॥६॥

जैसे श्रुतकेवली श्रुत (शास्त्र) द्वारा निश्चय से केवल आत्मा को

जानता है। वैसे ही व्यवहार से वह सर्वश्रुत (आगमादि) को जानता है।

इस प्रकार दोनो नयो की मुख्यता समझनी चाहिए। श्रुतकेवली अर्थात् श्रुत का ज्ञान परिपूर्ण होने से और सकलसंशयरहित होने से श्रुतकेवली मुनि निश्चय से वस्तुस्वरूप का निश्चय करने वाले ज्ञान मे यानी श्रुतज्ञान के सामर्थ्य से, केवल कर्म, शरीर वगैरह के संग रहित एक शुद्ध सत्तामय अर्थात् परिपूर्ण आत्मा (जीव),को जानता है, उसी प्रकार व्यवहार से श्रुतज्ञान से उत्पन्न हुई बुद्धि के बल से समग्रश्रुत (शास्त्र) को जानता है। कर्मरहित आत्मा को जानने से निश्चय को और सर्वश्रुत के अभ्यास से व्यवहार को, यों दोनो को जानता है,और प्रमाणरूप मानता है।

निश्चयार्थोऽत्र नो साक्षाद् वक्तुं केनाऽपि पार्यते।
व्यवहारो गुणद्वारा तदर्थावगमक्षम ॥७॥

इस जगत् मे निश्चयार्थ को कोई भी साक्षात् कहने मे समर्थ नही है। परन्तु व्यवहारनय उस निश्चय के गुण द्वारा उस (निश्चय) के अर्थ का बोध कराने मे समर्थ है।

इस मनुष्यलोक मे आत्मा के सहज स्वभाव को साक्षात् कोई भी पण्डित पुरुष कह नही सकता। क्योकि केवल निश्चयनय वाणी का विषय नही है। परन्तु व्यवहारनय शब्द का प्रयोग सत्त्व, चेतन वगैरह निश्चय के गुण द्वारा उस निश्चय का अर्थबोध कराने में समर्थ है। अर्थात् व्यवहार ही उस निश्चय के गुणकथनरूप उपाय से निश्चय स्वरूप को प्राप्त करा देता है।

प्राधान्यं व्यवहारे चेत्तत्तेषां निश्चये कथम्?
परार्थस्वार्थते तुल्ये शब्दज्ञानात्मनोर्द्वयो ॥८॥

यदि कोई व्यवहार की प्रधानता बतलाते है, तो उनको निश्चयनय मे प्रधानता कैसे होगी? क्योकि शब्दात्मक और ज्ञानात्मक इन दोनो की परार्थत्व और स्वार्थत्व तुल्य है।

यदि निश्चयरहित केवल व्यवहार मे ही शब्दादिरूप प्रवृत्ति को ही कोई प्रधानता-मुख्यता दे तो उनकी आत्मा की ध्रुवता और सत्ता-रूप तथा ज्ञानादिरूप निश्चय मे प्रधानता कैसे होगी ? नही हो सकेगी। क्योंकि व्यवहार और निश्चय दोनो नय क्रमश शब्दरूप और ज्ञानरूप है। उनका एक दूसरे की अपेक्षा से परार्थत्व (जैसे शब्द की अपेक्षा से ज्ञान का परार्थत्व) और स्वार्थत्व (अपना यानी शब्द का, अथवा ज्ञान का अर्थ कार्य या प्रयोजन) दोनो समान कार्य करने वाले है। अर्थात् व्यवहारनय 'घट' शब्द कहता है, तो निश्चयनय (ज्ञान) भी घटरूप पदार्थ को ही बताता है। तथा वस्तु भी घटरूप ही है। उसमे शब्द व्यवहार है, घट का ज्ञान और घटरूप वस्तु; यह निश्चय है। तात्पर्य यह है कि दोनो नयो का अपने-अपने विषय मे प्राधान्य (मुख्यता) सिद्ध होता है।

प्राधान्याद् व्यवहारस्य तत्तच्छेदकारिणाम् ।
मिथ्यात्वरूपतैतेषां पदानां परिकीर्तिता ॥९॥

इसलिए व्यवहार की प्रधानता के कारण व्यवहार का ही उच्छेद करने वाले उन पूर्वोक्त ६ पदों की मिथ्यात्वरूपता कही है।

पूर्वकथित हेतुओ से पूर्वोक्त व्यवहार का प्राधान्य सिद्ध होने के बावजूद भी उस व्यवहार का लोप करने वालो के जो 'आत्मा नही है' आदि ६ पूर्वोक्त पद (वाक्य) है, उनको मिथ्यात्वरूप कहा है।

नास्त्यात्मेति चार्वाक. प्रत्यक्षानुपलम्भत ।
अहंताव्यपदेशस्य शरीरेणोपपत्तित ॥१०॥

'प्रत्यक्ष उपलब्ध नही होता (दिखाई नही देता), इसलिए आत्मा है ही नही।' और अहता ('मै हूँ' इस प्रकार के अहत्व) का व्यपदेश (कथन) तो शरीर से हो सकता है, इस प्रकार चार्वाक कहता है।

सत्य अर्थ को चर्वण करने (चबा जाने) वाला चार्वाक कहता है, कि आत्मा है ही नही, क्योंकि चक्षु आदि इन्द्रियो से प्रत्यक्ष दिखाई

नही देता । घट-पटादि जो वस्तुएँ जगत् मे है, वे प्रत्यक्ष इन्द्रियो से प्राप्त (ग्राह्य) होती है । अतः अगर आत्मा नामक कोई पदार्थ होता तो वह इन्द्रियो से प्रत्यक्ष (प्राप्त) होता, पर वह प्राप्त नही होता, इसलिए आत्मा है ही नही । कदाचित् कोई यो कहे कि 'आत्मा न हो तो फिर मै दुःखी हूँ, मै सुखी हूँ, ऐसा कौन बोलता है ?' इसका उत्तर यह है कि यह जो अहपन का व्यवहार है, वह तो पचमहाभूतो के समूह-रूप शरीर से भी हो सकता है । इसलिए आत्मा नही है ।

मद्यांगेभ्यो मदव्यक्ति प्रत्येकमसती तथा ।
मिलितेभ्यो हि भूतेभ्यो ज्ञानव्यक्तिस्तथा मता ॥११॥

जैसे मद्य के अगो मे से प्रत्येक अग में मद की अभिव्यक्ति नही होती, (सभी अग मिलने पर ही स्पष्ट अभिव्यक्ति होती है), वैसे ही पचमहाभूत एकत्र मिलने पर ज्ञान की स्पष्ट अभिव्यक्ति होती मानी गई है ।

जैसे महुडा आदि शराब के अगो मे से प्रत्येक को यानी किसी एक को भक्षण करने से मद की स्पष्ट अभिव्यक्ति मालूम नही होती, मद प्रकट नही होता, उन सब अगो को एकत्र करने पर ही मद प्रकट दिखाई देता है ; वैसे ही प्रत्येक महाभूत मे ज्ञान (चेतना) की अभिव्यक्ति नही दिखाई देती, किन्तु पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश, इन पाँच महाभूतो के मिलने से अहकार-ममकार वगैरह ज्ञान (चेतना) का उद्भव होता है, इस प्रकार बृहस्पति वगैरह चार्वाक कहते है ।

राजरंकादिवैचित्र्यमपि नात्मबलाहितम् ।
स्वाभाविकस्य भेदस्य ग्रावादिष्वपि दर्शनात् ॥१२॥

राजा, रक आदि विभिन्नता भी आत्मा के बल पर उत्पन्न हुई नही है ; क्योकि ऐसा स्वाभाविक भेद तो पाषाण आदि मे भी दिखाई देता है ।

चक्रवर्ती वगैरह राजा तथा रक-दरिद्र भिखारी, आदि शब्द सुखी-दुःखी आदि जो विचित्रताएँ जगत् में दिखाई देती है, वे कोई जीव

(आत्मा) के शुभाशुभ कर्म के वल (सामर्थ्य) से उत्पन्न हुई है, ऐसी वात नही है, परन्तु पंचमहाभूतो के स्वभाव से ही उत्पन्न हुई है। स्वभाव से भिन्नता पैदा नही हो सकती, ऐसा कहना अयुक्त है; क्योकि अपने आप (स्वाभाविक रूप से) उत्पन्न हुई विचित्रता पाषाण और रत्नादि (सर्वथा अचेतन पदार्थो) मे भी दिखाई देती है, तव फिर मनुष्य आदि सचेतन मे विचित्रता नजर आए, इसमे तो कहना ही क्या ?

वाक्यैर्न गम्यते चात्मा परस्परविरोधिभि. ।
दृष्टवान्न च कोऽप्येतं, प्रमाणं यद्वचो भवेत् ॥१३॥

आगमवाक्यो से भी आत्मा नही माना जा सकता, क्योकि वे परस्पर विरोधी है। तथा किसी ने आत्मा को प्रत्यक्ष देखा भी नही कि उसका वचन प्रमाणभूत माना जाय ?

परस्परविरुद्ध यानी एक दूसरे से विरोधी, असम्बद्ध वचनो से विपरीत प्रतीत होने वाले सांख्य, जैन, बौद्ध वगैरह आगमो के वचनो से आत्मा (जीव) माना नही जा सकता, दिमाग मे यह वात उतरती नही। तथा कपिलादि मे से किसी आगमवक्ता ने आत्मा अपनी आँखो से प्रत्यक्ष देखा भी नही है कि उसका वचन सत्य (प्रमाणरूप) माना जाय। इसलिए आगम से भी आत्मा सिद्ध नही होता।

आत्मानं परलोकं च क्रियां च विविधां वदन् ।
भोगेभ्यो भ्रंशयत्युच्चैर्लोकचित्तं प्रतारक ॥१४॥

धूर्त आदमी आत्मा, परलोक और विविधप्रकार की क्रियाएँ वता (कह) कर लोगो के चित्त को भोगादि से जोरशोर से भ्रष्ट करते है।

लोगो को ठगने वाला मनुष्य-यानी आगमो के उपदेश से लोकवचना करने वाला मनुष्य आत्मा (जीव) को, परलोक (शुभाशुभ कर्म से मिलने वाले स्वर्गनरक एव कर्मक्षय से मोक्ष) को, तथा दान,-शील, तप वगैरह की विभिन्न क्रियाओ (भोगान्तरायरूप धर्मक्रियाओ) को कह (उपदेश दे) कर लोगो के चित्त को भोगो से यानी अपने अनुकूल रूप रस, गन्ध, स्पर्श आदि भोगो से उत्पन्न होने वाले सुखों से भ्रष्ट (वंचित)

करते है। उनका शास्त्रोपदेश लोगो को भोगो से वंचित करने के लिए है, वे लोगो को मुख से प्राप्त सुखो को भोगने नही देते।

त्याज्यास्तन्नैहिका कामा कार्या नानागतस्पृहा ।
भस्मीभूतेषु भूतेषु वृथा प्रत्यागतिस्पृहा ॥१५॥

इसलिए इस लोक के कामभोगो के सुखो को छोड़ कर भविष्य (परलोक) के सुखो की इच्छा (स्पृहा) करना उचित नही है; क्योकि पंचमहाभूतो के जल कर राख हो जाने पर 'पुनर्जन्म' फिर से लौट कर जन्म लेने की इच्छा व्यर्थ है।

चार्वाक अपना मत स्पष्टरूप से बताते है कि पूर्वोक्त कारणो से इस लोक (वर्तमान दुनिया) मे प्राप्त हुई शब्दादि कामभोगों की सामग्री त्याज्य नही है, क्योकि यह दुनिया उतनी ही है, जितनी दिखाई देती है, अनागत परलोक जन्मान्तर मे प्राप्त होने वाले भोगों की आशा नही करनी चाहिए, क्योकि परलोक तो है ही नही। ऐसा उपदेश क्यो करते है ? इस शंका का वे समाधान करते हैं आत्मा नामक कोई भी पदार्थ नही है। पचमहाभूतमात्र ही यह दुनिया है। इसलिए शरीर मे स्थित चैतन्य के कारणभूत ५ महाभूत तो जल कर भस्म हो जाते हैं, ऐसी दशा मे फिर (भविष्य मे) मनुष्यजन्म पाने की आशा इच्छा वृथा है। कहा भी है हे सुन्दरी सुलोचने ! इच्छानुसार खा, पी, क्योकि अय मनोहरांगी ! जो चला गया, वह तेरा नही रहा, हे डरपोक नारी ! जो बीत गया, वह वापिस लौट कर नही आता, क्योकि यह शरीर (कलेवर) केवल पाँच महाभूतो के पुतले के रूप मे है।

तदेतद्दर्शनं मिथ्यां, जीव. प्रत्यक्ष एव यत् ।
गुणानां संशयादीनां प्रत्यक्षाणामभेदत ॥१६॥

इन-इन कारणो से यह (चार्वाक का) दर्शन मिथ्या है; क्योकि प्रत्यक्ष सशयादि गुणो के अभेद के कारण जीव (आत्मा) प्रत्यक्ष ही है।

आगे कहे जाने वाले कारणो (हेतुओं) की दृष्टि से यह पूर्वोक्त चार्वाकदर्शन (मत) असत्य है। इसलिए हेय है, क्योकि उसने पहले

कहा था कि 'आत्मा नहीं है', परन्तु वह आत्मा (जीव) तो प्रत्यक्ष दिखाई देता है, मालूम होता है। प्रत्यक्ष अर्थात् सबको अपने ही अनुभव से सिद्ध संशयादि जीव है या नहीं ?, ऐसा संदेह या भ्रान्ति वगैरह गुणों (जीवन के धर्मों) के अभेद होने से धर्म और धर्मी की परस्पर भिन्नता नहीं है। घट-पट की तरह धर्म और धर्मी सर्वथा भिन्न नहीं रहते, इसलिए धर्म के प्रत्यक्ष होने से धर्मी (जीव) भी प्रत्यक्ष ही है। संशय अपने आप में ज्ञान के सम्मुख होने से स्वयं ज्ञानरूप है; और वह जीव को ही होता है, अजीव को नहीं, क्योंकि मृत शरीर में ज्ञान नहीं प्रतीत होता।

न चाहं प्रत्ययादीनां शरीरस्यैव धर्मता।
नेत्रादिग्राह्यतापत्तेर्नियतं गौरवादिवत् ॥१७॥

अहंकार वगैरह की प्रतीति तो शरीर का धर्म नहीं है। क्योंकि ऐसा हो, तब तो गुरुत्व आदि की तरह नेत्रादि इन्द्रियों की ग्राह्यता की आपत्ति अवश्य होनी चाहिए।

'मैं हूँ' इस प्रकार का अहंकार यानी ज्ञेय पदार्थ को ग्राह्य करने वाले का ज्ञान तथा ममकार वगैरह केवल शरीर पंचमहाभूतात्मक तन का ही धर्म हो तो अवश्य ही शुक्ल, पीत वगैरह रंगों की तरह, गुरुत्व, लघुत्व, उष्णत्व, स्थूलत्व, लम्बत्व वगैरह की तरह, आदि शब्द से उष्णत्व-शीतत्व आदि की तरह, नेत्र, नासिका वगैरह इन्द्रियों से उनकी ग्राह्यता (जानपना) प्राप्त होगा, अथवा जानने रूप अनिष्ट की प्राप्ति होगी। तात्पर्य यह है कि यदि अहंकार का ज्ञान शरीर से उत्पन्न होता हो तो जैसे वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श आदि शरीर के धर्म इन्द्रियों से ग्रहण हो सकते हैं, वैसे ही अहंकार-ममकार का ज्ञान भी इन्द्रियों से गृहीत उपलब्ध होना चाहिए, पर वह तो होता नहीं; इसलिए अहंकार की प्रतीति शरीर का धर्म ही नहीं है।

शरीरस्यैव चात्मत्वे नानुभूतस्मृतिर्भवेत्।
बालत्वादिदशाभेदात् तस्यैकस्यानवस्थितेः ॥१८॥

शरीर को ही आत्मा मानने पर पूर्व अनुभूत की स्मृति नही होगी, क्योकि बाल्य आदि अवस्थाओ के भेद के कारण वह अकेले शरीर की अनवस्थिति अस्थिरता है।

केवल शरीर को ही आत्मा मानने पर पूर्वावस्था मे अनुभव किये हुए सुखदुःखादि का दूसरे काल (अवस्था) मे बालक को दूसरे जन्म मे स्तनपान का स्मरण नही रहता, उसकी तरह स्मरण नही रहेगा। कारण, शरीर तो जड है। फिर अकेले शरीर की बाल्य, यौवन, वृद्धत्व आदि (दशा) अवस्थारूप भेद से सदा अवस्थिति नही रहती। यानी उसका अन्यथापन होने से सभी अवस्थाओ मे उसका एकत्व नही रहता। अहकार की प्रतीति तो सभी अवस्थाओ मे एक-सरीखी है। इसलिए वह शरीर का धर्म हो नही सकता।

नात्माऽङ्गं विगमेऽप्यस्य तल्लब्धानुस्मृतिर्यतः।
व्यये गृहगवाक्षस्य तल्लब्धार्थाधिगन्तृवत् ॥१८॥

तथा शरीर को आत्मा नही कहा जा सकता, क्योकि जिस अंग का नाश हो जाता है, उसके बाद उस अग से पहले जो कुछ उपलब्ध (जाना) हुआ था, उस पदार्थ का स्मरण हो सकता है। जैसे घर का झरोखा गिर जाने पर उस गवाक्ष (झरोखे) मे प्राप्त हुई चीजो को जानने वाले मनुष्य को उनकी स्मृति होती है, वैसे ही उस अग से पहले जो कुछ जाना-सुना था, उसकी स्मृति शरीर को होनी चाहिए, पर होती नही है।

अग=शरीर आत्मा नही हो सकता, क्योकि उसमे भेद दिखाई देता है। इस शरीर के नेत्र आदि अग का नाश होने से भी उन चक्षु आदि अंगो से प्राप्त हुए रूपादि-विषय की स्मृति कालान्तर मे आत्मा को होती है। किसकी तरह ? इस विषय मे रूपक देते है--शरीररूपी घर के नेत्रादितुल्य झरोखे का नाश होने से (गिर जाने से) उस झरोखे से प्राप्त हुए रूपादि पदार्थों के जानने वाले देवदत्तादि की तरह। तात्पर्य यह है कि शरीररूपी घर मे निवास करने वाला आत्मा इन्द्रियो-रूपी झरोखो से पहले देखे हुए शब्दादि पॉचो विषयो का स्मरण करता है।

अतः जैसे घर और गवाक्ष (झरोखे) से पुरुष भिन्न है, वैसे ही शरीर और इन्द्रियों से आत्मा भिन्न है, जिसे ही स्मृति होती है।

न दोष. कारणात्कार्ये वासनासंक्रमाच्च न।
भ्रूणस्य स्मरणापत्तेरम्बानुभवसंक्रमात् ॥२०॥

कारण से और कार्य मे वासना के संक्रमण होने से स्मृति होने मे कोई दोष नही है। क्योकि माता के अनुभव का गर्भस्थ बालक मे संक्रमण होने से उस बालक को भी उसकी स्मरणापत्ति होगी।

कारण से यहाँ तात्पर्य है, चैतन्य की उत्पत्ति मे कारणरूप पंच महाभूत के समुदाय से तथा कार्य से तात्पर्य है देह और उसमे उत्पन्न हुए चैतन्य मे वासना के संक्रम से, यानी स्मृति होने के कारणरूप जो दर्शन, भोग वगैरह संस्कार, उसके संक्रम प्रवेश से अर्थात् अंग का नाश होने से उसमे प्राप्त किये हुए पदार्थों के स्मरण होने मे कुछ भी दोष नही है, ऐसा मानते है तो यह बात यथार्थ नही है। क्योकि देह मे अनुभव के संक्रम से अंग का नाश होने पर भी देह को उस अंग से प्राप्त हुए पदार्थ की स्मृति होती हो तो माता के द्वारा अनुभव किये हुए विषयसुखादि पदार्थों का अनुभव यानी माता को उन विषय आदि ज्ञान की जो उत्पत्ति होती है, उसका संक्रम प्रवेश गर्भस्थशिशु को होता है, अत. उस गर्भस्थ शिशु को भी उस पदार्थ के स्मरण की प्राप्ति होगी। तात्पर्य यह है कि अगर देह से अतिरिक्त दूसरा कोई ज्ञाता आत्म न होतो नेत्रादि अंग देह है, और शरीर भी देह है। उस नेत्रादि देह द्वारा अनुभूत पदार्थ उस नेत्रादि का नाश हो जाने पर भी देह मे संक्रमित होते हो तो माता के देह से सम्बन्धित गर्भ के देह मे भी माता के शरीर का अनुभव संक्रमित होना चाहिए, क्योकि दोनो जगह देहरूप हेतु एक समान है। अत. दोनों मे समान न्याय लागू होता है। परन्तु वैसी स्मृति गर्भस्थशिशु को होती नही। इसलिए देह से भिन्न कोई आत्मा है, ऐसा सिद्ध होता है।

नोपादानादुपादेयवासना-स्थैर्यदर्शने।
करादेरतयात्वेनायोग्यत्वाप्तेरणुस्थितौ ॥२१॥

हाथ आदि अतथारूप (यानी उपादानकारण नहीं) होने से परमाणु की स्थिति में अयोग्यता की प्राप्ति होने से उपादानकारण से उपादेय वासना और स्थिरता का दर्शन नहीं होता।

देह का उत्पादक पंचमहाभूतसमुदायरूप उपादान कारण से उपादेयविशिष्टता से युक्त वासना स्मृति का कारणरूप संस्कार तथा निश्चित धारणा वाली बुद्धि इन दोनों अयोग्य कारणों के कारण स्मरण नहीं होता, क्योंकि हाथ, पैर, उँगलियाँ वगैरह का अतथात्व होने से यानी उपादान कारण न होने से उसका स्मरण नहीं होगा। तथा परमाणुओं की स्थिति के बारे में, यानी स्व-स्वरूप में स्थित होने के बारे में अयोग्यता अनुचितता की प्राप्ति है। इस कारण अन्वय और व्यतिरेक को ले कर अननुरूप होने से वह कारणरूप नहीं बनता। तात्पर्य यह है अचेतन के स्वभाव वाले महाभूत के संयोगरूप उपादान-कारण से पूर्वोक्त ज्ञानस्वभाव वाली उपादेय वासना और स्थिरता की बुद्धि होगी, तभी हस्तादि भी स्मृति वाले कहलायेंगे, क्योंकि वे भी भूतसमुदायरूप हैं, इसके कारण अचेतना वाले परमाणु हस्तादि को उत्पन्न न कर सकेंगे, क्योंकि अचेतन चेतनाशील का कारण नहीं हो सकता। कारण के अनुरूप ही कार्य होता है। इसलिए यह सिद्ध होता है कि चैतन्य देह से उत्पन्न नहीं होता। अन्वय-व्यतिरेक से देखें तो देह चैतन्य का अनुकरण नहीं करता। मदोन्मत्त, मूर्च्छित और सुषुप्त शरीर होते हुए भी तथा प्रकार का चैतन्य नजर नहीं आता। कितने ही लोगों का शरीर अत्यन्त दुबला होने पर भी उसमें चैतन्य की अधिकता देती है; इसके विपरीत कई स्थूल शरीर वाले में भी चैतन्य-हीनता दिखाई देती है। इसलिए शरीर चैतन्य के कार्य-कारणभाव में अन्वय-व्यतिरेक-घटित नहीं हो सकता, इसलिए चैतन्य को शरीर का कार्य नहीं कहा जा सकता।

मद्यांगेऽपि मदव्यक्तिरपि नो मेलकं विना।
ज्ञानव्यक्तिस्तथा भाव्याऽन्यथा सा सर्वदा भवेत् ॥२२॥

मद्य के अंगों से मदशक्ति पैदा होती है, परन्तु इनका मिश्रण या मिश्रणकर्ता के बिना नहीं हो सकती, वैसे ही ज्ञान की अभिव्यक्ति में

भी जान लेना चाहिए, अन्यथा वह ज्ञान सदा ही होता रहना चाहिए।

जैसे मद्य के सभी अगों आटा, महुडा, गुड़ आदि को एक पात्र मे डाल कर मिश्रण करने से मदशक्ति उत्पन्न होती है, इसके विना नही, इसी प्रकार पचमहाभूत का समुदाय जब उसके शरीर मे इकट्ठा होता है, तब उसके शरीर मे चेतनाशक्ति एकत्रित होती है, उसके विना नही। परन्तु यह कथन यथार्थ नही है। मदिरा के अगो को मिलाने वाला कोई पुरुष जरूर होता है, इसी प्रकार ५ भूतो को इकट्ठा करने वाला कोई चेतन (ज्ञानवान्) आत्मा जरूर होता है। इस तरह आपके मद के दृष्टान्त से तो उलटे आत्मा स्वतन्त्र सिद्ध होता है और कदाचित् भूतो से ही चेतन की अभिव्यक्ति मान ले तो उक्त चेतना सर्वकाल मे (यानी मृतक देह होने पर भी) होनी चाहिए। परन्तु मृत मे वह चैतन्य-शक्ति नजर नही आती है। अत आत्मशक्ति देह से भिन्न है।

राजरंकादिवैचित्र्यमप्यात्मकृतकर्मजम् ।
सुखदु खादि-संवित्तिविशेषो नान्यथा भवेत् ॥२३॥

राजा, रक वगैरह की विभिन्नता भी आत्मा के द्वारा कृत कर्म-जनित है, नही तो सुखदु खादि का विशिष्ट ज्ञान नही हो सकता।

एक मनुष्य राजा और दूसरा रक=भिखारी है, इत्यादि इस प्रकार की जगत् में जो विचित्रता दिखाई देती है, वह स्वाभाविक नही है, परन्तु जीव के द्वारा किये हुए शुभाशुभ व्यापार के कारण बंधे हुए पुण्यप्रकृति और पापप्रकृतिरूप कर्मो के कारण है। अर्थात् पुण्यप्रकृति से जीव बलवान्, रूपवान, बुद्धिमान और राजा आदि बनता है और पापप्रकृति से निर्बल, कुरूप, मूर्ख, दु खी, रक आदि बनता है। अत दुनिया मे एक ही जाति के जीवो में जो भिन्नता दिखाई देती है, वह सब कर्म के कारण है। यदि कर्म नही होते तो सभी जीव एक समान होते। परन्तु सब मे सदृशता दिखाई न देती। इसी प्रकार पाषाण आदि जो सचेतन है, उनमें भी विचित्रता कर्मजन्य है। यही कारण है कि एक हीरा जो पाषाण है लाखो के मूल्य का होता है, और एक साधारण

शिला का पाषाण अल्पमूल्य होता है। सुखदुःख आदि की जो अनुभूति होती है, वह कर्मों के ही कारण है

आगमाद् गम्यते चात्मा दृष्टेष्टाऽर्थाऽविरोधिनः ।
तद्वक्ता सर्वविज्जैनं दृष्टवान् वीतकश्मलः ॥२४॥

दृष्ट (प्रत्यक्ष) और ईष्ट अर्थ के विरोधरहित आगम (शाब्द प्रमाण) से आत्मा जाना जाता है। उस आगम के वक्ता समस्त दोषरहित सर्वज्ञ भगवान् ने उस आत्मा को देखा है।

दृष्ट यानी समस्त लोगों द्वारा ज्ञात, इन्द्रियादि से प्रत्यक्ष, और ईष्ट यानी स्वर्ग और मोक्षादि में स्थित निश्चित वस्तुस्वरूप अर्थात् दृष्ट यानी प्रत्यक्षप्रमाण और ईष्ट यानी अनुमानप्रमाण, इन दोनों प्रमाणों से विरोधरहित आगम शास्त्रप्रमाण से आत्मा प्रतीत होती है। वे आगम भी सर्वज्ञ के वचनों से और अनुमान से जानने योग्य दोनों प्रकार के पदार्थों के यथार्थ वस्तुस्वरूप को बताते हैं। क्योंकि उन आगमों के कर्ता राग-द्वेष-मोहादि दोषरहित सर्वज्ञ आप्तपुरुष हैं, जिन्होंने आत्मा का साक्षात्कार किया है। भावार्थ यह है कि इहलोक और परलोकगत निश्चय और व्यवहार तथा प्रत्यक्ष एवं अनुमान के सम्बन्ध में निर्दोष स्वरूप वाले जिनागम में आत्मा का प्रतिपादन है 'अत्थि आया, दुविहा जीवा' आत्मा है, जीव के दो प्रकार है ; इत्यादि वाक्यों से प्रतिपादित होने से जीव की सत्यता होने से तथा तदुक्त लोक के भावों की यथार्थ प्राप्ति होने से आत्मा सिद्ध होती है। तथा वे आगम-रचयिता मोहादि दोषरहित, दूर-समीप, रूपी-अरूपी, स्थूल-सूक्ष्म वगैरह सभी पदार्थों के ज्ञाता-सर्वज्ञ हैं, उन्होंने आत्मा को हथेली में रखे हुए मोती की तरह प्रत्यक्ष देखा जाता है। आगमरचयिता ने उस आत्मा को प्रत्यक्ष देख कर फिर आगम में उसका वर्णन किया है। आगम उन्हीं आप्तपुरुषों के वचन हैं। इसलिए असत्य नहीं है। 'रागाद्वा द्वेषाद्वा, मोहाद्वा वाक्यमुच्यते, तद्ध्यनृतम्', असत्य वचन वही कहलाता है, जो राग से, द्वेष से या मोह से बोला जाता है। सर्वज्ञ परमात्मा में दोष नहीं है; इसलिए उनके वचन सत्य हैं। प्रमाणभूत

है, और इस दृष्टि से आगम मे उनके द्वारा उक्त आत्मा भी प्रमाण भूत हैं।

अभ्रान्तानां च विफला नामुष्मिकय प्रवृत्तय' ।
परबन्धनहेतो क स्वात्मानमवसादयेत् ॥२५॥

भ्रान्तिरहित पुरुषो की परलोक-सम्बन्धी प्रवृत्तियाँ निष्फल नही जाती। कौन ऐसा पुरुष है, जो पर के बन्धन के हेतु अपनी आत्मा को विषाद मे डालेगा ? कोई भी नही।

आत्मा आदि की बाते कहने वाले धूर्त नही है, अपितु राग-द्वेष-मोह की भ्रान्ति से रहित सर्वज्ञ परमात्मा है। उन्होने आत्मा की सिद्धि करके स्वर्ग-मोक्षादि परलोक का सम्पादन करने वाली प्रवृत्तियो ब्रह्मचर्य-पालन, तप-जप आदि शुभ अनुष्ठानो का आगम मे प्रतिपादन किया है। तथा फल का भोक्तृत्व भी विद्यमान है। इसलिए उनकी आराधना निष्फल (फल दिए विना) नही जाती। अन्यथा (क्रिया के फल के भोक्ता के अभाव मे) परबन्धन के कारण—यानी शत्रुचोर आदि को वेडी आदि वन्धनो से वाधने के हेतु से अपने शरीर का कौन विद्वान् पुरुष युद्धादि करके प्रहारादि के संकट (विषाद) मे डालेगा ? कोई भी नही डालना चाहेगा।

सिद्धि. स्थाण्वादिवद् व्यक्तो संशयादेव चात्मन. ।
असौ खरविषाणादौ व्यस्तार्थविषय पुन' ॥२६॥

ठूठ आदि के समान सशय से ही आत्मा की सिद्धि स्पष्टरूप से होती है। क्योकि सशय भी तो खर और सीग वगैरह मे भिन्न-भिन्न अर्थ का विषय होता है।

जगत् मे जो वस्तु विद्यमान होती है, उसी का सशय होता है, अविद्यमान का नही। जैसे दूर से ही किसी ठूठ को देख कर अधेरे मे पुरुष का सदेह होता है। इससे सिद्ध होता है कि जगत् मे पुरुष और ठूठ दोनो चीजे मौजूद हैं। इसी प्रकार 'आत्मा है या नही ?' यह सशय हो यह वताता है कि आत्मा नाम की कोई वस्तु ससार मे अवश्य है।

न होती तो उसके विषय मे संदेह कैसे पैदा होता ? अन्य दृश्यमान सदृश पदार्थो के विषय मे संदेह समझ लेना चाहिए। अतः 'आत्मा है या नहीं', इस प्रकार के संदेह द्वारा ही आत्मा की सिद्धि होती है। इस कारण धर्म की प्रत्यक्षता होने से, धर्मी (धर्मवाला) भी प्रत्यक्ष कहलाता है। क्योकि धर्म और धर्मी दोनो मे कथञ्चित् अभेद माना जाता है। इसी प्रकार का संशय उन चीजो के सम्बन्ध मे भी होता है, जो दोनो के मिलने पर संभव नही, किन्तु अलग-अलग रूप मे वे संसार मे विद्यमान है। जैसे 'गधे के सींग, आकाशपुष्प, वन्ध्यापुत्र आदि, ये तीनो चीजें एक हो कर संभव नही है, किन्तु अलग-अलग रूप मे इनका अस्तित्व संसार मे है। इसलिए इन जैसी वस्तुओं के बारे मे किया जाने वाला संशय भी संसार मे इन दोनो वस्तुओ का भिन्न-भिन्न रूप मे अस्तित्व सिद्ध करता है। इसी प्रकार आत्मा के सम्बन्ध में जो संशय होता है, उसी से आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है।

अजीव इति शब्दश्च, जीवसत्तानियन्त्रित ।
असतो न निषेधो, यत्संयोगादिनिषेधनात् ॥२७॥

'अजीव' शब्द भी जीव के अस्तित्व का नियम प्रगट करता है। क्योकि विद्यमान पदार्थ के संयोगादि का निषेध होता है, अविद्यमान पदार्थो का निषेध नही होता।

लोकवचनो द्वारा प्रयुक्त 'अजीव' शब्द ही जीव की विद्यमानता को सिद्ध=निश्चित करता है। अर्थात् 'अजीव' जीव की सत्ता से ही सम्बन्धित है। अगर दुनिया मे 'जीव' नाम का कोई पदार्थ न होता तो 'यह अजीव है' ऐसा वाक्य कदापि नही बोला जा सकता था। इसलिए यह अजीवरूप निषेध अविद्यमान का नही है, विद्यमान पदार्थ का ही है। अविद्यमान पदार्थ का निषेध कोई नही कर सकता। क्योकि समस्त शास्त्रो मे संयोगादि का ही निषेध किया गया है।

संयोग समवायश्च सामान्य च विशिष्टता ।
निषिध्यते पदार्थानां त एव न तु सर्वथा ॥२८॥

पदार्थों के सयोग, समवाय और सामान्य-विशेष का ही निषेध किया जाता है, परन्तु उन पदार्थों का सर्वथा निषेध नही किया जाता।

शास्त्र मे तथा लोकव्यवहार मे जीव, घट आदि वस्तु के **सयोग** का ही यानी विवक्षित स्थान के सम्बन्ध का ही निषेध किया जाता है। जैसे **'देवदत्त घर में नहीं है'** इस वाक्य मे देवदत्त का घर के साथ सम्बन्ध निषिद्ध किया है; परन्तु घर का और देवदत्त का निषेध नहीं किया। इसी प्रकार 'शरीर मे जीव नही है' इस वाक्य मे जीव का सर्वथा निषेध नही होता, अपितु, शरीर के साथ जीव के सयोग-सम्बन्ध का निषेध सिद्ध होता है। **समवाय** का अर्थ है– समूह, सहति, इसका निषेध हो सकता है। जैसे **'गधे के सिर पर सींग नहीं हैं'**, इस वाक्य में गधा और सीग दोनो की सहति (समूह जोड़े) का निषेध है, परन्तु गधे के सिर या सीग इन प्रत्येक पदार्थों का निषध नहीं है। तथा **सामान्य** अर्थात् समानभाव का भी निषेध होता है। जैसे **'दूसरा चांद आकाश में नहीं है'**, इस वाक्य से विद्यमान एक चन्द्र के अतिरिक्त अन्य चन्द्रो का निषेध किया है। मूल मे चन्द्रमा का निषेध नहा किया है। तथा **विशेष्यता-विशेष** का भी निषध होता है। जैसे **'घड़े जितना बड़ा मोती नहीं होता'**; इस वाक्य मे 'घड़े जितना वडा' विशेषण-युक्त मोती का निषेध है, परन्तु घड और मोती का निषेध नही किया। इस प्रकार सयोगादि का ही निषेध किया जाता है, परन्तु पदार्थों का सर्वथा अभाव, निषेध या अविद्यमानत्व प्रगट नही किया जाता है, इसी प्रकार 'आत्मा इन्द्रियग्राह्य नहीं है' इस वाक्य में इन्द्रिय से ग्राह्य का निषेध है, मगर आत्मा का तथा इन्द्रियो का निषेध नही किया गया है। पूर्वोक्त वर्णादि सयोग, समवाय सामान्य और विशेषणो मे से किसी को ले कर कभी किसी का उसी तरह निषेध किया जाता है। जिस तरह जहाँ आत्मा के इन्द्रियग्राह्यत्व का निषेध किया गया है। मगर पदार्थ का सर्वथा निषेध नही किया गया। इसलिए आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है।

शुद्धं व्युत्पत्तिमज्जीवपदं सार्थं घटादिवत्।
तदर्थश्च शरीरं नो पर्यायपदभेदतः ॥२८॥

घट आदि शब्दो की तरह जीवशब्द शुद्ध है और व्युत्पत्तियुक्त है, और इस कारण वह समर्थ है। जीव शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ शरीर नही हो सकता, क्योकि जीव शब्द के पर्यायवाची शब्दों मे शरीररूप अर्थ नही है।

जीव शब्द शुद्ध है, अर्थात् समास-सयोगरहित है, तथा व्युत्पत्तियुक्त है, इसलिए उस शब्द के अर्थ का बोधक भी है। अजीवत् (जीया), जीवति (जीता है) और जीविष्यति (जीवित रहेगा), वह जीव कहलाता है, इस प्रकार जीव की व्युत्पत्ति होने से वह सार्थक शब्द है और अपने वाच्य अर्थ अथवा प्रतिपक्षरूप अजीव से सम्बन्धित है, इसलिए अर्थ-बोधक या शब्दशक्तिप्रकाशक है। जैसे-घट, पट, मनुष्य आदि शब्द शुद्ध और व्युत्पत्तियुक्त है, वैसे ही जीव भी शुद्ध है। जीवशब्द के जो वाच्यार्थ (पर्यायवाची) शब्द हैं, उनमे शरीर नही है। इसलिए जीव का अर्थ शरीर कथमपि नही हो सकता। शरीरशब्द की व्युत्पत्ति होती है जो शीर्ण क्षीण होता है, वह शरीर है। तदनुसार शरीर के पर्यायवाची (वाच्यार्थ) शब्द है तनु, काया, देह, पिण्ड, मूर्ति, वपु आदि, जबकि जीवशब्द के पर्यायवाची शब्द है आत्मा, देही, शरीरी, शरीरभृत्, चेतन, सत्व, जन्तु, जन्य, चैतन्य आदि। अत शरीर और जीव के व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ और पर्यायवाची शब्द पृथक्-पृथक् है, इसलिए जीवशब्द का अर्थ शरीर नहीं हो सकता, और न शरीरशब्द का अर्थ ही जीव हो सकता है।

आत्मा व्यवस्थितेस्त्याज्यं ततश्चार्वाकदर्शनम् ।
पापा किलैतदाभाषा सद्व्यापारविरोधिन. ॥३०॥

इस प्रकार आत्मा की व्यवस्था (सिद्धि) हो जाती है, इसलिए चार्वाकदर्शन (मत) त्याज्य है, क्योकि उसके आलाप (भाषण) पापमय हैं और शुभ व्यापार (प्रवृत्ति) के विरोधी है।

पूर्वोक्त हेतुओ से आत्मा की व्यवस्था (मर्यादापूर्ण युक्तियो से सिद्धि) हो जाती है, इसलिए सर्वभक्षी नास्तिक चार्वाक का दर्शन (मत) दूर से ही त्याज्य है। उस चार्वाक के आभाषण शुभ व्यापारो

यानी उत्कृष्ट स्वर्ग-मोक्षादि के उपायो के विघातक हैं, महापापजनक यानी परिणामस्वरूप नरकादि के अत्यन्त दु खदायक है।

ज्ञानक्षणावलीरूपो नित्यो नात्मेति सौगता ।
क्रमाक्रमाभ्यां नित्यत्वे युज्यतेऽर्थक्रिया न हि ॥३१॥

बौद्ध कहते है कि आत्मा ज्ञान के क्षणो की परम्परारूप है, वह नित्य नही है। आत्मा को नित्य मानने पर क्रम से या अक्रम से भी अर्थक्रिया घटित नही होती।

अव ग्रन्थकार आत्मा को अनित्य मानने वाले वौद्धदर्शन का प्रलाप बताते है—आत्मा ज्ञान (चिन्मात्र) के उत्पादक क्षणो (सूक्ष्म-कालविभागो) की परम्परा श्रेणी रूप है। इसलिए वह नित्य नही है। अपनी इस वात को सिद्ध करने के लिए वौद्ध कहते है यदि आत्मा को नित्य माना जाएगा तो क्रम (काल के विभाग से क्रिया करना) से एव अक्रम (एक ही क्षण में सर्वक्रियाएँ करना) से (यानी इन दोनो तरह से) अर्थक्रिया (अर्थरूप अपनी उत्पत्ति, स्थिति एव लय वाली अथवा सुखादिवेदना वाली क्रिया) घटित (युक्ति-सगत) नही होगी। क्योकि उससे नित्यत्व मे विरोध आएगा।

स्वभावहानितोऽध्रौव्यं क्रमेणाऽर्थक्रियाकृतौ ।
अक्रमेण च तद्भावे युगपत्सर्वसम्भव. ॥३२॥

यदि आत्मा क्रम से अर्थक्रियाकारी हो तो उसके नित्यत्व-स्वभाव की हानि होगी, और इस प्रकार आत्मा मे अनित्यता आ जाएगी। और यदि ऐसा कहे कि आत्मा अक्रम से अर्थक्रिया करता है, तो एकसाथ सभी क्रियाएँ होनी चाहिए, पर होती नही।

पहले शुरू की हुई क्रिया के समाप्त होने के वाद दूसरी क्रिया शुरू करना क्रम कहलाता है। इस प्रकार के क्रम से यदि आत्मा विद्यमान पदार्थ की क्रिया (अर्थक्रिया) करता है, ऐसा माने तो स्वभाव (यानी नित्यवादी की मान्यतानुसार सर्वपदार्थ नित्य माने जाते है, इसके विपरीत क्रमश. अर्थक्रिया होने से नित्यत्व-स्वभाव) की हानि (नाश) होगी। अथवा वस्तु का जो क्षणस्थायित्व स्वभाव है, उसकी हानि

(पूर्वक्षण में रहने के स्वभाव को छोड कर नित्यस्वभाव को प्राप्त करने के रूप मे क्षति) होगी । इस प्रकार स्वभावहानि होने से दूसरे क्षण मे ही उसका अवस्तुत्त्व हो जाएगा । इससे आत्मा का अनित्यत्व सिद्ध होने से तो हमारा अभीष्ट क्षणिकत्व ही सिद्ध हो जायगा । यदि अक्रम मे अर्थक्रिया का होना माने तो एक साथ यानी, प्रथमक्षण मे ही स्थिति वगैरह समस्तक्रियाओ की उत्पत्ति और अनुभूति होगी । इससे दूसरे क्षण मे स्थिति आदि कोई भी क्रिया बाकी नहीं रहेगी । अत. आत्मा असत् हो जाएगी । इससे भी हमारा माना हुआ क्षणिकत्व ही सिद्ध होगा ।

क्षणिके तु न दोषोऽस्मिन् कुर्वद्रूपविशेषिते ।
ध्रुवेक्षणोत्थतृष्णाया निवृत्तेश्च गुणो महान् ॥२३॥

आत्मा को क्षणिक मानने मे कोई दोष नही है । वह नये-नये रूप करता है । वर्तमानक्षण मे अपनी उत्पत्तिक्रिया करते-करते जो रूप विद्यमान हो, उसे कुर्वद्रूप-विशेषण युक्त लक्षण से क्षणिकत्व मे दोष नही आता । बल्कि नित्यत्वपक्ष को देखने से उत्पन्न हुई तृष्णा की निवृत्ति-रूपी महागुण ही होता है ।

वर्तमान क्षण मे अपनी उत्पत्ति-क्रिया को करते-करते जो रूप मौजूद रहता है, वह कुर्वद्रूप कहलाता है । ऐसे कुर्वद्रूप विशेषण से युक्त हमारे क्षणिकवाद मे (सभी पदार्थ क्षणिक है, उत्पन्न होने के दूसरे ही क्षण नष्ट हो जाते हैं, पदार्थ के नाश का हेतु उसकी उत्पत्ति ही है। क्योंकि जिसकी उत्पत्ति हुई है, वह नष्ट न हो तो, फिर उसका नाश कब होगा ? इस प्रकार क्षणिक आत्मा अथवा बौद्धदर्शन का क्षणिकवाद मानने पर) कोई दोष (क्रम से या विना क्रम से अर्थक्रिया करने मे बताया हुआ पूर्वोक्त दोष) नही आता । क्योकि अपनी उत्पत्ति ही विनाश का कारण होने से उत्पत्ति के समय मे ही स्थिति आदि क्रिया कर लेता है । तथा क्षणिकत्व अगीकार करने से नित्यत्व का यानी मेरा आत्मा नित्य है, इस प्रकार देखने से उत्पन्न हुई तृष्णा (आत्मा को सुखी करने की इच्छा) से निवृत्ति होने (यानी निरात्मत्व के दर्शन से उस इच्छा के नष्ट होने) से महागुण (सर्वोत्कृष्ट चित्त

वाला एवं क्लेशरहित अवस्था वाला निरोध नामक गुण (फल) प्राप्त होता है। अतः विचार करने पर हमारा दर्शन ही सुन्दर लगता है।

मिथ्यात्ववृद्धिकृन्नूनं तदेतदपि दर्शनम्।
क्षणिके कृतहानिर्यत्तथात्मन्यकृतागमः ॥३४॥

निश्चय ही यह बौद्धदर्शन मिथ्यात्व (असत्य) की वृद्धि करने वाला है क्योंकि आत्मा को क्षणिक मानने पर किये हुए कर्मों का नाश और नहीं किये हुए कर्मों की प्राप्तिरूप दोष आते हैं।

ग्रन्थकार बौद्धदर्शन का खण्डन करते हुए कहते हैं आगे हम बताएँगे उन कारणों से पूर्वोक्त क्षणिकवादी (बौद्ध)-दर्शन (मत) भी मिथ्यात्व बढ़ाने वाला यानी असत्य और बुद्धि के विपर्यासत्व की वृद्धि करने वाला अर्थात् जन्म-जन्म में वह असत्यादि की ही उत्पत्ति और वृद्धि करने वाला—है, क्योंकि एकान्त क्षणिक यानी सिर्फ उत्पत्ति के समय ही स्थायी आत्मा मानने से तपस्या, शील वगैरह से और कृषि, वाणिज्य, और पशुपालन वगैरह से किये हुए कार्य की हानि (नाश) हो जाएगी, उस कर्म के कर्ता को उसका फलभोग मिलेगा नहीं। क्योंकि उस कर्म का कर्ता तो उत्पत्ति के दूसरे ही क्षण नष्ट से (बौद्धों के क्षणिकवादानुसार) हो चुका है। अतः उसके द्वारा किये गए शुभाशुभ कर्म का फल भोगने वाला कौन होगा ? अथवा सिर्फ अपनी उत्पत्ति के क्षण में ही स्थायी और क्रियाशील मानने से पुण्य-अपुण्यरूप क्रिया का कर्ता कोई कहलाएगा ही नहीं, इस कारण भी कृत-नाश कार्य की अनुपपत्ति होगी और इससे भोजन करने पर भी तृप्ति होगी नहीं, तथा अकृत की प्राप्ति यानी भोजन, चोरी वगैरह नहीं किये हुए कर्मों की प्राप्ति हो जायगी (गले पड़ जाएगी), क्योंकि क्रिया करते समय फल भोगने वाले की उत्पत्ति नहीं हुई, अतः बाद में उत्पन्न हुआ भोक्ता स्वयं नहीं किये हुए कर्म का फलभोक्ता हो जाएगा। इस प्रकार के दो महादोष आते हैं, अन्य छोटे दोष भी आते हैं, इसलिए एकान्त क्षणिकवादी बौद्धदर्शनी मिथ्यात्व की ही वृद्धि करते हैं।

एकद्रव्यान्वयाभावाद् वासना-सक्रमश्च न ।
पौर्वापर्यं हि भावाना सर्वत्रातिप्रसक्तिमत् ॥३५॥

एक आत्मद्रव्य का अन्वय न होने से वासना का सक्रम नही होगा। क्योकि पदार्थों का पौर्वापर्य सदा सर्वत्र अतिप्रसक्ति वाला है।

एक मुख्य द्रव्य का यानी समस्त गुण और पर्याय के आधाररूप आत्मद्रव्य के सम्बन्ध के अभाव के कारण वासना का संक्रम, यानी अपर-अपर क्षण मे उत्पन्न हुए ज्ञान के पूर्व-पूर्व क्षण मे अनुभव किये हुए पदार्थो की स्मृति के कारणरूप सस्कार का सक्रम उत्तरोत्तर ज्ञान के क्षणो मे उसकी प्राप्ति नही होगी। वासना का संक्रम एक ही आत्मा के सम्बन्ध मे हो सकता है, क्योकि पदार्थों का वासनादि वस्तुओ का पूर्वापरत्व अर्थात् पहले अनुभूत और बाद मे अनुभव करने योग्य ये दोनो सर्वत्र अतिप्रसक्ति वाले हैं। भावार्थ यह है कि सर्वदेश-काल के विषय मे जिसमे अत्यासक्ति (अतिसम्बन्धत्व) रही हुई है, ऐसा उस वासना के सक्रम का स्मरण होता है। तात्पर्य यह है कि पूर्वक्षण और उत्तरक्षण इन दोनो मे किसी प्रकार का सम्बन्ध नही है। क्योकि पूर्वक्षण तो नष्ट हो चुका और उत्तरक्षण अभी उत्पन्न हो नही हुआ। इस कारण वासना किसके विषय मे सक्रमयुक्त होगी ? जहाँ दो वस्तुओ का परस्पर स्पर्श होता हो, वही वासना का सक्रम हो सकता है। जैसे फूलो का एक ढेर है। उसमे से कोई प्रतिक्षण दूसरे-दूसरे तिल डालता जाय और डालने के तुरंत बाद ही प्रतिक्षण पहले के तिल लेता जाय, तो फूल के गन्ध का सक्रम उन तिलो मे नही होगा। इसी प्रकार प्रतिक्षण समुत्पन्न हुए अपर-अपर ज्ञानरूपी क्षण जीवरूपी आधार के बिना वर्तमान ज्ञानक्षण को छोड कर अन्य सभी ज्ञानक्षण अपनी-अपनी उत्पत्ति होने के तुरत बाद ही नष्ट हो चुके है, इस कारण वासना का सक्रम किसमे होगा ? किसी मे नही होगा।

कुर्वद्रूपविशेषे च न प्रवृत्तिर्न वाऽनुमा ।
अनिश्चयान्न वाऽध्यक्ष तथा चोदयतो जगौ ॥३६॥

'कुर्वद्रूप विशेष' वाला आत्मा मानने से शुभाशुभ प्रवृत्ति नहीं होगी, अनुमान नही होगा और निश्चय न होने से प्रत्यक्षप्रमाण भी नही रहेगा। इस सम्बन्ध मे क्षणिकवादी को प्रेरित करते हुए सिद्धान्ती ने नीचे लिखे अनुसार कहा है।

जिस समय उत्पन्न हुआ, उसी समय जो स्थित रहे, वह कुर्वद्रूप कहलाता है। जिसका कुर्वद्रूप विशेष-व्यक्त है, ऐसे जीव के विषय मे शुभाशुभ-कर्म-प्रवृत्ति या वासना की परम्परा (प्रवाह) नही होगी, क्योकि पदार्थ की स्थिति ही जब नही है, तो प्रवृत्ति किसकी होगी ? अथवा अनुमा (लिंग चिह्न) देखने के अनु पश्चात्, मा लिंगी का ज्ञान, अर्थात् व्याप्ति-सहित पक्षधर्मता के ज्ञान से उत्पन्न हुआ ज्ञान, जैसे धूँए का ज्ञान होने के बाद इस पर्वत पर अग्नि है, ऐसा अनुमान क्षणिकवाद मे सभव नही होगा। क्योकि प्रवृत्ति का मूल कारण होने से स्थिति के अभाव के कारण लिंगादि (हेतु आदि) का ज्ञान ही होना अशक्य है। अथवा यह ऐसा ही है, ऐसा निश्चय नही होने से प्रत्यक्ष-प्रमाण भी घटित नही हो सकेगा। इस प्रकार बौद्धदर्शन त्रिदोषरूपी ग्रह से ग्रस्त है।

न वैजात्यं विना तत्स्यान्न तस्मिन्ननुमा भवेत्।
विना तेन न तत्सिद्धिर्नाध्यक्षं निश्चयं विना ॥३७॥

उस कुर्वद्रूपविशेष-युक्त जीव मे वैजात्य (विजातिरूप) विशेषण के विना उसे पूर्वानुभूत का स्मरण नही होगा और उस स्मरण के विना अनुमान नही होगा। और उस अनुमान के विना कुर्वद्रूप की सिद्धि अर्थात् निश्चय होगा नही, तथा निश्चय के विना प्रत्यक्षप्रमाण भी नही होगा।

उस पूर्वोक्त कुर्वद्रूप विशेप-युक्त जीव मे वैजात्य (विभिन्न जाति, धर्म, बौद्धमतानुसार क्षणान्तर मे होने वाली दूसरी क्रिया विजाति कहलाती है, उस विजाति का कर्म (वैजात्य) अर्थात् विशेषण। उस विशेपण के बिना पूर्वानुभूत स्मरण दूसरे क्षण मे स्थिति न होने से होगा नही, क्योकि विशेष प्रकार के समय मे जो रहा हुआ हो, उसी

का स्मरण होता है। उस पूर्वानुभूत के स्मरण के विना अनुमानप्रमाण का ज्ञान भी नही होता और कुर्वद्रूप के निश्चय के विना प्रत्यक्षप्रमाण भी नही होता। दूसरी क्रिया के समय मे पूर्व क्रिया का अभाव होने से बौद्धमत मे समस्त प्रमाणो का अभाव है।

एकताप्रत्यभिज्ञानं क्षणिकत्वं च बाधते।
योऽहमन्वभवं सोऽहं स्मरामीत्यवधारणात् ॥३८॥

एकत्व का प्रत्यभिज्ञान क्षणिकत्व का बाधक है। क्योकि प्रत्यभिज्ञान मे 'जो मैने पहले अनुभव किया था, उसे मै स्मरण करता हूँ' ऐसा निश्चय होता है।

आत्मा का ऐसा एकत्व का निर्धारण (निश्चय), यानी पहले और पीछे के सभी क्षणो मे एक ही अनुभव करने वाला प्रत्यभिज्ञान—जिसे मैंने पहले (कल) देखा था, आज वही यह है' इसप्रकार का ज्ञान—क्षणिकवाद का निषेध (खडन) करता है। तात्पर्य यह है कि इस प्रकार कल की और आज की आत्मा मे अभिन्नता (एकता) का निश्चय होता है। यदि आत्मा का प्रतिक्षण विनाश होता तो अनुभव करने वाले और स्मरण करने वाले को ऐसा निश्चय व स्मरण नही होता। परन्तु यहाँ निश्चय, अनुभव और स्मरण भी होता है। अत क्षणिकवादी बौद्धदर्शन को पूर्वापरसम्बन्धी एकत्वरूप प्रत्यभिज्ञान नही होता।

नास्मिन् विषयबाधो यत्क्षणिकेऽपि यथैकता।
नानाज्ञानान्वये तद्वत् स्थिरे नानाक्षणान्वये ॥३९॥

नित्य (चिरकालस्थायी) एक आत्मा मे इस विषय की बाधा नही आती। कारण, जैसे बौद्धमत मे क्षणिक आत्मा मे भी नाना प्रकार के ज्ञान का सम्बन्ध करने मे एकतारूप दोष नही आता, वैसे ही स्थिर आत्मा मे भी नाना प्रकार के अनेक क्षणो के साथ सम्बन्ध करने मे कोई दोष नही आता।

चिरकाल अनेक क्षणो तक स्थिर रहने वाले एक ही आत्मा मे विषय की बाधा, अनेकक्षणस्थायी विषयो का एक ही विषयी (आश्रय) होते हुए भी विषयकृत बाधा (दोषापत्ति) नही आती। क्योकि क्षण—

स्थायी आत्मा मे भी नाना प्रकार के यानी श्वेत, रक्त, पीत वगैरह विषयो को ग्रहण करने मे विचित्र प्रकार के ज्ञान के अन्वय (परम्परात्मक सम्बन्ध) मे क्षणिकवादियो द्वारा मानी हुई एकता मे दोष नही आता। उसी प्रकार चिरकालस्थायी सनातन आत्मा मे अनेकक्षण-स्थायीकरणरूप अन्वयवाले विषय मे कोई भी दोष नही आता। क्योकि समस्त पदार्थ उत्पत्तिमान और नाशवान हैं।

नानाकार्यैक्यकरणस्वाभाव्ये च विरुध्यते।
स्याद्वादसंनिवेशेन नित्यत्वेऽर्थक्रिया न हि ॥४०॥

नाना प्रकार के कार्यो को एकता करने के स्वभाव मे विरोध आता है। और स्याद्वाद की स्थापना करने से नित्य आत्मा मे अर्थक्रिया मे विरोध नही आता।

नाना प्रकार के यानी अनेकक्षण मे रहे हुए स्थिति आदि कार्यो की एक कर्ता द्वारा करने के रूप मे एकता का एक के अनेक कार्य करने के स्वभाव मे स्याद्वाद की स्थापना से (प्रत्येक वस्तु कथचित् नित्य है, कथचित् अनित्य है, इस प्रकार स्याद्वाद का आश्रय स्वीकार करने से) नित्य आत्मा मे उत्पत्ति, स्थिति और नाशरूप अर्थक्रिया मे कही विरोध नही आता। परन्तु स्याद्वाद के विना अनेक कार्य के एकीकरण-स्वभाव का स्वीकार करने पर विरोध आता है।

नीलादावप्यतद्भेदशक्तय सुवचा कथम् ?
परेणाऽपि हि नानैकस्वभावोपगमं विना ॥४१॥

अनेक स्वभाव का स्वीकार किये विना नील, काला आदि वर्णो में बौद्ध भी अतद्भेद की शक्तियो का कथन किस प्रकार कर सकते है ?

क्षणिकवादियो को भी आत्मा मे अनेकस्वभावत्व का स्वीकार किये विना नील, पीत वगैरह रगो के ज्ञान मे अतद्भेद की शक्तियो अर्थात् नीलादि ज्ञान से भिन्न नही, किन्तु नीलादिज्ञान के स्वरूप वाली शक्तियाँ—का अनायास कथन कैसे कर सकेगे ? नही कर सकेगे। और शक्तियाँ क्षणवादियो ने मानी है। इस प्रकार जव ज्ञान मे अनेक शक्तियाँ

हैं, तब ज्ञानी मे भी और ज्ञेयपदार्थों मे भी अनेक शक्तियाँ क्यो नही होगी ? होनी ही चाहिए ।

ध्रुवेक्षणेऽपि न प्रेम निवृत्तमनुपप्लवात् ।
ग्राह्याकार इव ज्ञाने गुणस्तस्मात्र दर्शने ॥४२॥

आत्मा का नित्य ईक्षण करने से भी अनुपद्रव के कारण सर्वज्ञ ने प्रेम का निषेध नही किया । इस कारण इस बौद्धदर्शन मे ग्राह्य आकार की तरह उसके ज्ञान मे कोई भी गुण नही है ।

ध्रुव का ईक्षण यानी आत्मा स्थिर है, नित्य है, इस प्रकार ज्ञान चक्षु से अवलोकन करने से आत्मा के प्रेम का यानी आत्मा को सुखी करने रूप स्नेह का सर्वज्ञ ने निषेध नही किया । क्योकि वह प्रेम निरुपद्रव है । तथा सकल ईष्ट साधन की प्रवृत्ति का अंग होने से उस पर प्रेम करना ईष्ट ही है । सनातन आत्मा का ज्ञान होने से मोक्ष के उपाय की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है, इस कारण उस प्रेम का निषेध नही किया । इन कारणो मे बौद्ध के नैरात्म्य-दर्शन में ग्राह्याकार की तरह यानी ग्रहण, करने, जानने या स्वीकार करने योग्य अर्थात् ज्ञेय पदार्थ के आकार=स्वरूप की तरह (ज्ञेय पदार्थ के सदृश ज्ञान के विषय मे) सुगत द्वारा उक्त शास्त्र या बोध के विषय मे वस्तु के आकार का ग्राह्यत्व न होने से गुण (ज्ञान का फल) है ही नही ।

प्रत्युतानित्यभावे हि स्वतः क्षणजनुर्धिया ।
हेत्वनादरतः सर्वक्रियाविफलता भवेत् ॥४३॥

इसके विपरीत अनित्यभाव मानने से स्वत. ही क्षणिक जन्म की बुद्धि से हेतु-क्रियाफल के प्रति अनादर होगा और उससे समस्त क्रियाएँ निष्फल हो जाएँगी ।

आत्मा का नित्य मानने से कोई दोष नही आता, परन्तु आत्मा को एकान्त अनित्य मानने से बहुत-से दोष उपस्थित होते है । क्योकि जगत् मे आत्मा की अनित्यता की भावना करने से अथवा बताने से किसी के उपदेश के बिना स्वभावत: आत्मा का क्षणस्थायी जन्म है यानी आत्मा

स्वत क्षण मे जन्मता है, क्षण मे मरता है, आत्मा मरने से मरता नही है, वचाने से वचता नही है, रक्षा करने से उसकी रक्षा नही होती है तथा शुभाशुभ कर्मवन्धन करने वाला आत्मा तो क्षणभर मे नष्ट हो जाता है, ऐसी वुद्धि होने से क्रिया के फल के प्रति अनादर होगा, यानी आत्मा की क्षणिकता और उसके कारण उपर्युक्त भाव का वोध होने से व्यक्ति यह सोचने लगेगा कि जव आत्मा क्षणभर मे नष्ट हो जायगा, तो सुखादि का उपभोग कौन करेगा ? और जव सुखादि की प्राप्ति नही होगी तो शुभकर्मफलदायिनी धर्मक्रिया आदि कौन करेगा ? इस तरह सुखादि-हेतुभूत कर्म के प्रति अनादर होगा और इस दृष्टि से जाने वाली तप, सयम, ज्ञान-ध्यान या अनुष्ठानादि सर्व क्रियाएँ निष्फल हो जाएँगी। इन सव आपत्तियो के निवारण के लिए आत्मा को कथंचित् नित्य मान लेना चाहिए।

तस्मादिदमपि त्याज्यमनित्यत्वस्य दर्शनम् ।
नित्यसत्यचिदानन्दपदसंसर्गमिच्छता ॥४४॥

इसलिए नित्य-सत्-चित्-आनन्द-स्वरूप मुक्तिपद का ससर्ग चाहने वाले को अनित्य (क्षणिकवादी) दर्शन छोड देना चाहिए।

पूर्वोक्त हेतुओ के कारण शाश्वत, स्थिर, अविनाशी, सत्य (यथार्थ) चिदानन्द (ज्ञानरूप परमानन्दमय) स्थान यानी मुक्तिपद को प्राप्त करने के इच्छुक मुमुक्षु आत्मा को एकान्त अनित्यवादी वौद्धदर्शन को छोड देना चाहिए।

अव आत्मा को एकान्त नित्य मानने वाले साख्य-दर्शन के सम्वन्ध में कहते हैं

न कर्ता, नापि भोक्तात्मा कापिलाना तु दर्शने ।
जन्यधर्माश्रयो नाऽय, प्रकृति परिणामिनी ॥४५॥

साख्यदर्शन मे आत्मा कर्ता और भोक्ता नही है, और आत्मा जन्य (माया) के धर्म का आश्रय भी नही है, परन्तु जो उसका आश्रय है, वह तो परिणाम वाली प्रकृति (माया) है।

कपिलरचित साख्यमत का यह सिद्धान्त है कि आत्मा शुभाशुभ कर्मों का कर्ता नही है, और न वह पुण्य-पापरूप फल का भोक्ता है।

क्योंकि आत्मा कर्म (क्रिया) रहित है, कमलपत्रवत् सर्वथा निर्लेप औ
असग है। मगर बुद्धि (महत्तत्त्व) द्वारा ही वह कर्ता-भोक्ता है। त
यह आत्मा प्रकृति (माया) द्वारा उत्पन्न किये हुए बुद्धि, अहंकार आ
धर्मो का आधार भी नही है। परन्तु उन धर्मो का जो आश्रय-आधा
है, वह परिणाम वाली (दूसरे स्वभाव=विकार वाली) प्रकृति अर्था
माया है।

प्रथम परिणामोऽस्या बुद्धि धर्माष्टकान्विता।
ततोऽहंकारतन्मात्रेन्द्रियभूतोदय: क्रमात् ॥४६॥

धर्मादि आठ से युक्त बुद्धि ही इस प्रकृति का प्रथम परिणाम है और उस बुद्धि से क्रमश. अहकार, ५ तन्मात्रा, ५ इन्द्रियो और महाभूतों की उत्पत्ति होती है।

इस प्रकृति (अविद्या या माया) का धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ए
सात्त्विक, अधर्मादि, इतर और तामस, इन आठो से युक्त बु
यानी महत्तत्त्व, यह प्रथम परिणाम विकार है। उस महत्तत्त्व
उत्पत्ति के बाद क्रमश अहकार (मैं सुखी हूँ इत्यादि अभिमान) तन्मा
(शब्दादि ५ विषय) इन्द्रिया (श्रोत्रादि के पॉच ज्ञानेन्द्रियाँ और
आदि ५ कर्मेन्द्रियाँ) तथा पृथ्वी आदि ५ महाभूतो की उत्पत्ति होती

चिद्रूप पुरुषो बुद्धे: सिद्ध्यै चैतन्यमानत.।
सिद्धिस्तस्या अविषयाऽवच्छेदनियमान्वित. ॥४७॥

उस बुद्धि की सिद्धि के लिए चैतन्यरूप प्रमाण है और अवच्छेद
नियम से युक्त चैतन्यरूप पुरुष है, अन्यथा उसकी सिद्धि अविषया है

बुद्धि की यानी पूर्वोक्त महत्तत्त्व की सिद्धि के लिए
विषय ग्रहण करने की शक्ति लाने के लिए पुरुष=आत्मा है।
आत्मा किस प्रकार उस बुद्धि की सिद्धि के लिए होता है। ज्ञान
इच्छा के प्रयत्नरूप चैतन्य के प्रमाण से अवच्छेदन के नियम से
यानी विषय की इयत्ता निश्चित करने मे जो नियम=निश्चय से
चैतन्यरूप पुरुष=आत्मा है। इसलिए चैतन्यसहित होने से ही

अविषया है। उस वुद्धि की सिद्धि=निश्चित स्वरूप को ग्रहण करने की शक्ति—अविषया=विषय को ग्रहण करने मे असमर्थ है।

हेतुत्वे पुंस्प्रकृत्यर्थेन्द्रियाणामतिनिर्वृति.।
दृष्टादृष्टविभागश्च व्यासंगश्च न युज्यते ॥४८॥

पुरुष को हेतुरूप मे अगीकार करने से पुरुष, प्रकृति, विषय और इन्द्रिय की अत्यन्त निर्वृति तथा दृष्ट, और अदृष्ट का विभाग, तथा व्यासंग ये कोई भी युक्तिसगत (घटित) नही होंगे।

पुरुष को कारणरूप अथवा साध्यरूप मानने से पुरुष=आत्मा, प्रकृति माया, अर्थ=शब्दादि विषय और इन्द्रियो=श्रोत्रादि इन्द्रियो की अत्यन्त निर्वृति (निष्पन्नता=सपादकता) दृष्ट=लौकिकता और अदृष्ट=अलौकिकता, उनका विभाग=भेद तथा व्यासग=दूसरे कार्यो को छोड कर एक के विषय मे आसक्ति, ये सब पदार्थ आत्मा के नही हैं; इस कारण ये पुरुष (आत्मा) मे घटित नही होगे।

स्वप्ने व्याघ्रादिसकल्पवत्पुंस्त्वानभिमानत ।
अहंकारश्च नियतव्यापार परिकल्पते ॥४९॥

स्वप्ने मे वाघ आदि सकल्प की तरह पुरुषत्व के अनभिमान (अज्ञान) से निश्चित व्यापार वाले अहंकार की कल्पना की जाती है।

सोये-हुए मनुष्य के मन मे स्वप्न में सिंह, सर्प आदि का अभाव होने पर भी भ्रान्तिवश 'यह सिंह मुझे मार डालेगा', इत्यादि सकल्प (भयवृत्ति) से जैसे पुरुष भयादि पाता है, उसी प्रकार पुरुषत्व का अभिमान (अज्ञान) न होने पर भी नियत व्यापार अर्थात् उत्पादादि कियावाला अहत्व महत्तत्त्व का कार्य ही प्रपच का कर्ता है, फिर भी पुरुष (आत्मा) मे कर्तृत्व का उपचार किया जाता है।

तन्मात्रादिक्रमस्तस्मात्प्रपञ्चोत्पत्तिहेतवे ।
इत्थ बुद्धिर्जगत्कर्त्री पुरुषो न विकारभाक् ॥५०॥

उस अहकार से तन्मादि का क्रम जगत् की उत्पत्ति के लिए है।

इस प्रकार बुद्धि जगत् की कर्त्री है, परन्तु पुरुष (आत्मा) विकार वाला नहीं है।

पूर्वोक्त अहंकार से तन्मात्रादि यानी शब्दादि ५ तन्मात्राएँ, ५ ज्ञानेन्द्रियाँ, ५ कर्मेन्द्रियाँ और पाँच महाभूत, इस क्रम से जगत् की उत्पत्ति है। उस प्रकार (परम्परया) बुद्धि ही जगत् की रचना करने वाली है, परन्तु आत्मा निर्विकारी है कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि विकारों से रहित है।

पुरुषार्थोपरागौ द्वौ व्यापारावेश एव च।
अत्रांशो वेद्म्यहं वस्तु करोमीति च धीस्तत ॥५१॥

इन सब व्यापारों (प्रवृत्तियों) के आरम्भ (आवेश) करने में पुरुषार्थ और उपराग ये दो कर्ता हैं। इस कारण अंश=जीवात्मा को मैं पदार्थ को जानता हूँ, अत उसे करता हूँ, ऐसी बुद्धि होती है। इस तरह बुद्धि मे दो प्रकार के अध्यवसाय से आत्मा कर्ता है। परन्तु यह बात अतात्त्विक है।

चेतनोऽहं करोमीति बुद्धेर्भेदाग्रहात् स्मय.।
एतन्नाशेऽनवच्छिन्नं चैतन्य मोक्ष इष्यते ॥५२॥

"मैं चेतन हूँ मैं आत्मा यह सब करता हूँ," इस प्रकार बुद्धि का (आत्मा के साथ) अभेद मानने से अहंकार होता है। इस अहंकार का नाश होने पर अविछिन्न चैतन्य रहता है, वही मोक्ष कहलाता है।

'मैं चेतन=आत्मा यह सब करता हूँ', ऐसी अभेदबुद्धि होती है। और पुरुष अपने आपको कर्ता मानने लगता है। ऐसी दशा मे बुद्धि से आत्मा की भिन्नता का ज्ञान (पुरुष को) नही होता। इससे पूर्वोक्त अहंकार होता है। इस अहंकाररूपी कुज्ञान (अभेदज्ञान) के नष्ट होने पर जब पुरुष को ऐसा लगता है कि मै बुद्धि से सर्वथा भिन्न हूँ, तब अविछिन्न सनातन स्वभाव वाला चैतन्य ही एकमात्र अवशिष्ट रहता है, उसे ही पुरुष (आत्मा) का मोक्ष कहा है। वही चैतन्य की मोक्षावस्था है।

कर्तृ बुद्धिगते दुःखसुखे पुंस्युपचारत ।
नरनाथे यथाभृत्यगतौ जयपराजयौ ॥५३॥

जैसे सेवक की जय-पराजय का राजा मे उपचार होता है, वैसे ही कर्तारूप बुद्धि के सुखदुःख का आत्मा (पुरुष) मे उपचार किया जाता है।

कर्त्रीरूप बुद्धि के दुःख यानी प्रतिकूल वेदन के योग्य चित्त के धर्म एवं सुख यानी चित्त के अनुकूल वेदनयोग्य धर्म का उपचार (कल्पनामात्र) पुरुष (निर्विकार स्वभाव वाले आत्मा) मे होता है। जैसे सेनापति आदि सेवक के जय, (शत्रुनाश) और पराजय (अपना पराभव) इन दोनो का उपचार (कल्पना) राजा मे होता है। तात्पर्य यह है कि युद्ध मे जैसे हारजीत सेना-सेनापति आदि की होती है, मगर उपचार से कही जाती है राजा की, वैसे ही सुखदुःख आदि सब कर्तृरूप बुद्धि के होते हैं, लेकिन वे उपचार से कहलाते हैं पुरुष के।

कर्ता भोक्ता च नो तस्मादात्मा नित्यो निरंजनः ।
अध्यासादन्यथाबुद्धिस्तथाचोक्तं महात्मना ॥५४॥

इस कारण आत्मा कर्ता और भोक्ता नही है तथा वह नित्य और निरंजन है। परन्तु अध्यास के कारण उस पर अन्यथाबुद्धि यानी अतथ्य (असत्य) ज्ञान पुरुष को होता है। इस प्रकार महात्मा कपिल ने कहा है।

सांख्यदर्शनप्रणेता महात्मा कपिल ने कहा है आत्मा (चेतन) शुभाशुभक्रिया का कर्ता नही है, तथा उन क्रियाओ का फलभोक्ता भी नही है। परन्तु बुद्धि के द्वारा उत्पन्न किये हुए प्रतिबिम्ब (अध्यास) के द्वारा वह भोक्ता है। तथा वह आत्मा नित्य (निर्विकारी), निरंजन (सकलकर्ममलरहित) है। क्योंकि क्रियारहित होने से वह बन्धनरहित है। तब 'मैं दुःखी हूँ', इस प्रकार का ज्ञान कैसे हो जाता है ? इसके उत्तर मे कहते हैं अध्यास से अविद्यमान वस्तु मे उस वस्तु की बुद्धि के आरोप (कल्पना) से अन्यथाबुद्धि (असत्य ज्ञान) पुरुष को होती है।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वथा ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते ॥५५॥

वास्तव मे प्रकृति के गुण ही कर्मों को करते है, फिर भी अहकार से मोहित (मूढ) आत्मा (पुरुष) 'मै कर्ता हूँ' ऐसा मानता है।

यह भगवद्गीता के तीसरे अध्याय का २७ वॉ श्लोक है। इसमे व्यासऋषि ने सांख्यसिद्धान्त की बात कही है कि प्रकृति अलग है और पुरुष अलग है। प्रकृति ही सत्त्व, रज और तम इन तीनो गुणों की साम्यावस्थारूप से उत्पन्न गुणो के द्वारा सब शुभाशुभ क्रियाएँ करती है, आत्मा कुछ भी नही करता, तथापि अहकार (अहपन) के ज्ञान से मूढ हुआ पुरुष (प्राणी) 'मै इन कार्यों का कर्ता हूँ' यों मानता-जानता है।

विचार्यमाणं नो चारु तदेतदपि दर्शनम् ।
कृतिचैतन्ययोर्व्यक्तं सामानाधिकरण्यत ॥५६॥

विचार करने पर यह दर्शन भी सुन्दर नही है। क्योकि बुद्धि और चैतन्य (पुरुष) का अधिकरण समान होने से उसकी असुन्दरता स्पष्ट है।

पूर्वोक्त सांख्यदर्शन पर भी जब जैन-सिद्धान्त की दृष्टि से विचार करते है तो सुन्दर प्रतीत नहीं होता, क्योकि कृति और चैतन्य यानी बुद्धि और पुरुष (आत्मा) दोनो का एक ही अधिकरण आधार है, इन दोनो का वाच्यार्थ एक ही है बुद्धि और आत्मा का आधार भिन्न-भिन्न नही है। सिर्फ धर्म और धर्मी मे जैसे विशेषता के कारण भिन्नता का कथन होता है, वैसे ही इन दोनो मे अन्तर है, लेकिन रहते दोनो एक ही स्थान मे है। इसलिए इस दर्शन की असुन्दरता भी स्पष्ट मालूम होती है।

बुद्धि कर्त्री च भोक्त्री च नित्या चेन्नास्ति निर्वृति ।
अनित्या चेन्न संसार प्राग्धर्मादेरयोगत ॥५७॥

आपने बुद्धि को कर्त्री और भोक्त्री बताई, अगर वह बुद्धि नित्य

हो तो मोक्ष नही होगा और यदि वह अनित्य हो तो संसार नही होगा क्योंकि बुद्धि की उत्पत्ति मे पहले धर्मादि का योग नही होता।

यदि जडबुद्धि को शुभाशुभकर्म की कर्त्री और स्वर्ग-नरक-रूप फल की भोक्त्री अथवा सुखदु.ख की भोक्त्री मानी जाय तो प्रश्न होता है वह बुद्धि नित्य है या अनित्य ? यदि बुद्धि को नित्य कहते है, तो आत्मा को कदापि मोक्ष नही होगा, क्योकि आपके मत मे बुद्धि के अभाव मे आत्मा को मोक्ष माना है। और ऐसा मोक्ष तभी होगा, जब बुद्धि का नाश होगा। और बुद्धि का नाश होगा तो उसकी नित्यता समाप्त हो जाएगी। अगर उस बुद्धि को अनित्य कहते हैं, तो फिर जन्म-मरणादिरूप ससार नही होगा, क्योकि बुद्धि की उत्पत्ति से पहले सात्त्विक गुणरूप पुण्य, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, अधर्म, अज्ञान, अविरक्ति और अनैश्वर्य वगैरह का वियोग है। आपके मत मे बुद्धि की उत्पत्ति धर्मादिसहित मानी गई है। जब बुद्धि अनित्य हो जाएगी तो अपने अन्दर रहे हुए धर्मादिसहित ही नष्ट हो जाएगी, इससे उसके अभाव मे संसार नही होगा।

प्रकृतावेव धर्मादि-स्वीकारे बुद्धिरेव का ?
सुवचश्च घटादौ स्यादीदृग्धर्मान्वयस्तथा ॥५८॥

यदि प्रकृति मे ही धर्मादि का स्वीकार करेगे तो फिर बुद्धि किसे कहेगे ? और फिर इस प्रकार के धर्मादि के सम्बन्ध का कथन घटादि मे भी अनायास ही हो जाएगा।

यदि नित्य प्रकृति (अव्यक्तरूप माया) मे ही पूर्वोक्त धर्मादि का स्वीकार कर लोगे तो फिर उन धर्मादि गुणो से अतिरिक्त बुद्धि और किसको कहा जाएगा ? क्योकि बुद्धि के प्रयोजनरूप धर्मादि की प्रकृति से ही सिद्धि हो जाती है। अत बुद्धि अलग से कोई वस्तु कहलाएगी नही और फिर ऐसा मानने से घट-पट वगैरह जडपदार्थों मे भी इस प्रकार के धर्मादि के सम्बन्ध का कथन - यह घट-धर्म वाला है, ऐसा सम्बन्ध अनायास ही कहने लायक हो जाएगा। क्योकि जड़त्व के कारण समानता होने से घटादि का क्या अपराध है ?

कृतिभोगौ च बुद्धेश्चेद् बन्धो मोक्षश्च नात्मन ।
ततश्चात्मानमुद्दिश्य कूटमेतद्यदुच्यते ॥५९॥

यदि कर्तृत्व और भोक्तृत्व बुद्धि का ही हो तो बन्ध और मोक्ष आत्मा मे घटित नही होगे । और अगर वैसा होगा, तब तो आत्मा को ले कर जो कुछ भी कपिलादि ने कहा है, वह सब व्यर्थ हो जाएगा ।

यदि पूर्वोक्त बुद्धि का ही कर्तृत्व और भोक्तृत्व माना जाएगा तो आत्मा (चैतन्य) के साथ शुभाशुभ कर्म का बन्ध तथा कृतकर्मों से मोक्ष, ये दोनो घटित नही होगे । और इस प्रकार होगा तो आत्मा के विषय मे जो कुछ कपिलादि ने कहा है, वह सब मिथ्या हो जाएगा ।

पंचविंशतितत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे रत. ।
जटी मुडी शिखी वाऽपि मुच्यते भवबन्धनात् ॥६०॥

पच्चीस तत्त्वो का ज्ञाता जटाधारी, मुँडित, चोटी-धारी अथवा अन्य किसी वेष का धारक, जिस किसी भी आश्रम मे रत हो, संसार के बन्धन से मुक्त हो जाता है ।

प्रकृति आदि पूर्वोक्त २५ तत्त्वो का जानकार, जटाएँ रखता हो, मस्तक, दाढ़ी-मूँछ वगैरह मुंडाया हुआ हो, अथवा चोटी रखता हो, या और किसी वेष को धारण करता हो; अपने अभीष्ट किसी भी आश्रम मे रत हो, वह अवश्य ही ससार के जन्म-मरण के बन्धन (नियंत्रण) से मुक्त हो जाता है । आत्मा में बन्ध और मोक्ष का अभाव हो तो सांख्यदर्शनकार का इस प्रकार किया गया उपदेश मिथ्या सिद्ध हो जाता है । क्योकि इस श्लोक मे सांख्यमतवादियो ने मोक्ष की बात कही है । जिस पुरुष का मोक्ष होता है, उसका बन्ध भी होता है । विना बन्धन के मुक्ति किसकी होगी ? जो पुरुष बन्ध करता है, उसे शुभाशुभ कर्म का कर्ता-भोक्ता भी मानना पड़ेगा और इनका अभाव मानेंगे तो कपिलमुनि का उपदेश मिथ्या हो जाएगा ।

एतस्य चोपचारत्वे मोक्षशास्त्रं वृथाखिलम् ।
अन्यस्य हि विमोक्षार्थं न कोऽप्यन्य. प्रवर्तते ॥६१॥

यदि उस बन्ध और मोक्ष का आत्मा मे उपचार करेंगे तो समग्र मोक्षप्रतिपादक शास्त्र व्यर्थ हो जाएगा। क्योंकि दूसरे की मुक्ति के लिए दूसरा कौन प्रवृत्ति करेगा ?

यदि इस पूर्वोक्त बन्धपूर्वक मोक्ष का आत्मा मे उपचार (वास्तविकता से रहित केवल कल्पनामात्र से आरोप) करेगे तो सारा का सारा मोक्ष का प्ररूपण करने वाला शास्त्र निष्प्रयोजन सिद्ध होगा। क्योंकि प्रकृति का मोक्ष हो जाने से आत्मा (पुरुष) का तो कोई विशिष्ट गुण सिद्ध नही होगा। अत दूसरे के यानी आत्मा से अतिरिक्त प्रकृति या पुद्गल वगैरह के अथवा अपने से भिन्न देवदत्तादि के मोक्ष के लिए (उन्हे कर्मबन्धन से मुक्त करने के लिए) दूसरा कोई यवन आदि प्रवृत्त उद्यत नही होगा। सभी अपने ही मोक्ष के लिए प्रवृत्त दिखाई देते हैं।

कपिलानां मते तस्मादास्मिन्नैवोचिता रति.।
यत्रानुभवसंसिद्ध. कर्ता भोक्ता च लुप्यते ॥६२॥

इस कारण कपिलादि के इस साख्यमत मे प्रीति करना उचित नही है, क्योंकि उक्त मत मे अनुभवसिद्ध कर्ता और भोक्ता का लोप किया जाता है।

पूर्वोक्त कारणो को देखते हुए कपिलादि-प्रवर्तित साख्यदर्शन के प्रति श्रद्धा या प्रीति करना उचित नही जचता। क्योंकि इस साख्यदर्शन मे जगत्प्रसिद्ध क्रिया का स्व-पर आत्मा मे साक्षात् अवलोकन करने से सिद्ध अनुभवसिद्ध शुभाशुभ कर्म का कर्ता और स्वयकृत कर्मो के फलरूप सुखदु ख का भोक्ता आत्मा ही लुप्त कर दिया गया है। अत उस पर श्रद्धादि करना कैसे उचित हो सकता है ?

नास्ति निर्वाणमित्याहुरात्मन केऽप्यबन्धत ।
प्राक् पश्चाद् युगपद्वापि कर्मबन्धाव्यवस्थिते. ॥६३॥

कई निर्मोक्षवादी कहते है 'निर्वाण है ही नहीं', क्योंकि आत्मा के बन्ध नही होने से मोक्ष भी नही होता। कारण यह है कि पहले, पीछे, अथवा साथ-साथ आत्मा के कर्मबन्धन की अव्यवस्था है।

कई अमोक्षवादी याज्ञिकमती मानते है कि 'आत्मा के मोक्ष है ही नही।' क्योकि आत्मा के कर्म का बन्धन नही होता। उनका कथन है कि कोई कर्ता न होने से आत्मा के उत्पन्न होने से पहले कर्म का बन्धन नही था, उत्पन्न होने के बाद भी कर्म का बन्धन सम्भव नही है, क्योकि आत्मा शुद्ध रूप से उत्पन्न हुआ है तो बाद मे उसके कर्मबन्ध होने मे कोई कारण नही है। अगर शुद्ध आत्मा के भी बाद मे कर्मबन्ध हो तो अतिप्रसंग दोष आता है। इसी प्रकार साथ-साथ भी (यानी आत्मा की उत्पत्ति के साथ भी) कर्मबन्धन की सम्भावना नही है, क्योकि वहाँ कर्मबन्धन का कोई कारण होने पर भी कर्मबन्धन होता हो तो निर्हेतुकता की आपत्ति आएगी। तात्पर्य यह है कि आत्मा की उत्पत्ति से पूर्व अगर कर्मबन्ध मानते है तो वह सभव ही नही है, क्योकि उस समय कर्ता का ही अभाव है। तथा **'जो किया जाय, उसे ही कर्म कहते है'** इस व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ के साथ भी विरोध आएगा। यदि आत्मा की उत्पत्ति होने के बाद कर्मबन्धन माने तो, वह भी घटित नही होता, क्योकि प्रथम उत्पन्न हुआ आत्मा शुद्ध होने से उसमें (शुद्ध आत्मा मे) बन्ध का कोई कारण न होने से बन्ध हो नही सकता, इससे भी मोक्ष का अभाव सिद्ध होता है। तथा एकसाथ भी आत्मा मे कर्मबन्ध सभव नही है। क्योकि यदि आत्मा और कर्म एकसाथ ही पैदा हो तो उनमे कर्ता कौन है ? और बन्ध किसका होगा ? एकसाथ उत्पन्न होने से दोनो में बन्धन और बन्धनीयभाव घटित नही होता। अत जब आत्मा के साथ बध ही घटित नही होता, तब फिर उस अबद्ध आत्मा का मोक्ष कैसा ? अत. अबद्ध आत्मा के मोक्ष का अभाव है। इन सब कारणो को ले कर आत्मा के साथ कर्मसम्बन्ध की अव्यवस्था अनुत्पत्ति है, इसलिए मोक्ष कोई वस्तु है ही नही।

अनादिर्यदि सम्बन्ध इष्यते जीवकर्मणो'।
तदानन्त्यान्न मोक्ष स्यात्तदात्माकाशयोगवत् ॥६४॥

यदि आप जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादि कहेगे तो आत्मा और आकाश के सम्बन्ध की तरह जीव और कर्म का सम्बन्ध भी अनन्त हो जाएगा और उससे मोक्ष सिद्ध नही होगा।

यदि आप यों कहेंगे कि जीव (शुद्ध चैतन्य) और कर्म (जीव द्वारा कृत ज्ञानावरणीय आदि कर्म) का सम्बन्ध (परस्पर मिलन) अनादि (बन्धप्रवाह की प्रथमता कदापि की नहीं गई) है, तो जिस प्रकार आत्मा और आकाश का सम्बन्ध अनादि होने से अनन्त भी है, उसी प्रकार आत्मा और कर्म का संयोग अनादि होने से अनन्त (अनन्तरहित) हो जायगा और ऐसा होने पर मोक्ष (कर्म का अन्त अभाव) कभी नहीं होगा। जैसे आत्मा और आकाश का सम्बन्ध सर्वदा रहता है, वैसे ही जीवकर्म-सम्बन्ध भी अनादि होने से सर्वदा रहेगा। ऐसी स्थिति में जीव की कभी मुक्ति होगी ही नहीं। इसलिए भी मोक्ष की सिद्धि नहीं होती।

तदेतदत्यसम्बद्धं यन्मिथो हेतुकार्ययोः ।
सन्तानानादिता बीजांकुरवद् देहकर्मणोः ॥६५॥

किन्तु यह (अमोक्षवादियों का) मत अत्यन्त असगत है। क्योंकि परस्पर कारण और कार्यरूप देह और कर्म का बीज और अकुर की तरह परस्पर प्रवाहरूप (परम्परा) से परस्पर अनादित्व है।

भविष्य में बताए जाने वाले कारणों से अमोक्षवादियों का पूर्वोक्त मत अत्यन्त असम्बद्ध=असगत (अनुचित) है, क्योंकि परस्पर कारण-कार्यरूप से (शरीर कर्म का कार्य है, और कर्म शरीर का कारण है, इस प्रकार से) देह और कर्म का बीज (अन्नकण) और अकुर (नवीन उत्पत्ति) की तरह (प्रवाह=सन्तानरूप से) अनादि सम्बन्ध है। पर यह आत्मा और आकाश की तरह नहीं है, क्योंकि आत्मा और आकाश का सयोग तो ससार और मोक्ष में सर्वत्र है। भावार्थ यह है कि जैसे बीज में निहित अकुर को उत्पन्न करने की शक्ति दूसरे बीज के प्रवाह की अपेक्षा से अनादि है, तो भी बीज को चिरकाल बीत जाने के बाद अथवा अग्नि वगैरह के स्पर्श से उसकी शक्ति खत्म हो जाती है, इस कारण वह बीज फिर अकुरोत्पत्ति नहीं कर सकता, इसी प्रकार अपर-अपर कालक्रम में जीवकर्म के कृत सम्बन्ध-प्रवाह की अपेक्षा से अनादि होते हुए भी तप, ध्यान वगैरह से शक्तिरहित हो कर एक दिन जब

कर्म भवांकुरोत्पत्ति के अयोग्य हो जाता है तो जीव उससे मुक्त हो जाता है।

कर्ता कर्मान्वितो देहे जीव कर्मणि देहयुक्।
क्रियाफलोपभुक् कुम्भे दण्डान्वितकुलालवत् ॥६६॥

कर्ता जीव कर्म से युक्त हो कर ही शरीर मे स्थिर होकर कर्ता होता है, और देह से युक्त होकर ही वह कर्म से का कर्ता है। जैसे डडे से युक्त कुंभार घट का कर्ता होता है वैसे ही देह और कर्म से युक्त जीव क्रिया के फल का भोक्ता होता है।

जीव (आत्मा) अनादि-परम्परा से पूर्वकृत कर्मो से युक्त होकर ही देह (शरीर) को उत्पन्न करने मे कर्ता होता है तथा देह से (अनादि प्रवाह से अन्यान्य कार्मणादिक शरीर से) युक्त हो कर ही कर्म का सयोग उत्पन्न करने मे कर्ता होता है। तथा देह और कर्म से युक्त बना हुआ आत्मा शुभाशुभ कर्मफल (क्रियाफल) स्वरूप सुख-दुःख का भोक्ता है। जैसे दण्ड, चक्र, चीवर वगैरह से युक्त कुँभार घट का कर्ता और भोक्ता होता है। वैसे जीव भी देह और कर्म से युक्त हो कर क्रिया के फल का भोक्ता है। इस कारण अमोक्षवादी द्वारा दिये गये आक्षेप को अवकाश ही कहाँ रहता है? सर्व-क्षेत्र-कालादि मे ससारी जीव कर्म-सहित होने से कर्म का सम्बन्ध अनादि ही है।

अनादिसन्ततेर्नाश स्याद् बीजांकुरयोरिव।
कुक्कुट्यण्डकयो स्वर्णमलयोरिव वानयो ॥६७॥

बीज और अकुर की तरह, मुर्गी और अडे की तरह तथा सोने और उसके मैल की तरह जीव और कर्म की इस अनादि सन्तति (परम्परागत सम्बन्ध) का नाश हो जाता है।

अमोक्षवादियो का यह आक्षेप यथार्थ नही है कि जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादि होने से कर्मो का कभी अन्त नही होगा, और जीव की कभी मुक्ति नही होगी, क्योकि बीज (अन्नकण) और अकुर (उस बीज मे उत्पन्न होने लायक नवांकुर) इन दोनो का प्रवाहरूप मे अनादि-सम्बन्ध होते हुए भी पूर्वोक्त युक्ति के अनुसार नष्ट हो जाता

है, इसी प्रकार जीव और कर्म का सम्बन्ध प्रवाहरूप से अनादि होते हुए भी नष्ट हो जाता है, और कर्मों का सर्वथा क्षय होने पर आत्मा की मुक्ति हो ही जाती है। मुर्गी और उससे उत्पन्न होने वाले अंडे का सम्बन्ध अनादि होते हुए भी प्रयोग से नष्ट हो जाता है। वैसे ही जीव और कर्म की अनादिपरम्परा का प्रवाह की अपेक्षा वाला सम्बन्ध भी तप, संयम वगैरह से नष्ट हो जाता है और तब आत्मा का मोक्ष हो जाता है।

भव्येषु च व्यवस्थेयं सम्बन्धो जीवकर्मणोः।
अनाद्यनन्तोऽभव्यानां स्यादात्माकाशयोगवत् ॥६८॥

यह व्यवस्था भव्यजीवों के सम्बन्ध में जाननी चाहिए। अभव्य-जीवों के आश्रित तो जीव और कर्म का सम्बन्ध आत्मा और आकाश के संयोग की तरह अनादि-अनन्त है।

पूर्वोक्त बन्ध-मोक्ष-व्यवस्था (वस्तु-स्वरूप को स्थापित करने की मर्यादा) भव्यजीवों (जिनमें मोक्ष जाने की योग्यता वाला पारिणामिक भाव अनादिकाल से है, उन जीवों) के सम्बन्ध में बीज-अंकुर आदि के न्याय से जाननी चाहिए। अभव्य (भव्य के लक्षण से विपरीत) जीवों के सम्बन्ध में तो जीव-कर्म-सम्बन्ध आत्मा और आकाश के संयोग की तरह (अर्थात् जैसे आत्मा इस भव में और मोक्ष में सर्वत्र आकाश के साथ निरन्तर अवगाहना को ले कर सम्बद्ध है, वैसे अनादि-अनन्त (आदि-अन्तरहित) है।

द्रव्यभावे समानेऽपि जीवाजीवत्वभेदवत्।
जीवभावे समानेऽपि भव्याभव्यत्वयोर्भिदा ॥६९॥

जैसे द्रव्यत्व सब द्रव्यों में एक समान है, फिर भी उनमें जीवत्व और अजीवत्व का भेद है, वैसे ही जीवत्व भव्य और अभव्य सब जीवों में समान होते हुए भी भव्यत्व और अभव्यत्व का भेद होता है।

जैसे जगत् के समस्त द्रव्यों में द्रव्यत्व एक समान होने पर भी जीवद्रव्य और अजीवद्रव्य में जीवत्व और अजीवत्व का भेद होता है; (यानी जीवत्व तो सिर्फ चेतनरूप द्रव्य में रहा हुआ है, और अजीवत्व

धर्म, अधर्म आकाश, काल और पुद्गल इन पाँच द्रव्यो मे रहा हुआ है, वैसे ही सर्वजीवो मे जीवत्व समानरूप से रहा हुआ है, फिर भी उसमे भव्य और अभव्य आदि भेद रहे हुए हैं, इस कारण जीव के भव्य और अभव्य दो भेद होते है। भव्यजीवो मे मोक्षगमन की योग्यता होती है और अभव्यजीवो मे मोक्षगमन की अयोग्यता होती है, इस प्रकार जीवो के मोक्षगमनागमन की अपेक्षा से दो भेद होते है।

स्वाभाविकं च भव्यत्व कलशप्रागभाववत् ।
नाशकारणसाम्राज्याद् विनश्यन्न विरुध्यते ॥७०॥

घट के प्रागभाव की तरह स्वाभाविक भव्यत्व के नाश की कारण-सामग्री को ले कर नाश होने से भी कोई विरोध नही आता।

घट का प्रागभाव यानी घडे की उत्पत्ति से पहले घड़े का अभाव होने से घटाकार मे अविद्यमान मिट्टीरूप द्रव्य स्वाभाविक है, फिर भी अपने (मिट्टीरूप द्रव्य के) नाश की कारणरूप सामग्री के सामर्थ्य से घट के उत्पादक कुँभार वगैरह की प्राप्ति होने से घटरूप कार्य को उत्पन्न करके घट का प्रागभाव (मिट्टी का आकार) नष्ट हो जाता है, फिर भी उसमे कोई विरोध नही आता। इसी प्रकार स्वाभाविक (सहज = आत्मा के पारिणामिकवाद से) उत्पन्न हुआ भव्यत्व (मुक्ति मे जाने की योग्यता) भी नाश के कारण के साम्राज्य होने पर (अपने अदर्शनत्व = लोप के लिए, कारण के = कार्योत्पादक साधन के साम्राज्य = परब्रह्म की प्राप्ति तथा सम्यक्त्व की प्राप्ति वगैरह सामर्थ्य वाले कारण की पूर्णता होने पर) नष्ट हो जाता है, फिर भी उसमे विरोध = दोष नही आता। क्योंकि कारण का कारणत्व पूर्ण हो गया, इसी लिए उसने कार्य को उत्पन्न किया, कार्य हो चुका, इसलिए बाद मे कारण की कोई आवश्यकता नही रहती। तात्पर्य यह है कि सहज स्वाभाविक आत्मभाव से उत्पन्न हुए भव्यत्व (मोक्षगमनयोग्यता) वाले जीव अनादि सतति के नाशरूप कारण के सामर्थ्य से परम (मोक्ष) पद प्राप्त करते है, इसमे कोई अनिष्टापत्ति नही आती।

भव्योच्छेदो न चैवं स्याद् गुर्वानन्त्यान्नभोशवत् ।
प्रतिमादलवत् क्वापि फलाभावेऽपि योग्यता ॥७१॥

आकाश के प्रदेशों की तरह भव्यजीव महा-अनन्त होने से उन भव्यों का सर्वथा नाश नहीं होगा। अन्य किसी वावत में कदाचित् फल का अभाव हो, लेकिन प्रतिमा (वनने योग्य पाषाण) दल की तरह भव्यमें मोक्ष की योग्यता तो होती ही है।

सभी भव्यजीवों में मोक्ष की योग्यता होती ही है। और वे देर-सवेर मोक्ष में जायेंगे ही। यहाँ शंका होती है कि जव सभी भव्यजीव मोक्ष में चले जाएँगे, फिर तो कोई भव्य वाकी रहेंगे नहीं, तो फिर क्या मोक्ष का अभाव, नहीं हो जाएगा? यदि कहें कि कितने ही भव्य जीव मोक्ष में जाएँगे ही नहीं, तो फिर उनका भव्यत्व निष्फल जाएगा। इसी के समाधान हेतु कहते हैं ऐसी वात नहीं है। जैसे आकाश प्रदेश अनन्त (जिसका कोई अन्त नहीं) है, इसी प्रकार मोक्ष में जाने की योग्यता वाले जीव भी गुरु (उत्कृष्ट) आठवाँ अनन्त हैं। जिनकी संख्या पल्य और सागर वगैरह के उपमान से भी हो नहीं सकती। ऐसा गुरु अनन्तत्व भव्यों में होने से किसी भी काल में यह संसार भव्यजीवों से शून्य नहीं हो सकता। जैसे आकाश के अंश (जिनका विभाग टुकडा न हो सके ऐसे प्रदेश भाग) अनन्त हैं। उनका कभी किनारा या सिरा नहीं आ सकता, इसी प्रकार अर्थात् आकाश के पर्यन्त भाग के अभाव की तरह भव्यजीवों के पर्यन्त (अन्त) का अभाव समझ लेना चाहिए। क्योंकि आठवाँ अनन्त आकाश अंश एवं सर्वकाल के की संख्या से भी अनन्तगुना वडा है। जैसे सर्व आकाश के अंशों और सर्वकाल के समयों की संख्या आठवाँ अनन्त के अन्तर्गत होने से पर्यन्त रहित है, इसी प्रकार भव्यजीव भी आठवें अनन्त से गणनीय होने से उच्छेद (अभाव) के योग्य नहीं हैं। केवली भगवान् को जव भी पूछा जाएगा कि 'अव तक कितने जीव मोक्ष में गए हैं?' उनका एक ही उत्तर होगा "जितने भव्यजीव हैं, उनमें से अनन्तवाँ भाग ही अव तक मोक्ष में गए हैं।" और भव्यजीवों के समान जातिभव्य अर्थात् जाति-मात्र से भव्य कहलाते हैं, फिर भी वे कदापि मोक्ष में नहीं जाते। जैसे स्वयम्भूरमण समुद्र के अगाध तल में रहे हुए पाषाण में प्रतिमाकार वनने की योग्यता है, वेशक वह प्रतिमा वन सकता है, फिर भी संयोग या सामग्री के अभाव में वह प्रतिमारूप नहीं वन पाता, लेकिन इससे

उसकी प्रतिमा बनने की योग्यता नष्ट नही हो जाती, इसी प्रकार जातिभव्य मोक्षसाधनारूप रत्नत्रय प्राप्त कर सकता है, परन्तु सामग्री आदि के अभाव मे वह मोक्ष नही जा पाता। फिर भी मोक्ष जाने (संसार-निवृत्ति करने)की शक्तिरूप योग्यता तो उसमे सत्तारूप मे रहती ही है। जैसे नन्दनवन के किसी चन्दन मे काष्ठप्रतिमा होने की योग्यता होने पर भी सामग्री के अभाव मे उसकी प्रतिमा नही हो पाती। इससे उसकी योग्यता नही चली जाती, इसी प्रकार किन्ही जातिभव्यो को सामग्री के अभाव मे मोक्ष प्राप्त नही हो पाता। किन्तु मोक्ष जाने की योग्यता तो सत्ता में मौजूद रहती ही है।

नैतद् वयं वदामो यद् भव्य. सर्वोऽपि सिध्यति।
यस्तु सिध्यति सोऽवश्यं भव्य एवेति नो मतम् ॥७२॥

हम यह नही कहते कि जितने भी भव्यजीव हैं, वे सब के सब मोक्ष मे (सिद्ध हो) जाते है, परन्तु इतना हम दावे के साथ कह सकते हैं कि जो मोक्ष मे गए है, वे सभी अवश्य ही मोक्ष की योग्यता वाले भव्य जीव ही थे।

जैनदर्शन और अनेकान्तवाद के अनुगामी हम यो नही कहते कि मोक्ष पाने योग्य जितने भी जीव (भव्य) है, वे सभी मोक्ष मे जाएँगे, सिद्ध होगे ही, परन्तु इतना हम अवश्य कह सकते है कि जितने भी जीव सिद्धपद (मोक्ष) को प्राप्त कर चुके है, मोक्ष जा रहे हैं, या मोक्ष जाएँगे, वे निश्चय ही अभव्य को छोड कर भव्यजीव ही गये है, जा रहे है या जाएँगे।

ननु मोक्षेऽपि जन्यत्वाद् विनाशिनी भवस्थिति।
नैव प्रध्वंसवत्तस्यानिधनत्वव्यवस्थिते ॥७३॥

प्रश्न होता है विनाशस्वभाव वाला आत्मा मोक्ष मे जन्म लेता है, उत्पन्न होता है, इसलिए मोक्ष से फिर भव (ससार) मे स्थिति (उत्पत्ति) होनी चाहिए। इस पर सिद्धान्ती उत्तर देते हैं, ऐसा नही होता। प्रध्वस की तरह मोक्ष की व्यवस्था अविनाशिनी है, उसका नाश नही होता।

अन्यदर्शनी पूछते हैं— आपके दर्शन में मोक्ष में भी उत्पत्ति होती है, इसलिए मोक्ष उत्पत्ति होने योग्य (जन्य) है, पर यह स्वाभाविक नही है। ऐसा होने से मोक्ष (सिद्ध) पद प्राप्त होने के बाद भी विनाश-स्वभावी आत्मा का फिर संसार मे निवास (स्थिति) प्राप्त होगा, क्योकि मोक्ष जन्य (जन्म लेने योग्य) है। जो-जो जन्य होता है, वह अवश्य उत्पत्तिमान होता है, जो उत्पत्तिधर्म वाला होता है, वह अवश्य ही घटादि की तरह नाशवान् होता है। अत. आत्मा की पुन ससारस्थिति सिद्ध होती है।" इसका समाधान सिद्धाती देते हैं आप कहते हैं, ऐसी बात नही है। क्योकि मोक्ष की अविनाशिनी व्यवस्था है। इसलिए जिसका नाश ही नही, ऐसे अनिधनत्व की मर्यादा है। तथा मोक्ष में आयुष्य का तो अभाव है। जैसे लकडी वगैरह द्वारा घटादि का प्रध्वस (नाश) हो जाता है, वह जन्य है, तथापि वह सर्वथा ध्वसरूप मे ही रहता है, पुन· घटरूप मे पैदा नही होता, वैसे ही सिद्धपद के लिए समझना चाहिए। अर्थात् कर्म का सर्वथा नाश (प्रध्वस) होने पर मुक्तात्मा पुन ससारी नही बनता।

आकाशस्येव वैविक्त्या मुद्गरादेर्घटक्षये।
ज्ञानादे कर्मणो नाशे नात्मनो जायतेऽधिकम् ॥७४॥

मुद्गर आदि से घड़े के फूट जाने पर पृथक्ता हो जाने से जैसे आकाश बढता नही है, वैसे ही ज्ञानादि द्वारा कर्म का नाश होने से भी आत्मा की वृद्धि नही होती।

मुद्गर, घन या डडे से घड़े को फोड देने पर भी घड़े के अलग-अलग टुकडे हो जाने पर भी आकाश के आवरण का अभाव होने से केवल आकाश की ही विशदता होती है, परन्तु फूटे व बिखरे हुए घडे के आवरण के अभाव के कारण हानि या वृद्धि नही होती, इसी प्रकार ज्ञान, ध्यान वगैरह का सेवन करने से ज्ञानावरणीयादि कर्मों का नाश हो जाने पर केवल निरावरणरूप (भिन्नरूप) मे आत्मा रहता है, परन्तु वह आत्मा अधिकत्व अर्थात् सर्वव्यापकत्व की दृष्टि से विशाल नही होता।

न च कर्माणुसम्बन्धान्मुक्तस्यापि न मुक्तता।
योगानां बन्धहेतूनामपुनर्भवसम्भवात् ॥७५॥

कर्म-परमाणुओ के साथ सम्बन्ध होने से सिद्धि प्राप्त हुए मुक्तात्मा को भी मुक्ति नही होती, ऐसी शका करना उचित नही, क्योंकि बन्ध के हेतुरूप योगों की पुन उत्पत्ति असंभव है।

"कर्मपुद्गल तो चौदहरज्जूप्रमाण लोक मे ठूंस-ठूंस कर भरे हैं; और मुक्त भी लोक के अन्तिम सिरे (अग्रभाग) में रहते हैं, अतः अनः मुक्तात्माओ के साथ भी वहाँ कर्मों के लगे रहने से या सम्बन्ध होने से वे भी कर्म से मुक्त नही हो सकते, ऐसी शंका करना उचित नही, क्योकि कर्मबन्धन के मुख्य हेतु रागादिभाव और योग (मन-वचन-काया का व्यापार) है। मुक्तात्मा मे इनमें से एक भी सम्भव नहीं है, तो फिर उनमे कर्मबन्धन या उनकी आत्मा के साथ सम्बन्ध की गुंजाइश ही कहाँ है? अत मुक्तात्मा को पुन संसारप्राप्ति नही होती।

सुखस्य तारतम्येन प्रकर्षस्याऽपि सम्भवात्।
अनन्तसुखसंवित्तिर्मोक्ष सिध्यति निर्भय ॥७६॥

सुख की तरतमता (न्यूनाधिकता) होने से उत्कृष्ट सुख की भी सम्भावना है। इसलिए जिसमे अनन्तसुख का ज्ञान होता है, वही निर्भय मोक्ष है, ऐसा सिद्ध होता है।

जगत् के सुखी जीवो में सुख का तारतम्य (न्यूनाधिक्य) दिखाई देता है। एक से दूसरा अधिक सुखी, दूसरे से तीसरा बढ़कर सुखी, इस प्रकार उत्तरोत्तर सुख का प्रकर्ष नजर आता है, तो कही पर सुख की पराकाष्ठा भी होनी चाहिए। जहाँ सुख की पराकाष्ठा हो, वही अनन्त-सुख का सवेदन होता है, वही भयरहित स्थान मोक्ष कहलाता है। अत मोक्षतत्त्व की सिद्धि होती है।

वचन नास्तिकाभानां मोक्षसत्तानिषेधकम्।
भ्रान्तानां तेन नादेय परमार्थगवेषिणा ॥७७॥

इसलिए मोक्ष के अस्तित्व का निषेध करने वाले, भ्रान्त एवं नास्तिकों के तुल्य लोगों के वचन का परमार्थान्वेषक पुरुष को जरा भी आदर नहीं करना चाहिए।

नास्तिक (चार्वाक) की तरह प्रतीत होने वाले भ्रान्त (विषयों को सुखरूप, मिथ्यात्व को धर्मरूप और अज्ञान को ज्ञानरूप मानने के भ्रम से युक्त), मोक्ष के अस्तित्व (विद्यमानता) का निषेध (निवारण) करने वाले असंगत वचन मोक्षरूप उत्कृष्ट पद का अन्वेषण करने (ढूढ़ने) वाले (यानी यथार्थरूप में न जाने हुए का यथार्थरूप से ज्ञान करने के लिए प्रयत्नशील) पुरुष के लिए ग्राह्य (उपादेय) नहीं है।

न मोक्षोपाय इत्याहु परे नास्तिकोपमा ।
कार्यमस्ति न हेतुश्चेत्येषा तेषां कदर्थना ॥७८॥

नास्तिकसदृश दूसरे कितने ही लोग कहते हैं कि **'मोक्ष का उपाय है ही नहीं'** वे कार्य को मानते हैं, लेकिन कारण को नहीं मानते; यही उनकी बड़ी विडम्बना है।

नास्तिक चार्वाक के समान कई नियतिवादी मोक्ष का उपाय यानी मोक्षप्राप्ति का साधन मानने से ही इन्कार करते हैं। वे कहते है मोक्ष सिर्फ नियति (होनहार) से ही साध्य है। जब जिसको मोक्ष प्राप्त होने का प्रारब्ध (नियति) होगा, तभी होगा। अन्यथा सैकडो उपायो से भी मोक्ष नहीं होगा। इस प्रकार उनके मत मे कार्य (मोक्षरूपी साध्यवस्तु) तो है, परन्तु उसका कारण (हेतु साधन) नहीं है। अत. इस उपाय को न मानने वाले उन-लोगो की मोहमयी विडम्बना ही समझना चाहिए।

अकस्मादेव भवतीत्यलीक नियतावधे ।
कादाचित्कस्य दृष्टत्वाद् बभाषे तार्किकोऽप्यद ॥७९॥

मोक्षप्राप्ति की अवधि नियत होने से अकस्मात् ही मोक्ष मिल जाता है। उनका यह कथन भी मिथ्या है। क्योंकि अवधि की नियतता कदाचित् (शायद ही कभी) दिखाई देती है। इस बात को नैयायिक भी निम्नोक्त रूप से कहते है।

बिना ही किसी प्रकार का विचार किए अनायास ही अचानक निश्चित समय (मोक्ष होने में नियत काल की मर्यादा) पूर्ण होते ही मोक्ष प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार का उनका कथन असत्य है। इस प्रकार तो कभी-कभी देखने में आता है। अर्थात् चिरकाल के बाद किसी विरले ही व्यक्ति को मोक्ष होता देखा गया है। जैसे मरुदेवी माता, भरत चक्रवर्ती आदि किसी भाग्यशाली को ही इस प्रकार का मोक्ष मिलता है। सदा के लिए तो उपाय के बिना मोक्षप्राप्ति नहीं होती। इस विषय मे तार्किक (नैयायिक) भी निम्नलिखित रूप से कहते हैं।

हेतुभूतनिषेधो न स्वानुपाख्याविधिर्न च।
स्वभाववर्णना नैवमवधेर्नियतत्वतः ॥८०॥

मोक्षावधि नियत है, इस कारण हेतुरूप सामग्री का निषेध नहीं है तथा आत्मा के निषेध का विधान नहीं है। ऐसा होने से स्वभाव की वर्णना उत्पन्न नहीं होती।

अवधि (काल के नियम) का निश्चय होने से हेतु (उत्पत्ति के कारणरूप -कुम्भार, चक्र वगैरह घट की उत्पत्ति के साधनभूत सामग्री का निषेध (निवारण) नहीं हो सकता, क्योंकि आत्मा के निषेध की विधि--'मैं नही हूँ', इस प्रकार का विधान है नही। और वैसा होने पर स्वभाव की वर्णना वस्तुस्वरूप की वर्णना उत्पन्न नहीं होती, अतः साधनरूप सामग्री का निषेध करना उचित नही। तात्पर्य यह है कि मोक्ष की प्राप्ति अकस्मात् हो जाती है, इसका यह मतलब नही है कि मोक्ष के उपायभूत (हेतुरूप) सामग्री का निषेध है। 'जैसे मिट्टी के पिंड से घडा बनाने में कुंभार, दण्ड, चक्र आदि सामग्री उत्पत्ति मे साधक भूत (उपाय) है, वैसे ही मोक्ष की प्राप्ति में तप, सयम आदि उपाय साधनभूत है। इस प्रकार अवधि की नियतता के साथ हेतुभूत उपाय की सामग्री का निषेध नही हो सकता।

न च सार्वत्रिको मोक्ष. संसारस्यापि दर्शनात्।
न चेदानीं न तद्व्यक्तिर्व्यञ्जको हेतुरेव यत् ॥८१॥

संसार दृष्टिगोचर होता है, इसलिए सर्वत्र मोक्ष नही होता। तथा वर्तमान मे उस मोक्ष की स्पष्टता (अभिव्यक्ति) नही होती, ऐसा भी नही कहना चाहिए। क्योंकि मोक्ष को प्रकट करने वाला हेतु साधन तो है ही।

सर्व-क्षेत्रकाल में मोक्ष नही होता। यदि कदाचित् अनायास (उपाय के बिना) ही मोक्ष हो जाता हो तो वह सर्वत्र, सर्वदा और सबका होना चाहिए, परन्तु वैसा नही होता, क्योकि ससार मे जीव जन्ममरण करते हुए दिखाई देते है, जो मोक्ष के उपाय का सेवन नही करते। इसलिए यह निश्चित है कि उपाय के बिना मोक्ष साध्य नही होता। उपाय को अगीकार न करने वाले बहुत-से जीव ससार मे दृष्टिगोचर होते है। उक्त मोक्ष वर्तमान मे प्रकट (स्पष्टतया अभिव्यक्त) नही है, ऐसा भी नही कहना चाहिए, क्योकि मोक्ष का साधन ही उसका व्यजक नियत मोक्ष का प्रकाशक है। इसलिए यह सिद्ध होता है कि मोक्ष समग्र सामग्री के अधीन है।

मोक्षोपायोऽस्तु किन्त्वस्य निश्चयो नेति चेन्मतम् ।
तन्न रत्नत्रयस्यैव तथाभावविनिश्चयात् ॥८२॥

मोक्ष का उपाय भले ही हो, किन्तु उपाय का स्पष्टरूप से (अमुक) निश्चय नही है, यदि आपका ऐसा मत है तो वह यथार्थ नही है, क्योकि रत्नत्रय ही मोक्षोपाय के रूप मे निश्चित है।

प्रतिपक्षी का आक्षेप है कि आपके दर्शन मे मोक्ष के अनिश्चित नाम वाले अलग-अलग उपाय बताए गए हैं, उन उपायो मे से किसी की किसी उपाय से मुक्ति हो जायगी, किसी की दूसरे किसी से, किन्तु अमुक उपाय ही मोक्ष का साधक है, ऐसा निश्चितरूप से नही बताया गया है। इसलिए मोक्ष का उपाय आपके मतानुसार नियत नही है। इसका समाधान करते हुए जैनसिद्धान्ती कहते है यह कहना गलत है, क्योकि दूसरे उटपटाँग उपायो का त्याग करके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र ये तीन रत्न (तीनो पृथक्-पृथक् नही, इकट्ठे) ही मोक्ष के अव्यभिचारी साधन उपाय के रूप मे हमारे मत मे निश्चित

है। रत्नत्रय की आराधना ही मोक्षप्राप्ति का निश्चित उपाय है। अत उस उपाय को ही अपनाना चाहिए।

भवकारणरागादि प्रतिपक्षमद खलु।
तद्विपक्षस्य मोक्षस्य कारणं घटतेतराम् ॥८३॥

यह रत्नत्रय (मोक्षोपायभूत) ही ससार के कारण (हेतु) रूप राग-द्वेषादि के प्रतिपक्षी शत्रुरूप है। अत वे त्रिरत्न उस ससाररूप कार्य के विपक्षी शत्रुरूप मोक्ष के कारण है, घूम-फिर कर यही वात युक्ति-संगत लगती है।

यह वात हम जैसो की बुद्धि मे प्रत्यक्ष ठस जाती है और सवके अनुभव से भी सिद्ध है कि ससार के मूल कारण राग (मोह, लालसा, तृष्णा, लोभ, अभिलाषा, ममता आदि) और द्वेप (घृणा, वैर, ईर्ष्या, विरोध, अपमान आदि) वगैरह है। उनके प्रतिपक्षी=विरोधी हैं सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय। और वे ही त्रिरत्न उस संसार-रूप कार्य के विरोधीरूप मोक्ष के युक्तिसगत कारण (साधन=उपाय) जचते है। क्योकि रत्नत्रय का स्वभाव ही ऐसा है। इस रत्नत्रय के सिवाय जगत् मे और कोई मोक्षोपाय नही है।

अथ रत्नत्रयप्राप्ते प्राक्कर्मलघुता यथा।
परतोऽपि तथैव स्यादिति किं तदपेक्षया ॥८४॥

जैसे रत्नत्रय की प्राप्ति से पहले भी कर्मो का लाघव (हलकापन) किसी भी अन्य साधन से हो जाता है, इसके अनुसार मोक्ष का भी अन्य कोई साधन (उपाय) हो सकता है। अत रत्नत्रय की ही अपेक्षा इसके लिए क्यो रखी जाय?

वादी की शका है कि मोक्ष के लिए रत्नत्रय को ही साधन (कारण) क्यो माना जाय? क्योकि रत्नत्रय की प्राप्ति के पहले भी मार्गानुसारी, मानवता, नैतिकता, आदि रत्नत्रय के अतिरिक्त पूर्वसेवादि कारणो से भी जीव के कर्म क्षीण (हलके) हो सकते है, कर्मो की अल्पता हो सकती है। चूकि रत्नत्रय की प्राप्ति भी कर्मो की अल्पता के बिना

नही होती, ऐसी दशा मे यदि पूर्वसेवादि कारणो से कर्मो की अधिकाधिक लघुता करते-करते एक दिन कर्मो का सर्वथा नाश हो जायगा, तब फिर रत्नत्रय की आवश्यकता ही क्या रह जायगी ?

नैवं पूर्वसेवैव मृद्वी नो साधनक्रिया ।
सम्यक्त्वादिक्रिया तस्माद् दृढ़ैव शिवसाधने ॥८५॥

पूर्वसेवा (आदि) ही मोक्ष का साधन नही हो सकती है, क्योकि वह कोमल है। इसलिए वह मोक्षसाधन की क्रिया नही हो सकती। मोक्षसाधन के लिए तो सुदृढ सम्यक्त्वादि क्रिया ही समर्थ व उचित है।

पूर्वश्लोक मे प्रस्तुत शका का समाधान करते हैं कि आपके कहे अनुसार रत्नत्रय की प्राप्ति से पहले रत्नत्रय की प्राप्ति मे हेतुरूप प्रथम सेवा अर्थात् मार्गानुसारी गुण तथा अन्य मानवता, नीति आदि गुणों को प्राप्त करने की क्रिया है वह मोक्ष की साधक नही हो सकती, क्योंकि वह कोमल होने से सकल कर्मो के उन्मूलन करने मे असमर्थ है। वह पूर्वसेवा स्थूललक्ष्ययुक्त है। इस कारण वह उन-उन दोषो को कुछ मन्द करके (कर्मों को भी कुछ हलके करके) सम्यक्त्वादि को प्राप्त कराने मे समर्थ हो सकती है, मगर प्रबल शत्रु की सेना के सम्मुख योद्धा की तरह प्रबल कर्मशत्रुओ (रागद्वेषादिरिपुओ) की सेना के समक्ष साधक-योद्धा की तरह समग्र कर्मसमूह का नाश करने मे समर्थ नही है। अत. पूर्वोक्त कारण से दृढ=अत्यन्त तीव्र सम्यक्त्वादि-क्रिया (सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रयरूप व्यापार) ही मोक्ष-साधन मे समर्थ है, उसी मे सूक्ष्मकर्मो का नाश करने की तीव्र शक्ति है।

गुणा प्रादुर्भवन्त्युच्चैरथवा कर्मलाघवात् ।
तथाभव्यतया तेषां कुतोऽपेक्षानिवारणम् ॥८६॥

तथाभव्यत्व से अथवा कर्मो के लाघव (अल्पता) से अत्यन्त तीव्रता से गुण प्रगट होते हैं, अत· उसकी अपेक्षा को क्यो ठुकराते हो ?

शका जब तथाप्रकार की भव्यता यानी मोक्ष जाने की योग्यता होती है, उस समय कर्मो की लघुता (हलकापन) होती है और कर्म-

लघुता से सम्यक्त्वादि गुण प्रगट होते है तथा सम्यग्दर्शन आदि से मोक्ष प्राप्त होता है। ऐसी दशा में मोक्षसाधन मे तथाभव्यत्व कर्म-लाघव आदि को हेतुभूत मानने की अपेक्षा को क्यों ठुकरानी चाहिए ? उपेक्षा क्यों करनी चाहिए ?

तथाभव्यतयाक्षेपाद् गुणा न च न हेतवः ।
अन्योऽन्यसहकारित्वाद् दण्डचक्रभ्रमादिवत् ॥८७॥

सिद्धान्तियो द्वारा समाधान तथाभव्यता के आक्षेप से वीर्योत्साहादि गुण मोक्ष के हेतु नहीं है, ऐसा हमारा विचार (मत) नहीं है। परन्तु घट के बनने मे डंडा, चाक, डोरी और भ्रमण वगैरह जैसे अन्योन्यसहकारी कारण है, वैसे ही मोक्षसाधना मे तथाभव्यत्व आदि एक दूसरे के सहकारी कारण है।

भावार्थ यह है कि यदि अकेली तथाभव्यता को ही मोक्ष के हेतुरूप में स्वीकार कर लें तो सभी भव्यजीवो को एक साथ धर्मादि की प्राप्ति और उसी समय मोक्षप्राप्ति हो जाएगी, यानी सभी भव्य एक ही साथ मोक्ष मे चले जाएंगे, परन्तु ऐसा होना असम्भव है, इसलिए अन्य साधनों की भी अपेक्षा होनी चाहिए। अत जैसे डंडा, चाक और उसे घुमाने आदि के परस्पर सहकार से घटकार्य होता है, वैसे ही मोक्षसाधनरूप कार्य मे तथाभव्यत्व का परिपाक, कर्म की लघुता, उत्साह, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रादि तमाम परस्पर सहायक हैं, एक-दूसरे का सहयोग होने से मोक्षसाधनरूप कार्य बनता है। इसलिए अन्य साधनों की हम उपेक्षा नही कर रहे हैं, वे परस्पर सहकारी कारणो के रूप मे अपेक्षित है ही। लेकिन सम्यग्दर्शन आदि (रत्नत्रय) की तरह वे मोक्षप्राप्ति के असाधारण कारण नहीं है। हां, तथाभव्यता आदि मोक्षसाधन के परस्परसहकारीकारण अवश्य माने जा सकते हैं।

ज्ञानदर्शनचारित्राण्युपायास्तद्भवक्षये ।
एतन्निषेधकं वाक्यं त्याज्यं मिथ्यात्ववृद्धिकृत् ॥८८॥

इसलिए संसार का नाश करने के लिए ज्ञान, दर्शन और चारित्र उपाय हैं। अत. इसका निषेध करने वाला वाक्य मिथ्यात्ववर्द्धक होने से त्याज्य है।

पूर्वोक्त कारणों से संसार के क्षय के लिए अर्थात् ससारसागर से तरने के लिए रत्नत्रय नाम से प्रसिद्ध ज्ञान, दर्शन और चारित्र ही उपाय हैं। अत. मिथ्यात्व की यानी कुमति की वृद्धि करने वाला यह मोक्षोपाय का निषेधक वाक्य त्याज्य है। वह विश्वसनीय नही है।

मिथ्यात्वस्य पदान्येतान्युत्सृज्योत्तमधीधन ।
भावयेत् प्रातिलोम्येन सम्यक्त्वस्य पदानि षट् ॥८६॥

अत. उत्तम बुद्धि का धनी पुरुष मिथ्यात्व के इन स्थानो को छोड कर उनके विपरीत सम्यक्त्व के ६ पदो (स्थानो) पर विचार करे। इन भव्य भावनाओं से अपने को ओतप्रोत करे।

जिसके पास श्रेष्ठ बुद्धिरूपी धन है, उस भव्यात्मा को—आत्मा नही है, वह अनित्य है, कर्ता नही है, भोक्ता नही है, मोक्ष नही है और मोक्ष का उपाय नही है, इन ६ मिथ्यात्ववर्द्धक पदों (वाक्यो) को तिलाजलि दे कर इनके विपरीत (१) आत्मा है, (२) वह नित्य है, (३) वह कर्मो का कर्ता है, (४) कर्मो का भोक्ता है, (५) मोक्ष है और (६) मोक्ष के उपाय हैं, इन सम्यक्त्वोत्तेजक ६ पदो (वाक्यो या स्थानो) पर सदा चिन्तन, मनन एव उत्प्रेक्षण करना चाहिए।

॥ इति मिथ्यात्वत्यागाधिकार ॥

कदाग्रहत्याग:

मिथ्यात्वदावानलनीरवाहमसद्ग्रहत्यागमुदाहरन्ति ।
अतो रतिस्तत्र बुधैर्विधेया विशुद्धभावैः श्रुतसारवद्भि ॥१॥

असद्ग्रह (मिथ्या आग्रह) को मिथ्यात्वरूपी दावाग्नि के लिए मेघ के समान कहा है, इसलिए शुद्धाशयवाले शास्त्र के सारज्ञ पण्डितों को इस कदाग्रहत्याग करने मे रुचि रखनी चाहिए ।

कदाग्रह का अर्थ है—अविद्यमान अथवा विपरीत वस्तु के प्रति झूठा हठाग्रह। वह एक तरह से अन्यथाश्रद्धा-प्ररूपणा भी है, अत कदाग्रह का त्याग वास्तव मे मिथ्यात्वरूपी दावानल (जो समस्त गुण-गणरूपी उद्यान या वन को जलाने मे समर्थ है) के शमन करने के लिए महामेघ के समान कहा है । अत. विशुद्ध आत्मभावसाधक, शास्त्रों के सार के ज्ञाता साधको को असद्ग्रह को छोड़ने मे दिलचस्पी दिखानी चाहिए ।

असद्ग्रहाग्निज्वलित यदन्त क्व तत्र तत्त्वव्यवसायवल्ली ।
प्रशान्तिपुष्पाणि हितोपदेश-फलानि चान्यत्र गवेषयन्तु ॥२॥

जिनका चित्त असद्ग्रहरूपी आग से जला हुआ है, वहाँ तत्त्वनिश्चयरूपी वेल कहाँ ठहर सकती है ? अत. शान्तिरूपी फूलो एव हितोपदेशरूपी फलो की तलाश कही और जगह जा कर कीजिए ।

जिस प्राणी का चित्त या अन्तर पूर्वोक्त असद्ग्रहरूपी अग्नि से जला हुआ है, उसके अन्त करणरूपी उद्यान मे यथार्थस्वरूप वाले वस्तुतत्त्व का विविध प्रकार से निश्चय करने वाली लता—वाछितफल-दायिनी कल्पलता कहाँ से ठहर सकती है ? अर्थात् वह कहाँ से पैदा हो सकती है ? तथा विषय, कषाय एव इन्द्रियो को शमन-दमन करने वाले

प्रकृष्ट मनोवृत्तिरूप पुष्प कहाँ से खिलेंगे या कहाँ पैदा होंगे ? एवं स्वपरकल्याणकारी हितोपदेशरूपी (वस्तुधर्मप्रकाशक) फल भी (जो सद्‌गतिसुखदायक हों) कहाँ मिलेंगे ? अतः हे भव्यजीवो ! असद्‌ग्रहाग्नि से दग्ध स्थान से अन्यत्र कहीं जा कर ये सब चीजें ढूंढो, असद्‌ग्रहग्रस्त व्यक्ति में ये चीजें ढूंढने पर भी नहीं मिलेगी।

अधीत्य किञ्चिच्च निशम्य किञ्चिदसद्‌ग्रहाद् पण्डितमानिनो ये ।
मुखं सुखं चुम्बितमस्तु वाचो, लीलारहस्य तु न तैर्जगाहे ॥३॥

कुछ पढ कर, कुछ शास्त्रादि सुन कर जो कदाग्रहवश अपने को पण्डित मानते हो, उन्होंने चाहे सुखपूर्वक वाणी के मुख का चुम्बन कर लिया हो, परन्तु उन्होने वाणी के लीलारहस्य का अवगाहन नहीं किया, यही समझना चाहिए।

ग्रन्थ के किसी अंश को पढ़ लिया हो, किसी शास्त्र के अमुक शब्दार्थ को बिना मन से सुन लिया हो, इस पर से जो दुराग्रह के कारण अपने आपको पण्डित मान रहे हो, उन्होंने भले ही सुखपूर्वक (अनायास ही) वाणी के मुख (ग्रन्थ के एक भाग) का चुम्बन (अर्थात् मुख की लार का आस्वादन) कर लिया हो, परन्तु उस वाणी की लीला को रहस्य (वाणी के सार के परिणामस्वरूप रमणविलास यानी यथार्थवस्तुस्वरूप के ग्राहक ज्ञान के विनोद) को उन्होंने प्राप्त ही नहीं किया।

असद्‌ग्रहोत्सर्पदतुच्छदर्पैर्बोधांशतान्धीकृतमुग्धलोकैः ।
विडम्बिता हन्त जडैर्वितण्डापाण्डित्यकण्डूलतया त्रिलोकी ॥४॥

कदाग्रह के कारण जिनका अहंकार अत्यन्त उछल रहा है, तथा जिन्होंने बोध (ज्ञान) के एक अंश (लेश) से मुग्ध (भोले) लोगो को अंधे बना दिये है, अफसोस है, ऐसे जडपुरुषो ने वितण्डावाद करने मे पाण्डित्य की खुजली से तीनो जगत् के जीवो को विडम्बित (तिरस्कृत) कर रखा है।

अत्यन्त खेद है कि दुराग्रह (असद्देशना आदि की जिद्द) के कारण जिनका गर्व अत्यन्त बढ रहा है, तथा शाब्दिक (व्याकरण के) एव

तार्किक (न्यायशास्त्र के) ज्ञानरूप बोध के लेश से कुछेक आंशिक बोध दे कर, भोलेभाले (मुग्ध- तत्त्वज्ञान न जानने वाले) लोगो को अंधे बना दिये है। ऐसे जड़पुरुषो (यथार्थ स्वरूप को नही जानने वाले विवेकविकल लोगो) मे वितण्डा- स्वपक्ष का स्थापन करने हेतु पर-पक्ष (सम्यक्त्व-पक्ष) मे दूषण न होते हुए भी उसका निराकरण (खण्डन) करने (दबाने) के लिए शब्द और अर्थ के छल से परिपूर्ण वाद के प्रयोजन मे अपने पाण्डित्य (जिह्वा) की खुजली को ले कर तीनो लोक के जनसमूह को विडम्बित (तिरस्कृत) कर रखा है।

विधोर्विवेकस्य न यत्र दृष्टिस्तमो घन तत्त्वरविर्विलीन: ।
अशुक्लपक्षस्थितिरेष नूनमसद्ग्रह. कोऽपि कुहूविलास. ॥५॥

जिसको विवेकरूपी चन्द्रमा के दर्शन नही हुए, हृदय मे गाढ अंधकार छाया हुआ है, जिसके मस्तिष्क मे तत्त्वज्ञानरूपी सूर्य अस्त हो गया है, वहाँ कृष्णपक्ष की स्थिति वाली असद्ग्रहरूपी किसी (अलौकिक) अमावस्या का ही विलास है।

असद्ग्रही कदाग्रही को सद्-असद् के विवेकरूपी चन्द्रमा के दर्शन नही होते क्योकि उसके हृदय मे पाप और अज्ञानरूपी गाढ अंधेरा छाया होता है। उसका तत्त्वज्ञानरूपी सूर्य छिप जाता है, इन लक्षणो से तो सचमुच वहाँ कृष्णपक्ष की काली रात्रि की जैसी हालत है, मानो यह कभी न देखे गए, मिथ्याग्रहरूपी विलक्षण अमावस्या की रजनी का शृगार हो। अत. सम्यक्त्वी साधक को वहाँ नही रहना चाहिए। क्योकि वहाँ रहने पर सम्यक्त्वप्राप्ति नही होगी, रहा-सहा सम्यक्त्वदर्शन भी लुप्त हो जायगा।

कुतर्कदात्रेण लुनाति तत्त्ववल्ली रसात् सिञ्चति दोषवृक्षम् ।
क्षिपत्यध स्वादुफलं समाख्यमसद्ग्रहच्छन्नमतिर्मनुष्य ॥६॥

असद्ग्रह से जिसकी बुद्धि आच्छादित हो गई है, ऐसा मनुष्य कुतर्क-रूपी हसिये से तत्त्वरूपी बेल को काट देता है, दोषरूपी वृक्ष को रस से सीचता है, और समत्व नाम के मीठे स्वादिष्ट फलो को नीचे फैक देता है।

पूर्वोक्त मिथ्याग्रह से जिसकी बुद्धि पर पर्दा पड गया है, ऐसा व्यक्ति दुष्टतर्क (वितर्क द्वारा स्फुरित अंटसट बौद्धिक विकल्प) रूपी हसिये (दांते) से वस्तुतत्त्व (अनारोपित वस्तु के सद्भाव) रूपी कल्पलता का छेदन कर डालता है, दोप (मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय आदि व्यापार)—रूपी धतूरे आदि के वृक्ष के समान वृक्ष को रस (प्रेमरूपी जल) से सीचता है, यानी श्रद्धा प्रीतिरूपी जल पिला कर उसे बढाता है। तात्पर्य यह है कि दोपो का आचरण करने मे बडी दिलचस्पी रखता है। तथा समत्व (सर्वत्र तुल्यदृष्टिरूपी) मधुर फल (ज्ञान से प्राप्त करने लायक समता के परिणाम) को शुष्कवादादि करके नीचे फैक देता है ठुकरा देता है। कदाग्रहवश अपने को अधोगति मे डाल देता है, नीचे फैक कर मिट्टी मे मिला देता है।

असद्ग्रहग्रावमये हि चित्ते न क्वापि सद्भावरसप्रवेश ।
इहांकुरश्चित्तविशुद्धबोध. सिद्धान्तवाचा बत कोऽपराध ॥७॥

कदाग्रहरूपी पाषाणमय चित्त मे कभी सद्भावरूपी रस का प्रवेश नही हो पाता। ऐसे कठोर चित्त पर मनोविशुद्धियुक्त बोधरूपी अकुर कदापि नही पैदा होता, इसमे सिद्धान्त-वाणी का क्या दोष है?

हठाग्रही मनुष्य का मन पत्थर के समान इतना कठोर और ठोस होता है कि उसमे जिनागम के श्रवण, अध्ययन आदि के सद्भावरूपी जल को बूद भी नही घुस सकती। यानी उसके कठोर हृदय को कोई भी शास्त्रीय सद्भावना कोमल नही बना सकता। यही कारण है कि ऐसी कठोर हृदयभूमि पर शुद्धज्ञानरूपी अंकुर पैदा नही हो पाता। जिनवाणी का इतना श्रवण एव अभ्यास करने के बावजूद भी उसे पूर्वोक्त गुणो की प्राप्ति नही हो पाती, इसमें जिनागम की वाणी का क्या दोप है? यह तो उसी के हठाग्रह का ही दोप है।

व्रतानि चीर्णानि तपोऽपि तप्तं, कृता प्रयत्नेन च पिण्डशुद्धि ।
अभूत्फलं यत्तु न निह्नवानामसद्ग्रहस्यैव हि सोऽपराध. ॥८॥

व्रतो का पालन किया, तपश्चर्या भी की, प्रयत्नपूर्वक पिण्डविशुद्धि

(आहारशुद्धि) भी रखी, किन्तु निह्नवों को उनका फल नहीं मिला; वास्तव में इसमे उनके हठाग्रह का ही अपराध है।

जिन निह्नवों (वस्तुस्वरूप को छिपाने वालों) ने प्राणातिपात-विरमण आदि व्रतों का चिरकाल तक यत्नपूर्वक पालन किया, बाह्य और आभ्यन्तर तप भी किया, ४२ दोष वर्जित करके आहार की शुद्धि भी प्रयत्नपूर्वक रखी। इतना करने के बावजूद भी जामालि आदि उन निह्नवों (जिनवचन) सिद्धान्त के उत्थापकों को पूर्वोक्त क्रियाओं से यथोचित साध्य सुगतिरूपी फल नहीं मिला, इसमें वस्तुत. उन्हीं के कदाग्रह का ही अपराध दोष है। और किसी का दोष नही है।

स्थालं स्वबुद्धि. सुगुरोश्च दातुरुपस्थिता कांचन मोदकाली।
असद्ग्रह .कोऽपि गले गृहीता, तथापि मोक्तुं न ददाति दुष्टः ॥८॥

अपनी बुद्धिरूपी थाली है, और उसमे सुगुरुरूपी दाता से कोई अपूर्व मोदकराशि भी प्राप्त हुई है, तथापि कोई दुष्ट कदाग्रह इस प्रकार गला पकड़ लेता है कि उन्हे खाने नही देता।

साधक की अपनी बुद्धिरूपी थाली सोने का पात्र है, उसमे दाता सद्गुरु (गुणी गुरु) से किन्हीं अपूर्व, चित्त को प्रसन्न करने वाले मधुर-उपदेशरूपी मोदकों की राशि प्राप्त हुई है। मगर इतना उत्तम लाभ प्राप्त होने पर भी अचानक कोई विलक्षण दुष्ट (द्वेषी) दुराग्रह आ कर जबर्दस्ती गला पकड़ लेता है, जिससे वह भोले साधक को खाने नही देता। कदाग्रही यह जानता है कि यह अमृतभोजन है, फिर भी उसका आस्वादन नहीं कर सकता।

गुरुप्रसादीक्रियमाणमर्थं गृह्णाति नासद्ग्रहवांस्ततः किम् ?
द्राक्षा हि साक्षादुपनीयमाना क्रमेलक. कंटकभुङ् न भुङ्क्ते ॥१०॥

गुरु के द्वारा प्रसादरूप मे दिये हुए अर्थ को दुराग्रही मनुष्य ग्रहण नही करता, इसमें (गुरु का) क्या दोष ? कांटे चबा जाने वाले ऊँट के सामने अंगूरों का ढेर ला कर रख दिया जाय, फिर भी वह नही खाता तो इसमे दोष किसका है ?

गुरुदेव प्रसन्न हो कर उपदेश द्वारा प्रसादरूप मे यथार्थ वस्तुतत्व समझाते हैं, फिर भी कदाग्रही जीव उसे अंगीकार नही करता है तो इससे क्या हो गया! इसमें उपदेश का कोई दोप नहीं है। न इसमे आश्चर्य करने जैसी कोई वात है। वेर और वँवूल के काँटे को आनन्द से चवाते हुए ऊँट के सामने मीठी किशमिशे ला कर रख दी जाएँ, तो भी वह नही खाता, इसमे किशमिश का क्या दोष है? यह तो जातिस्वभाव का दोप है। इसी प्रकार कदाग्रही के सामने वढिया से वढ़िया आध्यात्मिक उपदेश दिया जाय, लेकिन वह जातिस्वभाव के कारण अपनी पूर्वाग्रहगृहीत वस्तु को ही पकड़ता है, अन्य चीजो को ठुकरा देता है।

असद्ग्रहात्पामरसंगतिं ये कुर्वन्ति तेषां न रतिर्बुधेषु।
विष्टासु पुष्टा किल वायसा नो मिष्टान्ननिष्ठा प्रसभं भवन्ति ॥११॥

जो कदाग्रह के कारण पामर जनो की संगति करते है, उनकी पण्डितजनो के प्रति प्रीति नही होती। क्योकि विष्टा खा कर पुष्ट वने हुए कौए कितनी ही जवर्दस्ती की जाय, मिष्टान्न खाने मे रुचि नही रखते।

कदाग्रही जीव परमार्थ को जानने के लिए विद्वानो से प्रेम नही रखते, वल्कि उनसे द्वेप रखते हैं, उनकी संगति छोड कर धूर्तो=पामरजनो की टोली में वैठते है। सच है, गदगी (विष्टा) खा कर पुष्ट वने हुए चतुर कौए कितना ही जोर लगाया जाय तो भी खीर आदि मधुर भोजन के प्रति निष्ठावान् प्रीतिमान (रुचि वाले) नही होते। कदाग्रही का भी ऐसा ही नीच स्वभाव होता है।

नियोजयत्येव मतिं न युक्तौ, युक्तिं मतौ य प्रसभं नियुक्ते।
असद्ग्रहादेव न कस्य हास्योऽजले घटारोपणमादधान ॥१२॥

जो पुरुप कदाग्रह के कारण शुद्ध (शास्त्रीय) युक्ति मे अपनी वुद्धि नही जोडता, अपितु अपनी वुद्धि मे (जो वात पकडी हुई है, उसमे) जवरन युक्ति को ले जाता है, वह मनुष्य मृग-मरीचिका मे से जल भरने के लिए घडा रखता हुआ किसके उपहास का निशाना नही वनता? सवके मजाक का पात्र वनता है।

जो कदाग्रही मनुष्य कदाग्रह के कारण अनाग्रही सत्पुरुषो द्वारा न्यायसगत, शास्त्रघटित सद्भूत अर्थ की वास्तविकता का निश्चय करने हेतु कही हुई युक्ति मे अपनी वुद्धि को प्रयत्नपूर्वक प्रविष्ट नही कराता; अपितु अपनी वुद्धि जहाँ अपनी कल्पित वात मे पहले से गड़ा रखी है, वही युक्ति को खीचतान कर जवर्दस्ती ले जाता है। ऐसा कदाग्रही पुरुष जहाँ जल नही है, ऐसी मृगतृष्णा के जल में पानी भरने के लिए घड़ा रखता है; भला वताइए, वह किसके उपहास का पात्र नही वनता ? सवके ही उपहास का पात्र वनता है। कदाग्रही पुरुष भी अपनी पूर्वाग्रहवश पकडी हुई गलत युक्तियों के कारण सवके मजाक का कारण वनता है।

असद्ग्रहो यस्य गतो न नाशं, न दीयमान श्रुतमस्य शस्यम् ।
न नाम वैकल्यकलकितस्य प्रौढ़ा प्रदातु घटते नृपश्री ॥१३॥

जिस प्रकार अंगो के विकलतारूपी दोप से दूपित (अपाहिज), अथवा मन की व्याकुलता से दूपित व्यक्ति को प्रौढ़ राजलक्ष्मी नही दी (सौंपी) जाती, उसी प्रकार जिसका कदाग्रह नप्ट नही हुआ है, उसे भी शास्त्रज्ञान देना उचित नही है।

जिसका मन शान्त और गभीर हो, कलकरहित हो या जिसके अग पूर्ण हो, उसे ही वड़ी (प्रौढ) राज्यलक्ष्मी सौंपी जानी उचित होती है, इसके विपरीत जिसका मन व्याकुल हो, जो आचार-विचार से दूपित हो या जो अगविकलता से दूपित (अपंग) हो, उसे जिस प्रकार प्रौढ़ (वड़ी) राज्यलक्ष्मी देना उचित नही होता, उसी प्रकार जिसके मन का कदाग्रह मिटा नही है, जिसने जीवन मे गलत आचार-विचार पकड़े हुए हैं, जो दुप्टवुद्धि से जकडा हुआ है, उसे शास्त्रज्ञान प्रदान करना विलकुल प्रशंसनीय नही है, जरा भी उचित नही है, श्रुत का दान भी उसी साधक को देना प्रगसनीय है, जो श्रद्धालु, सरल एवं जिज्ञासु हो।

आमे घटे वारि यथा धृत सद्विनाशयेत् स्वं च घट च सद्य ।
असद्ग्रहग्रस्तमतेस्तथैव श्रुतात्प्रदत्तादुभयोर्विनाश ॥१४॥

कच्चे घड़े मे पानी रखते ही जैसे अपना (पानी का) और घड़े का तत्काल नाश हो जाता है। वैसे ही जिसकी बुद्धि कदाग्रह से ग्रस्त हो, उसे शास्त्रज्ञान देने से शास्त्र और कदाग्रही दोनों का विनाश हो जाता है।

जिस तरह कच्चे घड़े में पानी भरने से पानी तत्काल बाहर निकल कर फैल जाता है, टिकता नहीं, और घड़ा भी तत्काल फूट जाता है, इससे कोई लाभ नही होता, उसी तरह हितबुद्धि से भी कदाग्रही पुरुष को सुशास्त्र का श्रवण या अध्ययन कराने से कोई लाभ नहीं होता, इससे कदाग्रही और शास्त्रज्ञान दोनों की ही हानि होती है। कदाग्रही पुरुष में शास्त्र के प्रति हीनता (अवज्ञा) और सन्मार्ग-उत्थापन का भाव आ जाने से वह शास्त्रीय पदों का मनमाना अर्थ करके दुरुपयोग करेगा, लोगों को गुमराह करेगा, या अपना हठाग्रह सिद्ध करने का प्रयत्न करेगा। इस दृष्टि से शास्त्रज्ञान के फल के अभाव के कारण उसकी क्षति या हानि होती है, तथा शास्त्र का अभ्यास करने वाले कदाग्रही का भी शास्त्र के अर्थ का अनर्थ करने से जन्ममरण (अनन्त संसार) की वृद्धि, दुर्गतिप्राप्ति आदि के रूप मे पतन और विनाश हो जाता है।

असद्ग्रहग्रस्तमतेः प्रदत्ते हितोपदेशं खलु यो विमूढ़ ।
शुनीशरीरे स महोपकारी कस्तूरिकालेपनमादधाति ॥१४॥

जिसकी बुद्धि दुराग्रह से पीड़ित है, उसे जो भोला बन कर हितोपदेश दे देता है, समझना चाहिए वह मूढपुरुष महान् उपकारी बन कर कुत्ती के शरीर पर मानो कस्तूरी का लेप करता है।

हितकर उपदेश भी पात्र-अपात्र का विचार करके देना चाहिए, किन्तु जो अविवेकी इस बात का विवेक न करके एव दुराग्रह से ग्रस्त बुद्धि वाले व्यक्ति के भुलावे मे आ कर उसे हितकर एवं-वस्तुस्वरूप-प्रतिपादक उपदेश दे बैठता है, सचमुच, वह विवेकविकल मनुष्य कुत्ती के शरीर पर महान् उपकार करने की बुद्धि से बदबू मिटाने के लिए कस्तूरी का लेप करता है, ऐसा समझ लो। यानी वह मूर्खता का ही काम करता है।

कष्टेन लब्धं विशदागमार्थं ददाति योऽसद्ग्रहदूषिताय ।
स खिद्यते यत्नशतोपनीतं बीजं वपन्नूषरभूमिदेशे ॥१६॥

जो साधक बडी मुश्किल से प्राप्त निर्मल (स्पष्ट या विस्तृत) आगम के अर्थ को किसी दुराग्रह से दूषित व्यक्ति को दे देता है, वह बाद मे उसी तरह खेद पाता है, जैसे सैकड़ों प्रयत्नो से प्राप्त बीज को ऊपरभूमि वाले खेत में बोने वाला पाता है।

जो अदीर्घदर्शी साधक अध्ययन, चिन्तन, आवृत्ति एव गुरुसेवा करके महाकष्ट से प्राप्त हुए निर्मल (या स्पष्ट अथवा विस्तृत) शास्त्र (सिद्धान्त) के अर्थ (वस्तुतत्त्व = परमार्थभाव) को कदाग्रह से दूषित व्यक्ति को दे देता है, वह पुरुष उसी तरह पश्चात्ताप करता है, जैसे कोई किसान सैकड़ो प्रयत्नों के फलस्वरूप प्राप्त अन्नकणो (बीजो) को उपजाऊ भूमि मे न बो कर, ऊपर या बजरभूमि के खेत मे बो कर बाद मे फल (फसल) न मिलने से पश्चात्ताप करता है।

शृणोति शास्त्राणि गुरोस्तदाज्ञां करोति नासद्ग्रहवान् कदाचित् ।
विवेचकत्वं मनुते त्वसारग्राही भुवि स्वस्य च चालनीवत् ॥१७॥

कदाग्रही पुरुष कभी गुरु से शास्त्र-श्रवण नहीं करता, न कभी उनकी आज्ञा का पालन करता है। वह तो चालनी की तरह असार (फेंकने लायक तुच्छ भूसे) को ही ग्रहण करता हुआ इस भूमण्डल पर अपने को विवेचक (व्याख्याता) मानता है।

दुराग्रही पुरुष कदापि सद्गुरु के पास आ कर या उनके मुख से शास्त्र-श्रवण नहीं करता, यानी अभिमान के कारण सिद्धान्तवाक्यों को कान मे नहीं पड़ने देता। वह गुरु की आज्ञा अथवा उनके या सिद्धान्त के वचनों का निर्देश भी नहीं मानता। वह इस जगत् मे अपने ही ज्ञान की विवेचकता मानता है, यानी अभिमानपूर्वक यह मानता है कि 'मेरा ज्ञान ही वस्तुस्वरूप का और स्थान का यथार्थ विवेचन करता है।' वह इस जगत् मे सारभूत को छोड़ कर चालनी के समान असार वस्तु को ग्रहण करता है। अर्थात् कुमार्ग और अन्याय की प्रवृत्तिरूप छिलके की तरह निःसार का ही ग्रहण करता है।

दम्भाय चातुर्यमघाय शास्त्रं प्रतारणाय प्रतिभापटुत्वम् ।
गर्वाय धीरत्वमहो गुणानामसद्ग्रहस्थे विपरीतसृष्टिः ॥१८॥

आश्चर्य है, कदाग्रही पुरुष के गुणों की कैसी विपरीत सृष्टि होती है ! उसकी चतुराई दम्भ के लिए होती है, उसका शास्त्राध्ययन भी पाप के लिए, उसकी प्रतिभापटुता दूसरो को ठगने के लिए और उसकी धीरता गर्व करने के लिए होती है ।

अहो, बड़े आश्चर्य की बात है कि कदाग्रही मनुष्य के गुण भी दोषरूप बन कर संसार मे उलटे ही प्रतिफल को पैदा करता है। यानी सद्गुणो के उत्तम बीज भी विषफल को जन्म देते हैं। जैसे कि उसका चातुर्य (होशियारी) अपने दोषो पर पर्दा डालने का एक दम्भपूर्ण नाटक ही होता है। उसका शास्त्रो (या ग्रन्थो) का अध्ययन भी कुमार्ग आदि पाप (पातक) वृत्ति के लिए होता है, उसकी बौद्धिक कुशलता निपुणता सुन्दर उपदेश दे कर भोलेभाले लोगो को ठगने (धोखा या चकमा देने) के लिए होती है और उसकी धीरता भी अपनी प्रसिद्धि करके अपने गर्व को बढाने हेतु होती है। मतलब यह है कि हठाग्रही मनुष्य के गुण भी दुनिया में उलटा ही रंग दिखाते हैं, अमृत के बदले जहर का काम करते हैं।

असद्ग्रहस्थेन समं समन्तात् सौहार्दभृद् दुःखमवैति तादृक् ।
उपैति यादृक् कदली कुवृक्ष-स्फुटत्त्रुटत्कण्टककोटिकीर्णा ॥१९॥

कदाग्रह मे स्थित पुरुष के साथ मैत्री करने वाला चारो ओर से उसी तरह दुःख पाता है, जिस तरह पास में कुवृक्षो के फूटने और टूटने मे करोडो काटो से व्याप्त कदलीवृक्ष (केले का पेड) कष्ट उठाता है।

कदाग्रह से घिरे हुए व्यक्ति के साथ दोस्ती करने वाला उसी प्रकार चहु ओर दुःख ही दुःख उठाता है, जिस प्रकार दुष्ट पेड (विषवृक्ष या कटीले पेड़) के पास मे विकसित होने पर और उसके टूटते हुए करोड़ो काटे हवा से टूट-टूट कर केले के पत्तो, डालियो और स्कन्ध से टकरा कर उसे फाड देते है, अथवा उनकी नोक से केले का पेड़ अत्यन्त दुःख पाता है।

विद्या विवेको विनयो विशुद्धिः सिद्धान्तवाल्लभ्यमुदारता च ।
असद्ग्रहाद्यान्ति विनाशमेते, गुणास्तृणानीव कणाद्दवाग्नेः ॥२०॥

असद्ग्रह से विद्या, विवेक, विनय, विशुद्धि, सिद्धान्त के प्रति प्रीति और उदारता आदि ये गुण उसी तरह नष्ट हो जाते हैं, जिस तरह दवाग्नि के कण से तृण जल कर नष्ट हो जाते हैं। जैसे दवाग्नि की एक चिनगारी से घास का ढेर जल कर साफ हो जाता है, वैसे ही कदाग्रह से आगमादि का अध्ययन (विद्या), कृत्याकृत्यविचार (विवेक), नम्रता (विनय), आहारादि की शुद्धि (विशुद्धि), आगमादि सिद्धान्त के प्रति प्रीति, उदारता, ये सब आत्महितकारी गुण समूल नष्ट हो जाते हैं। अत. कदाग्रह या कदाग्रही के सम्पर्क से दूर ही रहना चाहिए।

स्वार्थः प्रियो नो गुणवांस्तु कश्चिन्मूढेषु मैत्री न च तत्त्ववित्सु ।
असद्ग्रहापादितविश्रमाणां स्थिति. किलासावधमाधमानाम् ॥२१॥

कदाग्रही को अपना स्वार्थ (खुदगर्जी) प्रिय लगता है, गुणवान् प्रिय नही लगता। उसकी दोस्ती मूर्खों के साथ ही होती है, तत्त्ववेत्ताओं के साथ नही। जिन्होंने अपने चित्त मे कदाग्रह को विश्राम दे रखा है, अथवा कदाग्रह ने जिनके यहाँ विश्राम ले रखा है अथवा कदाग्रह के कारण जो विश्रान्त हो (थक) गये है या व्याकुल हो रहे हैं, उन अधमाधम पुरुषो की स्थिति ऐसी ही होती है।

कदाग्रही अपने मतलव से प्यार करता है, उसे कोई गुणवान् प्यारा नही लगता, इसमे हठाग्रह ही कारण है। वल्कि गुणीजनो से वह द्वेप रखता है, उन्हे अपने मार्ग मे रोड़े समझता है। तथा उसकी मैत्री भी होती है तो मूढ़लोगो से, जिन्हे हिताहित का, कर्तव्याकर्तव्य का कोई भान नही है। जो तत्त्वज्ञानी हैं, उनके साथ उसकी पटती नहीं, उनसे तो वह द्वेप रखता है, उनकी वह निन्दा करता है। असल मे, जिनके चित्त मे कदाग्रह ने डेरा डाल रखा है, जो कदाग्रह से थक कर व्याकुल हो रहे है अथवा जिन्होने कदाग्रह को चित्त में विश्राम दे रखा है, ऐसे अधमाधम लोगों की ऐसी ही विचित्र-सी स्थिति रहती है।

३८ विदंस्तत्वमुदारबुद्धिरसद्ग्रह यस्तृणवज्जहाति ।
जहाति नैन कुलजेव योषिद् गुणानुरक्ता दयित यश:श्री. ॥२२॥

इस प्रकार जो उदारबुद्धि कदाग्रह के तत्त्व को जान कर इस मिथ्याग्रह को तिनके की तरह छोड देता है, उस लोकवल्लभ पुरुष को उसके गुणो मे अनुरक्त यशोलक्ष्मी उसी प्रकार नही छोडती, जैसे कुलवती गुणानुरक्त स्त्री अपने पति को नही छोडती । श्लोकगत 'यश' शब्द ग्रन्थकार के 'यशोविजय' नाम को सूचित करता है।

इस प्रकार कदाग्रह का स्वरूप जान कर जो मोक्षाभिलाषी उदारचेता परमार्थपरीक्षक बुद्धिमान् साधक कदाग्रह को तिनके की तरह त्याग कर देता है, उस मुमुक्षु के गुणो मे अनुरक्त हो कर यशो (मोक्ष)-लक्ष्मी कुलीन स्त्री के समान पति के रूप में स्वीकार करके कदापि उसी प्रकार नही छोडती, जिस प्रकार गुणानुरक्त कुलीन नारी अपने पति को कदापि नही छोडती। साराश यह है कि कदाग्रह-त्याग से साधक अवश्य ही मोक्षगति प्राप्त करता है।

॥ इति असद्ग्रहत्यागाधिकार· ॥

इति श्री महोपाध्याय-श्रीयशोविजयविरचिते ।
अध्यात्मसारप्रकरणे चतुर्थ प्रबन्ध· ॥४॥

योग-स्वरूप

असद्ग्रहव्ययाद् वान्तमिथ्यात्वविषविप्रुष ।
सम्यक्त्वशालिनोऽध्यात्मशुद्धेर्योग प्रसिद्ध्यति ॥१॥

दुराग्रह के मिट जाने पर जिसने मिथ्यात्व-विप-विन्दुओ का वमन कर दिया है, उस अध्यात्म के शुद्धिकर्ता, सम्यक्त्वशाली का योग सिद्ध होता है।

दुराग्रह के नष्ट हो-जाने पर जिसने परमार्थवस्तु को छिपाने और असत् पदार्थ को प्रगट करने वाले मिथ्यात्वरूपी विष की बूंदों का वमन (नाश) कर दिया है ; और इस कारण जो सम्यग्दृष्टि से सुशोभित है, उसका आत्मा को विशेष निर्मल करने वाला अध्यात्मयोग, अर्थात् आत्मा की पूर्णब्रह्मत्व की प्राप्ति का उपाय सिद्ध (प्रगट) हो जाता है।

कर्मज्ञानविभेदन स द्विधा तत्र चादिम ।
आवश्यकादिविहितक्रियारूप प्रकीर्तित ॥२॥

वह योग कर्म और ज्ञान के भेद से दो प्रकार का है। उसमे से प्रथम कर्मयोग को आवश्यकादि विधिविधानरूप क्रियारूप बताया है।

मोक्षमार्ग के कारणभूत आत्मव्यापार को योग कहते है। वह योग दो प्रकार का है कर्मयोग और ज्ञानयोग। जिनेश्वरविहित सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, गुरुवन्दन आदि षडावश्यकरूप कर्तव्यरूप से नियत क्रिया को कर्मयोग कहते है। तथा ध्यान करने के योग्य (ध्येय) आत्मा के सद्भूत अर्थों का चिन्तन करना ज्ञानयोग है।

शारीरस्पन्दकर्मात्मा, यदयं पुण्यलक्षणम् ।
कर्मोऽतनोति सद्रागात् कर्मयोगस्तत स्मृत ॥३॥

चूंकि शरीर के स्पन्दन (हलहल) रूपी कर्मस्वरूप यह कर्मयोग शुभ रुचि और सद्भाव से प्रेमपूर्वक पुण्यलक्षण वाली क्रिया करता है, इसलिए इसे कर्मयोग कहा है।

यह योग शरीरचेष्टाओं से युक्त होने से कर्मात्मक कहलाता है। अर्थात् यह कर्मयोग हेय (त्याज्य) और उपादेय (ग्राह्य) का विश्लेषण करके हेय से निवृत्ति और उपादेय में प्रवृत्तिरूप शरीर-चेष्टा-व्यापार) स्वरूप है, इसमें धर्मविषयक प्रीति होने से यह पुण्य के लक्षण वाले (सातावेदनीय शुभकर्मप्रकृति के बन्धरूप फल वाले कर्म (शुभकर्म) करता है, इसलिए इसे कर्मयोग कहा है।

आवश्यकादिरागेण वात्सल्याद् भगवद्गिराम् ।
प्राप्नोति स्वर्गसौख्यानि न यान्ति परम पदम् ॥४॥

आवश्यकादि क्रिया के प्रति (शुभ) राग एवं भगवद्वाणी के प्रति वात्सल्य होने से (कर्मयोग से) साधक देवलोक के सुख पाता है, लेकिन ऐसा साधक मोक्षपद नही प्राप्त करता।

आवश्यक वगैरह क्रियाएँ करने मे प्रीति के कारण तथा भगवद्-वाणी के प्रति वात्सल्य के कारण अर्थात् आगम के प्रति भक्ति और स्नेह एव वीतरागप्रभु के प्रति प्रशस्तरागरूप कर्मयोग से प्राणी को देवलोकगत सुखो अथवा इन्द्रादि देवो के सुखभोगो की प्राप्ति होती है, परन्तु परमपद (मोक्ष) नही मिल सकता, क्योकि इस क्रिया से शुभ (पुण्य) कर्म का बन्ध होता है, किन्तु इससे विशिष्टकर्मो की निर्जरा नही होती। रागसहित धर्माचरण या सयमपालन से शुभानुबन्ध होता है, उससे स्वर्गादिसुख मिलते है।

ज्ञानयोगस्तप शुद्धमात्मरत्येकलक्षणम् ।
इन्द्रियार्थोन्मनीभावात् स मोक्षसुखसाधक ॥५॥

जब एकमात्र आत्मा मे ही प्रीति (रुचि या श्रद्धा) हो, तथा इन्द्रियो के विषयो से उन्मनीभाव उत्पन्न होता है, तब शुद्धतप होता है, और वही ज्ञानयोग है, जो मोक्षसुख का साधक है।

जब अपना स्वभाव (आत्मस्वरूप) जानने-देखने की उत्कंठा (प्रीति=रुचि) जागृत होती है, ऐसी आत्मरति ही जिसका एकमात्र (अद्वितीय) लक्षण (चिह्न) है, ऐसे शुद्ध (आकांक्षादि-दोषरहित, निर्मल) ध्यानादि जो आभ्यन्तर तप है, वही ज्ञानयोग है। अर्थात् ज्ञानमय ब्रह्मत्व को शीघ्र प्राप्त करने का उपाय है। इस योग में इन्द्रियों के शब्दादि विषयों (अथवा विषयसुखों की इच्छारूपी समुद्र) से उन्मनीभाव (विरक्तिभाव) हो जाता है, साधक इनसे ऊपर उठ जाता है। यही ज्ञानयोग समस्त कर्मों का क्षय करता है और मोक्षसुख का साधक (सम्पादक) है। क्योंकि शुद्ध तप (आभ्यन्तर तप) होने से इससे विशिष्ट कर्मों की निर्जरा हो जाती है।

न परप्रतिबन्धोऽस्मिन्नल्पोऽप्येकात्मवेदनात् ।
शुभं कर्माऽपि नैवाऽत्र व्याक्षेपायोपजायते ॥६॥

इस ज्ञानयोग में सिर्फ आत्मा का ही ज्ञान (वेदन) होता है, इसलिए दूसरे (पर) का प्रतिबन्ध जरा भी नहीं होता; क्योंकि ज्ञानयोग में शुभकर्म (क्रिया) भी व्याक्षेप (आत्मध्यानभंग) के लिए नहीं होता।

ज्ञानयोग में अन्य विषयों को त्याग कर एकमात्र केवल आत्मा (जीवनस्वरूप) का ही वेदन (अनुभव=विचार या ज्ञान) होने से, आत्मध्यान से अतिरिक्त पर (अन्य) के लिए कोई प्रतिबन्ध नहीं होता—यानी ऐसा आग्रह नहीं होता कि 'यह क्रिया भी मुझे अवश्य करनी है।' क्योंकि इस ज्ञानयोग में प्रतिक्रमणादि शुभकर्म (क्रिया) भी आत्मध्यान के व्याक्षेप (भंग) के लिए नहीं होता। अर्थात् ज्ञानयोगी कदाचित् शुभक्रिया करता है, फिर भी वह आत्मध्यान में ही तल्लीन रहता है। क्योंकि ज्ञानयोग में शुभकर्म और ध्यान इन दोनों में कभी परस्पर विरोध नहीं होता।

न ह्यप्रमत्तसाधूनां क्रियाऽप्यावश्यकादिका ।
नियता ध्यानशुद्धत्वाद् यदन्यैरप्यदः स्मृतम् ॥७॥

अप्रमत्त साधुओं के लिए आवश्यक आदि क्रियाएँ भी नियमितरूप से करनी नहीं होतीं (उनके लिए प्रतिबन्ध नहीं), क्योंकि वे ध्यान से

ही शुद्ध होते हैं। यह बात अन्यदर्शनी लोगों ने भी निम्नोक्त प्रकार से कही है।

चूंकि सप्तमगुणस्थानवर्ती साधक सदा अप्रमत्त (सावधान कर्तव्य के बारे में कर्त्तव्यबुद्धि से युक्त) होते हैं, उनके लिए प्रतिक्रमणादि आवश्यक क्रियाएँ (शुभक्रियाएँ) अवश्यकरणीय के रूप मे नियत नही होती। क्योंकि वे धर्म-शुक्लध्यान के कारण शुद्ध (निरतिचार) चारित्री होते है। जब उनके जीवन मे अतिचार (दोष) का अभाव होता है, तब उन्हे अतिचारनिवारण के लिए प्रतिक्रमणादि शुभक्रियाएँ करने की आवश्यकता नही रहती। उनके लिए इन क्रियाओ का कोई प्रतिबन्ध नही है। अपने ध्यान में विरोध न आए तो उक्त क्रियाएँ करते भी हैं। क्योकि सर्वथा निषेध नही है। इसी सम्बन्ध मे अन्यदर्शनो भगवद्-गीता अ. ३ श्लोक १७-१८ मे कहा है

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानव ।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥८॥

जिस व्यक्ति की आत्मा मे ही प्रीति है, जो आत्मा मे ही तृप्त है और आत्मा मे ही सन्तुष्ट है, उसके लिए कुछ भी कर्तव्य नही होता।

जो मुमुक्षु मानव आत्मस्वरूप मे रमण करता है, जो आत्मा से ही अपनी समस्त इच्छाओं से परिपूर्ण (तृप्त) हो गया है, और जो आत्म-स्वरूप मे ही सन्तुष्ट (अतीव कृतार्थ) हो गया है, उसके लिए कुछ भी करणीय नही होता, वह कृतकृत्य हो जाता है।

नैव तस्य कृतेनाऽर्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रय ॥९॥

क्योकि इस ससार मे उस पुरुष के करने से या न करने से कोई प्रयोजन नही है। उसे सर्वभूतो के प्रति उसके कुछ भी स्वार्थ का आलम्बन (सम्बन्ध) नही है।

जिस पुरुष ने आत्मसाक्षात्कार कर लिया है, जो नित्य आत्मानन्दी है, उसके लिए कोई कर्तव्य नही होता, न उसके लिए किसी प्रकार का

कोई भी कर्तव्य करना शेष नही रहता। क्योंकि उसे अपनी आत्मा के सिवाय अन्य किसी वस्तु से लगाव, झुकाव, प्रयोजन या स्वार्थ (आलम्बन) नही होता। कोई कार्य अवश्य करना है, या नही करना है ऐसे विधिनिषेध का प्रतिबन्ध भी उनके लिए नहीं होता। ऐसे ज्ञानयोगी के लिए सर्वभूत (सब के लिए उचित) आलम्बनरूप (जिनप्रतिमादि) किसी प्रकार का आलम्बन नही होता, क्योंकि वे निरालम्बी होते है।

अवकाशो निषिद्धोऽस्मिन्नरत्यानन्दयोरपि।
ध्यानावष्टम्भतः क्वाऽस्तु तत्क्रियाणां विकल्पनम् ॥१०॥

इस ज्ञानयोग मे अरति और आनन्द अवकाश भी निषिद्ध है। क्योंकि ध्यान के आश्रय (स्थिरता) के कारण उसमे क्रिया करने का विकल्प (कल्पना) ही कहाँ से हो सकता है?

आत्मज्ञानी ज्ञानयोगी पुरुष आत्मा की भावना मे [धर्म-शुक्लध्यान मे] इतना तल्लीन हो जाता है कि धर्मक्रिया मे चित्त का उद्वेग और विषयादि मे आनन्द को कोई अवकाश [गुंजाइश] भी नही रहता; क्योंकि ज्ञानयोग मे ईष्ट-अनिष्ट का विभाग ही नही होता। इसलिए ध्यान मे की गई स्थिरता [आश्रय] के कारण उसे शुभाशुभक्रियाओ की कल्पना [विकल्प] ही कैसे हो सकती है? नही हो सकती।

देहनिर्वाहमात्रार्था याऽपि भिक्षाटनादिका।
क्रिया सा ज्ञानिनोऽसंगान्नैव ध्यानविघातिनी ॥११॥

वह केवल शरीरनिर्वाह के लिए जो भिक्षाचरी आदि क्रियाएँ करता है, वे भी ज्ञानी की असंगता [अनासक्ति] के कारण उसके ध्यान का विघात (भंग) करने वाली नही होती।

शरीर के विना धर्मसाधना नही हो सकती, और शरीर आहारादि के विना टिक नही सकता। इसलिए उसके निर्वाहार्थ भिक्षाटन (भिक्षाचर्या), वहिर्भूमिगमन वगैरह जो क्रियाएँ ज्ञानयोगी के जीवन मे दिखाई देती हैं, वे असग के कारण अनादिकालीन अभ्यास वाले स्वभाव के कारण—देह से ही होती है, परन्तु उनके लिए

आत्मा को कोई प्रयत्न नही करना पडता। इसलिए वे क्रियाएँ उनके उच्च ध्यान में विघातक नही होती।

रत्नशिक्षा दृगन्या हि तन्नियोजनदृग्यथा।
फलभेदात्तथाचारक्रियाऽप्यस्य विभिद्यते ॥१२॥

जैसे रत्नपरीक्षा का प्रशिक्षण लेते समय की दृष्टि अलग होती है और रत्नपरीक्षा करते समय की दृष्टि भी फल के अन्तर के कारण अलग होती है, वैसे ही ज्ञानी की आचारक्रिया मे भी भेद होता है।

जैसे रत्नो की परीक्षा के लिए शिक्षा (तालीम) यानी रत्न के गुण-दोष के प्रतिपादकग्रन्थ का अभ्यास करते समय जो दृष्टि होती है, वह दूसरे प्रकार की होती है, किन्तु जब कोई रत्न बिकने आया हो, या खरीदना हो, उस समय रत्न की परीक्षा (गुण-दोष देखने) के लिए प्रेरित दृष्टि और होती है। मतलब यह है कि तालीम लेते समय दृष्टि सिर्फ अभ्यास करने की होती है, और उसमे निहित गुणदोष की परीक्षा करते समय दृष्टि बारीकी से प्रयत्नपूर्वक देखने की होती है। क्योकि दोनो के फल में अन्तर है। इसलिए पहले की और बाद की दृष्टि के फल मे विशेषता है। इसी प्रकार साधु की भी प्रमत्त-अवस्था और अप्रमत्त-अवस्था की भिक्षाचर्या की क्रिया एकसरीखी होते हुए भी दोनो के फल में अन्तर होता है। प्रमत्तसयमी की सराग-अवस्था होने से अल्पनिर्जरा होती है, पुण्यकर्म का प्रबलबन्ध होने से उसे स्वर्गादि-सुख मिल जाता है, जबकि अप्रमत्तसयमी को उसी क्रिया से उत्कट निर्जरा होने से मोक्षफल प्राप्त होता है। इस तरह अवस्याभेद के कारण आचार-व्यवहार का भी भेद होता है और फल का भी भेद हो जाता है। इसलिए प्रमत्तसाधु को भिक्षा आदि क्रिया के समय ध्यान मे व्याघात हो सकता है, लेकिन अप्रमत्तसाधु को वही क्रिया ध्यान मे व्याघात नही पहुचा सकती।

ध्यानार्था हि क्रिया सेय प्रत्याहृत्य निज मन ।
प्रारब्धजन्मसंकल्पादात्मज्ञानाय कल्पते ॥१३॥

अतः ध्यानार्थ की हुई यह क्रिया प्रारब्धजन्म के सकल्प से अपने मन को वापिस लौटाने पर आत्मज्ञान के लिए समर्थ हो जाती है।

पूर्वोक्त असंगक्रिया जिसका फल अथवा वाच्यार्थ ध्यान ही है, प्रारब्धजन्म के संकल्प से (प्रत्येक जन्म के संचित किये हुए देहादि-निमित्त जन्यकर्म के एवं उससे प्राप्त हुए जन्म के अनादिप्रवाह से प्राप्त वर्तमान जन्म के संकल्प (चिन्तन] से अथवा जानकारी से चित्त को वापिस मोड़ कर [यानी दूसरे विषयों से खींच कर] आत्मस्वरूप के ज्ञान के लिए समर्थ होता है, ध्यान भी आत्मज्ञान के लिए होता है। अतः ध्यानी के असंगक्रिया ही होती है।

स्थिरीभूतमपि स्वान्तं रजसा चलतां व्रजेत् ।
प्रत्याहृत्य निगृह्णाति ज्ञानी यदिदमुच्यते ॥१४॥

मन स्थिर हो गया हो तो भी रजोगुण (राग) से चंचल हो जाता है। इसलिए ज्ञानी उसे वापिस खींच कर उसका निग्रह कर लेता है, जिसके सम्बन्ध में आगे कहा गया है।

मन स्थिर हो चुका हो तो भी रजोगुण (रागादिसमूह) के उदय से पुनः चंचल हो उठता है। इसलिए वैसे मन को ध्यान के व्यापार से वापस खींच कर ज्ञानीपुरुष उसका निग्रह करते है। अर्थात् उसे अपने काबू में करते हैं। इस विषय मे नीचे कहा गया है

शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥१५॥

धृति (स्थिरता या संतोप) से गृहीत (वशीकृत) बुद्धि से धीरे-धीरे उपराम पाता (शान्त होता) जाय। फिर मन को आत्मा मे स्थित करके अन्य कुछ भी चिन्तन करने की आवश्यकता नहीं है।

यतो यतो निःसरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥१६॥

चचल और अस्थिर मन जिस-जिस संकल्पादि से बाहर निकलता है, वहाँ से रोक कर उसे आत्मा के ही अधीन (वश मे) करे। गीता मे इन दो श्लोकों मे मन को एकाग्र करने के उपाय बताए हैं। इस प्रकार योगी एक विषय से दूसरे विषय मे जाते हुए चपल (अन्यान्यविषयों

को ग्रहण करने के स्वभाव वाले) मन को वह जिस-जिस सकल्प व्याक्षेप से वाहर निकलता है, उस समय व्याक्षेप से रोक कर (ज्ञानरूपी डोरी से बाँध कर) धीरे-धीरे धीरतायुक्त बुद्धि से स्थिर करता है, तथा उसे आत्मा के अधीन (उसमे तल्लीन) कर देता है।

अतएवाद्दढस्वान्त' कुर्याच्छास्त्रोदितां, क्रियाम् ।
सकलां विषयप्रत्याहरणाय महामतिः ॥१७॥

इसलिए जिसका मन दृढ नही है, उस महामति पुरुष को मन को विषयो से वापिस खीचने के लिये शास्त्रोक्त समस्तक्रियाएँ करनी चाहिए ।

अत पूर्वोक्त क्रियाएँ करने से भी जिसका अन्त करण अभी दृढता-पूर्वक निश्चल नही हुआ है, (यानी मन की अल्पस्थिरता वाले) उस महाबुद्धिमान मुमुक्षु को विषयो की प्रवृत्ति से मन को वापिस खीचने (मोडने) के लिए शास्त्र मे कही हुई प्रतिक्रमणादि समस्त क्रियाएँ करनी चाहिए। निष्कर्ष यह है कि जिसका मन पूर्णरूप से निश्चल नही हुआ है, उस साधक को विविध शास्त्रीयक्रियाओ द्वारा मन को एकाग्र करना ही सफल राजमार्ग है।

इसी वात को दो दृष्टान्तो द्वारा समझाते है

श्रुत्वा पैशाचिकीं वार्तां कुलवध्वाश्च रक्षणम् ।
नित्यं संयमयोगेषु व्यापृतात्मा भवेद्यति ॥१८॥

पिशाच (भूत) की और कुलवधू की रक्षा की कथा सुन कर मुनि को सदा चारित्र के आचरण मे ओतप्रोत हो जाना चाहिए। उक्त दोनो कथाएँ क्रमश इस प्रकार है

भूतवशीकरण किसी व्यापारी ने मत्र के प्रभाव से एक भूत को वश मे कर लिया। भूत ने व्यापारी से पूछा "मुझे आप जो भी कार्य करने का कहेंगे, तदनुसार मैं करता रहूंगा, निकम्मा नही वैठूंगा। अगर आपने मुझे काम नही वताया, तो मैं आपको तत्काल मार डालूंगा।" व्यापारी ने भूत की वात मान ली। वह उस भूत को एक

के बाद एक घर के, दूकान के तथा व्यापार आदि के कार्य बताता गया। जिन्हे भूत पलक मारते के साथ ही करता गया। जब कार्य समाप्त हो जाता तो भूत आ कर सामने खडा हो जाता और बनिये से पूछता—बोलिये, अब कौन-सा काम करना है? जल्दी बताइए। व्यापारी के सामने समस्या खड़ी हो गई, अगर भूत को वह कोई काम बताएगा तो वह उसे फुर्ती से मिनटों में कर डालेगा, और अगर काम नही बतायेगा तो वह उसे खा जाएगा! बुद्धिमान व्यापारी ने कुशाग्रबुद्धि से सोच कर कहा "अच्छा, तुम जगल मे से एक बहुत लबा बास ले आओ और उसे मेरे घर के आगन के बीचोबीच गाड दो। भूत ने भी वैसा ही किया। फिर पूछा "अच्छा, अब क्या करू? व्यापारी ने कहा "जब तक मै दूसरा काम न बता दू, तब तक इस बांस पर चढ़ो और उतरो। बस, यही काम करो।" ऐसा करने पर उस भूत को निकम्मा रहने का अवसर नही मिला, इसलिए वह व्यापारी के प्राण न ले सका।

इसी प्रकार जो सयमीमुनि अहर्निश शास्त्रविहित क्रियाएँ करने मे तत्पर रहते है, उन्हे प्रमाद आदि के वशीभूत हो कर निकम्मा रहने का मौका नही मिलता; अर्थात् प्रमादरूपी भूत उनके सयमरूपी प्राण नही ले सकता।

कुलवधू—एक रूपवती कुलवधू थी। चिरकाल से पतिवियोग के कारण कामातुर हो रही थी, और रातदिन उटपटाग विचार किया करती थी। एक दिन एक दुराचारी पुरुष की कुदृष्टि उस पर पडी। उसे देख कर वह अत्यन्त मोहित हो गया और कामसेवन की प्रार्थना करने लगा। कुलवधू ने उस समय मौका न देख कर बाद मे आने को कहा। उसकी सखी से अपनी बहू के मनोविकार का पता जब सास को लगा तो सास ने बहू को बुला कर कहा "बेटी! मै अब बूढी हो चली हु। मुझसे अधिक काम नही होता। अब तू ही घर को सभाल। घर के सारे काम तुझे ही करने है।" इसप्रकार वह पुत्रवधू घर के कामो मे इतनी व्यस्त हो गई कि उसे खाने-पीने और सोने की भी फुरसत बड़ी मुश्किल से मिलती; तब अन्य आमोदप्रमोद की बातें तो सूझती ही

कहाँ से ? अत' वह दूराचारी के सामने स्वीकृत वात को भूल ही गई। इसी प्रकार जो योगी सयमी अपने आचारपालन मे दिनरात व्यस्त रहता है, उसे मुक्ति मे वाधक स्पर्शादि विपयो की वाते नही सूझती। कदाचित् किसी क्षण पूर्वसंस्कारवश मन मे विकारभावना आ भी जाय तो भी वह आचारपालन-सलग्न हो जाय तो उसे भूल जायगा।

अत इन दोनो कथाओ को हृदयगम करके आत्मार्थी साधक को अपने मन का निरोध करने के लिए अहर्निश सयमपोषक किसी न किसी क्रिया मे लगे रहना चाहिए।

या निश्चयैकलीनानां क्रिया नातिप्रयोजना ।
व्यवहारदशास्थानां ता एवातिगुणावहा ॥१६॥

'जो क्रियाएँ केवल निश्चय मे ही लीन हुए मुनियो के लिए अति-प्रयोजन वाली नही हैं, वे ही क्रियाएँ व्यवहारदशा मे रहे हुए साधको के लिए अत्यन्त गुणकारक है।

जिन महामुनियो का मन केवल निर्विकल्पक आत्मस्वभाव मे (आत्मनिश्चय मे) तन्मय वन गया है, उन्हे आवश्यकादि क्रियाएँ करने का कोई प्रयोजन नही रहता। क्योकि निश्चय मे तन्मय होने के कारण जो विशेप प्रकार की निर्जरा होती है, वह उन क्रियाओ से संभवित नही होती। अत वे क्रियाएं व्यवहार (लोकप्रसिद्ध धर्मकार्य की प्रवृत्ति-रूप) अवस्था मे रहे हुए साधको के लिए अत्यन्त लाभदायिनी, यानी व्यवहारदशास्थित साधको के लिए वड़े-वड़े अशुभ कर्मो का अत्यन्त क्षय करने वाली है।

कर्मणोऽपि हि शुद्धस्य श्रद्धामेधादियोगत ।
अक्षतं मुक्तिहेतुत्वं ज्ञानयोगानतिक्रमात् ॥२०॥

श्रद्धा, मेधा (निर्मलवुद्धि) आदि के योग से शुद्धक्रिया करने वाले के लिए वे भी ज्ञानयोग के अतिक्रमरूप न होने से अक्षत मुक्ति की कारण होती है। सर्वज्ञोक्त एव विधिपूर्वक की हुई क्रिया भी जिन वचन के प्रति उत्कट श्रद्धा, और सूक्ष्म अर्थग्रहण-समर्थ ग्रन्थज्ञान वाली वुद्धि, आदि शब्द से धृति, धारणा, अनुप्रेक्षा वगैरह के योग से अर्थात्

कायोत्सर्गादि क्रियाओं में उपयोग से उपर्युक्त ज्ञानयोग का उल्लघन न होने से (अर्थात् इस तरीके से कर्मयोग भी ज्ञानयोगत्व को प्राप्त होने से) अक्षत परिपूर्ण मोक्ष की कारणभूत बन जाती है, क्योंकि उससे मन का निरोध होता है, कर्म की निर्जरा भी होती है।

अभ्यासे सत्क्रियापेक्षा योगिनां चित्तशुद्धये।
ज्ञानपाके शमस्यैव यत्परैरप्यद स्मृतम् ॥२१॥

योगाभ्यासकाल मे योगियो को चित्तशुद्धि के लिए सत्क्रिया की अपेक्षा होती है और ज्ञान की परिपक्वता मे केवल शम की ही अपेक्षा होती है, जिसे कि अन्यदर्शनियों ने भी बताया है।

मुनियो को योगाभ्यास के समय मे यानी ध्यानयोग के निकट जाने के लिए जो अनुष्ठानविशेष किया जाता है, उस समय में, चित्त की शुद्धि के लिए (मन को स्थिर और निर्मल करने के लिए) सर्वज्ञोक्त एव विधि से शुद्ध आवश्यकादि सत्क्रियाएँ करनी योग्य है, और जब उक्त क्रियाएँ करते हुए ज्ञानदशा परिपक्व हो जाती है, तब (यानी सूक्ष्म, सूक्ष्मतर अर्थ को ग्रहण करने की निपुणता, ज्ञानावरण के क्षयोपशम का आधिक्य और क्रिया से साध्य आत्मा में उपयोगरहित करने की शक्ति से युक्त ज्ञान की प्राप्ति हो जाय तब) केवल (एकमात्र शम की = मनरूप इन्द्रिय के दमन की) ही अपेक्षा है। इस विषय में व्यासजी आदि अन्य दार्शनिको ने भी कहा है।

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥२२॥

योगारोहण करना चाहने वाले मुनि के योग का कारण कर्म कहलाता है, और योगारूढ होने के बाद उसी मुनि के लिए शम (समत्व) कारण कहलाता है। ध्यानादि योग मे तथा मन की शुद्धि में आरूढ होने के लिए मुनि को सत्क्रिया कर्मरूपी कारण जरूरी है, ऐसा योगीश्वरो ने कहा है, परन्तु वही साधक जब योगारूढ हो जाता है (ध्यानादियोग को प्राप्त हो जाता है) तब उसे शम की ही अपेक्षा रहती है। क्योंकि शमभाव में ही योगारूढदशा स्थिर रहती है।

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्यते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥२३॥

जब साधक इन्द्रियों के विषयों में तथा कर्मों में आसक्त नहीं होता, तब वह सर्वसंकल्पत्यागी योगी योगारूढ़ कहलाता है।

जब ज्ञान की परिपक्व अवस्था आ जाय, और साधक की पांचों इन्द्रियाँ शब्दादि विषयों में तथा आत्माराम होने से आरम्भिक क्रियाओं में आसक्त (प्रवृत्त) न हों, तब उक्त ज्ञान में प्रवर्तमान समस्त शुभाशुभ संकल्पों का त्यागी आत्मा योगारूढ़ हुआ समझना चाहिए।

ज्ञानं क्रियाविहीनं, न क्रिया वा ज्ञानवर्जिता ।
गुणप्रधानभावेन दशाभेदः किलैतयोः ॥२४॥

क्रिया से रहित ज्ञान ज्ञान नहीं है, और ज्ञान से वर्जित क्रिया भी क्रिया नहीं है। परन्तु इन दोनों में गौणता और मुख्यता को ले कर अवस्था (दशा) का भेद है।

ज्ञान और क्रिया ये दोनों मिल कर मोक्ष के हेतु बनते हैं। पूर्वोक्त क्रिया से विशेष हीन यानी सर्वथा रहित ज्ञान (छद्मस्थों का विशेष-ग्राही बोध) नहीं होता, (अर्थात्-ज्ञान क्रिया से युक्त ही होता है) अथवा सर्वथा ज्ञान से रहित क्रिया भी होती नहीं। वास्तव में ज्ञान और क्रिया की गौणता (अप्रधानता) और मुख्यता (प्रधानता) को ले कर ही अवस्थाभेद होता है। अर्थात् जहाँ कर्मयोग होता है, वहाँ क्रिया की प्रधानता और ज्ञान की गौणता होती है और जहाँ ज्ञानयोग होता है, वहाँ ज्ञान की प्रधानता और कर्म की गौणता होती है। इस प्रकार दोनों परस्परसापेक्ष एवं अन्योन्याश्रित सम्बन्ध से युक्त हैं। तात्पर्य यह है कि ज्ञानयुक्त क्रिया होती है या क्रियायुक्त ज्ञान होता है।

ज्ञानिनां कर्मयोगेन चित्तशुद्धिमुपेयुषाम् ।
निरवद्यप्रवृत्तीनां ज्ञानयोगौचिती ततः ॥२५॥

इसलिए निरवद्य प्रवृत्ति वाले तथा कर्मयोग से चित्त की शुद्धि को प्राप्त करने वाले ज्ञानियों के लिए ज्ञानयोग का औचित्य है।

पूर्वोक्त कारणो से निरवद्य निर्दोष प्रवृत्ति वाले तथा कर्मयोग (क्रिया की प्रवृत्ति) के द्वारा चित्तशुद्धि (मन की निर्मलता) को प्राप्त ज्ञानियों के लिए ज्ञानयोग ही योग्य है। क्योंकि सर्वथा क्रियारहित ज्ञानयोग तो होता ही नही है।

अतएव हि सुश्राद्धचरणस्पर्शनोत्तरम् ।
दुष्पालश्रमणाचारग्रहणं विहितं जिनैः ॥२६॥

इसी कारण पहले सुश्रावक के चारित्र (आचरण) का स्पर्श करने के बाद पालने मे दुष्कर श्रमणाचार के ग्रहण करने का विधान जिनेश्वरों ने किया है।

पूर्वोक्त कारणो से चारित्रप्राप्ति के क्रम के सन्दर्भ मे सद्गृहस्थ के देशविरतिचारित्र का स्पर्श (पालन) करने के बाद दुष्कर श्रमणाचार (सर्वविरतिचारित्र मुनिधर्म) को ग्रहण करने का विधान तीर्थंकरो ने आगम मे बताया है। यही उत्सर्गमार्ग है। तात्पर्य यह है कि देशविरतिश्रावक के जीवन मे कर्मयोग की प्रधानता है, और सर्वविरतिसाधु के जीवन मे ज्ञानयोग की प्रधानता है।

एकोद्देशेन संवृत्तं कर्म यत् पौर्वभूमिकम् ।
दोषोच्छेदकरं तत्स्याज्ज्ञानयोगप्रवृद्धये ॥२७॥

पूर्वभूमिका के रूप में जो कर्म एक के उद्देश से किया हो, वह कर्म दोषो को नष्ट करके ज्ञानयोग की वृद्धि के लिए होता है।

योग की प्राथमिक भूमिका (अवस्था) के रूप मे हुआ कर्म (क्रियायोग) एक के उद्देश्य को ले कर यानी स्थूल आरम्भ से निवृत्ति के प्रयोजन से, देशविरति के रूप मे आचरित हो तो वह कर्म काम, क्रोध, लोभ, मोह, आदि सर्वविरति-प्रतिबन्धक आत्मदोषो का सफाया करके ज्ञानयोग की वृद्धि के लिए होता है।

अज्ञानिनां तु यत्कर्म न ततश्चित्तशोधनम् ।
यागादेरतथाभावान्म्लेच्छादिकृतकर्मवत् ॥२८॥

अज्ञानीजनों का जो कर्म (क्रिया) है, उससे चित्तशुद्धि नही होती, क्योंकि म्लेच्छ वगैरह तमोगुणी लोगों द्वारा किए हुए कर्म की तरह यज्ञादि (स्थूल) क्रियाएँ करने से उनमें तथाप्रकार का भाव पैदा नही होता।

मिथ्याज्ञानियों के यज्ञ करना-कराना आदि जो कर्म (क्रियायोग) है, उससे चित्त की शुद्धि नही होती। याग यानी मन्त्राहुतिपूर्वक पशु वगैरह के वध से ब्रह्मादि देवों की पूजा तथा आदि शब्द से स्नान, शौच आदि कर्म (क्रियायोग) तथाप्रकार का न होने से (महानिर्जरा) आदि उत्पन्न करके समता आदि परिणामों का उत्पादक अहिंसादि का भाव न होने से) चित्त की शुद्धि हो नही सकती। क्योंकि उससे तो उलटे पापरूप मैल ही अधिक चढ़ता है। वह तो म्लेच्छ, पुलिन्द, यवन, शवर, शक आदि लोगों के द्वारा किए जाते हुए (पशुवलि के रूप मे) पशुवधादि करके अपने देवता के पूजारूप कर्म की तरह निष्फल होता है। कहने का मतलब यह है कि म्लेच्छादि के द्वारा की जाती हुई गोहिंसा आदि से यदि उनके मन की शुद्धि हो तो पशु-वधमूलक वेदोक्त यज्ञयागादि से हो सकती है। क्योंकि दोनों जगह हिंसा एकसरीखी है।

न च तत्कर्मयोगेऽपि फलसकल्पवर्जनात्।
संन्यासो ब्रह्मबोधाद्वा सावद्यत्वात् स्वरूपत ॥२६॥

वे यज्ञयागादि कर्मयोग होते हुए भी उनमे फल के सकल्प के त्याग से अथवा ब्रह्म के वोध से सन्यास हो नही सकता, क्योंकि, (याग या ब्रह्मवोध दोनों) स्वरूप से ही सावद्य पापयुक्त है।

यज्ञयागादि क्रिया इहलोक-सम्वन्धी पुत्र-राज्यादि प्राप्तिरूप फल के सकल्प का त्याग करने से कर्मयोग होते हुए भी उससे मन की शुद्धि नही हो सकती, इसी प्रकार 'उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय का कारण ब्रह्म है' इस प्रकार का ब्रह्मज्ञान हो जाने मात्र से सन्यास (ज्ञानयोग) नही हो सकता। क्योंकि स्वरूप से (क्रियाओं के देखने से) ही प्रतीत हो जाता है कि ये सावद्य (पापकारी) क्रियाएँ है। इसलिए परहिंसा की तरह वे ब्रह्मज्ञान या मन शुद्धि का कारण नही हो सकती।

नो चेदित्थं भवेच्छुद्धिर्गोहिंसादेरपि स्फुटा।
श्येनाद्वा वेदविहिताद् विशेषानुपलक्षणात् ॥३०॥

अगर ऐसा न हो तो फिर गोहिंसा आदि से स्पष्टरूप से मन शुद्धि होने लगेगी, अथवा वेदविहित श्येनयाग से मन शुद्धि हो जायेगी, क्योंकि उन दोनो मे कोई विशेषता (अन्तर) नही दिखती।

पहले कही हुई वात युक्तियुक्त न लगती हो और यागादि सावद्य कर्म से वे दोपशुद्धि मानते हो तो गाय आदि की हिंसा से भी स्पष्ट-रूप से चित्तशुद्धि होनी चाहिए अथवा वेदविहित (वेद मे जिसका निपेध नही किया है ऐसे) श्येन (वाज के) याग से भी शुद्धि होनी चाहिए, वह तो आपके (वैदिको के) लिए अप्रमाण है, क्योंकि गोवध निन्द्य माना गया है, तथा श्येनयाग अभिचार (मारण, मोहन आदि) के विषय मे प्रयुक्त होता है। अत: हमारा कहना है कि इन दोनो यागो से भी शुद्धि होनी चाहिए, क्योंकि वेदविहित हिंसा मे और अन्य हिंसा मे कुछ भी विशेषता=पाप की न्यूनाधिकता—नही दिखाई देती। अत: यज्ञयागादि हिंसाकर्म वस्तुत सावद्य है। इनसे मन शुद्धि नही हो सकती, न इसे कर्मयोग कहा जा सकता है। कर्मयोग तो चित्तशुद्धि करके ज्ञानयोग का साधक वनता है।

सावद्य कर्म नो तस्मादादेयं बुद्धिविप्लवात्।
कर्मोदयागते त्वस्मिन्न सकल्पादवन्धनम् ॥३१॥

इससे वुद्धि का विपर्यास होता है, इसीलिए सावद्यकर्म ग्रहण करने योग्य नही है। कदाचित् कर्म के उदय से ऐसा सावद्यकर्म प्राप्त हो गया हो तो उसमे सकल्प न होने के कारण वह पापकर्मवन्धक नही होता।

यज्ञयागादि कर्म करने से चित्त मे हिंसक परिणाम उत्पन्न होते हैं, उस समय वुद्धि मे विपरीतता (दुर्वृत्ति) पैदा होती है। अत सावद्यकर्म करने से योग नही हो सकता, वह उपादेय नही होता। यदि सयोगवश कभी असह्य रोगादि उपद्रव आ जाए और आधाकर्मादि सावद्यकर्म का सेवन करना पड़े तो उसका मन मे संकल्प नही होना चाहिए, वल्कि मन मे उसका दुख (पश्चात्ताप) होना चाहिए। ऐसा होगा तो सावद्यकर्म

होते हुए भी वह वस्तुत. सावद्य (पापकारी) नही होगा, और उससे अशुभ (पापकर्म) का बन्ध नही होगा। इस प्रकार मारने की बुद्धि से किया हुआ कर्म अबन्धक है, ऐसा नही कहा जा सकता, मगर आपवादिक रूप से कदाचित् मारने की अबुद्धि से, लाचारी से ऐसा कर्म सेवन किया जाए तो वह पापकर्मानुबन्धक नही होगा।

कर्माऽप्याचरतो ज्ञातुर्मुक्तिभावो न हीयते।
तत्र संकल्पो बन्धो गीयते यत्परैरपि ॥३२॥

ज्ञानी पुरुष के द्वारा कर्म का आचरण होने पर भी उसके मुक्तिभाव का ह्रास नही होता, क्योकि उसमे सकल्प से ही बन्ध उत्पन्न होता है, इस विषय मे दूसरे दर्शनकारो ने भी कहा है।

अपवादमार्ग मे शुभाशुभ कर्म का आचरण करने पर भी ज्ञानी पुरुष के मुक्ति का भाव (अभिलाषा) क्षीण नही होता, क्योकि क्रिया की प्रवृत्ति मे संकल्प से जनित यानी हिंसादि के अध्यवसाय से उत्पन्न होने वाला कर्मबन्ध नही होता। इस कारण शुभपरिणामी को कर्मबन्ध नही होता। इस विषय मे अन्य दर्शनकारो ने भी निम्नलिखित रूप मे कहा है

कर्मण्यकर्म य. पश्येदकर्मणि च कर्म य।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्त कृत्स्नकर्मकृत् ॥३३॥

जो मनुष्य कर्म मे अकर्म देखता है और अकर्म मे कर्म देखता है, वही मनुष्यो मे बुद्धिमान है और वही समस्त कर्म करने वाला, एव युक्त (कर्मयोगी) है।

जो विद्वान् कर्म (क्रिया की प्रवृत्ति) मे अकर्म को देखता है, यानी जीव अक्रियत्व की प्राप्ति का कारण है, इसलिए उसे क्रियारहित देखता है अशुभसकल्प का अभाव होने से अशुभकर्म के निमित्त वाले बन्ध से रहित के रूप मे देखता है। तथा जो पुरुष अकर्म (शुभक्रियावर्जित) मे कर्म (सकल्प से उत्पन्न हुए बन्ध) को देखता है, वही पुरुष मनुष्यो मे बुद्धिमान है और वही युक्त (कर्मयोगी) है, सम्पूर्ण क्रिया करने वाला है।

कर्मण्यकर्म वाकर्म कर्मण्यस्मिन्नुभे अपि।
नोभे वा भंगवैचित्र्यादकर्मण्यपि नो मते ॥३४॥

कर्म में अकर्म माना है, अथवा अकर्म में कर्म माना है और ये दोनों इस कर्मयोग मे माने हैं, अथवा ये दोनों इस कर्मयोग में नहीं माने हैं, क्योकि भंगो (विकल्पों) की विचित्रता है। इस कारण अकर्म मे भी ये नही माने गये हैं।

कर्म (वर्ण के उच्चारण और शरीर की मुद्रा के विन्यासरूप क्रियायोग) मे अकर्म (सद्भूत अर्थ-परमार्थ के चिन्तन और शुद्धस्वरूप के अवलम्बनरूप चित्त के निरोधरूप ज्ञानयोग) को माना है, अथवा अकर्म (अकेले ज्ञानयोग) को कर्म (क्रियायोग) में माना है, क्योंकि मन के व्यापार वगैरह की इसमे प्रवृत्ति होती है, तथा कर्मयोग और ज्ञानयोग दोनो भी कर्मयोग मे माने गए हैं, क्योकि आवश्यकादि करते हुए भी वे श्रद्धा, मेधा, निर्मलवृत्ति, चित्त की स्थिरता, स्मृति एव तत्वचिन्तन आदि से युक्त होते हैं। तथा ये दोनों नही माने गए हैं, क्योकि तीव्र, मन्द वगैरह परिणामो से उत्पन्न हुए विकल्पो (भंगो) की विचित्रता है। इसी प्रकार अकर्म (ज्ञानयोग) के सम्बन्ध मे भी नही माने हैं। इस दृष्टि से मुख्यतया ८ भंग होते हैं-(१) कर्म में अकर्मस्वरूप कर्मयोग, (२) कर्म में कर्मस्वरूप कर्मयोग, (३) कर्म मे कर्म-अकर्मस्वरूप कर्मयोग, (४) कर्म में न कर्म, न अकर्मस्वरूप कर्मयोग, (५) अकर्म में न अकर्मरूप कर्मयोग, (६) अकर्म में कर्मस्वरूप कर्मयोग, (७) अकर्म मे कर्म-अकर्मस्वरूप कर्मयोग और (८) अकर्म में न कर्म, न अकर्मस्वरूप कर्मयोग। इसमे चौथा और आठवां भंग शून्य होने से ये दोनो त्याज्य है। शेष भंग उपादेय हैं। इस प्रकार अनेक भेद होते है। इस श्लोक का भावार्थ बहुश्रुत से जान लेना चाहिए।

कर्मनैष्कर्म्यवैषम्यमुदासीनो विभावयन्।
ज्ञानी न लिप्यते भोगैः पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥३५॥

उदासीन ज्ञानी कर्मयोग और निष्कर्म (ज्ञान) योग की विषमता (असदृशता) पर विचार करते हुए जल से कमल के पत्ते की तरह भोगो मे लिप्त नहीं होता।

ज्ञानयोगी उदासीन (राग-द्वेष आदि के बीच मे रहता हुआ भी मध्यस्थ परिणाम वाला) हो कर कर्मयोग और नैष्कर्म्य (ज्ञानयोग) के अनेक भेदो की विषमता (असदृशता) पर चिन्तन करता हुआ शब्दादि भोगो से उसी प्रकार लेपायमान नही (निवृत्त परिणामो से युक्त) होता है, जिस प्रकार जल से कमल का पत्ता लिप्त नही होता।

पापाकरणमात्राद्धि, न मौनं विचिकित्सया ।
अनन्यपरमात् साम्याज्ज्ञानयोगी भवेन्मुनि ॥३६॥

केवल पापकर्म न करने से ही विचिकित्सा के कारण मुनित्व नही कहलाता, अपितु परम उत्कृष्ट समता से ज्ञानयोगी मुनि कहलाता है।

पाप के फलस्वरूप कदाचित् दुर्गति मिलेगी, इस प्रकार की विचिकित्सा (सशय) मे (भविष्य मे) पापकर्म (अशुभक्रिया सावद्यक्रिया) मे यत्न न करने से ही मुनित्व नही कहलाता (कोई वास्तविक मुनि नही कहलाता); अर्थात् धर्म के विषय में तथा स्वरूप का विवेक करने मे सशय का निवारण न होने से फल के विषय में सदेह होता हो तो, ऐसी स्थिति मे मुनित्व नही कहलाता। किन्तु विविध आपवादिक-प्रसगो मे भी चित्त मे समाधि हो, रागद्वेष के प्रसगो मे मध्यस्थता हो, उत्कृष्ट समता हो, ऐसे ज्ञानयोगी ही वस्तुत मुनि कहलाते है। (तात्पर्य यह है कि अपवादमार्ग मे कभी आधाकर्मादि सावद्य (पाप) कर्म-सेवन करना पड़े अथवा जैसे धर्म की रक्षा के लिए महामुनि विष्णुकुमार को धर्मविरोधी उद्दण्ड नमुचि को शिक्षा (दण्ड) देनी पड़ी, अथवा जैसे उद्दण्ड एव साध्वी-शीलहरणतत्पर राजा गर्दभिल्ल को शासन से हटाने के लिए कालकाचार्य को प्रयत्न करना पड़ा, वैसे ही अपवाद के तौर पर प्रयत्न करना पड़े, तब भी चित्त मे समाधि, रागद्वेष के प्रसगो मे माध्यस्थ्य एव उत्कृष्ट समत्व कायम रहे, तो उस ज्ञानयोगी का मुनित्व सुरक्षित रहता है।

विषयेषु न रागी वा, द्वेषी वा मौनमश्नुते ।
सम रूपं विदस्तेषु न ज्ञानयोगी न लिप्यते ॥३७॥

ज्ञानयोगी विषयो मे रागी या द्वेषी नही होता, इसी कारण वह मुनित्व अर्जित कर लेता है। विषयो में समान-रूप जान कर ज्ञानयोगी उनमे लिप्त (आसक्त) नही होता।

आत्मा मे रमण करने वाला तथा मुक्ति के व्यापार (प्रवृत्ति) मे लगा हुआ ज्ञानयोगी शब्द-रूप-रस-गन्ध-स्पर्शरूप विषयो में राग (मोह या आसक्ति) वाला या द्वेष) वैर, ईर्ष्या-रोषादि) वाला नही होता। इसी कारण ऐसा साधु मुनित्व को अर्जित कर लेता है। वह शब्दादि विषयो का सेवन करे या न करे, दोनो अवस्थाओ मे उसमे राग-द्वेष नही होता, दोनो के प्रति उसमे समभाव होता है। यानी इष्ट अथवा अनिष्ट का परिहार करके उन्हे वह एक पुद्गल रूप मे जानता-मानता है, वह लिप्त (पापकर्म में बद्ध आसक्त) नही होता। इसीलिए उसको मुनित्व प्राप्त रहता है। किन्तु पूर्वोक्त तथाकथित साधक, जो केवल पापकर्म नही करते, वे मुनित्व अर्जित नही करते।

सत्तत्वचिन्तया यस्याभिसमन्वागता इमे।
आत्मवान् ज्ञानवान् वेदधर्मब्रह्ममयो हि स ॥३८॥

ये शब्दादि विषय यथार्थस्वरूप के चिन्तनरूप मे जिस साधक के अपने उपभोग मे भलीभांति आगए हैं, वही आत्मवान् है, ज्ञानवान् है, वेदमय है, धर्ममय है और ब्रह्ममय है।

जिस साधक के ये शब्दादि विषय सत्तत्व (परमार्थ) से दु खकर आदि स्वरूपसहित यथार्थरूप) के चिन्तन से अपने उपभोग मे भली-भांति आ गए हैं, यानी अपने वश मे (हस्तगत) हो चुके है, वही योगी आत्मवान् (जिसके आत्मा आधीन है) है, वही ज्ञानी है, वेद-(समस्त शास्त्रज्ञान) मय, धर्म (शान्ति आदि अन्य धर्म) मय और ब्रह्म-(आत्म स्वरूप) मय है।

वैषम्यबीजमज्ञानं निघ्नन्ति ज्ञानयोगिन.।
विषयांस्ते परिज्ञाय लोकं जानन्ति तत्वतः ॥३९॥

ज्ञानयोगी विषमता के बीजरूप अज्ञान को ही खत्म कर देते है। वे विषयो को समग्ररूप से जान कर लोक को तत्त्वत. जानते है।

ज्ञानयोगी (आत्मा के प्रति प्रीति वाले) मुनि विषमता (इष्टानिष्ट भेद) के ग्रहणरूप वैषम्य के बीजरूप उत्पत्तिकारणरूप अज्ञान (विपरीत बोध) को नष्ट कर देता है। वे ज्ञानयोगी शब्दादि विषयों को

यथार्थरूप से जान कर लोक (समस्त चराचर वस्तुस्वरूप) को तत्त्वत (प्रियत्व या अप्रियत्व की कल्पना के स्वभाव से ऊपर उठ कर परमार्थ (वास्तविक) रूप मे जानते है। इसी कारण वे उसी प्रकार के हो जाते है। मतलब यह है कि वे समग्र लोकस्वरूप के ज्ञाता हो जाते है।

इतश्चापूर्वविज्ञानाच्चिदानन्दविनोदिन ।
ज्योतिष्मन्तो भवन्त्येते ज्ञाननिर्धूतकल्मषा ॥४०॥

इसके वाद वे ज्ञानयोगी अपूर्वविज्ञान से चिदानन्द के विनोदी वन कर ज्ञान से पापो का नाश करके ज्ञान-ज्योतिर्मय वन जाते है।

इसके पश्चात् यानी तत्त्वत. लोकस्वरूप के ज्ञान की प्राप्ति होने के वाद अपूर्वविज्ञान से (उत्तरोत्तर वर्धमान विशिष्ट ज्ञान से अनुभवरूप आभ्यन्तर क्रिया से) चिद्रूप ज्ञानरूप आनन्द मे क्रीडा (रमण) करने वाले वे ज्ञानयोगी ज्ञान से (शुद्ध, शुद्धतर वोध से) पाप का नाश करके कर्मरूपी रज से रहित केवलज्ञानज्योति से युक्त हो जाते हैं, अर्थात् आत्मस्वरूप के भोगी हो जाते है।

तेजोलेश्याविवृद्धिर्या पर्यायक्रमवृद्धित. ।
भाषिता भगवत्यादौ सेत्थभूतस्य युज्यते ॥४१॥

दीक्षापर्याय के क्रम की वृद्धि के साथ जो तेजोलेश्या की वृद्धि भगवती आदि सूत्रो में कही है, वह इस प्रकार के योगी के लिए उचित है, योग्य है।

मुनिदीक्षा (चारित्र) पर्याय जैसे-जैसे वढ़ता जाता है, वैसे-वैसे तेजोलेश्या की वृद्धि होती है। तेज आत्मधर्म का प्रकाशक ज्ञान, और लेश्या करुणादिरूप परिणाम की वृद्धि समृद्धि होती जाती है, ऐसा भगवती आदि प्रमुख शास्त्रो (सूत्रो) मे कहा है। वहाँ इन्द्रभूति गौतमस्वामी ने भगवान महावीर से प्रश्न किया "प्रभो! जो अभी श्रमण निर्ग्रन्थ विचरण करते है, वे कौन-सी तेजोलेश्या-चित्तसुख का उल्लघन करते है? भगवान् ने कहा—"गौतम! एक मास की दीक्षापर्याय वाला श्रमण मुनि वाणव्यन्तर देवो के सुख का उल्लघन करता है। दो मास का दीक्षित साधु असुरेन्द्र को छोड कर नौ निकाय के भवनपति देवो के सुख

को लाघ जाता है। तीन मास के दीक्षापर्याय वाला मुनि असुरकुमारेन्द्र देवो के सुख को लाघ जाता है। ४ मास पर्याय वाला मुनि चन्द्र और सूर्य के सिवाय ग्रहगण, नक्षत्र और तारारूप ज्योतिष्क देवो के सुख को लाघ जाता है। छह मास का दीक्षित मुनि सौधर्म और ईशान देवो के सुख को लाघ जाता है। ७ मास का दीक्षित मुनि सनत्कुमार और माहेन्द्र देवो के सुख को लाघ जाता है। आठ मास के दीक्षापर्याय वाला मुनि ब्रह्मलोक और लातक देवो के सुख को, नौ मास का दीक्षित मुनि महाशुक्र और सहस्रार देवों के सुख को, दस मास का दीक्षित मुनि आणत, प्राणत, आरण और अच्युत देवों के सुखो को, ग्यारह मास का दीक्षित मुनि नवग्रैवेयकदेवो के सुख को एव वारह मास के दीक्षा-पर्याय वाला मुनि अनुत्तरौपपातिक देवो के सुखो को उल्लघन कर जाता है। सवत्सर के वाद शुक्ल (विशुद्ध, अभिन्नचारित्री अमत्सरी, कृतज्ञ, सदारम्भी, हितानुवन्धी, निरतिचारचारित्री), परमशुक्लपरिणामी (अकिचन, आत्मनिष्ठ और सदागम से विशुद्ध) हो कर सिद्ध, वुद्ध, मुक्त होता है, परिनिर्वाण पद को प्राप्त करता है, और सव दु.खो का अन्त करता है।"

इस प्रकार शुभलेश्या की वृद्धि ज्ञानयोगी को होती है, जिसका सवेग मंद हो, उसे वह लेश्या प्राप्त नही होती।

विषमेऽपि समेक्षी य स ज्ञानी स च पण्डित ।
जीवन्मुक्त स्थिरं ब्रह्म तथा चोक्तं परैरपि ॥४२॥

जो विषम मे भी समदृष्टि रखता है, वही ज्ञानी है, पण्डित है, जीवन्मुक्त है और स्थिर तथा ब्रह्म भी वही है। अन्य दर्शनकारो ने भी यही कहा है। जाति, कुल, रूप, विनय, विद्या, ऐश्वर्य, वुद्धि आदि से हीन या अधिक (विषम) जीवो को देख कर जिस आत्मा मे समदृष्टि है, अर्थात् जो समभाव से देखता है, वही पुरुष सर्वज्ञेयवस्तु का ज्ञाता है, वही पण्डित (विद्वत्ता के फलस्वरूप क्रिया मे दक्ष) है, वह ससार मे रहते हुए भी जीवन्मुक्त इस जन्म मे कर्मवन्धरहित है। और वही स्थिर (निश्चल) परमात्मस्वरूप ब्रह्म को प्राप्त करता है। यही वात भगवद्-गीता अ.५ श्लोक १८ मे कही है

विद्या-विनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिता' समदर्शिन'।।४३।।

विद्या और विनय से युक्त ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ता और चाण्डाल आदि पर पण्डित सर्वत्र समदर्शी होते हैं।

ज्ञानी समदृष्टिपुरुष विद्या (शास्त्र से सम्बन्धित विद्वता) और विनय (निवृत्ति के परिणामस्वरूप पूज्य की पूजा करने का स्वभाव) इन दोनो से युक्त ब्राह्मण पर, गाय पर, हाथी पर, कुत्ते पर और कुत्ते के पकाने वाले चाण्डाल पर सर्वत्र तुल्य वाले (समदर्शी) होते हैं, किन्तु ऐश्वर्य आदि भेद के ग्रहण करने वाले नही होते; क्योकि वे आत्मा के यथार्थस्वरूप को जानते हैं।

इहैव तैर्जित सर्गो येषां साम्ये स्थित मन ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म, तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिता: ।।४४।।

जिनका मन समता मे स्थित हो गया है, उन्होने इसी जन्म मे ससार को जीत लिया है, क्योकि ब्रह्म निर्दोष और समरूप है। इस कारण वे इस ब्रह्म मे ही स्थित है, यह समझना चाहिए।

जिन योगियो का मन समभाव मे स्थिर हो गया है, उन मुनीश्वरो ने इसी जन्म मे सारा ससार जीत लिया है, वश कर लिया है। अर्थात् उन्होने ससारसमुद्र को पार कर लिया है; क्योकि समस्त उपाधियो से रहित आत्मस्वरूप वह ब्रह्म निर्दोष (राग-द्वेषादि दोषो विकारो से रहित) और सम (सदा-सर्वदा एकरूप) है। इस कारण वे योगी पूर्ण-ब्रह्मस्वरूप मे ही स्थित है। फलितार्थ यह हुआ कि मुमुक्षु को निरन्तर समता मे ही स्थित रहना चाहिए। इसी सन्दर्भ मे गीता मे आगे और कहा है

न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य, नोद्विजेत् प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसम्मूढो, ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थित ।।४५।।

ब्रह्म मे स्थित, स्थितप्रज्ञ (स्थिरबुद्धि वाला) एव असम्मूढ (सम्मोह-रहित) ब्रह्मवेत्ता (ब्रह्मज्ञानी) प्रिय वस्तु को पा कर हर्षित नही होता तथा अप्रिय पाकर उद्विग्न नही होता ।

समस्वभावरूप ब्रह्म (साम्यरूप) मे स्थिर रहने वाला, ब्रह्मज्ञानी (पूर्वोक्त लक्षणो से युक्त शुद्ध आत्मस्वरूप ब्रह्म का जानने वाला) स्थितबुद्धि और सर्वव्यामोह से रहित पुरुष प्रिय (इष्ट) वस्तु पा कर चित्त मे प्रसन्न नही होते और अप्रिय (अनिष्ट) वस्तु पा कर उद्विग्न नही होते ।

अर्वाग्दशायां दोषाय वैषम्ये साम्यदर्शनम् ।
निरपेक्षमुनीनां तु राग-द्वेषक्षयाय तत् ॥४६॥

अर्वाग्दशा की विषमता मे समदृष्टि (साम्यदर्शन) दोष के लिए होती है, जबकि निरपेक्षमुनि के वही समदृष्टि रागद्वेष के क्षय करने के लिए होती है ।

अर्वाग्दशा अर्थात् वीतरागदशा से पहले की व्यवहाररूप सराग-दशा में इष्ट और अनिष्ट पर तथा उच्चत्व और नीचत्व (वैषम्य) पर जो समदृष्टि (सर्वत्र एक सरीखे व्यवहार से देखना, समस्त प्राणिवर्ग को एक रूप में देखना, साम्यरूप से ही व्यवहार करना) धर्मध्वंसादि अनेक अनर्थों (दोषो) की प्राप्ति के लिए होती है (अनेक दोषों के आने की सम्भावना है), किन्तु अपेक्षा—(व्यवहार के निर्वाह की इच्छा से) रहित (निरपेक्ष) मुनियो के लिए वही (पूर्वोक्त) विषमता के प्रति रखी हुई समदृष्टि राग-द्वेषविनाशिनी होती है । निःस्पृह महामुनियो के द्वारा विषमता मे रखी हुई वह साम्यदृष्टि रागद्वेषादि के क्षय के लिए गुणवृद्धिकारक होती है ।

रागद्वेषक्षयादेति ज्ञानी विषयशून्यताम् ।
छिद्यते भिद्यते चाऽयं, हन्यते वा न जातुचित् ॥४७॥

ज्ञानी राग-द्वेष के क्षय होने से विषयो की शून्यता को प्राप्त कर लेता है । उसका कदापि किसी के द्वारा छेदन, भेदन या विनाश नही हो सकता ।

ज्ञानयोगी मुनि के जब रागद्वेष सर्वथा क्षीण हो जाते है, तब वे शब्दादिविषयो से शून्य हो जाते हैं, अर्थात् इष्टानिष्ट शब्दादिविषयो

को ग्रहण करने मे उनकी चित्तवृत्ति सर्वथा शून्य हो जाती है, यानी कोई भी विषय उनमे रहता नही, सर्वथा विषयाभाव हो जाता है। बल्कि अन्तरविषयक ध्यान मे इतनी अधिक एकाग्रता हो जाती है कि वे कदापि तीक्ष्णशस्त्रादि से छेदे-भेदे या हनन नही किये जाते। तात्पर्य यह है कि उनकी आत्मध्यान की धारा उस समय बिलकुल छिन्न-छिन्न नही होती। भले ही कोई कितना ही उनके शरीर को काटे, पीटे, टुकडे करे या मार दे, फिर भी उनकी ध्यानधारा निरन्तर अखण्डित रहती है अथवा उन पर कोई कितना ही शस्त्र आदि से प्रहार करे या मार डालना चाहे तो उसके प्रति राग-द्वेषादि के परिणाम से परिणतिभेद नही प्राप्त करते, धर्म से जरा भी च्युत (ध्वस्त) नही होते। उस समय रागद्वेष करके आत्मा के यथार्थ (वस्तु) स्वरूप का छेदन, भेदन या नाश वे नही होने देते।

अनुस्मरति नातीत, नैव काक्षत्यनागतम्।
शीतोष्णसुखदु खेषु समो मानापमानयो ॥४८॥

ज्ञानी पुरुष बीते हुए समय (अतीत की बातो का) स्मरण नही करते, तथा अनागत की इच्छा नही करते एव शीत-उष्ण, सुख-दु ख, मान-अपमान इन सब स्थितियो मे सम रहते है। अत्र आठ श्लोको द्वारा ज्ञानयोगी का स्वरूप बताते है

आत्मा मे रमण करने वाला ज्ञानयोगी पूर्वकाल (भूतकाल) मे अनुभव किये हुए सुख-दु ख ईष्ट और अनिष्ट भोग आदि का स्मरण नही करते तथा अनागत (प्राप्त न हुए=भविष्य मे प्राप्त होने वाले) देवेन्द्र आदि के भोग-विलास आदि की इच्छा नही करते। सर्दी और गर्मी, धूप और छाया, इष्ट भोजन, पूजा-सत्कारादि सुख और अनिष्ट भोजन आदि या उपसर्ग-परीषहादि के दु ख को, अथवा राजादि द्वारा किए जाने वाले भक्ति-सत्काररूपी मान और साधारण-जन द्वारा किए गए अपमान को समान मानते हैं, ऐसी विषम स्थितियो मे भी उनके चित्त मे हर्ष-विषाद नही होता। वे अपनी अध्यात्म की अद्भुत मस्ती मे मस्त रहते हैं।

जितेन्द्रियो जितक्रोधो मानमायानुपद्रुत ।
लोभसस्पर्शरहितो, वेदखेदविवर्जित: ॥४९॥

वे (ज्ञानयोगी) जितेन्द्रिय, क्रोधविजयी, मान और माया के उपद्रव से रहित, लोभ के स्पर्श से रहित, एव वेदोदयजनित काम की पीडा से मुक्त होते हैं।

ज्ञानयोगी इन्द्रियो के विजेता होते है, क्रोधादि कषायो पर नियन्त्रण कर लेते हैं, जाति आदि आठ प्रकार के मद के उपद्रव से दूर होते है, माया-कपट आदि के प्रभाव से रहित होते हैं, लोभ तृष्णा से भी बिलकुल अछूते होते हैं वेदोदयजनित कामवासना की पीडा से मुक्त होते हैं। उन्हे मोक्षमार्ग मे अपूर्व पुरुषार्थ करने में खेद (सताप) नही होता। मतलब यह है कि अध्यात्म-साम्राज्य की प्राप्ति का उन्हे अपूर्व आनन्द होता है।

सन्निरुध्यात्मनाऽत्मान स्थित स्वकृतकर्मभित् ।
हठप्रयत्नोपरत सहजाचारसेवनात् ॥५०॥

वह (ज्ञानयोगी) आत्मा से आत्मा (मन या स्वभाव) को रोक कर स्थित रहता है, स्वकृत कर्मो का भेदन करता है। सहज आचार का पालन करने के कारण वह हठ (बलात्) प्रयोगो से निवृत्त (उपरत) रहता है।

ज्ञानयोगी आत्मा (शुद्धोपयोग) से आत्मा (मनरूपी आत्मा) को रोक कर यानी सदैव अपनी आत्मा मे लीन करके अपने आत्मस्वरूप मे स्थित (स्थिर) रहता है, तथा इससे वह अपने रागादि परिणामो द्वारा कृत (सचित) आत्मा के साथ बन्ध के सम्बन्ध से प्राप्त किए हुए ज्ञानावरणीयादि शुभाशुभ कर्मो का भेदन करता है। तथा सहज (स्वाभाविक) रूप से आचार (आत्मा द्वारा आचरण करने योग्य व्यवहार) का सेवन करने के कारण वह इन्द्रियो और मन को हठपूर्वक जबर्दस्ती रोकने या उन्हे कदाग्रहपूर्वक निष्क्रिय बनाने की प्रवृत्ति से निवृत्त होता है।

लोकसंज्ञाविनिर्मुक्तो मिथ्याचारप्रपञ्चहृत् ।
उल्लसत्कण्डकस्थान परेण परमाश्रित. ॥५१॥

तथा लोकसंज्ञा से मुक्त, मिथ्या-आचार के प्रपञ्च का नाशक, कण्डकस्थान में उल्लास रखने वाला तथा उत्कृष्ट भाव से आत्मा के आश्रित होता है।

ज्ञानयोगी लोकसंज्ञा से बिल्कुल मुक्त होता है, यानी साधारण लोगों की देखादेखी व्यवहार करने की बुद्धि से बिल्कुल रहित, केवल लोकोत्तर परमार्थद्रष्टा होता है। वह लौकिक मिथ्याचार (दम्भयुक्त व्यवहार) के प्रपञ्च को तोड़ता है यानी वह इस झूठे दिखावे का त्याग कर देता है, कण्डक यानी अंगुल से नापे हुए आकाशखण्ड में स्थित प्रदेश राशि के प्रमाण वाले स्थानों अर्थात् संयम के अध्यवसाय की तर-तमता से उत्पन्न परिणति के स्थानों को वृद्धिगत (उल्लसित-विकसित) करने वाला तथा प्रकर्षयोग के कारण अत्यन्त उज्ज्वल आत्मभावदशा को प्राप्त (आश्रय ले कर स्थित) होता है।

श्रद्धावानाज्ञया युक्तः शस्त्रातीतो ह्यशस्त्रवान् ।
गतो दृष्टेषु निर्वेदमनिह्नुतपराक्रमः ॥५२॥

तथा श्रद्धावान्, जिनाज्ञा से युक्त, शस्त्रों को भी मात करने वाला (अशुभ अध्यवसायशस्त्रमुक्त), तथापि बाह्यशस्त्रों से रहित, पौद्गलिक पदार्थों के प्रति निर्वेद (वैराग्य) को प्राप्त और अपनी आत्मशक्ति (आत्मवीर्य) को नहीं छिपाने वाला।

तथा ज्ञानयोगी मोक्ष के प्रति श्रद्धा, रुचि, आदर-भक्ति आदि से परिपूर्ण (युक्त) जिनाज्ञा की आराधना में तत्पर होता है, वह शस्त्रों से अतीत यानी भावधर्म को विदारण करने में समर्थ अशुभअध्यवसाय-रूप भावशस्त्र का अतिक्रमण करने वाले यानी भावशस्त्रों से परे, अशस्त्रवान (बाह्य शस्त्रों का त्यागी) दृष्ट पौद्गलिक पदार्थों के प्रति निर्वेदप्राप्त उदासीन और आत्मशक्ति (स्ववीर्य) को न छिपाने वाला होता है।

निक्षिप्तदण्डो ध्यानाग्निर्दग्धपापेन्धनव्रजः ।
प्रतिस्रोतोऽनुगतत्वेन लोकोत्तरचरित्रभृत् ॥५३॥

वह दण्ड से दूर, ध्यानरूपी अग्नि से पापरूपी काष्ठसमूह का

जलाने वाला एव लोकप्रवाह से विपरीत अनुगमन करने (प्रतिस्रोतो-ऽनुगामी होने) से लोकोत्तरचरित्र का धारक होता है।

ज्ञानयोगी दूसरो के प्राणहारक और आत्मा के धर्मरूपी जीवन का हरण करने वाले मन-वचन-काया से समुत्पन्न आरम्भरूप दण्ड को दूर करने वाला, धर्मध्यान-शुक्लध्यानरूपी अग्नि से पाप (अशुभकर्म) रूपी लकडियो के ढेर को जला डालने वाला, लोकप्रवाह की अपेक्षा से उससे प्रतिकूल गमन करने वाले प्रवाह का अनुसरण करने से वह राजहंसवत् लोकोत्तर चरित्र (अलौकिक उच्च ध्यानादि लीला के अनुष्ठान का) कर्ता-धर्ता होता है।

लब्धान् कामान् बहि-कुर्वन्नकुर्वन् बहुरूपताम्।
स्फारीकुर्वन् परं चक्षुरपरं च निमीलयन् ॥५४॥

प्राप्त हुए काम-भोगो को दूर ठेलता हुआ, तथा बहुरूपियापन नही धारण करने वाला, वह ज्ञानयोगी ज्ञानचक्षु को विकसित करता (खोलता) है और अज्ञानचक्षु को बन्द करता है। ज्ञानयोगी प्राप्त हो सकने वाले इष्ट कामो (भोगो) को मन रूपी घर से बाहर फेंक देता है, उनका बहिष्कार कर देता है वह क्षणभर मे रागी, क्षण में विरागी, एक क्षण में रुष्ट और दूसरे ही क्षण तुष्ट, इस प्रकार का बहुरूपियापन कदापि नही अपनाता। वह उस समय निर्मलता के कारण उत्कृष्ट (ज्ञानरूपी) नेत्रो को उघाड देता है और दूसरे चर्मनेत्रो-अज्ञाननेत्रो को बन्द कर देता है। अर्थात् वह आत्मध्यान मे इतना तल्लीन हो जाता है कि उसके अज्ञाननेत्र स्वत=सर्वथा बन्द हो जाते है, अज्ञान स्वयमेव भाग जाता है।

पश्यन्नन्तर्गतान् भावान् पूर्णभावमुपागत।
भुञ्जानोऽध्यात्मसाम्राज्यमवशिष्ट न पश्यति ॥५५॥

और फिर वह अपनी आत्मा में रहे हुए पदार्थो का निरीक्षण करता हुआ पूर्णता (पूर्णभाव) को प्राप्त कर लेता है और अध्यात्मराज्य का निष्कंटक उपभोग करता हुआ अन्य कुछ (किसी को) भी नही देखता।

इसके बाद ज्ञानयोगी आत्मप्रदेश मे फैले हुए विशुद्ध भावो—ज्ञान

आदि गुणों (अथवा उत्पाद वगैरह विविध पर्यायों) की वृद्धि के अशों को देखता हुआ एक दिन पूर्णभाव (समग्र इच्छा की पूर्णता) को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार आध्यात्मरूपी–आत्मा की अनन्तसम्पदारूपी–साम्राज्य (आत्मा के उत्कृष्ट ऐश्वर्य) का उपभोग करता हुआ ज्ञानी-पुरुष अवशिष्ट (ऊपर कहे हुए से अतिरिक्त) अन्य कुछ भी नही देखता। क्योंकि अपने कार्य मे उसका कोई प्रयोजन न होने से बाकी का सब कुछ उसके लिए प्रयोजनरहित है। इस तरह आठ श्लोको मे कथित लक्षण वाला पुरुष ज्ञानयोगी कहलाता है।

श्रेष्ठो हि ज्ञानयोगोऽयमध्यात्मन्येव यज्जगौ।
बन्धप्रमोक्षं भगवान् लोकसारे सुनिश्चितम् ॥५६॥

अध्यात्ममार्ग में यह ज्ञानयोग सबसे श्रेष्ठ है, क्योंकि भगवान् ने लोकसार मे अत्यन्त निश्चित बन्ध का मोक्ष बताया है।

अध्यात्ममार्ग की सिद्धि के लिए ज्ञानयोग (ज्ञानरूप मोक्षोपाय) सबसे श्रेष्ठ है, क्योंकि भगवान् महावीर ने आचाराग के लोकसार नामक पंचम अध्ययन मे अत्यन्त निश्चित किये हुए बन्ध (कर्म के बन्धन) से मुक्त होने की बात कही है।

उपयोगैकसारत्वादाशवसंमोहबोधत ।
मोक्षाप्तेर्युज्यते चैतत्तथा चोक्तं परैरपि ॥५७॥

उपयोग ही एकमात्र सार होने से इसी से शीघ्र सम्मोहरहित बोध होता है। इसलिए मोक्ष की प्राप्ति मे यही (ज्ञानयोग ही) युक्तियुक्त है, अन्य दर्शनकारो ने भी यही कहा है।

अध्यात्मरूप साधन में उपयोगरूपी इष्ट साध्य है। इससे मन की एकाग्रता होती है। जिससे शीघ्र ही भ्रान्तिरहित बोध (ज्ञान) होता है। और उसी से मोक्षपद की प्राप्ति होती है। इसलिए मोक्षसाधनो मे ज्ञानयोग की ही मुख्यता है। इस सम्बन्ध मे व्यासजी ने भगवद्-गीता अ ६, श्लोक ४६ मे भी कहा है

तपस्विभ्योऽधिको योगी, ज्ञानिभ्योऽप्यधिको मत ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी, तस्माद्योगी भवार्जुन ॥५८॥

योगी तपस्वियों से अधिक होता है, (योगी) पण्डितों से भी अधिक माना गया है। कर्म (क्रिया) काण्ड करने वालों से भी योगी अधिक होता है, इसलिए हे अर्जुन ! तू योगी बन।

हे अर्जुन ! योगी अर्थात् ज्ञानयोगी पुरुष मासोपवासादि तपस्या करने वाले तपस्वियों से बढ़कर श्रेष्ठ है, ज्ञानी अर्थात् वेदशास्त्रादि ज्ञाताओं से भी अधिक (बढ़ कर) योगी माना गया है। कर्मों (वेदोक्त क्रियाओं) के कर्ताओं से भी योगी श्रेष्ठ है, क्योंकि वह निवृत्ति में तत्पर है। इससे (पूर्वोक्त गुणों के प्राप्त करने वाले होने से) हे पांडव-श्रेष्ठ अर्जुन ! तू योगी ज्ञानयोगी हो जा।

समापत्तिरिह व्यक्तमात्मनः परमात्मनि।
अभेदोपासनारूपस्तत श्रेष्ठतरो ह्ययम् ॥५९॥

इस ज्ञानयोग में प्रवर्तमान आत्मा को परमात्मा के साथ एकत्व की प्राप्ति होती है। इस कारण यह अभेदोपासनारूप ज्ञानयोग ही सब से श्रेष्ठ है।

इस ज्ञानयोग में प्रवर्तमान आत्मा को परमात्मा=परिपूर्ण ब्रह्म के साथ समापत्ति (ध्याता और ध्येय के अभेदरूप से एकता की प्राप्ति) होती है। इस कारण से आत्मा और परमात्मा के अभेदोपासनारूप (जिसमें आत्मा और परमात्मा में कुछ भी भेद नहीं रहता, देव की आराधनारूप ऐसा) ज्ञानयोग, अन्य समस्त योगों में श्रेष्ठ है।

उपासना भागवती सर्वेभ्योऽपि गरीयसी।
महापापक्षयंकरी तथा चोक्तं परैरपि ॥६०॥

भगवान् की उपासना सबसे बढ़कर बड़ी है, तथा वह महापाप का क्षय करने वाली है। इस सम्बन्ध में अन्य दार्शनिकों ने भी कहा है।

परमात्मा की उपासना सेवा तपस्या आदि समस्त योगों से भी बहुत बड़ी है; तो फिर क्रियायोग से बड़ी हो, इसमें तो कहना ही क्या ? क्योंकि यह भगवदुपासना सर्वयोगसाध्य मोक्ष का साधन है, तथा यह महापापों का विनाश करने वाली है। इस विषय में अन्य दर्शनकारों ने (गीता के अ० ६, श्लो० ४७ में) भी कहा है, वह देखिये

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनाऽन्तात्मना ।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मत ॥६१॥

सभी योगियो मे जो श्रद्धावान् योगी मेरे मे रहे हुए अन्तरात्मा के रूप मे स्थित हो कर सदा मुझे भजता है, उसे ही मैने अत्यन्त योग्य माना है। इस श्लोक का रहस्यार्थ यह है। कि भक्ति के विना समस्त योग निष्फल हैं। भक्ति मे ही सभी योगो का समावेश हो जाता है। परब्रह्म के उपाय के उपासको समस्त योगियो मे जो श्रद्धावान् (मुमुक्षु) मेरे में रहे हुए अन्तरात्मा के रूप मे (मुझे आत्मरूप मे) मेरी उपासना करता=भक्ति करता है, उसे मैने सभी योगियों से श्रेष्ठ माना है।

उपास्ते ज्ञानवान् देवं यो निरञ्जनमव्ययम् ।
स तु तन्मयतां याति ध्याननिर्धूतकल्मष ॥६२॥

जो ज्ञानी पुरुष निरञ्जन और अविनाशी देव (परमात्मा) की उपासना करता है, वह ध्यान के द्वारा पापो का नाश करके तन्मयता देवरूपता को प्राप्त कर लेता है।

जो मुमुक्षु ज्ञानी यानी शुद्ध ज्ञानयोग से युक्त आत्मा निरञ्जन=समस्त कर्मलेपो से रहित और अविनाशी देव (ज्ञान की पराकाष्ठारूप परमात्मदेव) की उपासना (आराधना) करता है, वह उत्तम पुरुष धर्म-ध्यानादि के द्वारा कल्मष पापकर्म के अणुसमूह को सर्वथा नाश करके यानी आत्मप्रदेश से उन्हे पृथक् करके तन्मय निरञ्जन-अविनाशी देवरूप हो जाता है।

विशेषमप्यजानानो य कुग्रहविवर्जित ।
सर्वज्ञं सेवते सोऽपि सामान्ययोगमास्थित ॥६३॥

जो मुमुक्षु विशेष को नही जानता हुआ भी कदाग्रह से रहित है, तथा जो सर्वज्ञ की सेवा करता है, वह भी सामान्ययोग का आश्रय ले कर टिका हुआ है।

कोई मुमुक्षु तथाप्रकार के क्षयोपशम एवं बुद्धिपाटव के न होने से

सर्वज्ञ के विशेष 'अमुक व्यक्ति सर्वज्ञ है', इस प्रकार के निश्चयरूप भेद-को भलीभांति न जानता हो, तथापि जो कदाग्रह से रहित हो कर सामान्य सर्वज्ञ (समग्र सूक्ष्म, बादर, रूपी, अरूपी, दूरस्थ, निकटस्थ समस्त पदार्थों के समूह के ज्ञाता-द्रष्टा) सर्वदर्शी परमात्मा की सेवा करता है, यानी भेदरूप (विशेषरूप) से जानते हुए भी जो सर्वज्ञ और निरञ्जन है, वही मेरे लिए पूज्य और ध्येय हो, यो निर्धारित करके उपासना करता है। वह भी इस प्रकार विशेषरूप से नही जानते हुए भी सामान्य योग परब्रह्म की आराधना (सेवा-भक्ति-पूजादि रूप से) के सामान्य उपाय का आश्रय ले कर डटा हुआ है, ऐसा समझना चाहिए।

सर्वज्ञो मुख्य एकस्तत्प्रतिपत्तिश्च यावताम्।
सर्वेऽपि ते तमापन्ना मुख्यं सामान्यतो बुधा ॥६४॥

सर्वज्ञ मुख्य है, वह एक ही है, उस पर ऐसी प्रतिपत्ति (भक्ति-भावना) जितने भव्यो की है, वे सब पण्डित सामान्यतया मुख्यरूप से उसी सर्वज्ञ को प्राप्त हैं।

पूर्वोक्त सर्वज्ञ मुख्य है, इसलिए मुझे आराधना करने मे वही मुख्य (प्रधान) है वह एक ही है (यानी वह महादेवरूप मे हो, विष्णुरूप मे हो, अथवा जिनरूप मे हो, वास्तव मे निश्चयदृष्टि से सभी सर्वज्ञ एक ही है, क्योकि जो आवरणरहित है, उसे आश्रय का भेद (भिन्नता) कारण नही है। तथा जितने भव्यों का उस सर्वज्ञ मे भक्तिभाव है, वे सब सर्वज्ञभक्तरूप पण्डित हैं, वे सब सामान्यरूप से (अर्थात् विशेष व्यक्ति की प्राप्ति (ज्ञान) के अभाव से) उस मुख्य (सर्वश्रेष्ठ) सर्वज्ञ को को प्राप्त है।

न ज्ञायते विशेषस्तु सर्वथाऽसर्वदर्शिभि.।
अतो न ते तमापन्ना विशिष्य भुवि केचन ॥६५॥

असर्वज्ञ सर्वथा विशेष को नही जानते, इसलिए वे (आचार्य) पृथ्वी पर किसी देव को विशेषत सर्वज्ञरूप में मानते हैं, परन्तु वे वास्तविक सर्वज्ञ को प्राप्त नही करते।

जो सर्व (अशेष पदार्थ) के ज्ञाता-द्रष्टा नही है, ऐसे असर्वज्ञों द्वारा विशेष- (वस्तु का प्रतिव्यक्ति में निहित निश्चयरूप भेद) जाना नही जाता। अर्थात् वे वास्तविक सर्वज्ञ को पहिचान नही पाते। इस कारण वैसे कई वादी पृथ्वी में रहने वाले किसी भी देव या पुरुष को विशेष (भेद) करके (खासतौर से) सर्वज्ञ एव समदर्शी के रूप मे विश्लेषण करके उसके वारे मे सर्वज्ञत्व के आग्रही हो जाते है। यानी वे इस मर्त्यलोक के ही किसी देवविशेष या मनुष्यविशेष को ही सर्वज्ञ और सर्वदर्शी मान बैठते है, क्योकि उनकी दृष्टि मे सर्वज्ञत्व-असर्वज्ञत्व का विश्लेषण करने की शक्ति नही होती। अत वे वास्तविक सर्वज्ञ को स्वीकार नही कर पाते, अर्थात् वे अपने कदाग्रह से तत्पर हो कर योगरहित होते हैं। निष्कर्ष यह है कि सामान्यतया अलग-अलग नाम से जो सर्वज्ञ को अलग-अलग भावात्मा के रूप मे स्वीकार करते है, वे ही मुख्य सर्वज्ञत्व को प्राप्त कर सकते है।

सर्वज्ञप्रतिपत्त्यशात् तुल्यता सर्वयोगिनाम् ।
दूरासन्नादिभेदस्तु तद्भृत्यत्वं निहन्ति न ॥६६॥

सर्वज्ञ की उपासनारूप अश से समस्त योगियो की समानता है। इसलिए दूर या समीप इत्यादि भेद उनके सेवकत्व को नष्ट नही करता। सर्व यानी जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट भेद वाले योगियो (पर-ब्रह्म के उपाय के आराधको) की सर्वज्ञ सेवा के अश से (परिपूर्ण ब्रह्मरूप केवली की भक्ति आराधनारूप अश से), अर्थात् मोक्ष की आराधना के प्रकार से तुल्यता (समानता) है। परन्तु दूर (पुद्गलपरावर्त्त आदि चिरकाल के वाद महाकष्ट से प्राप्त करने) तथा आसन्न यानी अल्पकाल मे ही सिद्धि प्राप्त करने के वाद तथा आदि शब्द से सम्यक्त्व-प्राप्ति, मार्गानुसारीपद-प्राप्ति वगैरह जो भेद हैं, यानी मोक्ष के साधनो की भिन्नता है, वह उनके सर्वज्ञ-सेवकत्व का नाश नही कर सकती। जैसे प्रधान आदि राजा के निकटवर्ती सेवक होते है और कोई द्वारपाल आदि दूर के सेवक होते है, पर वे सभी सेवक कहलाते हैं, सभी राजा के आश्रित होते है, इसी प्रकार सर्वज्ञ के सेवक, चाहे वे निकटस्थ हो, या दूरस्थ, सभी सेवक कहलाते है। भले ही कोई उनमें आसन्नसिद्धिक

हो, कोई दूरसिद्धिक, है वे सर्वज्ञ के उपासक ही। अथवा दूर और आसन्न शब्द के ये अर्थ भी हो सकते है-जिनसम्बन्धी ध्यान और क्रियादि के प्रयत्न मे प्रवर्तमान और सक्षिप्तरुचि वाले सर्वज्ञसेवक को मोक्षप्राप्ति शीघ्र (समीप) ही संभव होती है, और वृत्ति के निरोध का क्लेश, इन्द्रियजय, अष्टागयोग इत्यादि अनुष्ठान के प्रयत्न मे प्रवर्त्तमान, अन्यदर्शनगत सक्षिप्तरुचि वाले सर्वज्ञसेवक को चिरकाल के पश्चात् मोक्षप्राप्ति संभव होती है, इस प्रकार का जो अन्तर है, वह भी सर्वज्ञ के उपासकत्व को नष्ट नही करता, उन्हे सर्वज्ञ के सेवक मानने से इन्कार नही करता।

माध्यस्थ्यमवलम्ब्यैव देवतातिशयस्य हि।
सेवा सर्वबुधैरिष्टा कालातीतोऽपि यज्जगौ ॥६७॥

माध्यस्थ्य का आश्रय ले कर ही देव के अतिशय की सेवा समस्त विद्वानो को ईष्ट है। इस विषय मे कालातीत नाम के आचार्य ने भी कहा है।

पूर्वोक्त कारण से देवातिशय (वीतरागपरमात्मा सकल दोप से रहित होने से सबसे अधिकता सर्वज्ञता ज्ञानातिशय मे माध्यस्थ्यभाव अपक्षपातित्व का आलम्बन ले कर शुद्धदेवत्व सर्वज्ञत्व की सेवा करना सभी तत्त्वदृष्टिवाले पण्डितो को ईष्ट मान्य है। इसके लिए कालातीत नामक किसी ग्रन्थकार ने भी कहा है।

अन्येषामप्ययं मार्गो मुक्ताविद्यादिवादिनाम्।
अभिधानादिभेदेन तत्त्वनीत्या व्यवस्थितः ॥६८॥

दूसरे मुक्तिवादी, अविद्यावादी वगैरह का मार्ग भी सिर्फ नाम के अन्तर से इसी तत्त्वनीति से व्यवस्थित है।

मुक्तवादी अर्थात् कर्मबन्धरहित आत्मा को सर्वज्ञ मानने वाले, तथा अविद्या (माया) से अलिप्त आत्मा को सर्वज्ञ मानने वाले, इस प्रकार के विभिन्न दूसरे वादियो का भी इस प्रकार प्रदर्शित मार्ग नाम (सज्ञा) वगैरह के थोड़ेसे अन्तर से भी वास्तविक रूप मे व्यवस्थित है। तत्त्वत सर्वज्ञ की विशिष्ट स्थापना मे वे एक (समान) ही है, वे एक ही सर्वज्ञ की सेवा करने वाले है।

मुक्तो बुद्धोऽर्हन् वाऽपि यदैश्वर्येण समन्वित.।
तदीश्वर. स एव स्याद्, संज्ञाभेदोऽत्र केवलम् ॥६६॥

मुक्त, बुद्ध या अर्हन् , जो कोई भी ऐश्वर्य से युक्त हो, वही ईश्वर कहलाता है। इसमें केवल सज्ञा (नाम) का ही भेद है।

परब्रह्मवादी जिसे मुक्त (कर्मबन्धरहित) कहते हैं, बौद्ध जिसे बुद्ध (तत्त्वज्ञानी) कहते हैं, जैन जिसे अर्हन् (इन्द्रादि द्वारा पूज्य) कहते हैं, वह किसी भी नाम से हो, जो ज्ञान, वैराग्य, यश, वीर्य वगैरह सकल ऐश्वर्य (समग्र साम्राज्य) से युक्त हो, वही ईश्वर है। वही ईश्वर मुमुक्षुजनो के लिए ध्येय (ध्यातव्य) ब्रह्मस्वरूप है, अर्थात् वही सर्वज्ञ है। उत्तरूप से ज्ञान की वृद्धि में तथा देव (सर्वज्ञ ईश्वर) के मानने मे भिन्न-भिन्न दर्शन के कारण केवल नाममात्र का ही भेद होता है, अर्थात् एक ही ईश्वर को विभिन्न दार्शनिक अलग-अलग नाम से पुकारते है। किन्तु इस प्रकार अनेक संज्ञाओ से एक ही ईश्वरतत्व अनेकरूप नही वन जाता, स्वरूपत. एक ही रहता है।

अनादिशुद्ध इत्यादिर्यो भेदो यस्य कल्प्यते।
तत्तत्तंत्रानुसारेण मन्ये सोऽपि निरर्थक:॥७०॥

अनादि-शुद्ध इत्यादि शब्दो से ईश्वर का जो भेद विभिन्न दर्शनकारो द्वारा कल्पित है, मै मानता हूँ, वह भी निरर्थक है।

शैवमत वाले ब्रह्मस्वरूप ईश्वर को अनादिशुद्ध कहते है, बौद्ध उसे प्रतिक्षणविनाशी कहते हैं, कोई उसे सर्वगत कहते हैं, कोई असंगत कहते है, इन सब सर्वज्ञ के नामो (भेद) की कल्पना अपने-अपने दर्शन के मत को ले कर है। सिद्धान्त की दृष्टि से उस-उस भेद पर विचार करे तो निरर्थक लगता है। अथवा मेरे मन मे यह तर्क उपस्थित होता है कि उस सर्वज्ञ को अनादि-शुद्धत्व के कारण, अकर्तृत्व के कारण, प्रयत्न से कर्मक्षय करने के कारण अथवा कर्मफल न भोगने के कारण, चाहे जिस रूप से (हुआ हो) स्वीकार कर लो, तथापि वह यदि शुद्ध सर्वज्ञ है, तो वही सेवनीय—उपासनीय है।

विशेषस्यापरिज्ञानाद्युक्तीनां जातिवादिन ।
प्रायो विरोधतश्चैव फलाभेदाच्च भावत ॥७१॥

जातिवादी की युक्तियो का विशेष रूप न जानने के कारण प्राय विरोध आने के कारण तथा भाव से फल की अभिन्नता होने के कारण दर्शनो का भेद होता है।

विभिन्न दर्शनो मे भेद होने का कारण यह है कि किसी दर्शन मे ईश्वर के स्वरूप आदि का ज्ञान होता है, वह तो सामान्य होता है, ईश्वर के विशिष्ट स्वरूप का ज्ञान नही होता। अपनी कल्पना से ईश्वर के स्वरूप की पुष्टि मे अर्थनिर्धारण करने वाले अनुमानादि-प्रकारो मे विशेष को न जानने से अनुमानादि युक्तियाँ असिद्ध हो जाती है, युक्त्याभास जातिवाद बन जाता है। वेदान्तादि दर्शन मे ईश्वर के स्वरूप-निर्णय के सम्बन्ध मे पारस्परिक विरोध आता है। तथा एकान्त नित्यत्व, एकान्त अनित्यत्व आदि धर्मो को भिन्न-भिन्न मान लेने से दर्शनो मे भेद होता है। तथा भाव से यानी मध्यस्थता के परिणाम से, या सर्वज्ञ के प्रति भक्तिभाव से फल मे अभेद होता है, यानी एक ही साध्य की सिद्धि होने से योगीजनो को अभिन्न फल प्राप्त होता है, इस कारण मार्ग की एकता होती है।

अविद्याक्लेशकर्मादि यतश्च भवकारणम् ।
तत प्रधानमेवैतत् संज्ञाभेदमुपागतम् ॥७२॥

जिस कारण अविद्या, क्लेश, कर्म, आदि भव (ससार) के कारण हैं, उनमें सज्ञा को ले कर भेद है, उसी कारण सर्वज्ञ भी सज्ञा के भेद के कारण अपने-अपने दर्शन मे बताया गया है। इसलिए सर्वज्ञ की भक्ति का तत्त्व ही (भेद का त्याग करके) एकमात्र प्रधान=श्रेष्ठ है।

जैसे ईश्वर के विभिन्न नाम विभिन्न दर्शनो मे बताए है, वैसे ही ससार के कारणभूत पदार्थ भी विभिन्न नाम के बताए है। वेदान्त उसे अविद्या कहता है, साख्य ने उसे क्लेश कहा है, 'जैन' उसे ज्ञानावरणीय आदि कर्म कहते है, बौद्ध उसे वासना कहते है, शैव उसे पाश कहते है। इस प्रकार ससार के अलग-अलग कारण विभिन्न दार्शनिको

ने माने है। वास्तव में वे सभी कारण एक कर्मरूप ही है। इससे सिद्ध होता है कि विभिन्न दर्शनो मे सज्ञा (नाम) के भेद को ले कर ही भेद है। प्रधान तत्व तो उन सबका एक ही है, वह है कर्म। इसी प्रकार सर्वज्ञ की भक्ति का तत्व ही प्रधान है, उसके नामभेद निरर्थक है।

अस्याऽपि योऽपरो भेदश्चित्रोपाधिस्तथा तथा।
गीयतेऽतीतहेतुभ्यो धीमतां सोऽप्यपार्थक ॥७३॥

इस कर्म का भी जो दूसरे (अविद्या आदि) विचित्र उपाधि वाले भेद पूर्वोक्त कारणो से उस-उस प्रकार मे कहे जाते है, वे भी बुद्धिमान पुरुषो के लिए व्यर्थ है।

पहले कहे गए अविद्या, क्लेश, कर्म, वेदना और स्कन्ध वगैरह नाम से पुकारे जाने वाले कर्म के मूर्त, अमूर्त आदि जो भेद है, जो पहले से कुछ भिन्न अनेक प्रकार की उपाधि वाले (स्वधर्म का अन्य धर्म मे रहने के रूप मे अवभास, अथवा विशेषणरूप) भेद (प्रकार) पूर्वकथित हेतुओ से प्रगट करके उस-उस रूप मे साख्य आदि ने कहे है। तथाकथित उपाधि के भेद वाला वह कारण भी सुविचारक बुद्धिमान योगियो के लिए निरर्थक है। क्योकि वे सब ससार के कारणरूप एक ही वस्तु के धर्म को ग्रहण करते है, इस कारण तथा उनका निश्चय होता नही, इस कारण वे (भेद) फिजूल है। उनका विशेष चिन्तन करने से कोई प्रयोजन सिद्ध नही होता।

ततोऽस्थानप्रयासोऽयं यत्तद्भेदनिरूपणम्।
सामान्यमनुमानस्य यतश्च विषयो मत ॥७४॥

इस कारण उसके भेद का निरूपण करना अनुचित प्रयास है। क्योकि अनुमान का विषय सामान्य माना गया है,

पूर्वोक्त कारणो से अपनी बुद्धि के बोध का अविषय होते हुए भी उस अनिर्धारित स्वरूप वाले ब्रह्मतत्त्व के भेद (उसकी विशेष बातो) का, अर्थात् जगत् के कर्तृत्व तथा अपने अकर्तृत्वरूप भेद का, निरूपण करने जिस बात का अभी-अभी निषेध किया गया है, उसका धृष्ट बन कर फिर विशेषरूप मे कथन करने का प्रयास अयोग्य है, केवल

वृथा श्रम है। क्योंकि अनुमान (लिंगी=साध्य के ज्ञानरूप प्रमाण) का विषय सामान्य ही है। यानी अनुमानप्रमाण सामान्य का ही बोध कर सकता है, उससे विशेष का बोध हो नही सकता। इसलिए विशेष का विचार करना अनुचित है। उदाहरणार्थ धुँए से अग्नि का सामान्य ज्ञान अनुमान से होता है। उसके विशेष ज्ञान के लिए अग्नि के प्रत्यक्ष ज्ञान की जरूरत होती है। इसी प्रकार जो ऐश्वर्यवान हो, वे ईश्वर कहलाते है, ईश्वर का ऐसा सामान्यज्ञान अनुमान से होता है, विशेष ईश्वर का ज्ञान (अप्रत्यक्ष होने के कारण) अनुमान से नही हो सकता।

सक्षिप्तरुचिजिज्ञासोर्विशेषानवलम्बनम् ।
चारिसंजीवनीचारज्ञातादत्रोपयुज्यते ।७५।।

सक्षेपरुचि वाले जिज्ञासु को विशेष का अवलम्बन न लेना ही यहाँ उसी तरह उपयुक्त है, जिस तरह चारी सजीवनी के चरने का ज्ञान सामान्यरूप से ही उपयुक्त हुआ था।

विस्तृत अर्थ [बात] को थोड़े-से वाक्यो मे कहना सक्षिप्त कहलाता है। ऐसे सक्षिप्त [ज्ञान] मे जिसे रुचि [प्रीति] है, उस जिज्ञासु को विशेष (भेदाभेदप्रकार) का आलम्बन न लेना सामान्य योगी के लिए चारी सजीवनी नामक जड़ी के भक्षण [चार] के उदाहरण की तरह उपयुक्त है। दृष्टान्त इस प्रकार है

किसी कुलीन महिला की सौत ने उसके पति को मत्रौषधप्रयोग से बैल बना दिया। पतिभक्तिपरायणा कुलीन नारी उस स्थिति मे [बैल बने हुए रूप मे] भी अपने पति का पालन करने लगी। वह उसे [बैल को] वन मे चराने ले जाती थी। एक दिन वन मे एक बड के नीचे अपने बैल-पति के पास बैठी हुई वह महिला पति के दुख से दुखित हो कर रोने लगी। उस समय आकाशमार्ग से विमान मे बैठ कर कोई विद्याधर जा रहे थे। उस महिला के दुख से द्रवित हो कर विद्याधर ने उससे कहा—"कल्याणी ! इस बड के पास ही एक संजीवनी [जड़ी] है, यदि तेरा पति उसे खा लेगा तो फिर से पुरुष हो

जायगा।" महिला ने सुना तो उसे आशा बँधी। पर उसे स्पष्टरूप से सजीवनी की पहिचान नही थी। उसने उक्त वटवृक्ष के पास जितनी भी लताएँ, घास-पत्ते, डालियाँ आदि थी, उन सबको इकट्ठा किया, और अपने हाथ से क्रमश: बैल के मुँह में देती गई। उन्ही मे एक जडी थी, जिसे खाने से वह बैल पुन अपने मूल पुरुष-स्वरूप को पा गया।

इसी प्रकार जो सामान्य देव की सर्वज्ञरूप मे उपासना आदि करता हो, वह योगी चाहे अमुक-अमुक सर्वज्ञ वीतराग का अवलम्बन न लेता हो, फिर भी परम्परा से उसे वह अवलम्बन प्राप्त हो ही जाता है। इसलिए विशेषदेव का अनवलम्बन भी अन्त मे उपयोगी हो ही जाता है।

जिज्ञासापि सतां न्याय्या, यत्परेऽपि वदन्त्यद ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्द ब्रह्मातिवर्तते ॥७६॥

सत्पुरुषों की जिज्ञासा भी न्यायोचित है, क्योकि दूसरे [गीता आदि] दर्शनकार भी यही बात कहते है कि योग का जिज्ञासु भी शब्द-ब्रह्म का अतिक्रमण कर जाता है।

सामान्ययोग की साधना करने वाले सत्पुरुषो की योग-सम्बन्धी विशेष वस्तुस्वरूप को जानने की इच्छा भी उचित है। भगवद्गीता आदि अन्य शास्त्रो मे भी कहा है कि योग [मोक्षोपाय] के विषय मे जानने का इच्छुक [जिज्ञासु] व्यक्ति विशेप शब्दब्रह्म [समग्रशास्त्र] की पारगामितारूप ज्ञानस्वरूप ब्रह्म को उल्लघित [पार] कर जाता है। यानी केवलज्ञानरूप ब्रह्म के उस पार चला जाता है। इसलिए बुद्धिमान पुरुष के लिए विशेष जानने की इच्छा उचित है।

आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी चेति चतुर्विधा ।
उपासकास्त्रयस्तत्र धन्या वस्तुविशेषत ॥७७॥

आर्त, जिज्ञासु, अथार्थी और ज्ञानी ये चार प्रकार के उपासक है। वस्तुविशेष के कारण इनमें से तीन उपासक धन्य हैं। (भगवद्गीता

अ. ७ श्लो १६ मे इन्ही नामो के चार प्रकार के भक्तो का उल्लेख दिया है।)

आर्त=वस्तुतत्त्व जानने के लिए आतुर, दुखी, जिज्ञासु=वस्तुतत्त्व [परमात्मतत्त्व] जानने का उत्कट इच्छुक, अर्थार्थी तत्त्व के परमार्थ का अन्त पाने का अभिलाषी और ज्ञानी- भलीभाति तत्त्व का ज्ञाता और उसका निर्णय करने वाला, यो चार प्रकार के उपासक होते है। अर्थात् तत्त्वादि की आराधना के सेवनकर्ता होते हैं। इनमे से प्रथम तीन वस्तु के विशेष से ज्ञानयोग मे नियोग करने वाले होने से धन्य (प्रधान) हैं। अर्थात् तीनो कामना वाले होने से तत्त्वविषय के आराधक है। इसलिए ज्ञानयोग मे तन्मय होने से वे धन्य है। और चौथा ज्ञानी तो ज्ञानयोग मे अत्यन्त तल्लीन होने से प्रशसनीय है।

ज्ञानी तु शान्तविक्षेपो नित्यभक्तिर्विशिष्यते ।
अत्यासन्नो ह्यसौ भर्तुरन्तरात्मा सदाशय: ॥७८॥

ज्ञानी तो 'शान्तिविक्षेप' और 'नित्यभक्तिमान' विशेषणो से युक्त होता है, क्योकि अन्तरात्मा-रूप वह सदाशयी (सद्भावना-शील) होने से ब्रह्म (स्वामी) के अत्यन्त निकट होता है।

ज्ञानी (चौथे प्रकार का उपासक) शान्तविक्षेप (जिसके रागादि-सस्कारो की प्रेरणा अथवा व्यामोह उपशान्त हो गए है, वह) तथा नित्य भक्तिमान (सर्वज्ञ का निरन्तर आराधक) होता है, वह (ऐसा ज्ञानी) विशेष प्रकार का होता है, अर्थात् फल को ले कर वह अलग किस्म का हो जाता है। मतलब यह है कि वह अपूर्ण गुणो से और धैर्य से आत्मा को विशिष्ट प्रकार का बना लेता है, क्योकि वह तीन प्रकार की आत्माओ में से अन्तरात्मा-रूप होता है। यानी वह देह आदि का सिर्फ साथी ही रहता है। तथा शुभाशय वाला—मोक्षप्राप्ति के परिणाम वाला, शुद्ध परिणाम का धारक होता है। ऐसा ज्ञानी उपासक भर्त्ता (पूर्णब्रह्म) या ब्रह्मस्वरूप के अत्यन्त समीप पहुच जाता है।

कर्मयोगविशुद्धस्तज्ज्ञाने युञ्जीत मानसम् ।
अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च सशयात्मा विनश्यति ॥७९॥

कर्मयोग से विशुद्ध हुआ योगी ज्ञानयोग मे अपने चित्त (मन) को जोडता (लय करता) है। परन्तु अज्ञानी अश्रद्धावान और संदेहशील होता है, अत. वह नष्ट (योगभ्रष्ट) हो जाता है।

इस कारण कर्मयोग से विशुद्ध हुआ योगी ज्ञानयोग में अपने हृदय को संलग्न कर लेता है, वह ज्ञानी बन कर परमशान्ति प्राप्ति करता है। मगर जो ज्ञानी नही है, धर्मतत्व पर श्रद्धा नही रखता, सशयशील है—इस क्रियाकलाप से मुझे मोक्षरूपी अभीष्ट फल मिलेगा या नही ? इस प्रकार की शका करता है, उस सशयात्मा की सुखशान्ति का विनाश हो जाता है, वह योग से भ्रष्ट हो जाता है। यही बात भगवद्गीता मे कही है।

> निर्भय स्थिरनासाग्रदत्तदृष्टिर्व्रतस्थित ।
> सुखासन प्रसन्नास्यो दिशश्चानवलोकयन् ॥८०॥
>
> देहमध्यशिरोग्रीवमवक्रं धारयन् बुध ।
> दन्तैरसस्पृशन् दन्तान् सुश्लिष्टाधरपल्लव ॥८१॥
>
> आर्त्तरौद्रे परित्यज्य धर्मे शुक्ले च दत्तधी. ।
> अप्रमत्तो रतो ध्याने ज्ञानयोगी भवेन्मुनि ॥८२॥

भयरहित, स्थिर, नाक के अग्रभाग कर दृष्टि जमाया हुआ, व्रत मे स्थित, सुखकारक आसन से उपविष्ट, प्रसन्नमुख, दिशाओ की ओर न देखने वाला, देह के मध्यभाग, मस्तक और गर्दन को सीधी रखने वाला ज्ञानी, दातो से दातो को न छूता हुआ, दोनो ओष्ठपल्लवो को भलीभाति मिलाए हुए, आर्त्त एव रौद्र ध्यान को छोड़ कर धर्म और शुक्लध्यान मे बुद्धि को गड़ाए हुए, जो अप्रमत्त और ध्यान मे रत है, वह मुनि ज्ञानयोगी होता है। (८०-८१-८२)

जब कर्मयोग की साधना करके ज्ञानयोगी महात्मा ध्यानयोग पर आरूढ होता है, तब वह मरणादि सात भयो से रहित हो कर, अपने शरीर के अगोपागो को स्थिर (निश्चल) कर लेता है, नाक के अग्रभाग पर दोनो आँखे जमा लेता है, व्रत-प्रत्याख्यान (त्याग) के परिणाम वाला रहता है, जिस आसन से लबे समय तक सुखपूर्वक बैठ सके, ऐसे

पद्मासनादि से बैठता है, परमात्मा मे तल्लीन होने से उसका मुख-कमल प्रसन्न हो उठता है, रजोगुण एवं तमोगुण से रहित होने से चारो दिशाओ मे इधर-उधर दृष्टिपात नही करता, अपलक रहता है। कमर, सिर और गर्दन को मेरुदण्ड की तरह तने हुए सीधे रखता है, दांतो से दांत टकराएँ नही, इस प्रकार से रखता है, दोनो होठ पत्तो की तरह मिला कर रखता है, तथा स्वपरभाव के विवेचन में पडित आर्त और रौद्र ध्यान का त्याग करके धर्म और शुक्ल ध्यान में ही अपनी बुद्धि जमाए रखता है। ऐसा अप्रमादी, शुभध्यान मे तल्लीन साधु-मुनिवर ज्ञानयोगी कहलाता है। (८०-८१-८२)

कर्मयोगं समभ्यस्य ज्ञानयोगसमाहित ।
ध्यानयोगं समारुह्य मुक्तियोगं प्रपद्यते ॥८३॥

कर्मयोग का अभ्यास करके ज्ञानयोग मे समाहित हुआ योगी फिर ध्यानयोग पर आरूढ हो कर मुक्तियोग को प्राप्त कर लेता है।

योगी पहले तपसयमादिक्रियारूप कर्मयोग (क्रियारूप मोक्षोपाय) का भलीभांति आगमोक्तरूप से अभ्यास (वार-वार परिशीलन= आवृत्ति) करे तत्पश्चात् ज्ञानयोग (ज्ञानरूप मोक्षोपाय) मे सावधान हो कर आत्मा को भलीभाति समाधिस्थ (मग्न या तल्लीन) कर ले। उसके वाद ध्यानरूप योग (मोक्षोपाय) पर आरूढ़ हो कर (अर्थात् धर्मध्यान आदि करने मे निपुण हो कर) फिर मुक्तियोग को प्राप्त करता है, यानी मन-वचन-काया के योगो (व्यापारो) का सर्वथा निरोध करके शैलेशी अवस्था मे पहुंच कर अन्तिम असगयोग को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार साधक को क्रमश कर्मयोग से अभ्यासदशा प्राप्त होती है और ध्यानयोग से क्षपकश्रेणी की साधना करके मुक्तियोगरूपी सिद्धमन्दिरस्वरूप असगयोग को प्राप्त करता है ।

॥ इति योगस्वरूपाधिकार. ॥

ध्यान-स्वरूप

स्थिरमध्यवसानं यत्तद्ध्यानं चित्तमस्थिरम् ।
भावना चाऽप्यनुप्रेक्षा चिन्ता वा तत् त्रिधा मतम् ॥१॥

जो चित्त स्थिर है, उसे ही ध्यान समझना, और जो चित्त अस्थिर है, उसे भावना, अनुप्रेक्षा या चिन्ता समझना। इस प्रकार अस्थिर चित्त तीन प्रकार का माना गया है ।

स्थिर=निश्चल कम्पनरहित एकालम्बनमय अध्यवसानरूप यानी अत्यन्त निश्चित ध्येयस्वरूप मे रहे हुए ज्ञानादिरूप जीव के परिणामरूप चित्त को ध्यान कहा है, और जो अस्थिर- अनेक आलम्बन वाला चंपल चित्त है, उसे ध्यान मत समझना, वल्कि उसे भावना, अनुप्रेक्षा, या चिन्ता समझना चाहिए। भावना का अर्थ है ज्ञानभावनादिरूप भावना, अनुप्रेक्षा, अनित्यादिविचाररूप ध्यान से उत्तरकाल मे होने वाली भावना। और चिन्ता का अर्थ है-शरीर, धन और विषय आदि मे आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान का अनुसरण करने वाला विचार। इस प्रकार सर्वज्ञो ने तीन प्रकार का अस्थिरचित्त कहा है।

मुहूर्तान्तर्भवेद् ध्यानमेकार्थे मनसः स्थिति ।
बह्वर्थसंक्रमे दीर्घाऽप्यच्छिन्ना ध्यानसंतति ॥२॥

एक आलम्बन (पदार्थ) मे अन्तमुंहूर्त तक मन की स्थिति का रहना ध्यान कहलाता है। अनेक पदार्थो (आलम्बनो) के संक्रमण मे लंबी और अविच्छिन्न जो स्थिति होती है, उसे ध्यानश्रेणी (ध्यानसतति) कहते है।

चित्त की एक आलम्बन मे अन्तर्मुहूर्त तक की जो स्थिति होती है, उसे ध्यान कहते हैं। परन्तु मुहूर्त के उपरान्त की स्थिति ध्यान नही कहलाती। क्योकि एक आलम्बन में छद्मस्थ के उपयोग की स्थिति

अन्तर्मुहूर्त से ज्यादा नही रह सकती। प्रश्न होता है—अन्तर्मुहूर्त से ऊपर की जो स्थिति होती है, उसे क्या कहते है? अनेक आलम्बनों (विषयों) मे संक्रमण होने पर जो दीर्घ (अनेक मुहूर्त की) स्थिति वाली तथा निरन्तर अन्य-अन्य ध्यान के रूप वाली जो स्थिति होती है, उसे ध्यानश्रेणी या ध्यानसन्तति (ध्यानपरम्परा) कहते हैं। ध्यानश्रेणी मे परिपाटीपूर्वक ध्यानसम्बन्धी उपयोग का प्रवेश दीर्घकाल तक अविच्छिन्नरूप से होता है।

आर्त्तं रौद्रं च धर्म्यं च शुक्लं चेति चतुर्विधम्।
तत्स्यादभेदाविह द्वौ द्वौ कारणं भवमोक्षयोः ॥३॥

आर्त्त, रौद्र, धर्म्य और शुक्ल यों चार प्रकार का ध्यान कहलाता है। इनमे से दो-दो भेद (ध्यान) क्रमश संसार और मोक्ष के कारणरूप हैं।

आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान, यों चार प्रकार का ध्यान कहलाता है। इनमे से पहले दो आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान ससार मे परिभ्रमण कराने वाले हैं, तथा शेष दो धर्म्यध्यान एवं शुक्लध्यान मोक्ष के कारण हैं। धर्मसम्बन्धी ध्यान धर्मध्यान और अतिउज्ज्वल शुद्ध ध्यान शुक्लध्यान कहलाता है। श्लोक मे च शब्द बारबार अंकित है, इसलिए चारो प्रकार का प्रत्येक ध्यान भी चार-चार प्रकार का है।

शब्दादीनामनिष्टानां वियोगासम्प्रयोगयो'।
चिन्तनं वेदनायाश्च व्याकुलत्वमुपेयुष' ॥४॥

इष्टानां प्रणिधानं च सम्प्रयोगावियोगयोः।
निदानचिन्तनं पापमार्त्तमित्थं चतुर्विधम् ॥५॥

(१) अनिष्ट शब्दादि विषयो के वियोग की चिन्ता, (२) वेदना से व्याकुल होने की चिन्ता (३) इष्टपदार्थ के संयोग-वियोग होने की चिन्ता और (४) निदान का चिन्तन, इस प्रकार दुष्ट (पापजनक) आर्त्तध्यान चार प्रकार का होता है।

अनिष्ट अर्थात् अपने प्रतिकूल शब्दादि विषयो के प्राप्त होने पर उनके वियोग की चिन्ता करना कि—"इन विषयो का मेरे से कब वियोग होगा ?" अथवा जिन अनिष्ट शब्दादिविषयो का वियोग (बड़ी मुश्किल से) किसी प्रकार हो गया है, उनका फिर से मेरे साथ सयोग न हो, इस प्रकार का चिन्तन करना। अर्थात् अनिष्ट के वियोग और अनिष्ट के असम्प्रयोग का एकाग्रतापूर्वक विचार करना **अनिष्ट-वियोग** नामक प्रथम आर्त्तध्यान कहलाता है। ज्वर आदि रोग से उत्पन्न हुई पीडा से व्याकुलता आदि होने पर उसकी वेदना का विचार करना—'यह वेदना कब दूर होगी ? वेदना दूर हो जाने पर पुन वेदना न हो, इसकी चिन्ता करना तथा वेदना होने पर उस रोग के प्रतीकार के लिए औषध, उपचार आदि करने मे अत्यन्त आतुरतापूर्वक चिन्ता करना, **रोगार्त** नामक दूसरा आर्तध्यान कहलाता है।

इष्ट अनुकूल मनोज्ञ शब्दादि विषयो का सम्प्रयोग यानी राग की आतुरतापूर्वक जो पदार्थ अप्राप्त है, उन्हे प्राप्त करने के लिए खासतौर से जोरशोर से तत्पर होना तथा अवियोग यानी प्राप्त हुए शुभविषयो का वियोग न होने की चिन्ता करना, यह है इष्टसम्प्रयोग तथा प्राप्त हुए अशुभ विषयो से छुटकारा (विरहित) पाने की चिन्ता करना, **इष्टनाशार्त** नामक तीसरा आर्तध्यान कहलाता है। तथा तप, सयम आदि के फल के रूप मे स्वर्ग, चक्रवती, देवेन्द्र आदि के स्थान, पद या समृद्धि की प्रार्थना=इच्छा करना **निदानार्त** नामक चौथा आर्तध्यान कहलाता है। इस प्रकार ये चारो आर्तध्यान अतिदुष्ट है, इसलिए इनका त्याग करना चाहिए, यही सबका निष्कर्ष है।

कापोतनीलकृष्णानां लेश्यानामत्र सम्भव ।
अनतिक्लिष्टभावानां कर्मणां परिणामत ॥८॥

इन चार प्रकार के आर्तध्यानियो मे, जिसका भाव अतिक्लिष्ट नही है, ऐसे कर्म के परिणाम के कारण कापोत, नील और कृष्ण इन तीन लेश्याओ की सम्भावना है।

इस आर्तध्यानी जीव मे कापोत—कम क्लिष्ट परिणाम वाली लेश्या, नील—कापोत की अपेक्षा अधिक क्लिष्ट परिणाम वाली लेश्या और

कृष्ण यानी नील की अपेक्षा अधिक क्लिष्ट परिणाम वाली लेश्या होती है। इन तीनो लेश्याओं में अशुभ अध्यवसाय की सम्भावना है। कारण यह है कि जिनका भाव यानी उदय से उत्पन्न हुआ रसस्वभाव अति-क्लिष्ट नहीं है, अर्थात् मध्यम है, ऐसे ज्ञानावरणीय आदि उदयप्राप्त कर्मों के परिणाम से उक्त तीन लेश्याएँ सम्भव है। तात्पर्य यह है कि रौद्रध्यानी मे रही हुई इन्ही लेश्याओ की अपेक्षा आर्तध्यानियो में ये लेश्याएँ मन्दपरिणाम वाली होती हैं।

क्रन्दनं रुदनं प्रोच्चैः शोचनं परिदेवनम् ।
ताडनं लुञ्चनं चेति लिंगान्यस्य विदुर्बुधा ॥७॥

क्रन्दन, रुदन, (जोर-जोर से चिल्लाना), अत्यन्त शोक (विलाप) करना, परिदेवन (झूरना), पीटना (छाती कूटना, सिर पीटना, ताड़न करना) और लुंचन (उखाडना,या कपड़े आदि फाडना), ये सब आर्त-ध्यानी के चिह्न विद्वानो ने बताए हैं।

क्रन्दन = शोकातुर हो कर अश्रुपात करना, जोर-जोर से रोना, गला फाड़-फाड कर चिल्लाना, निरन्तर विलाप करना, इष्टवस्तु के वियोग आदि के कारण अत्यन्त चिन्तातुर रहना, शोकमग्न रहना, परिदेवन = दीनता-भरे वचन बोलना, बार-बार स्मरण करके झूरना, दुःख से आकुल होकर छाती मस्तक आदि पीटना, कूटना, सिर के बाल नोच लेना, कपड़े फाड लेना, नख से अपने शरीर को क्षतविक्षत कर लेना इत्यादि प्रकार से ज्ञानियो ने हृदयस्थ आर्तध्यान के ये चिह्न = निशान बताए हैं ।

मोघं निन्दन्निज कृत्यं, प्रशंसन् परसम्पदः ।
विस्मितः प्रार्थयन्नेताः प्रसक्तश्चैतदर्जने ॥८॥

अपने निष्फल हुए कृत्य की जो निन्दा करता है, दूसरो की सांसारिक सम्पत्ति की प्रशंसा करता है, विस्मित हो कर उन सम्पत्तियों के लिए प्रार्थना (याचना या अभिलाषा) करता है, तथा उन्हे प्राप्त करने के लिए आसक्त हो जाता है। अपने शिल्प, वाणिज्य आदि कार्यों (व्यवसायो) मे भरसक प्रयत्न करने पर भी निष्फल हो जाने पर उक्त

निष्फल हुए निज कार्य की निन्दा करता है, दूसरे की सम्पत्तियों=सांसारिक धन आदि के बखान करता है, तथा उन सम्पत्तियों के बारे में चमत्कार से विस्मित हो कर उनकी प्रार्थना (उनको पाने की अभिलाषा) करता है तथा उन सम्पत्तियों को येन-केन-प्रकारेण पाने को अत्यन्त लालायित (आसक्त) रहता है। ऐसे लक्षण वाले व्यक्ति को आर्तध्यानी समझना चाहिए।

प्रमत्तश्चेन्द्रियार्थेषु गृद्धो धर्मपराङ्मुखः।
जिनोक्तमपुरस्कुर्वन्नार्तध्याने प्रवर्त्तते ॥९॥

प्रमत्त, इन्द्रियों के विषयों में गृद्ध (लोलुप), धर्म से विमुख, तथा जिनवचनों को अंगीकार न करने वाला व्यक्ति आर्तध्यान में प्रवृत्त होता है।

प्रमत्त हितकर कार्यों के सम्बन्ध में प्रमादी, शब्दादि इन्द्रियविषयों में अत्यन्त आसक्त, धर्म (धर्मभावना) से विमुख, तथा जिनेश्वर की आज्ञा का स्वीकार न करने वाला (अथवा जिनवचनों से निरपेक्ष उदासीन पुरुष आर्तध्यान में प्रवृत्त होता है। अर्थात् ये सब आर्तध्यान की उत्पत्ति के कारण हैं।

प्रमत्तान्तगुणस्थानानुगमेतन्महात्मना।
सर्वप्रमादमूलत्वात्त्याज्यं तिर्यग्गतिप्रदम् ॥१०॥

प्रमत्तगुणस्थान के अन्त तक रहने वाले एवं तिर्यञ्चगति देने वाले समस्त प्रमाद के मूल कारण यह आर्तध्यान महात्मा द्वारा त्याज्य है।

यह आर्तध्यान पहले गुणस्थान से ले कर छठे गुणस्थान के अन्त तक रहता है, इसलिए पहले गुणस्थान से छठे गुणस्थान तक के जीव इसके स्वामी है। इस आर्तध्यान का फल तिर्यञ्चगति है, अर्थात् पृथ्वीकायादि एकेन्द्रिय से ले कर पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च (पशुपक्षी आदि जाति) तक में आर्तध्यान से जीव जन्म ले सकता है। आर्तध्यान मिथ्यात्व, अविरति, विषय, कषाय और योगरूप समस्त प्रमादों का मूल कारण रूप है। इसलिए महात्माओं=उत्तम मुमुक्षुओं को इसका त्याग करना चाहिए।

निर्दयं वधबन्धादिचिन्तनं निविड़क्रुधा ।
पिशुनासभ्यमिथ्यावाक् प्रणिधान च मायया ॥११॥

चौर्यधीर्निरपेक्षस्य तीव्रक्रोधाकुलस्य च ।
सर्वाभिशंकाकलुषं चित्त च धनरक्षणे ॥१२॥

अत्यन्त क्रोध करके निर्दयतापूर्वक वध, बन्धन वगैरह का चिन्तन करना प्रथम रौद्रध्यान कहलाता है तथा माया करके पिशुन (चुगली), असभ्य एव असत्य बोलने का प्रणिधान दूसरा रौद्रध्यान कहलाता है। अपेक्षारहित और तीव्र क्रोध से आकुल-व्याकुल पुरुष द्वारा चोरी करने की बुद्धितीसरा रौद्रध्यान कहलाता है, धन की रक्षा के सम्बन्ध मे सभी पर शका (शक) करके मन मलिन करना चौथा रौद्रध्यान कहलाता है।

निविड (अत्यन्त कठिन) क्रोध से दयारहित हो कर दूसरे के लिए वध, (लट्ठी आदि से मारने-पीटने, प्रहार करने) वन्ध (रस्से आदि से) बाधने) आदि शब्द से आग लगा कर फूक देने, तलवार आदि से काट देने आदि का भयंकर चिन्तन करना एकाग्रमन से विचार करना **हिंसानुबन्धी** नामक पहला रौद्रध्यान कहलाता है। माया यानी कपट-वृत्ति से पिशुन, (अविद्यमान दोषो का कथन चुगली करना), असभ्य (सज्जनो के सामने न बोलने योग्य), मिथ्या (असत्य, वस्तु का अन्यथा-रूप मे कथन) वाणी (बोलने) का प्राणिधान=एकाग्रमन से चिन्तन करना **मृषानुबन्धी** नामक द्वितीय रौद्रध्यान कहलाता है। अपेक्षारहित पाप के फलस्वरूप दुर्गति की परवाह न करके, अत्यन्त प्रचण्ड क्रोध से आगबबूले पुरुष द्वारा चोरी=परधनहरण करने की बुद्धि होना **स्तेयानुबन्धी** नामक तीसरा रौद्रध्यान कहलाता है। तथा समस्त विषयो के साधनरूप द्रव्य की रक्षा के बारे मे विनाश से बचाने के लिए धन-सम्बन्धित जितने भी व्यक्ति है, उस सब पर शका (ये लोग मेरा धन ले जायेगे, अत किसी भी तरह से उनका नाश हो जाय, इस प्रकार की शंका =वहम) से चित्त के कलुष (उनकी हत्या आदि का चिन्तन करने से मलिन) परिणाम (अध्यवसाय) करना, मन से गदा

चिन्तन करना चौथा **विषयसरक्षण** (परिग्रहानुवन्धी) नामक चौथा रौद्रध्यान कहलाता है।

> एतत्सदोषकरण-कारणानुमतिस्थिति।
> देशविरतिपर्यन्तं रौद्रध्यानं चतुर्विधम् ॥१३॥

इन दोषो वाले कार्यो को करने, कराने और अनुमोदन करने के रूप मे जिसकी स्थिति है, ऐसा चार प्रकार का रौद्रध्यान देशविरतिगुण-स्थान तक के जीवो को होता है।

पहले कहे गये दोषो से युक्त हिंसादि कार्यो को स्वय करना, दूसरो को करने के लिए प्रेरित करना तथा दूसरे, जो उन कार्यों को करते हों, उनका अनुमोदन (समर्थन) करना, अर्थात् उस कार्य के लिए हर्षित होना, उसकी प्रशसा करना, इस रूप मे जिसकी स्थिति है, (जिसके परिणामस्वरूप मे अवस्थान है) ऐसा हिंसानुवन्धी आदि ४ प्रकार का रौद्रध्यान देशविरति नामक पंचमगुणस्थान तक के जीवो को होता है।

> कापोतनीलकृष्णानां लेश्यानामत्र सम्भव।
> अतिसक्लिष्टरूपाणां कर्मणां परिणामत ॥१४॥

इस (रौद्रध्यान मे ततिसक्लिष्ट रूप कर्मो के परिणाम के कारण कापोत, नील और कृष्ण इन तीन लेश्याओ का होना सम्भव है।

इस (रौद्र) ध्यान में भी पहले आर्तध्यान के सम्वन्ध मे कही गई तीन लेश्याएँ (कापोत, नील औद कृष्ण ये तीन लेश्याएँ) अत्यन्त मलिनस्वरूप वाली, महापापकर्म-परिणामरूप होती है। अर्थात् रौद्र-ध्यान मे अतिमलिन उदय के स्वभाव वाले ज्ञानावरणीय आदि कर्मो के परिणाम-(परिपाक फल) स्वरूप तीन तीव्ररसवाली लेश्याओ की सम्भावना है।

> उत्सन्नबहुदोषत्व नानामारणदोषता।
> हिंसादिषु प्रवृत्तिश्च कृत्वाऽघं स्मयमानता ॥१५॥

> निर्दयत्वाननुशयो, बहुमान. परापदि।
> लिंगान्यत्रेत्यदो धीरैस्त्याज्यं नरकदु खदम् ॥१६॥

उत्सन्नदोषत्व, बहुदोषत्व, नानाप्रकारदोषत्व, मारणदोषत्व, हिंसा-आदि में प्रवृत्ति तथा पाप करके खुश होना, निर्दयता, पश्चात्ताप का अभाव, और दूसरो को आफत में देख कर, बहुमान (हर्ष) होना; ये रौद्रध्यान के चिह्न है। अत धीर पुरुषो को नरक के दुःख देने वाले इस रौद्रध्यान का त्याग करना चाहिए।

इस रौद्रध्यान मे उत्सन्न (उपशम न रखना), अनिवार्य हिंसादि मे प्रवृत्तिरूप दोषत्व, बार-बार उसी अकार्य में प्रवृत्तिरूप दोषत्व, नाना प्रकार के मारण—चमड़ी उधेडना, आँखे फोडना आदि हिंसादि उपायो के बारे मे बार-बार प्रवृत्तिरूप दोषत्व, हत्या तक की प्रवृत्ति करने पर भी पश्चात्ताप न होने के रूप मे दोष, हिंसादि जीववध, चोरी, पर-स्त्रीसेवन वगैरह के विषय मे प्रवृत्ति अर्थात् बाह्य उपकरणो (औजारो) से युक्त पुरुष के द्वारा वाणी और काया से अत्यन्त आसक्ति, तथा पाप करके भी हृदय, नेत्र और मुख पर प्रसन्नता, निर्दयता, पश्चात्ताप का अभाव, दूसरे को आपत्ति (आफत) मे देख कर अत्यन्त अभिमान अथवा हृदय मे हर्षित होना, 'बहुत अच्छा हुआ' इस प्रकार मानना, ये सब रौद्रध्यान के चिह्न हैं। इस ध्यान के फलस्वरूप नरक के दुःख प्राप्त होते हैं। इसलिए बुद्धिमान धीर पुरुषो को इसका अवश्य त्याग कर देना चाहिए।

अप्रशस्ते इमे ध्याने, दुरन्ते चिरसंस्तुते ।
प्रशस्त तु कृताभ्यासो, ध्यानमारोढुमर्हति ॥१७॥

ये दोनो अप्रशस्त ध्यान दुरन्त और चिरपरिचित है। इसलिए अभ्यास करने प्रशस्त ध्यान पर आरूढ होना उचित है।

आर्त और रौद्र ये दोनो ध्यान अप्रशस्त है प्रशसा के योग्य नही है, मलिन हैं, दुरन्त हैं, इनका बड़ी मुश्किलो से अन्त (नाश) होता है, ये दोनो ध्यान चिरकाल से—अनन्त जन्म—जन्मान्तर से=जीव के परिचित=अभ्यस्त है। इसलिए प्रयत्नपूर्वक इन दोनो का त्याग करके भावना आदि द्वारा शुभध्यान का अभ्यास करके उत्तम धर्मध्यान मे

—धर्मभावना की एकाग्रता मे चित्त को आरूढ़ करना उचित (योग्य) है ।

भावना देशकालौ च स्वासनालम्बनक्रमान् ।
ध्यातव्यध्यात्रनुप्रेक्षालेश्यालिंगफलानि च ॥१८॥

ज्ञात्वा धर्म्यं ततो ध्यायेच्चतस्रस्तत्र भावना. ।
ज्ञान-दर्शन-चारित्र-वैराग्याख्याः प्रकीर्तिता. ॥१६॥

भावना, देश, काल, शुभासन, आलम्बन, अनुक्रम, ध्यातव्य, ध्याता, अनुप्रेक्षा, लेश्या, लिंग और फल, इन सबको जानने-समझने के पश्चात् धर्मध्यान मे प्रवृत्त होना चाहिए। इसके विषय मे ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वैराग्य नाम की चार भावनाएँ बताई है ।

ज्ञानादि भावनाएँ, देश (ध्यान करने योग्य निर्जन—एकान्त स्थान), काल (ध्यान करने योग्य समय या अवसर), ध्यान के योग्य सुखासन पद्मासनादि आसन, आलम्बन (जिनका आश्रय ले कर ध्यान मे आरूढ हुआ जाय, वे वाचना, पृच्छना आदि आलम्बन), क्रम (मन निरोध आदि अनुक्रम सिलसिला), ध्यातव्य (ध्यान करने योग्य जिज्ञासा वगैरह), ध्याता (ध्यान करने वाला अप्रमत्त साधु आदि), अनुप्रेक्षा (ध्यान करने के बाद कालप्राप्त अनित्यादि-चिन्तनरूप १२ भावना), लेश्याएं (ध्याता के शुभ-आशयरूप तेजो, पद्म वगैरह चित्त की तरगे), लिंग (जिनवचन के प्रति श्रद्धा वगैरह) तथा फल (स्वर्ग, मोक्ष वगैरह की प्राप्ति), इस प्रकार भावना से ले कर फलपर्यन्त पदार्थों को भलीभाति जान-समझ कर उसके बाद ही धर्मध्यान मे प्रवृत्त होना चाहिए, अर्थात् ध्यातव्य पदार्थ मे मन को तल्लीन-तन्मय-एकाग्र-एकतान कर लेना चाहिए। उस (धर्मध्यान) के साधन के सम्बन्ध मे चार भावनाएँ आत्मा को ध्यानकरने योग्य बनाने वाली चार वासनाएँ बताई है—ज्ञानभावना, दर्शनभावना, चारित्रभावना और वैराग्यभावना। ज्ञान होने पर मन के धैर्य और परिणामो की शुद्धि वाला साधक सूत्र (शास्त्र) के अर्थ एव जगत् के सार तत्त्व को को जान लेता है। इसलिए निरन्तर श्रुत (शास्त्रो) के अभ्यास मे तत्पर

रहने से वह पुरुष ज्ञानभावना से भावित-वासित हो जाता है। दर्शन में पुरुषार्थ करने वाले साधक को प्रशम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और और आस्तिकता के रूप में स्थिरता प्राप्त हो जाती है, वही दर्शन-भावना कहलाती है। साधक के नये कर्मों का अग्रहण, पूर्वकृत कर्मों की निर्जरा और शुभकर्मों का ग्रहण चारित्र से ही होता है, अतः वह चारित्रभावना कहलाती है। तथा वैराग्य से प्राणी विषयों की आसक्ति से रहित, सप्तभयवर्जित एवं इहलोक-परलोक की आकांक्षा से रहित तथा जगत् के स्वभाव का जानकार हो जाता है, अतः वह वैराग्य-भावना कहलाती है।

निश्चलत्वमसम्मोहो निर्जरा पूर्वकर्मणाम् ।
संगाशंसाभयोच्छेद फलान्यासां यथाक्रमम् ॥२०॥

१ निश्चलता, २ असम्मोह, ३ पूर्वकर्मों की निर्जरा, ४ संग की आशंसा और भय का नाश, पूर्वोक्त चारों भावनाओं के क्रमशः ये चारों फल जानने चाहिए।

पूर्वोक्त ज्ञानादि चार भावनाओं के क्रमशः ४-फल बताए हैं, वे इस प्रकार हैं--(१) निश्चलता—ज्ञानभावना के अभ्यास से ध्यान में उप-सर्ग आदि आने पर निश्चलता— स्थिरता प्राप्त होती है, (२) अस-म्मोह-दर्शनभावना में सूक्ष्मता से प्रतीत होने वाली देव की माया के विषय में भी मन मोहित नहीं होता, और न शंकादि दोषों से रहित (अमूढ) बना हुआ मन मूढ होता है। (३) चारित्रभावना के अभ्यास से पूर्वकृत कर्मों की निर्जरा (क्षय) होती है और नये कर्मों का बन्ध नहीं होता। तथा (४) वैराग्यभावना के अभ्यास से स्त्री आदि में रागादि संग का, इहलोक-परलोकसम्बन्धी आशंसा (आकांक्षा) का, सात प्रकार के भय का, (देहादि के प्रति ममत्व नष्ट हो जाने से) उच्छेद हो जाता है।

स्थिरचित्तः किलैताभिर्याति ध्यानस्य योग्यताम् ।
योग्यतैव हि नान्यस्य तथा चोक्तं परैरपि ॥२१॥

इन भावनाओं से स्थिरचित्त वाला पुरुष ही ध्यान की योग्यता

प्राप्त करता है। दूसरे की योग्यता ही नही होती। इस विषय मे अन्य दर्शनकारो ने भी कहा है।

वास्तव मे इन पूर्वोक्त भावनाओ द्वारा स्थिरचित्त वाला (निश्चल मन की धारणा वाला) ध्याता ध्यान की योग्यता (सामर्थ्य) को प्राप्त कर लेता है। दूसरे (भावनारहित मनुष्य) मे ऐसी योग्यता नही होती। इस विषय मे व्यासादि ने भगवद्गीता अ ६, श्लो ३६, ३७, ३८ में कहा है--

चचल हि मन कृष्ण ! प्रमाथि बलवद् दृढम् ।
तस्याऽह निग्रह मन्ये, वायोरिव सुदुष्करम् ॥२२॥

असशय महाबाहो!; मनो दुर्निग्रह चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय ! वैराग्येण च गृह्यते ॥२३॥

असयतात्मनो योगो दुष्प्राप इति मे मति ।
वश्यात्मना तु यतता, शक्योऽवाप्तुमुपायत ॥२४॥

हे कृष्ण ! मन तो अतिचचल है, प्रबल शत्रु की सेना के समान दृढ है। मै मानता हूँ, उसका निग्रह करना हवा के निग्रह समान अतिदुष्कर है। हे महाबाहो, अर्जुन ! नि सन्देह मन चचल है और बडी कठिनता से उसका निग्रह हो सकता है, परन्तु हे कुन्तीपुत्र ! अभ्यास और वैराग्य से उसका निग्रह हो सकता है। हे अर्जुन ! जिसका मन वश मे नही हुआ, उसके लिये योग दुष्प्राप्य है, ऐसी मेरी मान्यता है। जिसका मन वश मे है, वह पुरुष प्रयत्नपूर्वक उपाए करने के योग को प्राप्त कर सकता है।

भगवद्गीता के इन तीनो श्लोको मे मन से सम्बन्ध मे अर्जुन और श्रीकृष्ण का सवाद है। अर्जुन ने श्रीकृष्ण से प्रश्न किया है--हे कृष्ण ! मन (अन्त करण) मथन करने वाले (स्वभाव, रुचि और धर्म के विलोडन करने वाले) शत्रु सैन्य की तरह अत्यन्त दृढ (गाढ अनुबन्ध वाला) और प्रबल (अनिवार्य वेग वाला) चचल है। इसका निग्रह (मनोनिरोध) वायु के समान अतिदुष्कर है, तो फिर योग-साधना कैसे की जायगी ? स्थिर मन के बिना योग की प्राप्ति भी कैसे हो

सकती है ? इसका उत्तर दूसरे और तीसरे श्लोक मे श्रीकृष्ण देते हैं— "हे महाबाहू अर्जुन ! वास्तव में चचल मन बड़ी कठिनता से वश में आता है, तथापि हे कुतीपुत्र अर्जुन ! बार-बार के अभ्यास (अध्ययन-अध्यापन, श्रवण, मनन वगैरह मनोनिरोध करने के उपायरूप अभ्यास) से तथा वैराग्य (ससार के प्रति तथा प्रत्यक्ष-परोक्ष देखी-सुनी वस्तुओ के प्रति उदासीनता, वितृष्णा और विषयो के प्रति विरक्ति) से योगीजन का मन अवश्य ही वश मे हो जाता है। इसलिए हे अर्जुन ! मेरा ऐसा स्पष्ट मन्तव्य है कि जिसका मन अपने वश मे नही हुआ है, ऐसा मन की स्थिरता से एव शास्त्रोक्तनियम से रहित मन वाले अनभ्यासी मनुष्य के द्वारा योग ध्यानरूप मोक्ष का उपाय प्राप्त नही किया जा सकता। परन्तु जिसने मन को वश मे कर लिया है, वह पुरुष यत्न और भावना आदि अनेक उपायो से सुगमता से ध्यानयोग की प्राप्ति कर सकता है।

सदृशप्रत्ययावृत्त्या वैतृष्ण्याद् बहिरर्थत ।
एतच्च युज्यते सर्वं भावनाभावितात्मनि ॥२५॥

बाह्य अर्थ से समान बोध की आवृत्ति द्वारा तृष्णारहित हो जाने पर उपर्युक्त सभी बाते भावनाओ से भावित आत्मा मे घटित हो सकती है, उपयुक्त हो सकती है।

बाह्य अर्थ विषयान्तर से, सदृश=अपनी आत्मा और साध्य के समान बोध (निर्मलमति के उपयोग) को दोहराने (बारबार अभ्यास करने) से विषय-भोगो के प्रति तृष्णारहित हो जाने पर पूर्वोक्त (कृष्ण और अर्जुन के सवादरूप) सर्वकथन (सभी बाते) ज्ञानादि भावना से वासित अन्त करण वाले पुरुष के लिए युक्त (घटित) हो सकता है, यानी ऐसे पुरुष का वशीभूत हुआ मन धर्मध्यान के योग्य बन सकता है। यही उपयुक्त है।

धर्मध्यान के योग्य प्रदेश

स्त्री-पशु-क्लीब-दु.शीलवर्जितं स्थानमागमे ।
सदा यतीनामाज्ञप्तं ध्यानकाले विशेषत: ॥२६॥

सदा स्त्री, पुरुष, नपुँसक और कुशील (दुराचारी, परस्त्रीगामी) से रहित स्थान मे निरन्तर रहने की यतियो (मुनियों) के लिए आगम मे आज्ञा दी है। और ध्यानकाल मे तो विशेषरूप से वैसा स्थान बताया है।

स्त्री, गाय वगैरह पशु, नपुसक (हीजड़े) और दुराचारी मनुष्यो से रहित एकान्त, शान्त, शुद्ध, विविक्त) प्रदेश (स्थान) मे सदा निवास करने की योगियो-मुनियो के लिए सयमधर्म की आराधना के लिए जिनेश्वर भगवान् ने (आगम मे) आज्ञा दी है। अर्थात् ऐसे स्थान मे रहना उचित है। और धर्मध्यान के समय प्रारम्भिक वेला मे) तो विशेषरूप से वैसे स्थान मे रहने का कहा है।

स्थिरयोगस्य तु ग्रामेऽविशेष कानने वने।
तेन यत्र समाधानं स देशो ध्यायतो मत: ॥२७॥

स्थिरयोग वाले योगी के लिए गाँव, जगल, या उपवन मे (निवास की) कोई विशेषता नही है। इस दृष्टि से जहाँ जिसके मन का समाधान रहे (मन समाधि मे लगे) वही प्रदेश उस ध्यानी के लिए योग्य माना गया है।

जिसके मन-वचन-काया के योग (व्यापार) स्थिर (निश्चल या निर्विकल्प) है, ऐसे योगी के लिए तो गाँव मे (अनेक मनुष्यो की भीड़ के बीच, या नगर आदि मे), निर्जन अरण्य मे, तथा पुष्पफलादि से सुशोभित उपवन (वगीचे) मे कोई विशेष (खास) बात नही है। अर्थात् ऐसे परमयोगी के लिए सर्वत्र समानवृत्ति होने से न्यूनाधिकता नही है (उसके लिए सभी जगह समान है)। इस दृष्टि से स्थिरयोगी को तो जिस प्रदेश (स्थान) मे उसके मन की समाधि (समाधान) ध्यान करने योग्य वस्तु मे चित्त की एकाग्रता रहे, वही प्रदेश ध्यान के लिए प्रशस्त माना गया है। अत चित्त की समाधि के विना किसी प्रकार का नियम नही है।

धर्मध्यान के योग्य काल

यत्र योगसमाधान कालोऽपीष्ट स एव हि।
दिन-रात्रि-क्षणादीनां ध्यानिनो नियमस्तु न ॥२८॥

जिस समय योग की समाधि होती है, वही काल ध्यान के लिए इष्ट है। ध्यानी के लिए दिन, रात, क्षण, घड़ी आदि का कोई नियम नही है।

जिस समय मे योग की समाधि अर्थात् मन-वचन-काया के योग का समाधान ध्यान के योग्य वस्तु में तन्मयता हो, वही काल ध्यानी के के लिए योग्य है, अभीष्ट है। ध्यानी को ध्यान करने के लिए अमुक दिन, रात, क्षण, घड़ी, मुहूर्त वगैरह नियत (आवश्यकरूप मे निर्धारित) नही है। यह अनिवार्य नही है कि अमुक समय मे ही योगी को ध्यान करना चाहिए।

धर्मध्यान के लिए आसन

यैवावस्था जिता जातु न स्याद् ध्यानोपघातिनी।
तथा ध्यायेन्निषण्णो वा स्थितो वा शयितोऽथवा ॥२६॥

जो जीती (अभ्यस्त की) हुई अवस्था (आसन) ध्यान का उपघात करने वाली न हो, उसी अवस्था में बैठे, खड़े या सोते हुए योगी को ध्यान करना चाहिए। जो अवस्था (शरीर के अवयवो की स्थिरता) जीती हुई (बहुत अधिक अभ्यास से परिचित = ध्यान की अनुकूलता को ले कर अनुभूत) हो, तथा प्रारम्भ किये हुए धर्मध्यान का विनाश करने वाली कदापि न हो, उसी अवस्था मे पद्मासनादि से बैठे हुए, कायोत्सर्गादि से खड़े हुए अथवा दर्भादिक की शय्या पर सोये हुए योगी को ध्यान करना चाहिए ध्यान में तल्लीन हो जाना चाहिए।

सर्वासु मुनयो देशकालावस्थासु केवलम्।
प्राप्तास्तन्नियमो नाऽऽसां नियता योगसुस्थता ॥३०॥

समस्त देश, काल और अवस्थाओ मे मुनियों ने केवलज्ञान प्राप्त किया है। इसलिए इनमे देशकालादि का कोई नियम नही है। योग की स्थिरता का तो नियम है ही।

सभी प्रदेश (गाँव, वन वगैरह), सभी काल (रात, दिन घडी आदि), और सभी अवस्थाओ (पद्मासन आदि आसनो) मे अनन्त योगी-मुनियो ने केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त किया है। इसलिए ऐसा कोई नियम

नही है कि अमुक देश, काल या आसन मे केवलज्ञान प्राप्त करे, परन्तु जिस देशादि मे योगी की स्थिरता और समाधि टिकी रहे, उस देश, काल, अवस्था को जिनेश्वरो ने नियम बताया है।

धर्मध्यान के लिए श्रेष्ठ आलम्बन

> वाचना चैव पृच्छा च परावृत्त्यनुचिन्तने।
> क्रिया चालम्बनानीह सद्धर्मावश्यकानिच ॥३१॥

इस ध्यान मे आरूढ होने के लिए वाचना, पृच्छा, आवृत्ति, अनुचिन्तन, क्रिया, सद्धर्म और आवश्यक ये आलम्बनरूप है।

इस ध्यान पर आरोहण करने के लिए वाचना (सूत्र और अर्थ पढना) पृच्छा सशयनिवारण या अर्थ के निश्चय के लिए सूत्र तथा अर्थ के शकितस्थलो को गुरु से पूछना), परावृत्ति (पहले पढे हुए, सुने हुए की बार-बार आवृत्ति करना, दोहराना) अनुचिन्तन (सूक्ष्म अर्थ का मन मे विचार करना) प्रत्युपेक्षणादि क्रिया उत्तमक्षमादि-परिणामरूप धर्म तथा सामायिक आदि आवश्यक क्रिया, ये सब ध्यानरूपी महल पर चढने मे आलम्बन (सहारे) रूप है। इन आलम्बनो का सहारा ले कर योगी ध्यानशिखर को प्राप्त करता है।

> आरोहति दृढद्रव्यालम्बनो विषमं पदम्।
> तथा रोहति सद्ध्यानं सूत्राद्यालम्बनाश्रित ॥३२॥

जैसे दृढ द्रव्य (पदार्थ) के आलम्बन वाला पुरुष विषमस्थान पर आरोहण कर लेता है, वैसे ही सूत्रादि आलम्बनो का आश्रय लिया हुआ योगी सद्ध्यान पर आरूढ हो जाता है।

जैसे मजबूत रस्से वगैरह का आलम्बन (सहारे) वाला पुरुष बडे गड्ढे मे से निकलने के लिए विषम (अत्यन्त दुस्तर) गर्त (गड्ढे) कुए वगैरह अथवा महाभयकर पर्वतशिखर-स्थान पर आरोहण कर लेता (चढ जाता) है और ऊपर आ जाता है, उसी प्रकार सूत्र की वाचना, पृच्छा आदि पूर्वोक्त आलम्बन से योगी महात्मा सद्ध्यानरूपी शिखर पर चढ जाते है।

आलम्बनादरोद्भूत-प्रत्यूहक्षययोगतः ।
ध्यानाद्यारोहणभ्रंशो योगिनां नोपजायते ॥३३॥

आलम्बन का आदर करने से समुत्पन्न विघ्नों के नाश हो जाने के कारण योगियों का ध्यानरूपी पर्वत पर आरोहण करते हुए भ्रंश (पात) नहीं होता।

पहले बताए हुए आलम्बनों के प्रति आदर (हार्दिक प्रीति) करने से उत्पन्न हुए ध्यानसम्बन्धी विघ्नों के विनाश (अभाव) हो जाने के कारण योगियों (ध्यानियों) का ध्यानरूप पर्वत पर चढ़ते (आलम्बन-रूप सोपानमार्ग से शिखर पर जाते) हुए कदापि भ्रंश (अव पतन) नहीं होता।

ध्यान का क्रम

मनोनिरोधादिको ध्यानप्रतिपत्तिक्रमो जिने ।
शेषेषु तु यथायोगं समाधानं प्रकीर्तितम् ॥३४॥

केवलज्ञानी में मन के निरोध आदि से ले कर ध्यान की प्रतिपत्ति (प्राप्ति) का क्रम बताया है। दूसरों के सम्बन्ध में यथायोग्य समाधान (मनोयोग आदि की समाधि) बताया है।

मुक्तिगमन के समय अन्तिम अन्तर्मुहूर्त में सयोगी केवली (जिन भगवान्) सर्वप्रथम बादर मनोयोग को, फिर सूक्ष्म मनोयोग को रोकते हैं, फिर बादर वाग्योग को, उसके पश्चात् सूक्ष्म वाग्योग का, तत्पश्चात् बादर काययोग का, उसके बाद सूक्ष्म काययोग का निरोध करते हैं। इस क्रम के अनुसार वे मन-वचन-काया के व्यापार को समूल नष्ट कर देते हैं, इस प्रकार उनमें ध्यानप्राप्ति का क्रम होता है। किन्तु दूसरों जो केवलज्ञानी नहीं हैं, ऐसे अप्रमत्तादि छद्मस्थ ध्यानियों के लिए तो ऐसा विधान है कि उन्हें यथायोग्य (अपनी-अपनी योग्यता-नुसार) समाधान (मनोयोग वगैरह की स्थिरता-समाधि) करनी चाहिए। यह ध्यान-प्रतिपत्ति का क्रम है, परन्तु उसका क्रमशः निरोध करने को नहीं कहा है।

ध्यातव्य (ध्यान करने योग्य) द्वार—

आज्ञापायविपाकानां संस्थानस्य च चिन्तनात् ।
धर्मध्यानोपयुक्तानां ध्यातव्यं स्याच्चतुर्विधम् ॥३५॥

आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थान का चिन्तन करने से धर्म-ध्यान के लिए उपयुक्त (समर्थ) हुए योगियों को चार प्रकार ध्यातव्य होते हैं।

धर्ममय ध्यान के लिए जो योगी उपयुक्त (योग्य या समर्थ) हो गये हैं, उन्हें आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थान का चिन्तन करना चाहिए। यहाँ प्रत्येक पद के साथ 'विचय' शब्द और जोड़ना चाहिए। इस प्रकार ध्यान करने योग्य वस्तु (ध्यातव्य) के चार प्रकार हैं। उनका लक्षण क्रमशः यों हैं (१) **आज्ञाविचय**—जिसमें जिनेश्वर भगवान् की आगमरूपी वाणी (आज्ञा) का विशिष्ट या विविध प्रकार का चय=निर्णय करने रूप उपचय (वृद्धि) हो, वह आज्ञाविचय है। राजाज्ञा के भंग करने की तरह देवाधिदेव परमात्मा की आज्ञा का भंग करने से अनादि संसार-परिभ्रमणादि का महाभय प्राप्त होता है। (२) **अपायविचय**—ज्ञानादि का नाश (अपाय) करने में हेतुरूप रागादि के कष्टों का हेतुरूप में विचार (निश्चय=निर्धारण) करना। (३) **विपाकविचय**—कर्म के उदय (विपाक) का विचय (गति आदि के रूप में अवश्य दुष्फल देंगे, ऐसा निश्चय करना, और (४) **संस्थानविचय**—लोक के आकार (संस्थान) का चिन्तन करना अर्थात् उसमें अनादि-काल से परिभ्रमण करने का निश्चय करना। इस प्रकार ध्यातव्य वस्तु ४ प्रकार की है।

नयभंगप्रमाणाढ्यां हेतूदाहरणान्विताम् ।
आज्ञां ध्यायेज्जिनेन्द्राणामप्रामाण्याकलंकिताम् ॥३६॥

नयों, भंगों और प्रमाणों से समृद्ध (व्याप्त), हेतुओं और उदाहरणों से युक्त और अप्रमाण के कलंक से रहित जिनेन्द्रों की आज्ञा का ध्यान करना चाहिए।

ध्यान करने वाले को सर्वप्रथम जिनेश्वरों की आज्ञा का इस प्रकार

चिन्तन करना चाहिए "हे आत्मन् ! जिनेश्वर की आज्ञा नैगम वगैरह नयों, भगों=अर्थ के विकल्पों (स्यादस्ति, स्यान्नास्ति वगैरह सात भगो) तथा प्रत्यक्षादि प्रमाणों (यथार्थरूप से समग्र ज्ञेय पदार्थों में व्याप्त होना प्रमाण है) से व्याप्त मानी दूसरे उसका खण्डन न कर सके, ऐसे अकाट्य प्रमाणों से समृद्ध, जिनाज्ञा का ध्यान कर। चूंकि जिनेश्वर की आज्ञा समस्त दोषों से रहित है, तथा वह असर्वज्ञ-कथित नहीं है। इसलिए मैं जिनाज्ञा का ही आश्रय लेता हूँ। इस तरीके से सर्वत्र योजना समझ लेनी चाहिए। हेतुओं (जीव का अनादित्व बताने (सिद्ध करने) वाले विविध हेतुओं) तथा संसार की असारता बताने वाले उदाहरणों (अर्थात् अन्वय-व्यतिरेकरूप दृष्टान्तों) से युक्त, तथा अप्रमाण (प्रमाण के अभाव=अयथार्थ अनुभव=भ्रान्तज्ञान) से अकलंकित (कलंक=दोष से रहित) जिनेश्वर की आज्ञा=द्वादशांगीरूप वाणी का ध्यान करना (अहो ! नयों से निपुण,कलंक-रहित जिनवाणी है, इस प्रकार '**तमेव सच्चं**' इत्यादि रूप में एकाग्रचित्त से चिन्तन करना, **आज्ञाविचय** नामक पहला भेद समझना चाहिए।

राग-द्वेष-कषायादि-पीड़ितानां जनुष्मताम् ।
ऐहिकामुष्मिकांस्तांस्तान्नानाऽपायान् विचिन्तयेत् ॥३७॥

राग, द्वेष, कषाय आदि से पीडित प्राणियों के इहलोक-परलोक-सम्बन्धी उन-उन प्रकार के विविध कष्टों (अपायों) का चिन्तन करना **अपायविचय** नामक दूसरा भेद है।

राग=मोह, स्वार्थजनित प्रेम, द्वेष=वैर, घृणा, अप्रीति, कषाय= क्रोध, मान, माया और लोभ, आदि शब्द से विषय, अज्ञान आदि से जनित चार गतियों चौरासी लाख जीवयोनियों से सम्बन्धित दुःखों से पीडित जीव इस लोक और परलोक में नाना प्रकार के अपायों (शारीरिक छेदन-भेदन आदि, मानसिक अपमान, दुर्लभ आजीविका और दुर्गति आदि से उत्पन्न हुए विविध प्रकार के कष्टों) के परिहार (निवारण, प्रतीकार) का चिन्तन करना। जैसे कि हे आत्मन् ! राग आदि करने से प्राणियों को कैसे-कैसे भयंकर कष्ट प्राप्त होते हैं?

मोक्षमार्ग स्वाधीन होने पर भी उस मार्ग को छोड़ कर तूने स्वयमेव महाभयंकर कष्टों के उत्पादक राग-द्वेषादिरूपी कुमार्ग ढूंढ कर अपनी आत्मा को संकट (कष्ट) में डाला है, इसी कारण तो जीव चार गतियों और ८४ लाख योनियों में वारवार भटकता है।" यों चिन्तन करते हुए करुणारस में सराबोर हो जाना और उन अपायों से सावधान रहना —**अपायविचय** नामक दूसरा धर्मध्यान है।

ध्यायेत् कर्मविपाकं च तं तं योगानुभावजम् ।
प्रकृत्यादि-चतुर्भेदं शुभाशुभविभागतः ॥३८॥

उस-उस योग के प्रभाव से उत्पन्न हुए और प्रकृतिवन्ध आदि चार प्रकार के वन्ध वाले कर्मों के विपाक का शुभ और अशुभ के विभागपूर्वक ध्यान (चिन्तन) करना **विपाकविचय** नामक तीसरा धर्म-ध्यान है।

जिस-जिस प्रसिद्ध कर्मविपाक कर्मफल के उदय को नरक-तिर्यञ्च-मनुष्य-देवगति में जीव भोगता है—वेदना करता है, उस-उस मन-वचन-काया के व्यापार-रूप योग के सामर्थ्य से उत्पन्न हुए प्रकृति-वन्ध, (कर्म का ज्ञानावरणीय आदि स्वभाव) स्थितवन्ध (कर्म भोगने की अवधि या कालनियम), रसवन्ध (विपाक का रस) और प्रदेशवन्ध (कर्मों का जत्था=समुदाय) रूप चार प्रकार का कर्मविपाक है, उनमें देवलोक की श्रेष्ठतम सम्पत्तियाँ और नारकीय जीवों की निकृष्टतम विपत्तियाँ होती है, इन दोनों रूपों में अर्थात् शुभ-अशुभ यानी पुण्य-पापरूप कर्म की एकच्छत्र प्रभुता है। शुभपुण्योदय से जीव सुन्दर स्त्री, देवविमान, उपवन, वाग-वगीचे, महल, अनुकूल शरदृऋतु आदि सुख-दायक काल, देवत्व, भोगभूमि, यौगलिकजन्म, मनुष्यजन्म, मन की निर्मलता, संतोष, सरलता एवं नम्रभाव आदि पुण्यप्रकृति के निमित्त से ४२ प्रकार के शुभ संयोग मिलते है। और अशुभ पापोदय से सर्प, अग्नि का आदि का अनुभव, स्मशान, जगल, शून्य का विनाश, अत्यन्त गर्मी, अत्यन्त ठंड के रूप में प्रतिकूलता, म्लेच्छ, भील आदि जाति में जन्म, तिर्यञ्च, नरक आदि में जन्म तथा क्रोध, मान, कपट, लोभ, रौद्रध्यान आदि पापप्रकृति के निमित्त से ८२ प्रकार के अशुभसंयोग

प्राप्त होते है, इस प्रकार उन-उन शुभाशुभ कर्मों के उदय के वश हुए जीवो के सुख-दुःखरूप कर्मफल या चिन्तन करते हुए वैराग्य में तल्लीन होना विपाकविचय नामक धर्मध्यान का तीसरा भेद समझना चाहिए।

उत्पाद-स्थितिभंगादिपर्यायैर्लक्षणैः पृथक् ।
भेदैर्नामादिभिर्लोकसंस्थानं चिन्तयेद् भृतम् ॥२६॥

उत्पाद, व्यय और ध्रुव आदि पर्यायों से परिपूर्ण (भरे हुए) लक्षणों से भिन्न-भिन्न सत्ता वाले भेद और नाम आदि से (भरे हुए) लोकसंस्थान (लोकाकृति) का चिन्तन करना, चौथा लोकसंस्थान-विचय है।

दोनों हाथ कमर पर रखे हुए और दोनों पैरों को फैला कर खड़े हुए पुरुष की आकृति के समान लोकाकाशक्षेत्र है। यहाँ द्रव्यशब्द का अध्याहार करना। लोक में अनेक द्रव्य हैं और एक-एक द्रव्य के अनन्त-अनन्त पर्याय है। उनका परिवर्तन होता रहता है। अर्थात् प्रत्येक द्रव्य (पदार्थ) की उत्पत्ति (वस्तु के वर्तमान पर्याय का नाश हो कर अनागत=नवीन पर्याय की उत्पत्ति) होती है। उदाहरणार्थ-जीव वर्तमान शुभाशुभ परिणाम से उत्पन्न होता है और विनष्ट होता है; तथा धर्मास्तिकाय गति के सहायकरूप सम्बन्ध से, अधर्मास्तिकाय स्थिति-रूप सम्बन्ध से, तथा आकाश अवगाहनारूप से परमाणु-द्वयणुकादि के संयोग से एकगुण कृष्णत्व वगैरह ५ वर्ण, ५ रस, २ गन्ध, ८ स्पर्श और ५ संस्थान रूप में उत्पन्न होता है, स्थिति यानी अपने-अपने द्रव्यत्व रूप से सबकी ध्रुवता (नित्यता) है दीपक से ले कर आकाश तक सभी वस्तुएँ नित्यानित्य स्वरूप वाली हैं। प्रत्येक पदार्थ प्रतिक्षण उस-उस पर्याय से उत्पन्न होता है, फिर नष्ट होता है। यहाँ उत्पत्ति और स्थितिरूप आदि और अन्त ग्रहण करने से मध्यम का भी ग्रहण होता है, इस न्याय से व्यय यानी उत्पत्ति की तरह अतीत के सम्बन्ध से सबका विनाशित्व जान लेना। तथा भंग यानी सबके अर्थविकल्प तथा अर्थान्तरगमन प्रकार वगैरह, यहाँ आदि शब्द से परिणाम वगैरह का ग्रहण होता है। ऐसे समस्त पर्यायों (विशेष धर्म)

से नाना समझना। तथा लक्षण यानी धर्मास्तिकाय आदि को गति-सहाय आदि लक्षणों से भिन्न भिन्न सत्ता वाले जानना। इसी प्रकार स्कन्ध देश, प्रदेश, चेतन, अचेतन, नर, नारी, वगैरह भेदों से तथा नामादि (नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भेद, भाव आदि) निक्षेपों से भरे हुए (परिपूर्ण) लोकसस्थान (१४ रज्जूपरिमाण लोक के आकार) का चिन्तन (वस्तुधर्म का विचार) करना लोकसस्थानविचय नामक धर्मध्यान का चौथा भेद है।

चिन्तयेत्तत्र कर्तारं भोक्तारं निजकर्मणाम्।
अरूपमव्ययं जीवमुपयोगस्वलक्षणम् ॥४०॥

उस लोकसंस्थान में स्वयं आत्मा अपने कर्मों का कर्त्ता है, भोक्ता है, अरूपी है, अविनाशी है, तथा उपयोगलक्षण से युक्त है, ऐसा चिन्तन करना भी संस्थानविचय नामक धर्मध्यान के अन्तर्गत है।

इस चौदह रज्जूप्रमाण लोकाकाश क्षेत्र में अर्थात् तीनों जगत् में जीव अपने कर्म का कर्त्ता स्वयं है, और उस-उस कर्म के अनुसार शुभाशुभ कर्मफल का भोक्ता भी स्वयं है (अर्थात् जीव दूसरे की प्रेरणा के बिना खुद ही शुभाशुभ कर्म का कर्त्ता है, खुद अकेला ही शुभकर्मयोग से देवादिगति का भोक्ता है और अशुभकर्म के योग से नरकादिगति का का भोक्ता है। परन्तु आत्मा अरूपी (निरञ्जन, सत्ता की अपेक्षा से निराकार) है, (असंख्यप्रदेशों में स्थित होने से अविनाशी) है, तथा उपयोग (ज्ञानदर्शनरूप, अथवा सामान्यविशेषबोधरूप चेतनाव्यापार) रूपी लक्षण वाला है। अर्थात् जीव स्वतत्व को जानने-बताने के स्वरूप वाला है। इस प्रकार जीव (आत्मा) का चिन्तन करना भी संस्थानविचय के अन्तर्गत है।

तत्कर्मजनित जन्म-जरा-मरणवारिणा।
पूर्णं-मोहमहावर्तं कामौर्वानलभीषणम् ॥४१॥

आशामहानिलापूर्णकषायकलशोच्छलत्।
असद्विकल्पकल्लोलचक्रं दधतमुद्धतम् ॥४२॥

हृदि स्रोतसिकावेलासम्पातदुरितक्रमम् ।
प्रार्थनावल्लिसन्तान दुष्पूरविषयोदरम् ॥४३॥

अज्ञानदुर्दिन व्यापद्विद्युत्पातोद्भवद्भयम् ।
कदाग्रहकुवातेन हृदयोत्कम्पकारिणम् ॥४४॥

विविधव्याधि-सम्बन्धमत्स्य-कच्छपसंकुलम् ।
चिन्तयेऽच भवाम्भोधि चलद्दोषाद्रिदुर्गमम् ॥४५॥

उस-उस जीव के कर्मो से उत्पन्न, जन्म, जरा, मृत्युरूप जल से परिपूर्ण, मोहरूपी महावर्त वाली, कामरूपी वडवानल से भयकर, आशाओ (इच्छाओ) रूपी महावात से पूर्ण, कषायरूपी कलशो से उछलते हुए, असद्विकल्पो रूपी उद्धत (प्रचण्ड) तरगचक्र को धारण करता हुआ, हृदय मे स्रोतसिकारूपी वेला की वृद्धि (मन मे श्रोत्रादि विषय-वासना के कठोर ज्वार) के कारण दुर्लंघ्य, प्रार्थनारूपी लताओ की परम्परा (सन्तान) वाली, दुःख से पूर्ण हो सके, ऐसे विषयसुखरूपी समुद्र का उदर (मध्यभाग) है। जहाँ अज्ञानरूपी दुर्दिन (मेघो से ढका हुआ) है, आपत्तियो रूपी विजलियो के गिरने से भयोत्पादक है, कदाग्रहरूपी कुवात (अन्धड) से हृदय को कपाने वाला है, विविध व्याधिरूपी मछलियाँ, कछुए आदि से व्याप्त है, तथा चचलता, शून्यता और गर्व-दोषो रूपी चलायमान पर्वतो से वह दुर्गम है, ऐसे ससाररूपी समुद्र का चिन्तन करना चाहिए ।

ससाररूपी समुद्र अतिदुस्तर है। वह जीव के अनेक जन्मो के कर्मो से जनित जन्म-जरा--मृत्युरूपी पानी से परिपूर्ण है। उसमे मोहरूपी बड़े-बड़े आवर्त (भवरजाल) हैं, वह कामविकाररूपी वडवानल से महाभयकर है। वह अनेक आशा=भोगादितृष्णारूपी अतिप्रचण्ड वायु से युक्त है। उसमे क्रोधादिकषायरूपी चार पातालकलशो से जल उछल रहा है। वह ससारसमुद्र अशुभ (पापरूप) विकल्पो (हिंसादि मनोरथ) रूपी उद्धत तरगो को धारण किये हुए है। इसके कारण हृदय मे श्रोत्रादिविषयो से उत्पन्न विकारो का महाप्रवाह ऐसा उठता है कि वह दुर्गम्य-दुस्तीर्ण हो गया है, इसमे विषयसुखो की अभिलाषारूपी

लताओ की परम्परा (सतति) वाली ज्वार उठता है। करोडो उपायो से पूर्ण न हो सके, ऐसा विपयास्वादरूपी उदर=समुद्र का मध्यभाग है। ससार के विषय मे सुख की भ्रान्तिरूप (या अज्ञान अवोधरूपी) दुर्दिनवत् (सभी दिशाओ के वादलो से आच्छादित) वना हुआ है। विविध प्रकार की आपत्तिरूप विजली पड़ने से महाभयोत्पादक है, दुराग्रहरूपी दुष्टवायु से वह हृदय को कम्पित कर देता है, मत्स्य-कच्छप आदिरूपी नाना रोगों से व्याप्त है, आत्मा मे चचलता, मोह उत्पन्न करने वाले राग-द्वेप-मोहादि दोपो रूपी पर्वतो से यह अत्यन्त दुर्लध्य व दुर्गम (दुस्तर) वना हुआ है। इस प्रकार के महाभयकर ससारसमुद्र का एकाग्रचित्त से चिन्तन करना चाहिए।

तस्य सन्तरणोपाय सम्यक्त्वदृढवन्धनम्।
वहुशीलांगफलकं ज्ञाननिर्यामिकान्वितम् ॥४६॥

संवरास्ताश्रवाच्छिद्रं गुप्तिगुप्तं समन्तत।
आचारमण्डपोद्दीप्ताऽपवादोत्सर्गभूद्वयम् ॥४७॥

असख्यैर्दुर्धरैर्योधैर्दुष्प्रधृष्य सदाशयै ।
सद्योगकूपस्तम्भाग्रन्यस्ताध्यात्मसितांशुकम् ॥४८॥

तपोऽनुकूलपवनोद्भूतसवेगवेगत.।
वैराग्यमार्गपतिते चारित्रवहनं श्रिता ॥४९॥

सद्भावनाख्यमजूषान्यस्तसच्चित्तरत्नत ।
यथाऽविघ्नेन गच्छन्ति निर्वाणनगरं वुधा.। ५०।

उस ससारसागर को पार करने मे उपाय (साधन)रूप, सम्यक्त्व-रूपी दृढवन्धन वाला, वहुत से (१८ हजार) शीलागरूपी फलक (तख्ते) वाला, ज्ञानरूपी निर्यामक से युक्त, संवर से आश्रवरूपी छिद्रो को वन्द करने वाला, चारो ओर गुप्तियो से रक्षित, आचाररूपी मडप से सुशोभित, अपवाद और उत्सर्ग नामक दो भूमिका वाला, असंख्य अजेय सदाशयरूपी योद्धाओ के कारण पराजित करने मे असमर्थ (अशक्य), सद्योगरूपीकूपस्तम्भ के अग्रभाग में अध्यात्मरूपी श्वेतवस्त्र का मस्तूल चढ़ाया

हुआ, तपरूपी अनुकूल वायु से उत्पन्न हुए संवेगरूपी वेग से वैराग्यरूपी पथ पर चारित्ररूपी जलयान चलता है। उस चारित्ररूपी जलयान में बैठ कर पण्डितजन सद्भावना नाम की पेटी में शुभचित्तरूपी रत्न को रख कर निर्विघ्नता से मोक्षनगर पहुंच जाते है। इस प्रकार एकाग्रचित्त से चिन्तन (ध्यान) करना।

इस प्रकार संसारसमुद्र को पार होने के लिये चारित्ररूपी जलयान मे पण्डितजन बैठे तो संसारसमुद्र को पार करके मोक्षनगर पहुंच सकते हैं। वह चारित्ररूपी जलयान कैसा है ? यह बताते हैं संसाररूपी समुद्र पर तैरने के लिए उपायरूप (पुनः जन्म न हो, इस प्रकार सम्यक् प्रकार से संसारसागर तरने के साधनरूप) सम्यक्त्वरूपी (सुदेव, सुगुरु, सद्धर्म पर शुद्धश्रद्धारूप) दृढ अतिबलवान उसका बन्धन है। वह जलयान टूट न जाय इसके लिए सुदृढ़ता की जरूरत है। इसमे अठारह हजार शीलांग-आचार-प्रकाररूपी तख्ते लगे हुए हैं, तथा ज्ञानरूपी (सद्बोधरूपी) निर्यामक=समुद्रमार्ग के ज्ञाता विभिन्न पुस्तकों को धारण करने वाले पुरुष हैं, सत्तावन भेद वाले संवर से उसके आश्रव के छेद बन्द कर दिये हैं, जिनसे नवीन कर्मरूपी जल प्रवेश नही कर सकता; समस्त दिशा-विदिशाओं मे मनोगुप्ति आदि तीन गुप्तियों से वह सुरक्षित है, जिससे जलयान शीघ्रता और आसानी से चलता है तथा वह जलयान ज्ञानाचार आदि पंचाचाररूप मण्डप (विश्रामस्थान) से सुशोभित है। उक्त जलयान की अपवाद (किसी कारणवश आचरणीय) मार्ग और उत्सर्ग (निरन्तर आचरणीय) मार्गरूप दो मंजिले हैं। दुर्धर मोहशत्रुओं से भी रोका न जा सके, ऐसे सदाशयों (शुभ अध्यवसायो) रूपी योद्धाओं से युक्त है। अर्थात् संयम के परिणामों से हुए शुभ अध्यवसायरूपी सुभटों के कारण रागादि से वे पराजित नहीं हो सकते। तथा सुन्दरयोग (मोक्षोपाय) के सेवनरूप कूपस्तम्भ के अपनाने पर अर्थात् नौका के मध्यभाग मे उच्चस्तम्भ से शिखर पर ज्ञानक्रिया की शुद्धिरूपी उज्ज्वल मन के परिणाममय अध्यात्मरूपी श्वेतपट (मस्तूल) लगा हुआ है। तथा अनशनादि १२ प्रकार के तपरूपी अनुकूल पवन के (कर्मरूपी रज का हरण करने में निपुण होने से सानुकूल पिछले वायु के) चलने मे उत्पन्न हुए

सवेग मोक्षाभिलाषारूपी वेग से अर्थात् उपाय मे प्रवृत्त होने मे ससार के प्रति उदासीनतारूपी मार्ग मे पड़े हुए चारित्ररूपी जलयान मे वैठे हुए पुरुप जगत् के जीवो के लिए हितैषी होने से शुभ अनित्यादि भावनाओरूपी वडी पेटियो मे रक्षा के लिए प्रयत्नपूर्वक शुभ मनरूपी रत्नो को रख कर जिस प्रकार से निर्विघ्नता से निर्वाणनगर (मुक्तिनगर) को प्राप्त करता हू, इस प्रकार ध्यान (चिन्तन) करना चाहिए।

धर्मराज और मोहराज का युद्ध

यथा च मोहपल्लीशे लब्धव्यतिकरे तथा।
संसारनाटकोच्छेदाशंकापंकाविले मुहु ॥५१॥

सज्जीकृतस्वीयभटे नावं दुर्बुद्धिनामिकाम्।
श्रिते दुर्नीतिनौवृन्दारूढशेषभटान्विते ॥५२॥

जैसे ही मोहरूपी पल्लीपति ने यह वृत्तान्त सुनाकि बार-वार वह ससाररूपी नाटक के उच्छेद की शकारूपी पक से मलिन हुआ, तभी उसने (मोहराजा ने) अपने मुभटो को सुसज्जित करके दुर्वुद्धि नामकी नौका का आश्रय लिया, और वाकी के योद्धा दुर्नीति नाम की नौका मे आरूढ हुए।

इस प्रकार ससार (वार वार भवभ्रमण) रूप नाटक मे विचित्र वेष धारण करने वाले पात्रो के नृत्य वन्द हो जाने की आशका से मोहराजा का चित्त मलिन हो गया, क्योकि उसे यह समाचार मिला कि धर्मराज चारित्ररूपी नौका मे विठा कर वारवार ससारी जीवो को मोक्ष की ओर ले जा रहा है, यह वात मुनते ही मोहराजा से न रहा गया। ऐसे अज्ञानरूपीदशारूपी भीलो के राजा मोहमहाराज ने अपने योद्धाओ को एकदम तैयार किए। तत्पश्चात् वह स्वय दुर्वुद्धि (पापबुद्धि) नाम की नौका पर चढा और शेष रागादि सुभटो को दुष्टनीति (परद्रोहकारिणी दुर्नीति) नाम की नौका पर विठा कर चल दिया। अर्थात् इस प्रकार मोहराजा ने मुसज्जित हो कर युद्ध के लिए शत्रुसेना के सामने मोर्चा लगा दिया।

आगच्छत्यत्र धर्मेशभटौघे रणमण्डपम् ।
तत्त्वचिन्तादिनाराचसज्जीभूते समाश्रिते ॥५३॥

उसके बाद तत्त्वचिन्ता आदि बाणो से सुसज्ज हो कर धर्मराजा का आश्रय ले कर उनके सुभटो का दल समरागणमण्डप मे आ गया।

उसके पश्चात् मोहराज को ससैन्य तैयार हो कर युद्ध के मैदान मे आया देख कर धर्मराजा (चारित्रधर्मसम्राट्) को समग्रशत्रुसमूह पर विजय प्राप्त करने वाले विमलमति आदि महायोद्धाओ का दल सहज-स्वरूप वस्तुतत्त्व के चिन्तनरूप दुर्भेद्यभेदक अतितीक्ष्ण बाणो को धारण कर धर्मराजा का आश्रय ले कर युद्ध के मैदान मे आ डटा।

मिथो लग्ने रणावेशे सम्यग्दर्शनमन्त्रिणा ।
मिथ्यात्वमंत्री विषमां प्राप्यते चरमां दशाम् ॥५४॥

उसके बाद परस्पर युद्ध होने लगा, उसमे सम्यग्दर्शनरूपी मन्त्री ने मिथ्यादर्शनरूपी मन्त्री को अत्यन्त विपम अन्तिम अवस्था मे पहुँचा दिया।

धर्मराजा और मोहराजा, इन दोनो को सेनाओ का जब परस्पर युद्ध होने लगा, तब उसमे यथार्थ वस्तुस्वरूप के प्रति श्रद्धावान् सम्यग्दृष्टि नामक अत्यन्त विचारशील दीर्घदर्शी और समस्त राजकार्यनिपुण धर्मराजा के मन्त्री ने मोहराजा के मिथ्यात्व नामक मन्त्री को, जो सर्वथा अन्याय मे प्रवृत्त, विश्वस्त के प्रति द्रोही, मोहराजा का मन्त्री (अमात्य) था, विपम यानी सर्वथा अस्तित्वरहित चरमदशा मृत-प्राय अवस्था कर दी। अर्थात् उसे समूल नष्ट करके प्राणान्तदशा मे पहुचा दिया।

लीलयैव निरुध्यन्ते कषायचरटा अपि ।
प्रशमादि-महायोधैः शीलेन स्मरतस्करः ॥५५॥

प्रशमादि महायोद्धाओ ने कपायरूपी लुटेरो को भी अनायास ही पकड लिया और शीलरूपी महायोद्धा ने कामरूपी चोर को गिरफ्तार कर लिया।

प्रशमादि=क्षमा, मार्दव, आर्जव आदि महावीरो ने अनन्तानुबन्धी आदि क्रोधादि १६ कषायरूपी लुटेरो (जो कि धर्मराज की प्रजा मे आतंक मचा रहे थे, और मार्ग में डट कर डाका डालते थे) को एक ही झपाटे में आसानी से गिरफ्तार कर लिया। तथा शील (ब्रह्मचर्य) रूपी योद्धा ने कामरूपी तस्कर को धर पकड़ा।

हास्यादिषट्लुण्टाकवृन्दं वैराग्यसेनया ।
निद्रादयश्च ताड्यंते श्रुतोद्योगादिभिर्भटैः ॥५६॥

वैराग्यरूपी सेना ने हास्यादि छह लुटेरो के दल को मार भगाया। और निद्रादिरूपी योद्धाओ को श्रुतोद्योगादि सुभटो ने बहुत जोर से पीटा।

धर्मराजा की विरक्तदशा प्राप्त वैराग्यसेना ने हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा आदि (सुकृतरूपी धन को लूट लेने वाले) ६ लुटेरो को मारपीट कर भगा दिया; तथा निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला और स्त्यानर्द्धिरूपी योद्धाओ को श्रुतोद्योग (शास्त्र के पठन-पाठनरूपी उद्योग और उपयोगसहित क्रियाकर्ता) आदि योद्धाओ ने खूब पीटा।

भटाभ्यां धर्मशुक्लाभ्यामार्त्तरौद्राभिधौ भटौ ।
निग्रहेणेन्द्रियाणां च जीयते द्रागसंयमः ॥५७॥

धर्म और शुक्ल इन दो सुभटो ने आर्त्त और रौद्र नाम के दो भटो को वश मे कर लिया और इन्द्रियनिग्रहरूप योद्धा ने तत्काल असंयम को जीत लिया।

धर्मध्यान और शुक्लध्यान नाम के दो महासुभटो ने मोहराज के आर्त्त-ध्यान और रौद्रध्यान नामक सुभटो को पराजित कर दिया। और उसके बाद श्रोत्रादि पाचो इन्द्रियो के निग्रह द्वारा अपने-अपने विषयो से इन्द्रियो को पराङ्मुख करके असंयम अविरति नामक योद्धा को तत्काल जीत लिया।

क्षयोपशमतश्चक्षुर्दर्शनावरणादयः ।
नश्यत्यसौतसैन्यं च पुण्योदयपराक्रमात् ॥५८॥

क्षयोपशम नामक योद्धा से चक्षुदर्शनावरणीय आदि भाग गए और पुण्योदय नामक सुभट के पराक्रम से असातारूपी सेना भाग खड़ी हो गई।

क्षयोपशम सुभट के प्रहार से नेत्रादि इन्द्रियो की प्राप्ति का आवरण करने वाले चक्षुदर्शनावरणीय, अचक्षुदर्शनावरणीय, अवधि-दर्शनावरणीय और केवलदर्शनावरणीय, ये सब छूमन्तर हो गए। इसी प्रकार पुण्योदय (सुकृत कर्मोदय) की बहादुरी देखते ही असाता वेदनीय का सैन्य भी वहाँ से नौ दो ग्यारह हो गया।

सह द्वेषगजेन्द्रेण रागकेसरिणा तथा।
सुतेन मोहभूपोऽपि धर्मभूपेन हन्यते ॥५९॥

अन्त मे मोहराजा को अपने दोनो पुत्रो द्वेषगजेन्द्र एव राग-केसरी के सहित धर्मराजा ने मार डाला।

इस प्रकार दोनो का युद्ध होते-होते मोहराजा की सारी सेना का सफाया हो गया। रागकेशरी और द्वेषगजेन्द्र नामक दोनों पुत्रो के सहित मोहराजा ही शेष बचे रहे। उसी समय धर्मराजा ने मौका देख कर एकदम धावा बोल दिया और देखते ही देखते अपने दोनो पुत्रो सहित मोहराजा को धराशायी कर दिया।

तत प्राप्तमहानन्दा धर्मभूपप्रसादत।
यथा कृतार्था जायन्ते साधवो व्यवहारिण ॥६०॥

उसके बाद धर्मराजा की कृपा से साधुरूप व्यवहारी अत्यन्त आनन्दित हुए और व्यवहारियो की तरह कृतार्थ हो कर अपना व्यवहार करने लगे।

इस प्रकार धर्मराजा की विजय होने के बाद उनकी (धर्मरूपी चक्रवर्ती की) दया (कृपा) से समस्त साधु-रूपी व्यापारी (परदेश के व्यापारी) अत्यन्त आनन्द प्राप्त कर कृतार्थ हो गए। सारे साधुरूपी व्यापारी ससारसमुद्र से पार उतरने लगे।

विचिन्तयेत्तथा सर्वं धर्मध्याननिविष्टधी ।
ईदृगन्यदपि न्यस्तमर्थजातं यदागमे ॥६१॥

धर्मध्यान में जिसकी बुद्धि तल्लीन है, उस मुनि को पूर्वोक्त प्रकार से समस्त चिन्तन (ध्यान) करना चाहिए और इसी तरह के और भी पदार्थसमूह पर, जिसका आगम मे वर्णन हो, उसका भी ध्यान करना चाहिए ।

धर्मध्यान मे जिसकी बुद्धि लीन (ओतप्रोत) हो गई है, उस मुनि को पहले कहे अनुसार उत्पाद आदि पर्याय, जीव द्वारा कृत कर्म से जनित ससारसागर, उससे पार होने के उपायरूप चरित्र-जलयान, मोहराजा की पराजय, धर्मराजा की विजय तथा मुनिरूपी व्यापारियो की कृतार्थता इत्यादि सबका एकाग्रतापूर्वक चिन्तन (ध्यान) करना तथा इससे अतिरिक्त अर्थसमूह पर अथवा आवश्यकादि सूत्र वगैरह जिनागमो मे उक्त अप्रमत्तभाव आदि का भी ध्यान करना चाहिए ।

ध्याता

मनसश्चेन्द्रियाणा च जयाद्यो निर्विकारधी ।
धर्मध्यानस्य स ध्याता, शान्तो दान्त: प्रकीर्तित ॥६२॥

जो योगी मन और इन्द्रियो पर विजय प्राप्त करने से निर्विकार बुद्धि हो गया हो, उसी शान्त और दान्त मुनि को धर्मध्यान का ध्याता कहा गया है ।

मन (चित्त) और श्रोत्रादि पाचो इन्द्रियो को जीत लेने से यानी उन्हे वश मे कर लेने से जिस योगी की बुद्धि निर्मल (निर्विकार) हो गई है, उस शान्त (कषायविजेता) और दान्त (इन्द्रियविजेता) मुनि को जिनेश्वर ने धर्मध्यान का ध्याता (ध्यान के योग्य) कहा है ।

परैरपि यदिष्ट च स्थितप्रज्ञस्य लक्षणम् ।
घटते ह्यत्र तत्सर्वं, तथा चेदं व्यवस्थितम् ॥६३॥

दूसरे दार्शनिको को स्थितप्रज्ञ का जो लक्षण अभीष्ट है, वह सब यहाँ घटित होता है, उसी प्रकार इसकी भी व्यवस्था है ।

अन्य दर्शनकार श्रीव्यास आदि को भी स्थितप्रज्ञ (अपनी आत्मा में जिसकी प्रज्ञा स्थिर है, अथवा अपने आत्मस्वरूप में जिसकी बुद्धि स्थित है) का जो लक्षण अभीष्ट है, वह सारा का सारा (परिपूर्ण) लक्षण यहाँ (यानी मन और इन्द्रियों के जय से युक्त धर्मध्यान के ध्याता के विषय में) घटित होता है। और इसी प्रकार का लक्षण आगम में कहा गया है, हमने भी यहाँ वही बताया है। भगवद्गीता में अ २ श्लो० ५५ में स्थितप्रज्ञ का जो लक्षण अंकित है, उसे बताते हैं—

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ ! मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥६४॥

हे अर्जुन ! जब मन में रहे हुए सभी कामों (मनोरथों) को साधक छोड़ देता है और आत्मा से आत्मा में सन्तुष्ट हो जाता है, तब वह स्थितप्रज्ञ कहलाता है।

अर्जुन को सम्बोधित करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं हे अर्जुन ! जब योगदशा का अभ्यासी साधक हृदय में रही हुई तमाम शुभ-अशुभ कामनाओं की उत्पत्ति का ही त्याग कर देता है और आत्मा (आत्मज्ञान) के जरिये आत्मा में (आत्मस्वरूप में) सन्तुष्ट (समस्त इच्छाओं से तृप्त) हो जाता है, तब उसे योगीजन स्थितप्रज्ञ कहते हैं।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥६५॥

जिसका मन दुःखों के प्रसंगों में उद्विग्न नहीं होता और जो सुख के अवसरों पर स्पृहा से रहित है तथा जिसके राग, भय और क्रोध नष्ट हो गए हैं, वह मुनि स्थितप्रज्ञ कहलाता है।

जिसका चित्त दुःखों प्रतिकूल एवं कष्टदायक प्रसंगों में क्षुब्ध (व्यग्र) नहीं होता, तथा सुखों अनुकूल एवं आनन्ददायक (सातावेदनीय) अवसरों में निःस्पृह रहता है, जिसके चित्त में किसी प्रकार के राग, (मोह), भय और क्रोध आदि कषाय नहीं पैदा होते, वह मुनि स्थितप्रज्ञ कहलाता है।

य. सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि, तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६६॥

जो सर्वत्र आसक्ति से रहित है तथा उस-उस शुभ या अशुभ वस्तु या स्थिति प्राप्त होने पर न तो आनन्दित होता है और न ही द्वेष (घृणा) करता है, उसकी प्रज्ञा स्थिर है।

जो योगी सर्वत्र (सभी वस्तुओं या स्थितियों में) आसक्ति से रहित (उदासीन) रहता है। तथा उस-उस प्रकार की शुभाशुभ (मनोज्ञ-अमनोज्ञ) वस्तुओं को पा कर न तो खुश हो कर उनकी प्रशंसा करता है और न ही द्वेषवश उनकी निन्दा करता है। अर्थात् रागी-द्वेषी नहीं होता, उस योगी की प्रज्ञा आत्मा में प्रतिष्ठित (स्थित) है, यह समझ लो।

यदा संहरते चाऽयं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वश ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६७॥

जैसे कछुआ अपने सभी अंगों को सर्वथा सिकोड लेता है, वैसे ही योगी जब इन्द्रियों के विषयों से इन्द्रियों को समेट लेता है, वापिस खींच लेता है, तब उस मुनि की बुद्धि स्थिर है, यह समझ लो।

जैसे कछुआ चाहे जब चाहे जिस अवस्था में अपने अवयवों को एकदम सिकोड लेता है, वैसे ही जो योगी अपनी समस्त इन्द्रियों को उनके विषयों से चाहे जब सर्वथा समेट लेता है, वापिस खींच लेता है, समझ लो, उस मुनि की प्रज्ञा आत्मा में स्थिर है।

शान्तो दान्तो भवेदीदृगात्मारामतया स्थित ।
सिद्धस्य हि स्वभावो य सैव साधकयोग्यता ॥६८॥

इस प्रकार आत्मा में रमणतापूर्वक स्थित योगी शान्त और दान्त हो जाता है, क्योंकि सिद्ध योगी का जो स्वभाव है, वही साधक की योग्यता है।

जो साधु शान्त अर्थात् कषायरहित होने से क्षमासागर हो जाता है, तथा दान्त अर्थात् बाह्य और आन्तरिक सभी विकारों से मुक्त हो

जाता है, और आत्मा मे रमणता के स्वभाव से युक्त हो जाता है, वही ध्याता हो सकता है, क्योंकि साधक की योग्यता प्राप्त होना ही ध्यान करने का अधिकार प्राप्त होना है, जो सिद्ध का स्वभाव परिणाम है, गुण-परिपूर्णता है।

ध्याताऽयमेव शुक्लस्याऽप्रमत्त पादयोर्द्वयो ।
पूर्वविद्योग्ययोगी च केवली परयोस्तयो ॥६६॥

यही अप्रमत्त साधक शुक्लध्यान के दोनो पादो का ध्याता होता है, बशर्ते कि वह पूर्वधारी हो, तथा दूसरे दोपाद के ध्याता क्रमश सयोगी केवली और अयोगी केवली है।

यही अर्थात् धर्मध्यान के ध्याता के रूप मे पूर्वोक्त लक्षणो से युक्त जो योगी है, वही अप्रमत्त (सर्वप्रमाद से रहित) साधु शुक्लध्यान के के प्रथम दो पाद के ध्याता होते हे, बशर्ते कि वे मुनि चौदह पूर्व के ज्ञाता हो। अर्थात् वे पूर्व मे स्थित श्रुत को धारण करने वाले हो, तभी वे शुक्लध्यान के ध्याता हो सकते हैं, अन्यथा नही। इसी प्रकार शुक्लध्यान के शेप दो पादो के ध्याता क्रमश योगी तीन योग वाले सयोगी केवली, वे भी तेरहवे गुणस्थान के अन्त में तीसरे पाद के ध्याता होते है। तथा चौथे पाद के ध्याता तो शैलेशी अवस्था को प्राप्त अयोगी केवली ही होते हैं।

अनित्यत्वाद्यनुप्रेक्षा ध्यानस्योपरमेऽपि हि ।
भावयेन्नित्यमभ्रान्त प्राणा ध्यानस्य ता खलु ॥७०॥

भ्रान्तिरहित मुनि को ध्यान के उपरम (विरामकाल) मे सदा अनित्यत्व आदि अनुप्रेक्षा (भावना) का ध्यान करना चाहिए। क्योंकि ये अनुप्रेक्षाएँ ही वास्तव मे ध्यान की प्राणरूप है।

पूर्वकथित ध्यान का उपरम निवृत्तिकाल हो, तब भ्रान्तिरहित आत्मा को ध्यानश्रेणी अखण्ड रखने के लिए अनित्यत्व इत्यादि, यानी ससार मे सभी पदार्थ अनित्य हैं, कोई भी पदार्थ सर्वथा स्थायी नही है, इस प्रकार का चिन्तन करना अनित्यभावना है, तथा आदि शब्द से

अशरण, ससार, एकत्व, अन्यत्व, आश्रव, सवर, निर्जरा, लोक, धर्मस्वाख्यात, वोधिदुर्लभ इन वारह भावनाओ का आलम्बन ले कर वारवार अनुप्रेक्षण = तत्त्वचिन्तन करना चाहिए। इससे ध्यान की अखण्डता रहती है। क्योंकि ये अनुप्रेक्षाएँ धर्मध्यान की सजीवनीसमा प्राणभूत हैं। शरीर आदि के प्रति अनित्यता का चिन्तन करने से मुनि पुनः ध्यानारूढ हो सकता है, इसलिए इन्हे आध्यात्मिक जीवन मे प्राणसंचार करने वाली कही है।

तीव्रादिभेदभाज स्युर्लेश्यातिस्र इहोत्तरा।
लिगान्यत्रागमश्रद्धा विनय सद्गुणस्तुति ॥७१॥

यहाँ तीव्र आदि भेद वाली अन्तिम तीन लेश्याएँ होती है, उनके चिह्न है आगमो के प्रति श्रद्धा, विनय और सद्गुणस्तुति।

यहाँ (धर्मध्यान वाले मुनि मे) तीव्र, तीव्रतर और तीव्रतम परिणाम वाली यानी आर्त्तध्यान वालो के लिए कही गई लेश्याओ की की अपेक्षा उनके वाद की शुभलेश्याएँ-तेज, पद्म और शुक्ल नामक तीन शुभ अध्यवसायरूप लेश्याएँ-होती हैं। इस ध्याता के निम्नोक्त चिह्न होते है-जिनागम के प्रति दृढ प्रीति (श्रद्धा), विनय (देव, गुरु और धर्म के विषय मे प्रणामादि अत्यन्त भक्ति और सद्गुणस्तुति (ज्ञान, शील, तप, क्षमा वगैरह शुभ गुणो की तथा गुणीजनो की प्रशसा। अर्थात् यह धर्मध्यानी है, इस वात को प्रकट करने वाले ये चिह्न है।

शीलसयमयुक्तस्य ध्यायतो धर्म्यमुत्तमम्।
स्वर्गप्राप्ति फल प्राहु प्रौढपुण्यानुवन्धिनीम् ॥७२॥

शील और सयम से युक्त उत्तम धर्मध्यान का आचरण करने वाले योगी के लिए प्रौढ पुण्य के अनुवन्ध वाले स्वर्ग की प्राप्तिरूप फल कहा है।

शील यानी ब्रह्मचर्य अथवा सर्वथा शुद्ध आचार और सयम यानी १७ प्रकार का सयम (चारित्र) अथवा षट्कायजीवरक्षारूप सयम से युक्त तथा उत्तम धर्ममय ध्यान करने वाले योगी के लिए प्रौढ पुण्य के अनुवन्धवाली अर्थात् महासुकृतपुंज की परम्परा बढाने वाली या महा-

पुण्यानुगामिनी (उत्तरोत्तर जन्म मे महापुण्यबन्धकर्त्री) स्वर्गप्राप्तिरूप (महर्द्धिकदेवत्व की प्राप्तिरूप) फल तीर्थंकरादि ने कहा है। धर्मध्यान से मुक्ति प्राप्त नही होती, इसलिए उसका फल स्वर्गप्राप्तिरूप कहा है।

शुक्लध्यान के अवलम्बन

ध्यायेच्छुक्लमथ क्षान्तिमृदुत्वार्जवमुक्तिभि.।
छद्मस्थोऽणौ मनो धृत्वा व्यपनीय मनो जिन ॥७३॥

उसके पश्चात् क्षमा, मार्दव, आर्जव और मुक्ति (नि स्पृहता) से युक्त छद्मस्थमुनि को परमाणु मे मन को लगा कर शुक्लध्यान करना चाहिए, किन्तु वीतराग केवली को मन का निरोध करके शुक्लध्यान करना चाहिए।

धर्मध्यान पूर्ण होने के वाद (क्रोध के अभाव के कारण प्राप्त) क्षमा, मृदुता, (निरभिमानता), सरलता और (मायारहितता) और (लोभ के अभाव के कारण प्राप्त) नि स्पृहता आदि का आलम्बन ले कर परमाण मे मन को रोक (एकाग्र) कर छद्मस्थ (असर्वज्ञ) मुनि को शुक्लध्यान में लीन हो जाना चाहिए। जिन वीतराग केवली को मनोयोग का निरोध करके शुक्लध्यान करना चाहिए। छद्मस्थ का शुक्लध्यान सातवे आदि गुणस्थान मे होता है, जवकि वीतराग जिन का शुक्लध्यान तेरहवे गुणस्थान के अन्त में और चौदहवे गुणस्थान मे होता है।

सवितर्कं सविचारं सपृथक्त्व तदादिमम्।
नानानयाश्रितं तत्र वितर्क पूर्वग श्रुतम् ॥७४॥

वितर्कसहित, विचारसहित, पृथक्त्वसहित, यो शुक्लध्यान का प्रथम पाद तीन प्रकार से युक्त होता है। इन तीनो मे से वितर्क वह है, जो विविध नयो का आश्रय ले कर रहा हो, तथा जिसमे पूर्वगतश्रुत (पूर्वश्रुत का वोध) है।

शुक्लध्यान के चार पाद हैं। इनमें से पहला पाद तीन प्रकार का है सवितर्क, सविचार, सपृथक्त्व। यानी वह वितर्कसहित, विचार-

सहित और पृथक्त्वसहित होता है। इन तीनो प्रकारो मे वितर्क का अर्थ है—एक परमाणु द्रव्य के उत्पत्ति, स्थिति, विलय, मूर्तत्व, अमूर्तत्व आदि पर्यायो का द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक आदि विविध नयो के अनुसार नैगम आदि विभिन्न नयो का आश्रय ले कर रहा हुआ, तथा उत्पाद आदि चौदह पूर्वो मे निहित जो श्रुतज्ञान शास्त्रबोध है, उसका चिन्तन वितर्क कहलाता है।

अर्थ-व्यञ्जन-योगाना विचारोऽन्योऽन्यसक्रम ।
पृथक्त्वं द्रव्य-पर्याय-गुणान्तरगति पुन ॥७५॥

अर्थ, व्यञ्जन और योगो का परस्पर एक दूसरे मे सक्रमण विचार कहलाता है। द्रव्य, पर्याय और गुण का एक दूसरे मे गमन (सक्रमण) पृथक्त्व कहलाता है।

अर्थ अर्थात् द्रव्य और पर्याय तथा व्यञ्जन अर्थात् उस अर्थ को अभिव्यक्त करने वाला शब्द तथा मन-वचन-काया के योग (व्यापार) का परस्पर एक दूसरे मे सक्रमण करना। अर्थात् अर्थ मे रहे हुए लय का व्यञ्जन (शब्द) मे सक्रमण, व्यञ्जन मे रहे हुए लय का मनोयोग में सक्रमण, मनोयोग से काययोग में या वचनयोग मे आना, इसी तरह काया के योग से मनोयोग या वचनयोग मे परस्पर सक्रमण करना विचार कहलाता है। द्रव्य अर्थात् एक परमाणु आदि पदार्थ से दूसरे द्रव्य-परमाणु मे ध्यान का संक्रमण करना, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप पर्याय का एक दूसरे पर्याय मे ध्यान-सक्रमण करना और वर्णादिरूप गुण से दूसरे गुणो मे सक्रमण करना पृथक्त्व (भिन्नता) कहलाता है। इस प्रकार तीन कारणो से युक्त सवितर्क-सविचार-सपृथक्त्व नामक प्रथम शुक्लध्यान करना चाहिए।

त्रियोगयोगिन साधोर्वितर्काद्यन्वित ह्यद ।
ईषच्चलतरंगाब्धे क्षोभाभावदशानिभम् ॥७६॥

तीनो योगो से योगी साधु के लिए वितर्कादि से युक्त यह प्रथम शुक्लध्यान कुछ चपल तरगो वाले समुद्र की क्षोभरहित दशा के समान होता है।

वितर्कादि से युक्त कुछ चपल तरंगो से युक्त समुद्र की क्षोभरहित अवस्था के जैसा यह शुक्लध्यान तीन प्रकार के योगो (मन-वचन-काया के व्यापारो) से युक्त योगी मुनि के होता है, गृहस्थ के नही होता है।

एकत्वेन वितर्केण विचारेण च संयुतम् ।
निर्वातस्थप्रदीपाभं द्वितीयं त्वेकपर्ययम् ॥७७॥

एकत्व से, वितर्क से और विचार से युक्त एक पर्याय वाला दूसरा शुक्लध्यान वायुरहित स्थान में रखे हुए दीपक के समान निश्चल होता है।

शुक्लध्यान के द्वितीय भेद मे पूर्वश्रुतानुसार किसी एक ही पर्याय मे (एक ही द्रव्य, पर्याय या गुण जिसमे अवलम्बन हो, उसमे) ही ध्यातव्य होता है। अर्थात् यह शुक्लध्यान परमाणु, जीव, ज्ञानादिगुण, उत्पाद आदि कोई एक पर्याय, शब्द या अर्थ तीनो योगो मे से किसी एक योग का ध्येयरूप होता है, अलग-अलग नही होता। एक ही ध्येय होने से इसमे संक्रमण नही होता है। कम्परहित वायुरहित दीपक के समान इसमे भी ध्याता की अखण्डता, एकता एव निष्कम्पता होती है। यह ध्यान एकत्व से युक्त होता है, इसलिए इसमे पृथक्त्व को या परस्पर संक्रमण को कोई गुँजाइश ही नही है। इसमें ध्येय एक ही होने से संक्रमण नही होता। इसलिए यह शुक्लध्यान एकत्व, (पूर्वोक्त) वितर्क और विचार से युक्त एक ही पर्याय वाला होता है। इसमे एकत्वरूप विशेषधर्म रहा हुआ है। अत यह वायुरहित स्थान मे रखे हुए दीपक की तरह निष्कम्प एव निश्चल होता है। ये दो ध्यान छद्मस्थ मुनि को केवलज्ञान उत्पन्न होने से पहले होते है।

सूक्ष्मक्रियानिवृत्त्याख्यं तृतीयं तु जिनस्य तत् ॥
अर्धरुद्धांगयोगस्य रुद्धयोगद्वयस्य च ॥७८॥

सूक्ष्मक्रियानिवृत्ति नामक तीसरा शुक्लध्यान जिन (केवलज्ञानी) को होता है, इसमे दो योगो का निरोध हो जाता है और एक योग का अर्द्ध निरोध होता है।

निर्वाणपद प्राप्त होने के अतिनिकटवर्ती समय आ जाने पर केवली भगवान् मन-वचन-काया के स्थूल योगो का निरोध कर लेते हैं। केवल श्वासोच्छ्वास की सूक्ष्मक्रिया रहती है। इसमे सूक्ष्मक्रिया मिट कर कभी स्थूल नही होती। इसलिए इसका नाम सूक्ष्मक्रियानिवृत्ति नामक तीसरा शुक्लध्यान है। यह तीसरा शुक्लध्यान सूक्ष्मक्रियानिवृत्ति (अर्थात् उच्छ्वास-निश्वासरूप काया के व्यापार का भी जिसमे निरोध होता है, ऐसा शुक्लध्यान) होता है। इस ध्यान मे मन और वचन के व्यापार वाले दो योगो का बिलकुल निरोध हो जाता है। तीसरा काययोग का अर्धनिरोध होता है। अर्थात् बादर काययोग का निरोध हो जाता है। यह शुक्लध्यान जिन भगवान् को १३ वे गुणस्थान मे होता है। पर वह विहार-अवस्था मे नही होता, क्योकि विहार-अवस्था में इस ध्यान की स्थिति नही होती, इसलिए विहार करते समय वे इस शुक्लध्यान से रहित ही होते हैं। यहाँ उन्हे केवल योगो के निरोध करने के रूप मे ही अन्तर्मुहूर्त मे स्थित केवली भगवान् को होता है।

तुरीयं तु समुच्छिन्नक्रियमप्रतिपाति तत्।
शैलवन्निष्प्रकम्पस्य शैलेश्यां विश्ववेदिन ॥७८॥

सर्वथा उच्छिन्न व्यापार वाला, फिर कभी गिरे नही, इस प्रकार का (अप्रतिपाती) और शैलेशी अवस्था मे उत्पन्न होने वाला चौथा शुक्लध्यान समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपाति नाम का है। यह ध्यान पर्वत की तरह अडोल, निष्कम्प सर्वज्ञ को होता है।

जिसमे से क्रिया (उच्छ्वासादिरूप सूक्ष्मकायिक क्रिया) का भी अर्थात् तीनो योगो के व्यापार का सर्वथा उच्छेद हो गया है, आत्म-प्रदेश की निश्चलतारूप जिस ध्यान का सिद्धि प्राप्त होने तक प्रतिपात (पतन) नही होता तथा जो शैलेशी अवस्था मे ही उत्पन्न होता है, वह चौथा शुक्लध्यान है। यह ध्यान भी उसी को होता है, जिसके समस्त आत्मप्रदेश मेरुपर्वत के समान निश्चल हैं, (आत्मप्रदेश का स्पन्दन भी नहीं होता), और जो विश्ववेत्ता सर्वज्ञ अयोगी केवली हो।

एतच्चतुर्विधं शुक्लध्यानमत्र द्वयो: फलम् ।
आद्ययो: सुरलोकाप्तिरन्त्ययोस्तु महोदय: ॥८०॥

ऊपर कहे अनुसार यह शुक्लध्यान चार प्रकार का है। उनमे से प्रथम के दो शुक्लध्यानो का फल स्वर्ग (देवलोक) की प्राप्ति है तथा अन्तिम दो शुक्लध्यानो का फल महोदय मोक्ष है।

इससे पूर्व चार प्रकार का शुक्ल (उज्ज्वल) ध्यान कहा गया है। इनमे से शुरूआत के दो पादो का फल देवलोक (महर्द्धिक देवत्व) की प्राप्ति है, शेष अन्तिम दो का फल मोक्ष है।

आश्रवापायसंसारानुभावभवसन्तती: ।
अर्थे विपरिणामं वाऽनुपश्येच्छुक्लविश्रमे ॥८१॥

शुक्लध्यान के विराम मे आश्रव से प्राप्त होने वाले दुःख को, ससार के स्वभाव को, जन्म-मरण की परम्परा को तथा पदार्थ मे होने वाले परिणाम को बाद मे देखता रहे, यानी उसी का अनुध्यान करता रहे।

मिथ्यात्व आदि आश्रव से प्राप्त होने वाले कष्टो को चार गति-रूप ससार के दुःखमय अनुभाव (स्वभाव) को, भवसतति जन्म-मरणादि की अनन्त परम्परा को, तथा स्त्रीपुरुषादि सचेतन तथा धन आदि अचेतन पदार्थो के विषय मे होने वाले विपरिणाम (विपरीतता) की प्राप्ति को शुक्लध्यान के विराम मे पश्चाद्भावना के द्वारा देखना चाहिए। यह चार प्रकार की अनुप्रेक्षा शुक्लध्यान के प्रथम दो पादो में जाननी चाहिए, क्योकि अन्तिम दो पादों मे तो ध्यानकर्ता को तुरन्त ही मोक्षप्राप्ति हो जाने से उनमे अनुप्रेक्षा नही होती।

द्वयो: शुक्ला तृतीये च लेश्या सा परमा मता ।
चतुर्थ: शुक्लभेदस्तु लेश्यातीत: प्रकीर्तित: ॥८२॥

प्रथम दो ध्यानो मे शुक्ललेश्या होती है, तीसरे सूक्ष्मक्रियानिवृत्ति नामक ध्यान मे परम (उज्ज्वल) शुक्ललेश्या मानी गई है; और शुक्लध्यान के चौथे भेद को जिनेश्वर भगवन्तो ने लेश्यारहित कहा है।

लिंग निर्मलयोगस्य शुक्लध्यानवतोऽवध ।
असम्मोहो विवेकश्च व्युत्सर्गश्चाभिधीयते ॥८६॥

निर्मल योग वाले शुक्लध्यानी के चार लिंग कहे है–अवध, असम्मोह, विवेक और व्युत्सर्ग ।

अत्यन्त विशुद्ध योग (व्यापार) वाले शुक्लध्यान-योगी के ४ लिंग (पहिचानने के लिए चार चिह्न) होते है––(१)अवध–(परिषह उपसर्ग-आदि मे निर्भय, निष्कम्प व निश्चल, अहिंसादि मे अत्यन्त ६८) (२) **असम्मोह** (सूक्ष्म और गहन भावो वाली देवमाया वगैरह मे भी मोह-रहित (यानी सूक्ष्मअर्थ वात को अत्यन्त निपुणता से जान कर उस पर लोभरहित रहना) (३) **विवेक** (देह वगैरह सबके सयोग आसक्ति से रहित केवल आत्मा को पृथक् करके देखना । और (४) व्युत्सर्ग–(देहादि के सुख का त्याग । ये ४ चिह्न जिनेश्वर भगवान् ने कहे है ।

अवधादुपसर्गेभ्य कम्पते, न बिभेति च ।
असम्मोहान्न सूक्ष्मार्थे मायास्वपि च मुह्यति ॥८४॥

विवेकात्सर्वसयोगाद् भिन्नमात्मानमीक्षते ।
देहोपकरणासंगो व्युत्सर्गाज्जायते मुनि. ॥८५॥

मुनि अवध होने से उपसर्गों से कम्पित नही होता और न डरता है, असम्मोह होने से सुक्ष्म अर्थ मे तथा देवमाया वगैरह मे मोहमूढ नही होता । शुक्लध्यानी मुनि का तृतीय लिंग विवेक होने से वह अपने आत्मा को सर्वसयोगो से पृथक् देखता है । तथा व्युत्सर्गरूप लिंग होने से वह शरीर और उपकरण (सामग्री) के प्रति नि सग (अनासक्त नि स्पृह) होते है ।

शुक्लध्यानी मुनि के अवधरूप लिंग होने से वे देवादि द्वारा कृत उपसर्गो मे कम्पित नही होते , जरा भी भय नहीं खाते । असम्मोहरूपी लिंग होने से सूक्ष्म अर्थ, जिसका अर्थ अतीव निपुणता से ही समझा जा सकता है, तथा देवमायादि के बारे मे जरा भी मोह नही होता । तथा विवेकरूपी तृतीय लिंग होने से वह समस्त सयोगो से आत्मा (जीव की

सत्ता) को पृथक (भिन्न) देखता है, तथा व्युत्सर्गरूप चौथा चिह्न होने से वह मुनि शरीर और उपकरणों के बारे में ममत्व-मूर्छारहित होता है। वह त्याग में वृद्धि करता है और अपनी आत्मा में स्थिर रहता है।

एवं ध्यानक्रमं शुद्धं मत्वा भगवदाज्ञया।
यः कुर्यादेतदभ्यासं सम्पूर्णाध्यात्मविद् भवेत् ॥८६॥

इस प्रकार जो भगवान् की आज्ञा के अनुसार शुद्ध ध्यान के क्रम को जान कर उस ध्यान का अभ्यास करता है, वह सम्पूर्ण अध्यात्म का जानकार हो जाता है।

इस तरह पूर्वोक्त कथनानुसार जो मुनिजन जिनाज्ञा यानी भगवत्कथित आगम के अनुसार शुद्ध (निर्दोष) ध्यान के क्रम (विधि) को जान कर (मनन करके) प्रतिदिन बारबार उस ध्यान का अभ्यास करता है, वह सम्पूर्ण अध्यात्म (अध्यात्मस्वरूप) का ज्ञाता हो जाता है।

॥ इति ध्यानाधिकारः ॥

ध्यान-स्तुति

यत्र गच्छति परं परिपाकं, पाकशासनपदं तृणकल्पम् ।
स्वप्रकाशसुखबोधमयं तत्, ध्यानमेव भवनाशि भजध्वम् ॥१॥

जब साधक ध्यानयोग में उत्कृष्ट परिपक्वदशा प्राप्त करता है तब इन्द्र का पद भी उसे तिनके के समान लगता है। अतः आत्मप्रकाशकारी, सुखबोधमय एवं भवभ्रमणविनाशकर्ता उस ध्यान का सेवन करो।

जब महामुनि ध्यानयोग की पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है, तब इन्द्र का साम्राज्य या इन्द्रपद भी तृणवत् तुच्छ लगने लगता है, क्योंकि वह ध्यान अपने आत्मस्वरूप का महाप्रकाश कर देता है, वही ज्ञानमय है, सहजानन्द विलाससुख से पूर्ण कर देता है तथा ससार मे परिभ्रमण का अन्त कर देता है। इसलिए ध्यान को ही अपनाना चाहिए।

आतुरैरपि जडैरपि साक्षात् सुत्यजा हि विषया न तु रागः ।
ध्यानवांस्तु परमद्युतिदर्शी तृप्तिमाप्य न तमृच्छति भूयः ॥२॥

आतुर तथा जड़पुरुषो के द्वारा विषय तो प्रत्यक्षरूप मे आसानी से त्यागे जा सकते है, किन्तु उन विषयो का राग (रस) त्यागा नही जा सकता। किन्तु ध्यानयोगी तो परमात्मा के प्रकाश का दर्शन करने के बाद तृप्त हो जाते है, फिर वे उस राग का स्वीकार ही नही करते।

वास्तव मे विषयो के सेवन करने मे सदा अतृप्त होने से उनके सेवन मे तत्पर (आसक्त) कामातुर अथवा रोगी और बोधरहित मूढ व्यक्तियो द्वारा शब्दादि विषय प्रत्यक्षरूप मे आसानी से छोड़े जा सकते है, तो फिर अनातुर और और पण्डितो द्वारा वे अत्यन्त सुखपूर्वक

छोड़े जा सके, इसमें तो कहना ही क्या ? परन्तु विषयों के प्रति प्रीति (राग) तो पण्डितों द्वारा भी दुस्त्याज्य नहीं है। किन्तु परमद्युति आत्मस्वरूप (शुद्धात्मतत्त्व) का प्रकाशपुंज देखने वाले ध्यानी को एक अनोखी तृप्ति (संतोष) हो जाने के बाद फिर कभी उसकी रागदृष्टि नहीं होती। अर्थात् अत्यन्त दुःख आ पड़ने पर भी ध्यान स्थिर रहता है। ध्यान में निद्राहरण आदि अनेकों गुण हैं, इसलिए हम उसकी प्रशंसा करते हैं

> या निशा सकलभूतगणानां ध्यानिनो दिनमहोत्सव एषः।
> यत्र जाग्रति च तेऽभिनिविष्टा ध्यानिनो भवति तत्र सुषुप्तिः ॥३॥

समस्त प्राणिगणों के लिए जो रात्रि है, वह ध्यानी के लिए दिवस-सम्बन्धी महोत्सव होता है। और जिसमें वे (प्राणिगण) अभिनिवेश (आग्रह) पूर्वक जागृत रहते हैं, उसमें ध्यानी पुरुष सोये रहते हैं।

जगत् के समस्त जीव जब रात्रि के गाढ अन्धकार में सो जाते हैं, यानी सामान्य जीवसृष्टि के लिए जो रात्रि है, वही ध्यानी के लिए ध्यान में विघ्न या विक्षेप के नष्ट हो जाने से निद्रा के अभाव के कारण दिवस के महोत्सव जैसा है। और जिन विषयों में और दिन में वे सब प्राणी अभिनिविष्ट मिथ्यात्व या रागादि में ओतप्रोत मग्न (तल्लीन) हो कर जागृत (सावधान) रहते हैं, उस समय तथा उन विषयों में ध्यानयोगी को सुषुप्ति (आत्मा की लयरूप अथवा बाह्य विषयों से विरत होने रूप सुखनिद्रा) होती है।

> सम्प्लुतोदक इवान्धुजलानां सर्वं सकलकर्मफलानाम्।
> सिद्धिरस्ति खलु यत्र तदुच्चै ध्यानमेव परमार्थनिदानम् ॥४॥

जैसे कुए के जल की सिद्धि (प्राप्ति) जल के स्रोत (झरने) से होती है, वैसे ही समस्त क्रियाओं के फल की सिद्धि ध्यान-प्रवाह (उच्च व सतत ध्यान) से होती है। इसलिए ध्यान ही परमार्थ का (निदान) मूल कारण है।

ध्यान में चारों ओर से सारी क्रियाओं से साधने योग्य फल की सिद्धि है, किसकी तरह ? यही बताते हैं जैसे कुए के जल की सिद्धि

(सतत प्राप्ति) स्रोत (झरने) के जल से होती है। अर्थात् कुँए में जल तभी सतत जारी रह सकता है, जब नीचे से जल का स्रोत (प्रवाह) सतत झरता रहता हो। इसी प्रकार निरन्तर शुभ परिणाम से समस्त कर्मों (क्रियाओ) के फल की सिद्धि ध्यान के प्रवाहरूप रहने से होती है। इस कारण एकमात्र ध्यान ही परमार्थ (परमपदरूप मोक्ष) की प्राप्ति का निदान (आदि कारण) है।

बाध्यते नहि कषायसमुत्थैर्मानसैर्न नतभूपनमद्भि ।
अत्यनिष्टविषयैरपि दु खैर्ध्यानवान्निभृतमात्मनि लीन ॥५॥

आत्मा मे अत्यन्त लीन (मग्न) ध्यानी कषायजनित मानसिक विकारो से, नमन करते हुए राजा, इन्द्र आदि के नमस्कार से समुत्पन्न मन के विकारो से एवं अत्यन्त अनिष्ट विषयो से तथा दु खो से वाध्य-(विवश) नही होता।

निश्चलरूप से आत्मा मे लीन हुआ ध्यानी क्रोधादि-कषायो से उत्पन्न हुए मनोविकारो से व्यथित नही होता, क्योकि ध्यानी नि सग होता है, इस कारण क्रोधादि कषायो का उसमे अभाव होता है। तथा नमनशील भक्तिभावपूर्ण इन्द्रादि द्वारा विस्मयाधिक्यपूर्वक नमस्कार (अथवा विस्तीर्ण समृद्धि वाले राजाओ द्वारा किए जाते हुए नमस्कार) से हर्ष एव गर्व से उत्पन्न हुए मनोविकारो से व्यथित नही होता, और न ही अत्यन्त अनिष्ट विषयो से वाधित (पीडित) होता, है तथा शीत-उष्ण-रोगादि कष्टो से भी बाध्य नही होता, क्योकि ध्यानी ध्यानसुख मे ही मग्न होता है, इसलिए वह बाह्य विषयो पर दृष्टि डालता ही नही है।

स्पष्टदृष्टसुखसभृतमिष्ट ध्यानमस्तु शिवशर्मगरिष्ठम् ।
नास्तिकस्तु निहतो यदि न स्यादेवमादिनयवाड्मयदण्डात् ॥६॥

स्पष्टरूप से देखे हुए सुख से परिपूर्ण, एव मोक्षसुख से गरिष्ठ ध्यान ही मेरे लिए इष्ट हो। यदि इस प्रकार से नय के वाड्मय (शास्त्र)रूपी दण्ड के प्रहार से नास्तिक का विघात नही हुआ तो उससे क्या हुआ ?

स्पष्टत प्रत्यक्ष देखे हुए सुख से भरा हुआ एव मोक्ष के सुख (पूर्ण आनन्द के विलास) से गरिष्ठ (महान्) ध्यान मुझे इष्ट हो। यदि इस प्रकार कहे हुए ध्यान से आत्मा की सिद्धि होने पर भी आत्म-स्वरूप का निश्चय करने मे तत्पर तथा नास्तिक के मत का निग्रह करने वाले न्यायरूप वाङ्मय (वचनात्मक शास्त्र) रूपी डडे के प्रहार से आत्मा को न मानने वाले नास्तिक निहत पराजित न हो तो फिर उस कदाग्रही को मनाने से क्या मतलब है? कुछ भी तो नही। तात्पर्य यह है कि ध्यानमग्न योगी साक्षात् सुख से परिपूर्ण आत्म-स्वरूप का दर्शन करता है, इससे आत्मानन्दमय आत्मा का अस्तित्व निर्विवाद सिद्ध हो जाता है ; इसके बावजूद भी यदि नास्तिक कहता हो कि 'आत्मा नहीं है', तो उसकी उपेक्षा करनी ही उचित है, क्योंकि हमारा अपना कार्य (आत्मदर्शन) सिद्ध हो गया है।

यत्र नार्कविधुतारकदीपज्योतिषां प्रसरतामवकाश. ।
ध्यान-भिन्नतमसामुदितात्मज्योतिषां तदपि भाति रहस्यम् ॥७॥

जहाँ (जिस रहस्य को प्रगट करने के लिए) प्रकाश फैलाते हुए सूर्य, चन्द्रमा, तारे और दीपकों की ज्योतियो को बिलकुल अवकाश नही है, यह गूढ रहस्य भी ध्यान से अज्ञानान्धकार का भेदन करके आत्मज्योति पाए हुए मुनियो को प्रतीत हो जाता है।

प्रकाशित करने योग्य अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थो को अपनी प्रभा से प्रकाशित करते हुए सूर्य, चन्द्रमा, तारे और दीपको की ज्योति को भी जिस रहस्य के प्रकाश मे अवकाश नहीं है, अर्थात् वे जिस रहस्य को प्रकट नही कर सकते, वही रहस्य जिनमे आत्मज्योति (आत्मरूप प्रभा) उदित (प्रकट) हो चुकी है ध्यान से अज्ञानान्धकार भेदन करने वाले उन ध्यानयोगी मुनियो को अत्यन्त गहन एव निपुण ज्ञान से आत्मस्वरूपादि सारभूत रहस्य प्रतीत हो जाता है, दिखाई देता है, अथवा स्वप्रकाश से सुशोभित हो जाता है।

योजयत्यमुककालवियुक्तां प्रेयसी शमरति त्वरित यत् ।
ध्यानमित्रमिदमेव मतं न', कि परैर्जगति कृत्रिममित्रै ॥८॥

जो मित्र चिरकाल से वियोग पाई हुई शमरति नाम की प्रिया को तत्काल मिला देता है, उस ध्यानरूपी मित्र को ही हमने मित्र माना है। अत अब हमे जगत् मे नकली मित्रो से क्या मतलब है ?

जो ध्यानरूपी मित्र चिरकाल से (अनादिकाल से) बिछुडी हुई (शान्तपरिणाम मे विलास करने वाली) शमरति नामक प्रेयसी को, जिसका चिरकाल से कर्मक्लेशरूपी शत्रुओं ने अपहरण कर लिया था, तुरन्त मिला देता है, वही हृदय मे विद्यमान ध्यानरूपी मित्र हमे अभीष्ट है प्रमाणभूत है। ध्यान के अलावा ससार के किन्ही दूसरे कृत्रिम मित्रों को अब हमे जरूरत नही है।

> **वारितस्मरबलातपचारे शीलशीतलसुगन्धिनिवेशे ।**
> **उच्छ्रिते प्रशमतल्पनिविष्टो ध्यानधाम्नि लभते सुखमात्मा ॥९॥**

अत्यन्त ऊँचे ध्यानरूपी रगमहल मे प्रशमरूपी पलग पर बैठा हुआ महात्मा सुख पाता है। जिस प्रासाद मे कामदेव के बलरूपी धूप का सचार रोक दिया गया है, और जहाँ शीलरूपी शीतल सुगन्ध फैल रही है।

यहाँ ध्यान को रगमहल की उपमा दी गई है। जब जीवात्मा ध्यानरूपी रगमहल मे प्रवेश करता है तो कामदेव के बल (कामविकार के उदय) रूपी आतप (धूप) का सचार रुक जाता है, तथा शील (ब्रह्मचर्य अथवा सदाचार) के शीतल स्पर्श वाले सुगन्धित वायु का सर्वत्र प्रवेश हो जाता है। अत. चैतन्यरूपी राजा (आत्मा) उस अतिविशाल एव उच्च ध्यानरूपी महल मे शान्तस्वभावरूपी पलग पर बैठा हुआ आत्मानन्द को पा लेता है।

> **शीलविष्टरदमोदकपाद्यप्रातिभार्घ्यसमता-मधुपर्कै ।**
> **ध्यानधाम्नि भवति स्फुटमात्माहूतपूतपरमातिथिपूजा ॥१०॥**

यहाँ ध्यानरूपी प्रासाद मे प्रकटरूप मे स्वत. बुलाए हुए पवित्र और उत्तम अतिथिरूप आत्मा की पूजा शीलरूपी आसन से, दमरूपी

पादोदक (पैर धोने के जल) से, प्रातिभरूपी अर्घ्य से और समतारूपी मधुपर्क से होती है।

ध्यानरूपी रगमहल मे (प्रवेश करते ही) स्वयमेव स्पष्टरूप से 'पधारो, पधारो आपका स्वागत है', इस प्रकार आमंत्रण दे कर बुलाए हुए-परम पवित्र (व्रतादि से पावन अथवा सत्य से पुनीत) एवं सत्यरूप उत्कृष्ट अत्युत्तम आत्मा (चेतन) रूपी अतिथि की पूजा (सत्कार) सर्वप्रथम शील (ब्रह्मचर्य) रूपी आसन (सिहासन) दे कर, फिर पैर धोने के लिए दमरूपी (इन्द्रियदमन के परिणामरूप) जल दे कर, तत्पश्चात् प्रातिभ (केवलज्ञान से नीचे प्रवर्तमान सहज और शुद्धि के प्रकर्ष से प्राप्त मतिज्ञान) रूपी अर्घ्य दे कर और अन्त मे दही, दूध शक्कर आदि पाँच चीजो को मिला कर तैयार किये हुए मधुपर्क की तरह समभाव (सर्वत्र तुल्य परिणाम) रूपी मधुपर्क दे कर होती है।

आत्मनो हि परमात्मनि योऽभूद् भेदबुद्धिकृत एव विवादः।
ध्यानसन्धिकृदमु व्यपनीय द्रागभेदमनयोर्वितनोति ॥११॥

आत्मा और परमात्मा मे जो भेदबुद्धि का विवाद था, उसे ध्यान-रूपी सन्धिकर्ता ने झटपट मिटा कर दोनो मे अभेदभाव (एकत्व) फैला दिया।

ससारी आत्मा (जीवात्मा) और परमात्मा सिद्ध मे अनादिकाल से जो भेदबुद्धि को ले कर विवाद चला आ रहा था कि 'यह सिद्ध आत्मा है, यह ससारी आत्मा है', और इस कारण पहले इन दोनो का व्यवहार पृथक्-पृथक् था, किन्तु ध्यानरूपी सन्धिकार ने बीच मे पड कर (मध्यस्थ बन कर) तुरन्त इस विवाद को मिटा कर दोनो में एकता-अभिन्नता स्थापित कर दी। अर्थात् आत्मा का परमात्मा के साथ ऐसा अभिन्न सम्बन्ध सादि-अनन्त भग की दृष्टि से जोड दिया कि कदापि इनका ऐक्य टूटे नही।

क्वाऽमृत विषभृते फणिलोके क्व क्षयिण्यपि विधौ त्रिदिवे वा।
क्वाप्सरोरतिमतां त्रिदशाना ध्यान एव तदिद बुधगम्यम् ॥१२॥

विष से भरे हुए नागलोक में अमृत कहाँ से हो ? प्रतिदिन क्षीण होने वाले चन्द्रमा में भी अमृत कहाँ है और (नाशवान) स्वर्ग में भी अप्सराओं के साथ प्रेम में डूबे हुए देवों के पास भी अमृत कहाँ सम्भव है ? परन्तु पण्डितजनों द्वारा पीने योग्य वह अमृत तो ध्यान (ध्यान योग) में ही है।

जो नागलोक (पाताललोक) हलाहल विष से भरा हुआ है, वहाँ अमृत होगा भी कहाँ ? जो तथाकथित सुधापूर्ण चन्द्रमा ही खुद दिन-व-दिन क्षीण (नष्ट) होता जाता है, वहाँ अमरताप्रदायी अमृत कहाँ होगा ? अथवा देवलोक में देवांगनाओं के साथ भोग-विलास एवं आमोद-प्रमोद में शक्ति नष्ट करने वाले (आयुष्य पूरा होते ही प्राण-त्याग से युक्त) देवों के पास भी अमृत कहाँ हो सकता है ? इन सबके पास जो अमृत होने की कल्पना है, वह तो मिथ्या है। सम्यक् बोध प्राप्त योगी के पास ही ध्यानरूपी वास्तविक अमृत है, जिस परमप्रिय ध्यानामृत का पान करके वे अजर-अमर हो जाते हैं।

गोस्तनीषु न सिताषु सुधाया नाऽपि, नाऽपि वनिताधरबिम्बे।
तं रसं कमपि वेत्ति मनस्वी, ध्यानसम्भवधृतौ प्रथते य ॥१३॥

न द्राक्षा में वह रस है, न शक्कर में है, न अमृत में है अथवा न कामिनी के अधरबिम्ब में वह रस है, जिस अलौकिक रस को कोई मनस्वी पुरुष ही जानता है, क्योंकि वह रस ध्यान से उत्पन्न हुए धैर्य (संतोष) में प्रसिद्ध है अथवा प्रगट होता है।

ध्यान से उत्पन्न हुई धृति निश्चलता (तृप्ति=संतुष्टि) में जो अपूर्व रस प्रगट होता है या प्रसिद्ध है, उस रस की मधुरता का आस्वादन प्रशस्त मन वाला ज्ञानी-ध्यानी ही कर सकता है। अर्थात् ध्यान के मधुररस का आनन्द मनस्वी योगी ही पा सकता है। उक्त ध्यानरस का भोक्ता वैसा मधुररस न तो किशमिश (द्राक्षा) में पाता है, न शक्कर में, न ही अमृत में और न ही ललनाओं के अधरास्वादन में पाता है। अर्थात् उन-उन स्थानों में उस मधुररस का लेश भी नहीं है।

इत्यवेत्य मनसा परिपक्वध्यानसम्भवफले गरिमाणम् ।
तत्र यस्य रतिरेनमुपैति प्रौढधामभृतमाशु यशःश्री ॥१४॥

इस प्रकार परिपक्वध्यान से उत्पन्न हुए फल की गरिमा (महत्ता) को मन से जान कर जो इसमे प्रीति करता है, उस प्रौढ तेज से परिपूर्ण मुनि को शीघ्र ही यशोलक्ष्मी प्राप्त होती है।

पहले कहे अनुसार परिपक्व उत्तम ध्यान से जनित कार्यसिद्धिरूप फल का गौरव हृदय (अन्तर्मन) के विवेक से जान कर जो मुनि उस ध्यान में रुचि (दिलचस्पी=प्रीति) रखता है, ध्यान से प्रसन्नचित्त और प्रौढ तेज के धाम उस मुनि को शीघ्र ही यशोलक्ष्मी (मोक्षश्री) प्राप्त होती है। यहाँ 'यश' शब्द मे ग्रन्थकार ने अपना नाम सूचित किया है।

॥ इति ध्यानस्तुति-अधिकार ॥

इति श्रीमहोपाध्याय-श्रीयशोविजयगणिविरचिते ।
अध्यात्मसारप्रकरणे पंचम प्रबन्ध ॥५॥

आत्मविनिश्चय

आत्मज्ञानफलं ध्यानमात्मज्ञानं च मुक्तिदम् ।
आत्मज्ञानाय तन्नित्यं यत्न कार्यो महात्मना ॥१॥

ध्यान का फल आत्मज्ञान है और वह आत्मज्ञान मुक्ति का दाता है । इसलिए महान् आत्मा को सदा आत्मज्ञान मे पुरुषार्थ करना चाहिए ।

पाचवे प्रवन्ध मे ध्यान का स्वरूप वताया है । उस ध्यान से आत्म-स्वरूप का ज्ञान होता है। इसलिए अव आत्मनिश्चय का अधिकार कहते है । वस्तुत ध्यान का फल आत्मज्ञान है । क्योकि ध्यान से निश्चित आत्मस्वरूप का वोध होता है। आत्मज्ञान- आत्मा के स्वरूप का वोध साधु को मुक्ति प्राप्त कराता है। इसलिए उत्तम साधक को आत्मस्वरूप का ज्ञान पाने के लिए सदैव प्रयत्न करना चाहिए ।

ज्ञाते ह्यात्मनि नो भूयो ज्ञातव्यमवशिष्यते ।
अज्ञाते पुनरेतस्मिन् ज्ञानमन्यन्निरर्थकम् ॥२॥

जिसने आत्मा को जान लिया, उसे दूसरा कुछ जानने को अवशिष्ट नही रहता । और यदि आत्मा को नही जाना तो सव ज्ञान (जाना हुआ) निरर्थक है ।

वास्तव मे जीव का निश्चितस्वरूप जानने के वाद कुछ भी जानना वाकी नही रहता , क्योकि सवका ज्ञान होने पर समग्र ज्ञेय (जानने योग्य पदार्थ) ज्ञात हो जाते है। और उसका ज्ञाता जो आत्मा है, उसे यदि जाना नही, तो उस (आत्मज्ञान) के विना अन्य सव ज्ञान निरर्थक है । क्योकि अवश्य जानने योग्य आत्मपदार्थ ही नही जाना है । इसलिए आत्मज्ञान के विना अन्य सव ज्ञान निरर्थक ही है ।

नवानामपि तत्त्वानां ज्ञानमात्मप्रसिद्धये ।
येनाऽजीवादयो भावा स्वभेदप्रतियोगिन ॥३॥

नौ तत्त्वो का ज्ञान भी आत्मा की सिद्धि के लिए ही है, क्योकि अजीव आदि पदार्थ आत्मभेद के प्रतियोगी हैं।

जीवादि ९ तत्त्व जगत् मे प्रसिद्ध है। अत भेद-प्रभेद द्वारा निश्चित स्वरूप वाले उन नौ तत्त्वो का ज्ञान=स्वरूप का निश्चित वोध अच्छी तरह से समझने के लिए है। अजीवादि को जाने विना जीव को पूर्णरूप से नही जाना जा सकता। अर्थात् जीव अजीव (जड) नही है, अजीवादि से से जीव भिन्न है। इस प्रकार आत्मा (जीव) को इन सवसे पृथक् करके निश्चित करने यानी अपने और पर के पर्यायो से आत्मा को सम्पूर्णरूप से जानने के लिए, क्योकि अजीवादि यानी अजीव (धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आदि तथा पुण्य, पाप वगैरह पदार्थ) अपने=जीव के भेद के प्रतियोगी हैं, अर्थात् अभावसम्वन्ध से सम्वन्धित हैं, आत्मा के अभावरूप है। अत जो आत्मा के अभावरूप मे हो, उन्हे भी अवश्य जानने चाहिए।

श्रुतो ह्यात्मपराभेदोऽनुभूत संस्तुतोऽपिवा ।
निसर्गादुपदेशाद् वा वेत्ति भेदं तु कश्चन ॥४॥

आत्मा एव अनात्मा का अभेद सुना है, अनुभव किया है और परिचय मे भी आया है, परन्तु कोई विरला ही व्यक्ति इसके भेद को निसर्ग से अथवा उपदेश से जानता है।

जीव और अजीवादि का अभेद (एकत्व) सुना है, अथवा अनुभव किया है, यानी 'जीव अजीव (देह) से अभिन्न है' इस प्रकार वुद्धि से प्रत्यक्ष भी हुआ है। अथवा अनादिकाल से उनका गाढ परिचय भी हुआ है, क्योकि सभी पदार्थ आत्मा के विषय मे आए हुए है। परन्तु उनका भेद (भिन्नत्व) तो निसर्ग से यानी स्वाभाविक सहजवोध से अथवा उपदेश से (गुरुमुख से आगम-श्रवण करने से) कोई विरला ही पुरुष जानता है।

तदेकत्व-पृथक्त्वाभ्यामात्मज्ञान हितावहम् ।
वृथैवाभिनिविष्टानामन्यथा धीर्विडम्बना ॥५॥

इस कारण एकत्व और पृथक्त्व को ले कर आत्मज्ञान हितकारक होता है। किन्तु कदाग्रहीपुरुषो की उलटी बुद्धि मिथ्या, वृथा और विडम्बनारूप है।

इस कारण एकत्व=सब पदार्थो के साथ एकता, और पृथक्त्व=दूसरे पदार्थों से भिन्नता, इन दोनो को ले कर आत्मज्ञान जीव को आत्मस्वरूप का बोध हितावह है, उभयलोक कल्याणकारी है। और अभिनिवेश वाले (एकान्तरूप से भेद अभेद के विषय मे कदाग्रही पुरुषो की जो विपरीत बुद्धि है, वह आत्मस्वरूप की प्राप्ति के अभाव के कारण मिथ्या तथा विडम्बनारूप है।

एक एव हि तत्रात्मा स्वभावे समवस्थित ।
ज्ञान-दर्शन-चारित्रलक्षण प्रतिपादित ॥६॥

आत्मा एक ही है, वह स्वभाव मे ही स्थिर रहता है, और उसे ज्ञान-दर्शन-चारित्र-लक्षण वाला कहा है।

उस एकत्व और पृथक्त्व ज्ञान मे स्वभावत. (दूसरे कारणो की अपेक्षारहित) वस्तु के सहजधर्म के कारण समस्त विभावो का त्याग करके स्वभाव मे आश्रय ले कर रहा हुआ तथा ज्ञान (विशेषग्राही बोध), दर्शन (सामान्यग्राही दर्शन), और चारित्र अपने स्वभाव मे स्थिरता, ये ज्ञान, दर्शन और चारित्र आत्मा के लक्षण है आत्मस्वरूप के चिह्न हैं। ऐसा आत्मा—अपने गुण का आधाररूप एक ही होने से अथवा चैतन्यरूप जाति को ले कर भेदरहित होने से जैसे जाति से सभी ब्राह्मण एक ही जाति के कहलाते हैं, वैसे ही सभी आत्माएँ भी एक ही स्वरूप वाली हैं, ऐसा जिनेन्द्रो ने कहा है। लक्षण के भेद से वे भिन्न नही है। इस कारण अपने गुण का एक ही आधार होने से तथा चैतन्यरूप जाति को ले कर एक होने से सभी आत्माओ की एकता जानना, सत्ता से एकता नही जानना।

प्रभानैर्मल्यशक्तीनां यथा रत्नान्न भिन्नता ।
ज्ञानदर्शनचारित्रलक्षणानां तथात्मन ॥७॥

जैसे रत्न की कान्ति, निर्मलता और शक्ति रत्न से अलग नही हैं वैसे ही ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूप लक्षण आत्मा से भिन्न नही हैं।

जैसे रत्न की प्रभा, रत्न की निर्मलता और रत्न की विषहरण आदि शक्ति रत्न से भिन्न नही होती, क्योकि वह एकरूपमय है, वैसे ही आत्मा से ज्ञान, दर्शन और चारित्र-रूप लक्षणो की भिन्नता नही है। गुण और गुणी का अभेद सम्बन्ध होता है। इसलिए अनेकस्वरूप वाले ज्ञानादि के साथ आत्मा की एकता ही है।

आत्मनो लक्षणानां च व्यवहारो हि भिन्नता ।
षष्ठ्यादिव्यपदेशेन मन्यते, न तु निश्चय ॥८॥

व्यवहारनय षष्ठी आदि विभक्ति से व्यपदेश से आत्मा को उसके पूर्वोक्त लक्षणो से भिन्न मानता है, परन्तु निश्चयनय इस तरह भिन्न नही मानता।

आत्मा और उसके ज्ञानादिलक्षणो मे षष्ठी आदि विभक्तियो के प्रयोग से भेददर्शक व्यवहारनय परस्पर भिन्नता मानता है। परन्तु निश्चयनय तो इन दोनो के बीच अभेद ही मानता है। आत्मा का ज्ञान, आत्मा का दर्शन, और आत्मा का चारित्र आदि रूप से व्यवहारनय कहता है, जबकि निश्चयनय कहता है—आत्मा ही ज्ञान है, आत्मा ही दर्शन है और आत्मा ही चारित्र है।

घटस्य रूपमित्यत्र यथा भेदो विकल्पज ।
आत्मनश्च गुणानां च तथा भेदो न तात्त्विक ॥९॥

जैसे घट और घट के रूप का भेद केवल विकल्प से उत्पन्न होता है, वैसे ही आत्मा और उसके गुण का भेद भी विकल्पज है, तात्त्विक नही है।

। जैसे व्यवहारनय से यह कहा जा सकता है कि 'यह घड़े का रूप है'। ऐसा प्रयोग (करते समय) षष्ठी विभक्ति से घड़े और उसके बीच का भेद सूचित करता है। वास्तव मे वह यथार्थ (वास्तविक) नही है। क्योंकि घड़ा और रूप दोनो अभिन्न ही हैं। इसी प्रकार 'आत्मा को जाना' ऐसा कहने मे आत्मा और उसके गुण-ज्ञान का भेद बताया जाता है, परन्तु यह भेदकथन षष्ठी-विभक्ति के प्रयोग को ले कर व्यवहारनय की दृष्टि से ही है, निश्चयनय की दृष्टि से यह (आत्मा और उसके गुणो का) भेद तात्त्विक (वास्तविक) नही है, क्योंकि निश्चयनय अतात्त्विक पदार्थ को नही मानता।

शुद्धं यदात्मनो रूपं निश्चयेनाऽनुभूयते।
व्यवहारो भिदा द्वाराऽनुभावयति तत्परम् ॥१०॥

आत्मा के जिस शुद्ध स्वरूप का निश्चयनय द्वारा अनुभव किया जाता है ; व्यवहारनय उस उत्कृष्ट स्वरूप का भेद का अनुभव कराता है।

जब आत्मा के शुद्ध स्वाभाविक निर्मलरूप=स्वभाव का निश्चयनय की दृष्टि से अनुभव किया जाता है, अर्थात् 'यह समग्र गुणवान् गुणी ही है, इस दृष्टि (बुद्धि) से प्रत्यक्ष होता है, तब उस शुद्ध रूप का व्यवहारनय भेदबुद्धि द्वारा अनुभव कराता है, अर्थात् 'यह गुण है और यह गुणी है', इस प्रकार का अनुभव कराता है।

वस्तुतस्तु गुणानां तद्रूपं न स्वात्मन पृथक्।
आत्मा स्यादन्यथाऽनात्मा ज्ञानाद्यपि जडं भवेत् ॥११॥

वास्तव मे गुणो का वह स्वरूप आत्मा से भिन्न नही है, अन्यथा आत्मा अनात्मारूप हो जाएगा और ज्ञान आदि भी जड हो जाएँगे।

वास्तव मे देखा जाय तो ज्ञान आदि गुणो का स्वभाव (स्वरूप) अपने आधारभूत आत्मा (जीव) से पृथक् नही है, स्वयं आत्मा ही

गुणरूप है। अन्यथा गुण और गुणी का सर्वथा भेद मानेंगे तो आत्मा (जीव) अनात्मा (अजीव) हो जाएगा। अर्थात् ज्ञानादि के साथ सम्बन्ध न होने से मृत शरीर की तरह वह (आत्मा) भी वह जड़ कहलाएगा। तथा ज्ञानादिगुण भी जड़ हो जाएँगे, यानी इष्ट और अनिष्ट को नही जाननेवाले हो जाएँगे। क्योकि अचेतन होने के कारण काष्ठ का टुकडा काष्ठ के रग की तरह या आकाश की तरह वे जड हो जायेंगे।

चैतन्यपरसामान्यात् सर्वेषामेकतात्मनाम्।
निश्चिता कर्मजनितो भेद पुनरुपप्लव. ॥१२॥

निश्चयनय से समस्त आत्माओ की चैतन्यरूप महासामान्यत्व के कारण एकता है, परन्तु कर्मों को ले कर उत्पन्न हुआ भेद उपप्लव-रूप है।

सारे विश्व मे स्थित एकेन्द्रिय आदि जीवो मे चैतन्यरूप महा-सामान्यता (महासत्ता) के कारण सग्रहनय से अभिन्नता एकता है; क्योकि ब्राह्मणत्व की तरह जीवत्वरूप जाति एक ही है। परन्तु निश्चय नय से तो कर्मकृत भेद ज्ञानित्व, अज्ञानित्व वगैरह भिन्नता उपप्लव (आवरण) रूप है। अर्थात् आवरणरूप राहू के द्वारा जीवरूपी सूर्य पर उत्पन्न किये हुए ग्रहण (उपराग) रूप है। इसमे एक ही आत्मा को कर्म के कारण अलग-अलग माना जाता है।

मन्यते व्यवहारस्तु भूतग्रामादिभेदत।
जन्मादेश्च व्यवस्थातो, मिथो नानात्वमात्मनाम् ॥१३॥

व्यवहारनय प्राणिसमूह के भेद के कारण तथा जन्मादि की व्यवस्था के कारण आत्माओ की परस्पर विविधता मानता है।

व्यवहारनय प्राणियो के—यानी एकेन्द्रिय आदि १८ प्रकार के जीवो के भेद, आदि शब्द से चार गति, पाच इन्द्रिय, छह काय, तीन वेद इत्यादि अनेक कारणो से तथा जन्म आदि के कारण, यानी जन्म, परलोक मे जन्म, जरा, मृत्यु, बाल्यावस्था, युवावस्था, वृद्धावस्था, अज्ञान

वगैरह की व्यवस्था अलग-अलग होने से या अलग-अलग मर्यादा होने से जीवो की परस्पर विविधता भिन्नता मानता है।

न चैतन्निश्चये युक्त भूतग्रामो यतोऽखिल ।
नानाकर्मप्रकृतिज स्वभावो नात्मन पुन ॥१४॥

निश्चयनय की दृष्टि मे जीवो की यह विविधता युक्तियुक्त नही है, क्योकि सारे ही प्राणिसमूह १४ प्रकार के जीवसमूह की भिन्नता नामकर्म की प्रकृतियों से जनित है। वह आत्मा का स्वभाव नही है।

निश्चयनय मे आत्मा की उपर्युक्त विविधता घटित (युक्तिसगत) नही होती, क्योकि सारे ही चौदह प्रकार के जीवगण नामकर्म की प्रकृतियो से (गति, जाति, शरीर आदि नामकर्म के भेदो से) उत्पन्न हुआ है। वह आत्मा का स्वभाव नही है, अर्थात् आत्मा के स्वरूप से समुत्पन्न भेद नही है, यह सब भेद नामकर्म की प्रकृति से समुत्पन्न है।

जन्मादि कोऽपि नियत. परिणामो हि कर्मणाम् ।
न च कर्मकृतो भेद स्यादात्मन्यविकारिणि ॥१५॥

जन्म आदि भेद निश्चय ही कर्मो के परिणाम (फल) स्वरूप हैं। और वह कर्मकृत भेद अविकारी आत्मा से सम्बन्धित नही होता।

जन्म, जरा, मरण, ज्ञानी, अज्ञानी, सुखी, दु खी इत्यादि अनेक भेद एक ही आत्मा के कहे हैं, इस कथन को निश्चयनय नही मानता, क्योकि जन्मादि भेद आयुकर्म के परिणाम है, ज्ञान-अज्ञान आदि ज्ञानावरणीय कर्म के परिणाम हैं, सुखदु ख आदि साता-असातावेदनीय कर्म के परिणाम है, यह सब भेद कर्मजनित होते है, कर्मो के विकार से रहित आत्मा से इनका कोई वास्ता नही है। शुद्धात्मा तो एक ही प्रकार का होता है।

आरोप्य केवल कर्मकृतां विकृतिमात्मनि ।
भ्रमन्ति भ्रष्टविज्ञाना भीमे ससारसागरे ॥१६॥

केवल कर्मजनित विकार का आत्मा मे आरोपण करने से ज्ञानभ्रष्ट हुए जीव ससारसागर मे परिभ्रमण करते है।

"आत्मा ज्ञानी, अज्ञानी, सुखी, दु खी, जन्म, मरण वाला है, वह इन कर्मकृत विकारो के कारण विकारी बनता है" इस तरह जो आत्मा मे केवल कर्मजनित विकारो का आरोपण करते है, वे ज्ञान से भ्रष्ट आत्मा मनुष्य जीवन हार कर अतिभयकर संसार-सागर मे परिभ्रमण करते रहते है।

उपाधिभेदज भेद वेत्यज्ञ. स्फटिके यथा।
तथा कर्मकृतं भेदमात्मन्येवाभिमन्यते ॥१७॥

जैसे मूर्ख मनुष्य उपाधि के भेद से उत्पन्न हुए भेद को स्फटिक मे भेदरूप जानता है, वैसे ही कर्मकृत भेद को वह आत्मा के विषय मे मानता है।

अज्ञानी मनुष्य लाल, पीले, नीले आदि रग के फूलो के पास रखे हुए सफेद स्फटिक को लाल, पीला नीला आदि मानता है। स्फटिक मूल मे स्वभावत सफेद होता है, लेकिन पुष्प की उपाधि से भिन्न-भिन्न रंगो को स्फटिक के रग मानता है; इसी प्रकार निश्चय के स्वरूप को न जानने वाला मनुष्य कर्म-जनित भेद को नर, नारक, अज्ञानी, ज्ञानी वगैरह भिन्नता को आत्मा की-जीव के स्वभाव की ही मान लेता है। परन्तु आत्मा तो निश्चयदृष्टि से एक ही है, उसमे नरकात्मा, देवात्मा, पुरुषात्मा, स्त्री-आत्मा आदि अनेको भेद नही होते।

उपाधिकर्मजो नास्ति व्यवहारस्त्वकर्मण:।
इत्यागमवचो लुप्तमात्मवैरूप्यवादिना ॥१८॥

कर्मरहित जीव (आत्मा) के लिए उपाधिरूपकर्म से उत्पन्न हुआ व्यवहार नही होता। इसलिए आत्मा के विषय मे विपरीत कथन करने वालो ने आगमवचन का लोप किया है।

कर्मरहित जीव को उपाधिरूप (अर्थात् अपने धर्म को दूसरे में रहे हुए धर्म से युक्त) ज्ञानावरणीयादि कर्म से उत्पन्न होने का व्यवहार है ही नहीं। फिर भी जिस व्यक्ति ने आत्मा की विपरीतता या विरुद्धता का कथन (तोड़मरोड़ कर इसे उलटे रूप मे पेश किया है, उसने आगम-वचनों का लोप (अपलाप) किया है। यहाँ व्याख्या का विषय निश्चय-दृष्टि (सामान्य) से सम्बन्धित होने से आत्मा के अकर्म होने से, व्यवहारदृष्टि से आत्मा के कर्मजनित व्यवहार का निषेध किया है।

एकक्षेत्रस्थितोऽप्येति नाऽऽत्मा कर्मगुणान्वयम्।
तथाऽभव्यस्वभावत्वाच्छुद्धो धर्मास्तिकायवत् ॥१९॥

धर्मास्तिकाय के समान आत्मा एक क्षेत्र मे रहते हुए भी वह (शुद्ध आत्मा) कर्मगुणों से सयुक्त नही होता, क्योंकि शुद्ध आत्मा का धर्मा-स्तिकाय की तरह वैसा होने का स्वभाव है ही नहीं।

जिस आकाशप्रदेश मे कर्मपरमाणु है, उसी आकाशप्रदेश में आत्मा भी है। फिर भी वह (शुद्ध आत्मा) कर्मजनित रूप, रस वगैरह गुणों के साथ सम्बन्ध (तद्रूपता=तादात्म्य) नही प्राप्त करता। क्योंकि आत्मा का स्वभाव अपने स्वरूप से पररूप मे जाने का कतई नहीं है। इस कारण आत्मा शुद्ध अपनी सत्ता के स्वरूप वाला है। किसकी तरह? इसे बताते हैं–धर्मास्तिकाय की तरह। अर्थात्–धर्मा-स्तिकाय जीव एव पुद्‌गलों के साथ सम्बन्ध रखता है, तथापि वह सचेतन या रूपी नही बन जाता, इसी प्रकार कर्मपरमाणुओं के साथ सम्बन्धित होते हुए भी आत्मा रूप, रस वगैरह गुणरूप नही बन जाता।

यथा तैमिरिकश्चन्द्रमप्येक मन्यते द्विधा।
अनिश्चयकृतोन्मादस्तथाऽऽत्मानमनेकधा ॥२०॥

जैसे रतौंधी (नेत्ररोग) वाला व्यक्ति एक चन्द्रमा को भी दो रूप मे जानता देखता है, वैसे ही निश्चय के अज्ञान के कारण उन्मत्त पुरुष एक आत्मा को अनेक प्रकार का मानता है।

जिस मनुष्य की आँखो मे तिमिर (रतौंधी) रोग हो जाता है वह उसके कारण आकाश मे स्थित एक ही चन्द्रमा को दो चन्द्रमा देखता है। इसी प्रकार जिसे आत्मज्ञान के विषय मे यथार्थस्वरूप का निश्चय नही हुआ है, वह पल्लवग्राही उस ज्ञान के उन्माद के कारण आत्मा एक होने पर भी अनेक प्रकार का मानता है, वह एकान्त व्यवहारवादी वन कर आत्मा के एकत्व (सामान्यतया जाति से आत्मा एक ही है) को नही मानता।

यथाऽनुभूयते ह्येक स्वरूपास्तित्वमन्वयात्।
सादृश्यास्तित्वमप्येकमविरुद्धं तथाऽऽत्मनाम् ॥२१॥

जैसे अन्वय से आत्मा के स्वरूप का अस्तित्व एक ही अनुभूत (महसूस) होता है, वैसे ही आत्मा के सादृश्य का अस्तित्व भी एक ही है, इसमें किसी प्रकार का विरोध नही है।

जैसे व्यवहार से जिनदास अपनी वाल्य, कौमार्य, युवा एवं वृद्धत्व आदि अलग-अलग अवस्थाओ में अलग-अलग नही हो जाता, सभी अवस्थाओ मे जिनदास तो एक ही (जिनदास ही) रहता है; वैसे ही आत्मा की नर, नारक, तिर्यंच आदि सभी पृथक् पृथक् अवस्थाओ मे भी आत्मा के स्वरूप का एक ही अस्तित्व रहता है, क्योकि उन सभी अवस्थाओ मे सभी आत्मा मे स्वरूप (स्वभाव) का अस्तित्व (विद्यमानता) एक ही महसूस होता है, बुद्धि को प्रत्यक्ष अनुभव होता है, उसी प्रकार सभी आत्माओ मे आत्मत्व का सम्वन्ध होने से उन सवका सादृश्य-अस्तित्व (समानता का अस्तित्व) भी अन्वय से एक ही है, इसमे किसी भी प्रकार का विरोध नही आता।

सदसद्वादपिशुनात् सगोप्य व्यवहारत.।
दर्शयत्येकतारत्न सतां शुद्धनय सुहृत् ॥२२॥

शुद्धनयरूपी मित्र स्याद्वाद को वताने वाले व्यवहार मे रक्षा करके सज्जनो को एकतारूपी रत्न दिखाता—वताता है।

शुद्धनय-यानी शुद्ध सत्ताग्राही—महासामान्यग्राही द्रव्यार्थिकनय(निश्चय-वचन) रूपी मित्र कथंचित् सत्, कथंचित् असत् इत्यादि रूप मे अर्थात् नित्य, अनित्य, एकत्व, अनेकत्व आदि के रूप मे वस्तुस्वरूप के कथन उपदेश करने वाले स्याद्वाद को बताने वाले व्यवहार (नय) से सुक्ष्म, बादर वगैरह अनेक भेदो के रूप मे आत्मा का प्रतिपादन करने वाले अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय से बचा कर (रक्षा करके) एकतारत्न (समस्त आत्माओ के अभेदरूप मणि) को बताता (दिखाता) है। अर्थात् शुद्ध द्रव्यार्थिकनय समस्त जीवो का एकत्व सिद्ध करता है।

नृनारकादिपर्यायैरप्युत्पन्नविनश्वरैः ।
भिन्नैर्जहाति नैकत्वमात्मद्रव्यं सदान्वयि ॥२३॥

आत्मा का मनुष्य, नारक आदि भिन्न-भिन्न पर्यायो मे उत्पन्न और विनाश होने पर भी निरन्तर अन्वयवाला आत्मद्रव्य एकत्व को नही छोडता।

उत्पत्ति और विनाश के स्वभाव वाला तथा भिन्न-भिन्न क्षेत्र और काल को ले कर पृथक्-पृथक् स्वभाव वाले देव मनुष्य, नरक और तिर्यञ्चगतिरूप पर्यायो से उत्पत्ति और विनाश प्राप्त होने पर भी निरन्तर ध्रुवसत्तारूप से सम्बन्धित आत्मद्रव्य (जीवद्रव्य) एकत्व (चैतन्यजाति की समानता को ले कर पैदा हुई एकता) का त्याग नही करता।

यथैकं हेम केयूरकुण्डलादिषु वर्तते ।
नृनारकादिभावेषु तथाऽऽत्मैको निरंजनः ॥२४॥

जैसे एक ही सोना केयूर (बाजूबन्द) और कुण्डल वगैरह मे मौजूद है, वैसे एक ही निरजन आत्मा मनुष्य, नारक वगैरह भावो (पदार्थो) मे विद्यमान रहता है।

सोना (जाति से भेदरहित) एक ही होता है, उसमे से कभी बाजूबन्द, कभी कुण्डल और कभी हार आदि अनेक प्रकार के आभूषण

बनाये जाते है। वे जब बनाये जाते है तो एक पर्याय का नाश होता है, दूसरे पर्याय की उत्पत्ति होती है। फिर उन सबमे सोना कायम रहता है, वैसे ही जीव (आत्मा) मनुष्य, नारक, देव, तिर्यच इन चार गतियो और ८४ लाख जीवयोनियो मे जन्मता-मरता रहता है, एक पर्याय बदल कर दूसरी पर्याय धारण करता है, परन्तु उन सबमे निर्विकारी निरजन (कर्मलेपरहित) शुद्ध आत्मा तो एक ही स्वरूप वाला कायम रहता है। अर्थात् पर्याय के भेद से आत्मा के स्वरूप मे कोई भेद नही होता।

कर्मणस्ते हि पर्याया नात्मन. शुद्धसाक्षिण. ।
कर्मक्रियास्वभावं यदात्मना त्वजस्वभाववान् ॥२५॥

वे नर-नारकादि पर्याय कर्म के (कर्मजनित) ही है, शुद्ध साक्षीरूप आत्मा के नही है। क्योकि कर्म क्रियास्वभाव वाले हे और आत्मा तो अज (जन्म न लेने वाले) स्वभाव वाला है।

वे नर, नारक, देव आदि पर्याय (जन्मादि भाव) कर्म के ही है यानी कर्म के स्वभाव से जनित है, पर शुद्ध (कर्मरहित निर्दोष) और साक्षीभूत (कर्मादि की क्रिया के ज्ञाता-द्रष्टा) आत्मा के नही है। क्योकि ज्ञानावरणीयादि कर्म क्रिया (प्रवृत्ति) आदि के स्वभाव वाले है, जबकि आत्मा तो अजन्मा (जन्ममरणरहित) स्वभाव वाला है , वह तो अपने मे किसी क्रिया को पैदा नही करता। अत दोनो का विरोधी स्वभाव है। इस कारण कर्म के पर्याय आत्मा के नही बन सकते, तथैव कर्म के पर्यायों के बीच रहते हुए भी आत्मा तद्रूप (कर्मपर्यायमय) नही बन सकता।

नाणूना कर्मणो वाऽसौ भवसर्गं स्वभावज ।
एकैकविरहेऽभावान्न च तत्त्वान्तर स्थितम् ॥२६॥

इस ससार की रचना (उत्पत्ति सर्जन) केवल कर्मपरमाणुओ के स्वभाव से नही होती, और न ही अकेले जीव के स्वभाव से ही होती है, किन्तु दोनो के स्वभाव से ही उत्पन्न हुई है, होती है , क्योकि

क्योंकि दोनों में से एक का वियोग (अभाव) हो तो संसार का ही अभाव हो जाता है। अन्य किसी भी तत्त्व से संसार की स्थिति नहीं होती।

यहाँ एक शंका होती है कि आत्मा के सम्बन्ध के बिना केवल कर्म से जन्म-मरण आदि किस तरह हो सकते हैं? इसका समाधान ग्रन्थकार करते हैं कि जन्म-मरण-गति-योनि आदि रूप संसार की रचना (उत्पत्ति) केवल कर्मपरमाणुदलिकों के स्वभाव (क्रिया) से नहीं होती। श्लोक में 'वा' शब्द का अर्थ भिन्नक्रमरूप होने से यह भी द्योतित होता है कि केवल जीव (आत्मा) के स्वभाव से वह उत्पन्न नहीं होती, बल्कि दोनों में से किसी एक का यानी कर्म अथवा जीव का भी विरह (अभाव) हो जाय तो संसार नहीं हो सकता। दोनों के संयोग से ही यह संसार बना है। कर्म और जीव इन दोनों के अतिरिक्त अन्य किसी के संयोग से यह संसार उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि दोनों के अलावा और कोई भी कारण इस संसार का नहीं है। यद्यपि दोनों के संयोग से ही इस सृष्टि की रचना है; फिर भी चेतन में चेतन की क्रिया होती है, पुद्गल (जड) की क्रिया नहीं होती। और इस संसार की रचना तो पुद्गलरूप है, अतः वह जीव (आत्मा) की नहीं है। इस विषय में दृष्टान्त दे कर अगले श्लोक में समझाते हैं

श्वेतद्रव्यकृतं श्वैत्यं भित्तिभागे यथाद्वयोः ।
भात्यनन्तर्भवच्छून्यं प्रपञ्चोऽपि तथेक्ष्यताम् ॥२७॥

जैसे दीवार पर सफेद द्रव्य से की हुई सफेदी (उज्ज्वलता) उन दोनों में अन्तर्भूत हुए बिना सुशोभित होती है, वैसे ही प्रपंच (संसार के विस्तार) को समझना चाहिए।

जैसे दीवार पर चूने आदि सफेद पदार्थ से सफेदी कर दी जाने पर दोनों का एक दूसरे में अन्तर्भाव (प्रवेश) नहीं हो जाता। दीवार कोई चूने में नहीं घुस जाती, तथैव चूना भी दीवार में नहीं घुसता, परन्तु सिर्फ अपने-अपने स्वरूप में रह कर ही शोभा पाते हैं। इसी प्रकार

अन्तर्भाव हुए विना यानी कर्म और आत्मा के सयोगरूप होने पर भी यह प्रपञ्च (जनमरणादिरूप ससार) भी शून्य यानी सयोग का त्याग करके कर्म और आत्मा का पृथक्त्व समझना चाहिए। यानी उत्पत्ति-रूप जो क्रिया होती है, वह कर्म की ही है, आत्मा की नही।

यथा स्वप्नाववुद्धोऽर्थो विवुद्धेन न दृश्यते।
व्यवहारमत सर्गो ज्ञानिना न तथेक्ष्यते ॥२८॥

जैसे स्वप्न मे देखा हुआ पदार्थ जागने के वाद नही दिखता, वैसे ही व्यवहार से माना हुआ सर्ग (ससार) ज्ञानी को नही दिखता।

जैसे सोये हुए मनुष्य को स्वप्न मे मानसिक ज्ञान मे जो कुछ पदार्थ दिखाई देता है, जागने के वाद नही दिखाई देता, इसी प्रकार व्यवहार नय के द्वारा (व्यवहारदृष्टि से) माने (प्रमाणित किये) हुए संसार (जन्म-मरणादि रूप ससार) की उत्पत्ति ज्ञानी (निश्चयज्ञान वाले) के द्वारा नही दिखाई देती। अर्थात् कर्मसंयोग से रहित, शुद्धस्वरूप आत्मा के विषय मे यह भाव ज्ञानी को नही दिखाई देता।

मध्याह्ने मृगतृष्णायां पय पूरो यथेक्ष्यते।
तथा सयोगज सर्गो विवेकाख्याति-विप्लवे ॥२९॥

जैसे मध्याह्न समय मे मृगमरीचिका मे जल का प्रवाह उमड़ता दिखाई देता है, वैसे ही विवेक की यथार्थज्ञान वाली प्राप्ति के आवरण-के कारण सयोग से उत्पन्न हुआ ससार दिखाई देता है।

ग्रीष्मऋतु की तपती दुपहरी मे सूर्यकिरणो का सम्वन्ध होने से दूरस्थ वीरान भूमि में जल की भ्रान्ति के कारण जलप्रवाह वहता हुआ नजर आता है, लेकिन वास्तव मे उसका अस्तित्व ही नही है, उसी प्रकार जीव और कर्म के भेदज्ञान (विवेक) की आख्याति (यथार्थज्ञान प्राप्ति के आवरण के कारण सयोग से उत्पन्न हुए जीव और कर्म के परस्पर मिश्रण से उत्पन्न हुआ जन्मादिरूप ससार दिखाई देता है, परन्तु वास्तव मे (परमार्थ दृष्टि से) वह सत्य नही है। संयोग होने से

ही जन्मादि होते है, परन्तु प्रत्येक अलग-अलग हो तो जन्मादि नही होते और वह सयोग भी अपने आप मे सत्य नही है।

गन्धर्वनगरादीनामम्बरे डम्बरो यथा।
तथा सयोगज. सर्गो विलासो वितथाकृति. ॥३०॥

जैसे आकाश मे गन्धर्वनगर आदि का आडम्बर दिखाई देता है, वह मिथ्या है, वैसे ही सयोग से होता है, पर वह सत्य नही है, इसी प्रकार जीव और कर्म के सयोग से उत्पन्न हुए सर्वविलास व्यर्थ हैं, मिथ्या है।

जैसे शाम को आकाश मे गन्धर्वनगर आदि (पचरगे बादलो) का आडम्बर सूर्यकिरणो के संयोग से होता है, पर वह सत्य नही है; इसी प्रकार जीव और कर्म के सयोग से उत्पन्न हुआ समग्र विलास (वर्तमान जन्म वगैरह पदार्थ का उल्लास) व्यर्थाकार दिखाई देता है, वह यथार्थ नही है।

इति शुद्धनयात्तमेकत्व प्राप्तमात्मनि।
अंशादिकल्पनाऽप्यस्य नेष्टा यत्पूर्णवादिन ॥३१॥

इस तरह आत्मा मे शुद्धनय के अधीन ऐसा एकत्व प्राप्त हुआ है, क्योकि पूर्णवादी शुद्ध द्रव्यार्थिक नय में अशादि की कल्पना करना जरा भी भी अभीष्ट नही है।

इस प्रकार पूर्वकथनानुसार जीव मे शुद्ध द्रव्यार्थिक नय को ले कर तदधीन भिन्नत्व (भेद) रहित एकत्व प्राप्त होता है और समग्र स्वरूप को ग्रहण करके वस्तु का कथन करने के स्वभाव वाले पूर्णवादी शुद्ध निश्चयनय को अशादि (देश, प्रदेश, विभाग आदि की शुद्धि) की कल्पना करना भी इष्ट (प्रमाणरूप) नही है। सम्पूर्ण वस्तु का कथन करने वाला होने से देशशुद्धि वगैरह को वह नय नही मानता।

एक आत्मेति सूत्रस्याऽप्ययमेवाशयो मत।
प्रत्यग्ज्योतिषमात्मानमाहु शुद्धनया खलु ॥३२॥

'आत्मा एक ही है,' इस सूत्र का आशय भी ऊपर कहे अनुसार ही माना गया है, क्योकि शुद्धनयो ने आत्मा को शुद्धज्योति वाला

कहा है। समग्र असंख्य प्रदेशों को ले कर तथा ज्ञानादि को ले कर 'आत्मा एक ही', है, 'एगे आया' इस सूत्र पर भी इससे पूर्व कहा हुआ अभिप्राय माना है। यानी पूर्वाचार्यों ने इसी अभिप्राय को प्रमाणित किया है। कारण यह है कि शुद्ध नय (अर्थात् उत्पाद और व्यय का त्याग करके पूर्ण- ध्रुव वस्तु को ग्रहण करने वाले संग्रहनय) का वाद कथन आत्मा को प्रत्यक्ष शुद्ध ज्योतिस्वरूप बन्ध-मोक्ष की अपेक्षारहित शुद्ध ज्योतिर्मान बताता है।

प्रपञ्च-संचय-क्लिष्टान्मायारूपाद् बिभेमि ते।
प्रसीद भगवन्नात्मन् ! शुद्धरूपं प्रकाशय ॥३३॥

हे भगवन् आत्मन् ! प्रपञ्चों के दल से क्लिष्ट तेरे मायामय रूप से मैं डरता हूँ। अत तू मुझ पर प्रसन्न हो और शुद्ध रूप को प्रकाशित कर।

ग्रन्थकार अपनी आत्मा से प्रार्थना करते हैं कि "हे भगवन् आत्मन्! आप मुझ पर प्रसन्न हो जायं और जन्ममरणरूपी संसारप्रपंच से क्लिष्ट (क्लेशकर) तेरे मायामय रूप से (अज्ञानरूप माया से जनित संयोग से) मैं भयभीत होता हूं। अत: अपने इस मायामय मोहरूप को समेट लो और अपने मूल शुद्ध रूप को प्रगट करने की कृपा करो।" इस प्रार्थना द्वारा आत्मा ने आत्मा को स्वत परमात्मस्वरूपवान् कहा है। अर्थात् विभिन्न आत्माएँ एक ही है, ऐसा सिद्ध होता है।

देहेन सममेकत्वं मन्यते व्यवहारवित्।
कथञ्चिन्मूर्ततापत्तेर्वेदनादिसमुद्भवात् ॥३४॥

व्यवहारवेत्ता मनुष्य देह के साथ आत्मा का एकत्व मानता है, क्योंकि आत्मा को कथंचित् मूर्तिमत्ता (रूपित्व) की प्राप्ति होने से वेदना आदि की उत्पत्ति होती है। व्यवहारवेत्ता अर्थात् विशेष को ग्रहण करने वाला व्यवहारनयवादी कहता है 'आत्मा शरीर से अभिन्न है,' जबकि निश्चयनयवादी इस बात का खण्डन करते हुए कहता है— "आत्मा शरीर से भिन्न है"; परन्तु इस कथन से पूर्व व्यवहारनय अपनी

उक्त बात का समर्थन करते हुए युक्ति प्रतिपादन करता है 'आत्मा शरीर से (कथंचित्) अभिन्न है, क्योंकि जब शरीर पर कोई डंडे आदि से प्रहार करता है, तब उसको वेदना (दुःख की अनुभूति) आत्मा में पैदा होती है, इससे आत्मा की कथञ्चित् मूर्तिमत्ता (रूपित्व) सिद्ध होती है। अत मूर्तिमत्ता के कारण आत्मा को देह के साथ अभिन्न माना जाता है।"

तन्निश्चयो न सहते यदमूर्तो न मूर्तताम् ।
अंशेनाऽप्यवगाहेत पावक शीततामिव ॥३५॥

इस बात को निश्चयनय सहन नही करता, वह कहता है जैसे अग्नि ठडी नही होती, वैसे ही अमूर्त आत्मा भी लेशमात्र भी मूर्तिमान नही होता ।
वेदना की उत्पत्ति से मूर्तत्व की प्राप्ति होने के कारण शरीर के साथ आत्मा की अभिन्नता को निश्चयनय जरा भी स्वीकार नही करता। क्योंकि वह कहता है कि "अमूर्त (अरूपी) आत्मा अशमात्र भी कदापि मूर्तिमान (मूर्त) नही बन सकता, क्योंकि देह और आत्मा दोनों अपनी-अपनी सत्ता से अलग-अलग रहते हैं। जैसे आग किसी अश मे शीतल नही हो सकती, इसी प्रकार आत्मा भी किसी भी अंश मे मूर्त नही हो सकती।

उष्णस्याग्नेर्यथा योगाद् घृतमुष्णमिति भ्रम ।
तथा मूर्तागसम्बन्धादात्मा मूर्त इति भ्रम ॥३६॥

जैसे गर्म अग्नि के सयोग से घी गर्म है, ऐसी भ्रान्ति होती है, वैसे ही मूर्तिमान् अंग के सयोग (सम्बन्ध) से 'आत्मा मूर्तिमान है।' ऐसी भ्रान्ति होती है।

जैसे उष्ण यानी गर्मी के स्वभाव वाली आग के स्पर्श (सयोग) से घी स्वभाव से शीतल होते हुए भी गर्म है, ऐसा भ्रम हो जाता है, वैसे ही मूर्तिमान् (रूपी) अग के सम्बन्ध से 'जीव मूर्तिमान (साकार) है' ऐसा भ्रम जीव (आत्मा) के बारे मे मनुष्य को होता है, परन्तु वास्तव मे (परमार्थ से) ऐसा नही है।

न रूपं, न रसो गन्धो, न च स्पर्शो न चाकृतिः ।
यस्य धर्मो न शब्दो वा तस्य का नाम मूर्तता ॥३७॥

जिस आत्मा का धर्म—रूप नहीं, रस नहीं, गन्ध नहीं, स्पर्श नहीं, आकृति नहीं, तथा शब्द भी नहीं, उस आत्मा की मूर्तता (रूपीपन) कैसे सिद्ध हो सकती है ?

जिस आत्मा का धर्म यानी कर्तव्य या स्वभाव सुवर्ण आदि की तरह रूप नहीं है, तीखा आदि रस नहीं हैं, सुगन्ध-दुर्गन्ध आदि गन्ध नहीं है उष्ण वगैरह स्पर्श नहीं है, चोरस त्रिकोण वगैरह आकृति नहीं है, तथा शब्द (आवाज) भी स्वभाव (धर्म) नहीं है। हे भद्र ! उस आत्मा की मूर्तता=साकारता कैसे सिद्ध हो सकती है ? कदापि नहीं ।

दृशाऽदृश्यं हृदाऽग्राह्यं वाचामपि न गोचरः ।
स्वप्रकाशं हि यद्रूप, तस्य का नाम मूर्तता ? ॥३८॥

जिसका रूप दृष्टि से अग्राह्य (दिखाई देने लायक नहीं) है, हृदय (मन) से भी अगोचर है, वाणी से भी अगोचर है, परन्तु जो स्वयं-प्रकाशरूप है, वह आत्मा मूर्तरूप कैसे हो सकता है ? कदापि नहीं ।

इस आत्मा का कोई रूप आँखों से दिखाई नहीं देता, हृदय (मन) से भी इसे ग्रहण नहीं किया जा सकता, वाणी भी उसके रूप का कथन करने में असमर्थ है, ऐसा निराकारस्वरूप आत्मा सूर्य, अग्नि आदि के प्रकाश की सहायता के विना, ज्ञान से स्वय प्रकाशरूप है, तब वह (आत्मा) मूर्तरूप साकार कैसे हो सकता है ? कदापि नहीं ।

आत्मा सत्यचिदानन्दः सूक्ष्मात्सूक्ष्मः परात्परः ।
स्पृशत्यपि न मूर्तत्व तथा चोक्तं परैरपि ॥३९॥

आत्मा सत्, चित् और आनन्दस्वरूप है, वह सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है, पर से भी पर है, ऐसा आत्मा मूर्तत्व का लेशमात्र भी स्पर्श नहीं करता है, इसी प्रकार की वात अन्य दार्शनिकों ने भी कही है ।

आत्मा सत्रूप यथार्थ=सत्य है, चित्=ज्ञानरूप है, परब्रह्म के आनन्द वाला है, परमाणु वगैरह सूक्ष्म वस्तुओ से भी सूक्ष्म है, क्योकि आत्मा अरूपी है, और परमाणु तो रूपी है, तथा इन्द्रियादिसमूहरूप प्रकृष्ट से भी प्रकृष्ट उत्कृष्ट है, क्योकि आत्मा अरूपी होने से अग्राह्य है और इन्द्रियाँ रूपी होने से ग्राह्य हैं, इसी कारण आत्मा मूर्तत्व रूपित्व का जरा भी स्पर्श नही करता। इस सम्बन्ध में कपिल आदि अन्य दार्शनिको ने भी कहा है। व्यासजी ने भी भगवद्गीता के अ.३, श्लो ३ मे कहा है

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्य परं मनः।
मनसोऽपि परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥४०॥

शरीर में इन्द्रियो को पर (श्रेष्ठ) कहा है, इन्द्रियो से पर मन को वताया है, मन से भी पर (श्रेष्ठ) वुद्धि है और जो वुद्धि से भी पर है, वह आत्मा है।

श्रोत्रादि इन्द्रियाँ शरीर मे पर (श्रेष्ठ) कही हैं, यानी सूक्ष्म पदार्थ के ज्ञान वाले से जिसका स्वरूप जाना जा सकने योग्य है, ऐसा योगीश्वरो ने कहा है। इन्द्रियो से मन पर है, यानी अतिदूर तक वह जान सकता है, मन से भी पर वुद्धि है, जो उससे भी दूर अतिसूक्ष्मरूप से जान सकती है। और जो वुद्धि से भी पर है, अर्थात् अत्यन्त सूक्ष्मज्ञान से ही जाना जा सकता है, वह आत्मा ही है। उससे पर और कोई नही है।

विकले हन्त ! लोकेऽस्मिन्नमूर्ते मूर्ततात्रमात् ।
पश्यत्याश्चर्यवज्ज्ञानी वदत्याश्चर्यवद् वचः ॥४१॥

अफसोस है कि अमूर्त के विषय में मूर्तता के भ्रम के कारण विवेकविकल इस लोक मे ज्ञानी पुरुष आश्चर्य-चकित-सा देखता है और आश्चर्यवत् वचन वोलता है।

दु.ख की वात है कि विवेकशून्य दृष्टि और वुद्धि से प्रत्यक्ष इस मनुष्यलोक मे अरूपी आत्मा मे साकारता की भ्रान्ति हो रही है।

इसलिए ज्ञानी पुरुष इसे आश्चर्य की तरह देखते है और चकित-से हो कर इसके लिए वचन बोलते है। यानी वे कहते हैं "आश्चर्य है! ये लोग अमूर्त आत्मा को भी मूर्तिमान् मानते है।"

वेदनाऽपि न मूर्तत्वनिमित्ता स्फुटमात्मनः।
पुद्गलानां तदापत्ते किन्त्वशुद्धस्वशक्तिजा ॥४२॥

वेदना भी आत्मा के मूर्तत्व (को प्रगट करने) मे स्पष्टत. निमित्त कारण नही है, क्योकि अगर ऐसा माना जाएगा तो पुद्गलों को भी वेदना की प्राप्ति होने लगेगी। वस्तुत. वह वेदना तो अपनी (जीव की) अशुद्ध स्वशक्ति से ही उत्पन्न हुई है।

यह साफ है कि वेदना (सुख-दु खादि की अनुभूति) भी जीव के रूपीपन (मूर्तत्व) मे निमित्त कारण नही है, यदि ऐसा माना जाए तो पुद्गल परमाणु को उस वेदना की प्राप्ति होनी चाहिए। मगर होती नही। क्योकि पुद्गल-परमाणु मूर्तिमान है, फिर भी उसे वेदना की अनुभूति होती ही नही। इसलिए वेदना का कारण मूर्तत्व हो नही सकता। सवाल होता है तो फिर वेदना का असली कारण क्या है? इसे बताते हैं अशुद्ध यानी कर्म के सयोग से मलिन बनी हुई स्वशक्ति से (अशुद्धचेतना के उपयोग से) उत्पन्न हुई वेदना है। तात्पर्य यह है कि जीव को अशुद्ध चेतना के द्वारा किये गए सुखदु खादि का अनुभव होता है।

अक्षद्वारा यथा ज्ञानं स्वय परिणमत्ययम्।
तथेष्टानिष्टविषयस्पर्शद्वारेण वेदनाम् ॥४३॥

जैसे यह आत्मा इन्द्रियो द्वारा स्वय ही ज्ञानरूप मे परिणमन करती है, (परिणत होती है), वैसे ही ईष्ट और अनिष्ट विषय के स्पर्शद्वारा वेदनारूप मे परिणत होती है, वेदना का अनुभव वेदन करती है।

जैसे यह आत्मा श्रोत्रादि इन्द्रियो के आश्रय से क्षायोपशमिकादि ज्ञान को स्वय शुद्ध स्वभाव के रूप मे परिणमन करती है, ज्ञानी आत्मा स्वय ज्ञान के परिणाम वाला हो जाता है, इसी प्रकार ईष्ट और

विषय के स्पर्श द्वारा (यानी अपने अनुकूल और प्रतिकूल विषय की प्राप्ति के अनुसार) सुखदुःखादि की अनुभूतिरूप वेदना को स्वयं परिणमन करती है।

विपाककालं प्राप्याऽसौ वेदनापरिणामभाक्।
मूर्त्तं निमित्तमात्रं नो घटे दण्डवदन्वयि ।४४॥

यह आत्मा विपाककाल को पा कर वेदना के परिणाम का भागी होता है। इसलिए मूर्तत्व (साकारता) ही उसका कोई कारण नही है। परन्तु वह घड़े के लिए डंडे की तरह सहचारी अन्वयी है।

यह जीव विपाक के काल (संचित कर्म की स्थिति के परिपाक) को पा कर सुखदुःखादि वेदना के परिणाम वाला होता है। इस कारण साकारता ही वेदना का समग्र कारण नही है, अपितु वह अन्वयी है अर्थात् साकारता अनेक हेतुओ मे सहचारी कारण है। किसकी तरह ? यही बताते है घट को बनाने में जैसे चाक, आदि अनेक कारणों हेतुओ मे से डडा भी सहचारी कारण है।

ज्ञानाख्या चेतना बोधः कर्माख्या द्विष्टरक्तता।
जन्तोः कर्मफलाख्या सा, वेदना व्यपदिश्यते ॥४५॥

आत्मा का बोध ज्ञान नाम की चेतना कहलाती है, और उसका द्वेषित्व और रागित्व कर्म नाम की चेतना कहलाती है और उसी के कर्मफल को कर्मफल नाम की चेतना कहते हैं, वही वेदना के नाम से पुकारी जाती है।

जीव का बोध अर्थात् विषयादि वस्तु के स्वरूप का ज्ञान, ज्ञान नाम की चेतना चिद्रूपपरिणति कहलाती है। तथा द्वेषित्व यानी अप्रीति का स्वभाव, तथा रागित्व यानी रंजन (आसक्ति) का स्वभाव शुभाशुभ कर्म (अदृष्ट) के उदयरूप स्वभाव वाला कहलाता है। तथा जो वेदना (शुभाशुभ के अनुभव) का स्वभाव है, वहा कर्मफल नाम की चेतना यानी क्रिया से उत्पन्न हुए सत्-असत् फल के स्वभाव वाली वेदना कहलाती है।

नात्मा तस्मादमूर्तत्वं चैतन्यं नातिवर्तते ।
अतो देहेन नैकत्वं तस्य मूर्तेन कर्हिचित् ॥४६॥

इस कारण आत्मा अमूर्तत्व और चेतनत्व का उल्लंघन नहीं करता। यही कारण है कि मूर्त शरीर के साथ आत्मा का एकत्व कभी नही होता।

पहले कहे अनुसार आत्मा अरूपित्व और चेतनत्व का कभी उल्लघन नही करता। अर्थात् अपने निराकारत्व और चैतन्यस्वरूप को कभी छोड़ता नही, जड़ देहस्वरूप भी नही बनता। इसलिए आत्मा साकार (मूर्त) देह से भिन्न होने के कारण उसकी शरीर के साथ कभी एकता (अभिन्नता) नही हो सकती।

सन्निकृष्टान्मनो-वाणी-कर्मादेरपि पुद्गलात् ।
विप्रकृष्टाद्धनादेश्च भाव्यैवं भिन्नताऽऽत्मन. ॥४७॥

इस प्रकार मन, वाणी, कर्म आदि समीपवर्ती पुद्गलो से तथा धन आदि दूरवर्ती पुद्गलो से भी आत्मा की भिन्नता समझनी चाहिए।

पूर्वोक्त कथनानुसार मन यानी मन के उपादानभूत अथवा मनरूप मे परिणत पुद्गल, वाणी यानी वाणी के योग्य अथवा वाणी के रूप में परिणत पुद्गल, तथा कर्म यानी उच्छ्वास, नि.श्वास वगैरह क्रिया वाला शरीर अथवा शरीररूप मे परिणत पुद्गल इत्यादि (तैजस, कार्माण आदि) सन्निकृष्ट जीवप्रदेश के समीप रहने वाले पुद्गल-समूह से तथा धन इत्यादि (धन, घर, शयन, आसन वगैरह) अत्यन्त दूर अर्थात् भिन्नरूप मे रहने वाले पुद्गलो से जीव (आत्मा) की भिन्नता समझनी चाहिए।

पुद्गलानां गुणो मूर्तिरात्मा ज्ञानगुण पुन ।
पुद्गलेभ्यस्ततो भिन्नमात्मद्रव्यं जगुर्जिना: ॥४८॥

पुद्गलो का गुण मुर्तिमत्त्व है, और आत्मा का गुण ज्ञान है, इसलिए जिनेन्द्रो ने आत्मद्रव्य को पुद्गलों से भिन्न कहा है।

पुद्गलपरमाणुओ का गुण अर्थात् उत्पन्न होने योग्य धर्म मूर्तिमत्ता आकृतिमत्ता-रूपित्व है, जब कि आत्मा (जीव) ज्ञान गुण वाला है, वही उसका उत्पन्न करने योग्य=प्राप्त करने लायक धर्म है; किन्तु आकार आदि उसका धर्म नहीं है। इस कारण इन दोनो मे परस्पर धर्म के भेद से ये दोनो भिन्न हैं। अत जिनेश्वरो ने पुद्गल (परमाणुओ) से तथा उनके द्विप्रदेशी वगैरह स्कन्धों से जीवद्रव्य को भिन्न कहा है। क्योंकि गुण के भेद से गुणी भी भिन्न समझा जाता है। वस्तुत गुणानुरूप ही गुणी होता है।

धर्मस्य गतिहेतुत्वं गुणो ज्ञानं तथाऽऽत्मनः।
धर्मास्तिकायतद्भिन्नमात्मद्रव्यं जगुर्जिना ॥४९॥

धर्मास्तिकाय का गुण गति मे कारण (हेतुत्व) बनता है और आत्मा का गुण ज्ञान है। इसी कारण जिनेश्वरो ने जीवद्रव्य को धर्मास्तिकाय से भिन्न कहा है।

धर्म का यानी धर्मास्तिकायरूप द्रव्य का, गति (जीव और पुद्गल के विवक्षित स्थान से दूसरे स्थान की प्राप्ति) के लिए गमन मे हेतु अर्थात् मछलियो को जल की तरह सहायता की अपेक्षा से कारण होना, गुण है। तथा आत्मा का ज्ञानरूप गुण है। इसीलिए तीर्थंकरो ने जीवद्रव्य को धर्मास्तिकाय से भिन्न कहा है।

अधर्मे स्थितिहेतुत्वं गुणो ज्ञानगुणोऽसुमान्।
ततोऽधर्मास्तिकायान्यमात्मद्रव्यं जगुर्जिना ॥५०॥

अधर्मास्तिकाय का गुण स्थिति मे कारणरूप है, जबकि जीवद्रव्य का गुण ज्ञान है। इसलिए तीर्थंकरो ने जीवद्रव्य को अधर्मास्तिकाय से भिन्न कहा है।

अधर्म अर्थात् अधर्मास्तिकायरूप द्रव्य का स्थित=निश्चलता मे परिणत जीवो एव पुद्गलो की स्थिति मे हेतु अर्थात् मनुष्यो के लिए पृथ्वी की तरह सहकार=सहायता की अपेक्षा से कारणत्व गुण यानी सम्पाद्य धर्म है। और ज्ञान जिसका गुण है, वह प्राणी अर्थात् आत्मा

है। इसी कारण तीर्थकरो ने आत्मद्रव्य को अधर्मास्तिकाय से भिन्न विलक्षण धर्म वाला कहा है।

अवगाहो गुणो व्योम्नो, ज्ञानं खल्वात्मनो गुण.।
व्योमास्तिकायात्तद्भिन्नमात्मद्रव्यं जगुर्जिनाः ॥५१॥

आकाश का गुण का अवकाश देना है; जबकि आत्मा का गुण ज्ञान है। इसलिए तीर्थंकरों ने आत्मद्रव्य को आकाशास्तिकाय से भिन्न कहा है।

आकाश का गुण=उत्पन्न होने लायक धर्म अवगाह=गमन और स्थिति के परिणाम में परिणत जीवो या पुद्गलों में से उसके अन्दर प्रवेश करने वाले को अवकाश दे देना और स्थिति मे रहे हुए को आधार का स्थान देना भी तद्रूप अवकाशगुण है, जबकि जीवद्रव्य को गुण-धर्म ज्ञान है। इसी कारण तीर्थकरो ने कहा कि आकाशास्तिकाय से जीवद्रव्य=चेतनपदार्थ भिन्न है।

आत्मा ज्ञानगुण' सिद्ध., समयो वर्तनागुण.।
तद्भिन्नं समयद्रव्यादात्मद्रव्यं जगुर्जिनाः ॥५२॥

आत्मा ज्ञानरूप गुणवाला है, यह निर्विवाद सिद्ध है, जब कि समय (काल) वर्तनागुण वाला है। इसलिए सर्वज्ञो ने आत्मद्रव्य को काल-द्रव्य से भिन्न कहा है।

जीव का ज्ञानरूप गुण त्रिकालसिद्ध निश्चित है। तथा कालद्रव्य वर्तनागुण वाला है, यानी नये को पुराना करना, पुराने को नया करना अथवा पहले और पीछे, इस प्रकार काल प्रवर्तनारूप गुण वाला है। इस कारण यानी इस प्रकार व्यावृत्तिलक्षण होने से अर्हन्तो के जीवद्रव्य को कालद्रव्य से भिन्न द्रव्य कहा है।

आत्मनस्तदजीवेभ्यो विभिन्नत्वं व्यवस्थितम्।
व्यक्तिभेदनयादेशादजीवत्वमपीष्यते ॥५३॥

इस कारण आत्मद्रव्य की अजीवद्रव्यो से भिन्नता सिद्ध हो जाती है। तथा व्यक्तिभेद करने वाले नय के आदेश से आत्मा का अजीवत्व भी इष्ट हो, ऐसा ही चाहते है।

पूर्वोक्त कारणो से अजीव अर्थात् धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आकाशास्तिकाय, काल एवं पुद्गलास्तिकाय से जीव की भिन्नता पृथक्ता सिद्ध हो जाती है। यहाँ जीव (आत्मा) के अनेक लक्षण होते हुए भी एक ज्ञानरूप लक्षण का आश्रय ले कर भिन्नता बताई है, जो कि उस (जीव) मे सदासर्वदा सभी अवस्थाओ मे अन्वय द्वारा ज्ञानरूप लक्षण अव्यभिचारी होने से उसको मुख्य रख कर कहा है। इस प्रकार निश्चयनय से यह सिद्ध किया गया है कि आत्मा मे जो जीवत्व है, वह कभी अजीवत्व नही होता। अब आत्मा के विषय में एक दूसरे पहलू से प्रतिपादन करते हैं आत्मा कथञ्चित् अजीव भी कहा जा सकता है। व्यक्ति द्वारा यानी विशिष्ट, विशिष्टतर और विशिष्टतम भिन्न गुण-रूप विशेषण को ले कर व्यक्तिभेद मानने वाले व्यवहारनय के आदेश से यानी वस्तु को प्रमाणरूप करने के पक्ष से अर्थात् सामान्य प्रकार से अजीवत्व भी यानी जीवसम्बन्धी प्रवृत्ति और व्युत्पत्ति के भेद का आश्रय करने से जीव मे अचेतनता भी मानते है, अकेला जीवत्व ही नही मानते।

अजीवा जन्मिन' शुद्धभावप्राणव्यपेक्षया।
सिद्धाश्च निर्मलज्ञाना द्रव्यप्राणव्यपेक्षया ॥५४॥

शुद्ध भावप्राण की अपेक्षा से ससारी जीव अजीव है और निर्मल ज्ञानवान् सिद्धजीव द्रव्यप्राण की अपेक्षा से अजीवरूप है।

शुद्ध यानी केवल आत्मस्वरूप मे रहे हुए अथवा समस्त उपाधि का त्याग करने से निर्दोष, निरावरण ज्ञानादिगुण भावप्राणो की अपेक्षा से समस्त ससारी जीव अजीवरूप हैं। और सिद्धजीव (मुक्ति में पहुँचे हुए निरजन, निराकार निर्मल केवलज्ञान-केवलदर्शनयुक्त आत्मा) द्रव्यप्राण की अपेक्षा यानी आयुष्य, इन्द्रिय आदि द्रव्यप्राणो के अभाव की अपेक्षा से अजीव कहलाते हैं।

इन्द्रियाणि बलं श्वासोच्छ्वासो ह्यायुस्तथाऽपरम् ।
द्रव्यप्राणाश्चतुर्भेदा पर्याया पुद्गलाश्रिता ॥५५॥

इन्द्रियाँ, बल, श्वासोच्छ्वास तथा आयुष्य ये चार प्रकार के द्रव्यप्राण हैं, जिनके पर्याय पुद्गलाश्रित हैं।

श्रोत्रादि पाच इन्द्रियाँ, मनोवल, वचनवल और कायवल ये तीन वल, श्वासोच्छ्वास और आयुष्य, इस तरह चार प्रकार के द्रव्यप्राण है। ये सव पर्याय हैं, जो पुद्गलाश्रित रहते हैं। उनका परिणाम है उत्पाद-व्ययरूप। इसलिए प्राणों से अव्ययधर्म वाला आत्मा (जीव) जीता नही है।

भिन्नास्ते ह्यात्मनोऽत्यन्तं तदेतैर्नास्ति जीवनम् ।
ज्ञान-वीर्य-सदाश्वास-नित्यस्थितिविकारिभिः ॥५६॥

आत्मा से ये द्रव्यप्राण सर्वथा भिन्न हैं। इस कारण ज्ञान, वीर्य, सदा श्वास और नित्य स्थिति से विकृत रूप वाले उन द्रव्यप्राणों (के आधार) से आत्मा का जीवन (जीना) नही होता।

चूंकि उपर्युक्त चार द्रव्यप्राण आत्मा से सर्वथा भिन्न (पृथक् सत्ता वाले) है, इस कारण इससे पूर्वकथित आत्मा से भिन्न द्रव्यप्राणों से जीव (आत्मा) का जीवन नही टिकता, क्योकि समस्त पदार्थों को प्रकाशित करने वाला केवलज्ञान, अनन्तशक्तिरूप वीर्य, सदा श्वास यानी नित्यस्थिति (सदा शाश्वत जीवन) इन चारो से विपरीत स्वभाव वाले द्रव्यप्राणों (अर्थात् आत्मा को ज्ञानशक्ति का विकाररूप द्रव्य प्राण है—इन्द्रिय, आत्मा के वीर्य का विकाररूप द्रव्यप्राण है—त्रिविध वल, आत्मा के सतत भावश्वासोच्छ्वासरूप आनन्दमयत्व जीवनशक्ति का विकाररूप द्रव्यप्राण श्वासोच्छ्वास है और आत्मा की नित्य स्थिति के विकाररूप द्रव्यप्राण मर्यादित आयुष्य है) से आत्मा (जीव) का शाश्वत सनातन जीवित्व नही होता। क्योकि आत्मा तो निर्विकारी है, जबकि द्रव्यप्राण विकारस्वरूप हैं, अत. इनमे आत्मा नही हो सकता। आत्मा इनसे सर्वथा भिन्न (पृथक् सत्ता वाला) द्रव्य है। जो

आत्मा से भिन्न हो, उससे आत्मा का जीवन नही चल या टिक सकता।

एतत्प्रकृतिभूताभि. शाश्वतीभिस्तु शक्तिभि'।
जीवत्यात्मा सदेत्येषा शुद्धद्रव्यनयस्थिति. ॥५७॥

इन पूर्वोक्त ज्ञान-वीर्य आदि प्रकृतिरूप शाश्वती शक्तियो के बल पर आत्मा निरन्तर जीता है, यह शुद्ध द्रव्य (द्रव्यार्थिक) नय की स्थिति (व्यवस्था) है।

इन पूर्वोक्त ज्ञान, वीर्य, सदा श्वास और नित्यस्थिति की प्रकृतिरूप =आत्मा की स्वभावरूप शाश्वती=अविनाशी स्वभाव वाली शक्तियो से यानी अपने आत्मिक धर्म की वृत्ति या अपने आप के व्यक्तित्व के दम पर जीव (आत्मा) निरन्तर जीता है; किन्तु विकाररूप द्रव्य-प्राणो के बल पर नही जीता। इस प्रकार पूर्वोक्त शुद्ध यानी उत्पाद-व्यय के दोष से रहित द्रव्य (द्रव्यार्थिक) नय की स्थिति (स्वरूपाव-स्थान) है।

जीवो जीवति न प्राणैर्विना तैरेव जीवति।
इदं चित्र चरित्रं के हन्त पर्यनुयुञ्जताम् ॥५८॥

जिन प्राणो के विना जीव जीता नही है, उन्ही प्राणो के विना जीव जीता है, इस आश्चर्यजनक चरित्र को कौन जान सकते है ?

आत्मा जिन प्राणो (आयुष्य आदि द्रव्यप्राणो) के बिना जीवित नही रहता—मनुष्यादि शरीर को धारण किये रह नही सकता, उन्ही आयुष्य आदि प्राणो के विना जीवित रहता है। मतलब यह है कि उप-र्युक्त दोनो जीवत्व और सिद्धत्व अवस्था (पर्याय) मे क्रमशः दोनो प्रकार से जीता है। इस प्रकार जीव की जीवनलीला का विचित्र रहस्य कौन पण्डित जान सकते है ?, कोई भी नही। तात्पर्य यह है कि ससारी जीव द्रव्य-प्राणो के विना जी नही सकते, जबकि सिद्ध जीव उन्ही द्रव्यप्राणो के विना जी सकते हैं। यही जीव का आश्चर्यकारक चरित्र है।

इस प्रकार जीव का अजीव से भेदनिरूपण निश्चयदृष्टि से पूर्ण हुआ।

नाऽऽत्मा पुण्यं, न वा पापमेते यत्पुद्गलात्मके।
आद्यबालशरीरस्योपादानत्वेन कल्पिते ॥५९॥

आत्मा पुण्य नहीं है या पाप भी नहीं है, क्योंकि (ये) पाप-पुण्य पुद्गलात्मक है—पुद्गलरूप है और प्रथम बालशरीर के उपादानकारण के रूप में कल्पित है।

जीव पुण्यरूप=शुभ प्रकृतिरूप कर्म नही है,अथवा पाप=अशुभप्रकृति-रूप कर्म भी नही है, क्योंकि वह पुण्य और पाप पुद्गलरूप यानी पुद्गल से जनित, पुद्गलस्वभावरूप हैं, जबकि आत्मा तो चैतन्यस्वभावरूप है। तथा वे पुण्य और पाप जीव को भवान्तरप्राप्ति- माता के शरीर में सर्वप्रथम शरीर धारण करने के (प्रथम) समय मे प्रारम्भ हुए बालशरीर के उपादानरूप से यानी शरीरादि नामकर्म के फलस्वरूप कार्माण शरीर से बालक के शुभाशुभ शरीर की उत्पत्ति (रचना) के उपादान-के रूप में अंगीकार किये हुए हैं।

पुण्यं कर्म शुभं प्रोक्तमशुभं पापमुच्यते।
तत्कथं तु शुभं जन्तून् यत्पातयति जन्मनि? ॥६०॥

शुभकर्म को पुण्य कहा जाता है और अशुभकर्म को पाप कहा है। इन दोनो मे पुण्य को शुभ क्यो कहा जाता है?, क्योकि वह तो प्राणियो को जन्म के गर्त में डालता है, अनेक जन्म कराता है।

शुभ=सुखप्रदाता उच्चगोत्र वगैरह कर्मो=कर्मप्रकतियो को जिनेश्वरो ने पुण्य कहा है और अशुभ यानी नीचगोत्र वगैरह दु:ख दायक कर्मों को पापतत्व कहा है। निश्चयवादी इस बात को स्वीकार नही करता, वह प्रश्न उठाता है कि पुण्य को शुभकर्म कैसे कहा जा सकता है? क्योकि पुण्य शरीर का उपादानकारण होने से जीवों को जन्मरूप महाकष्ट के समुद्र मे डालता है! तात्पर्य यह है कि जन्मरूप

कारण की अपेक्षा से पुण्य को शुभत्व प्राप्त नही होता, अत. सासारिक सुखादि की अपेक्षा से पुण्य को शुभ कहा जा सकता है।

न ह्यायसस्य बन्धस्य तपनीयमयस्य च।
पारतन्त्र्याविशेषेण फलभेदोऽस्ति कश्चन ॥६१॥

बेडी लोहे की हो या सोने की परतन्त्रता दोनो में एकसरीखी होती है ; इस कारण उनमे किसी प्रकार का फलभेद नही होता।

पापकर्म लोहे की बेडी के समान है और पुण्यकर्म सोने की बेडी के समान है। पापकर्म के उदय से चोर आदि के पैरो मे लोहे की बेडियाँ डाली जाती है, सिपाहियो की पराधीनता भी होती है, जबकि पुण्यकर्म के उदय से रानी-महारानी के हाथो मे सोने के आभूषण-रूप बेडियाँ डाली जाती हैं, उन्हे राजा के अधीन रहना पडता है ; उनको भी चारो ओर से सिपाही घेरे रहते है, पराधीनता के कारण वे कही आजादी से जा-आ नही सकती। इस प्रकार दोनो मे परतन्त्रता प्राय. एक सरीखी होने के कारण फलभेद मे अन्तर (न्यूनाधिकता) नही है। दोनो का बन्धन समान ही है। एक में पापकर्म का बन्धन है, दूसरे मे पुण्यकर्म का है।

फलाभ्यां सुखदु:खाभ्यां न भेद: पुण्यपापयो:।
दु खान्न भिद्यते हन्त ! यत' पुण्यफल सुखम् ॥६२॥

सुख और दु.खरूप फल को ले कर पुण्य और पाप मे कोई भेद नही है, क्योकि पुण्य का फल, जो सुख है, वह दु ख से खास भिन्न नही है।

पाप का फल दु ख है और पुण्य का फल सुख। इसलिए बाह्य दृष्टि वाले लोगो की दृष्टि मे इन दोनों मे अन्तर दिखता है, मगर तत्त्वदृष्टि पुरुषो की दृष्टि मे इन दोनो में कोई अन्तर नहीं है, क्योकि पुण्य का फल, जिसे सुख कहा जाता है, वह भी दुःख का कारणरूप है। वह दु'ख से अलग नही है। इसे ही आगे स्पष्ट करते है

सर्वपुण्यफलं दुःखं कर्मोदयकृतत्वतः।
तत्र दुःखप्रतीकारे विमूढानां सुखत्वधीः ॥६३॥

समस्त पुण्यों का फल दुःखरूप है, क्योंकि यह सब कर्मों के उदय से होता है। मूढ़ लोगों को इनमे दुःख के प्रतीकार में सुख होने की बुद्धि होती है।

समग्र पुण्य का यानी अशेष सुकृतपुंज का फल (कार्य) दुःख रूप (कष्टरूप) ही होता है। क्योंकि कर्मों के उदय से (प्रत्येक कर्म की स्थिति परिपक्व होने से) उसके फलाभिमुख होने पर ही सुख होता है, इसलिए वह सुकृत है, परन्तु वह कर्म जन्म-मरणादि का कारण-भूत होने से दुःखरूप ही है। इस सम्बन्ध में आचारांग एवं पंचसूत्री मे भी कहा है 'दुक्खरूवे दुक्खफले दुक्खाणु-बंधित्ति' अर्थात्- यह संसार दुःखरूप है, दुःखफलरूप है तथा दुःख के अनुबन्ध वाला है। जैसे शुभकर्म के फल के रूप में सुन्दर भोजन मिल जाता है, वह रोग की निवारण करने के लिए औषध की तरह क्षुधादि-दुःखप्रतीकारस्वरूप ही है। किन्तु आत्मस्वरूप को नही जानने वाले मूढ़पुरुष इसमें सुख की कल्पना करते हैं।

परिणामाच्च तापाच्च संस्काराच्च बुधैर्मतम्।
गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखं पुण्यभवं सुखम् ॥६४॥

पुण्य से उत्पन्न हुए सुख को पण्डित लोगों परिणाम की दृष्टि से, ताप की दृष्टि से, संस्कार की दृष्टि से तथा गुणवृत्ति का विरोध होने के कारण दुःखरूप माना है।

पुण्य से उत्पन्न हुआ सुख चार कारणो से दुःखरूप है--(१) परिणाम से यानी कर्म सम्बन्धी फल की परिपक्व दशा के कारण, (२) कार्य करने की व्याकुलता से उत्पन्न हुए संताप (ताप) के कारण, (३) संस्कार के कारण अर्थात् स्नान, भोजन, शयन, अलंकार आदि सब वस्तुएँ प्रयत्नाधीन (पराधीन) होने के कारण, और (४) गुणवृत्ति ज्ञानादि गुणो अथवा सात्विक-राजस-तामस इन तीनो गुणो मे विरोध आने के

कारण, परमार्थदृष्टि से विचार करने पर प्राज्ञपुरुष पुण्यजनित सुख को दु खरूप ही मानते है।

देहपुष्टेर्नरामर्त्यनायकानामपि स्फुटम् ।
महाजपोषणस्येव परिणामोऽतिदारुण ॥६५॥

— मनुष्यो और देवो के नेताओ के भी शरीर के पुष्ट (हट्टेकट्टे) होने का परिणाम भी बड़े बकरे को पोषण करके मोटा ताजा बनाने के समान अत्यन्त भयकर आता है।

पुण्य के प्रभाव से मनुष्यो के नायक नरेन्द्र, देवो के नायक इन्द्र आदि विषयभोगों के साधनो व ऋद्धि आदि से शरीर का हृष्टपुष्ट होना उसी तरह भयकर परिणाम है, जैसे कसाई के यहाँ बकरे को मोटा ताजा करने के लिए हरा घास, जो आदि खिलाया जाता है, किन्तु शरीर को हृष्टपुष्ट बनाने की उसकी वह क्रिया मौत का वारट है, अर्थात् शरीरपुष्टि से होने वाला वह सुख अन्त मे भयकर कालरूप बनता है, वैसे ही नरनायको, देवनायको आदि के शरीर की पुष्टि या ऋद्धि आदि वैभव से होने वाला सुख भी अन्त मे दारुण दुर्गतिकारक, भयकर दु खदायी बनता है। इसलिए ऐसे पुण्यफल से आत्मा का क्या भला हो सकता है, जिसके पीछे भयकर परिणाम छिपा हो ? कुछ भी नही।

जलूका. सुखमानिन्य पिबन्त्यो रुधिरं यथा ।
भुञ्जाना विषयान् यान्ति दशामन्तेऽतिदारुणाम् ॥६६॥

जैसे जोक खून चूस कर अत्यन्त सुख मानती है, वैसे हो विषयभोगो को भोगने वाले उनमे सुख मानते है, लेकिन दोनो अन्त मे अत्यन्त भयकर दशा को प्राप्त करते है।

शरीर मे से गदा खून बाहर निकालने के लिए उस जगह जौक बिठाई (लगाई) जाती है, वह जौक खराब खून पी कर अत्यन्त आनन्द मानती है, परन्तु बाद मे उसके शरीर को निचोड कर खून बाहर निकाल देते है, तब उसे अत्यन्त दु ख होता है। अर्थात् खून पीने का

सुख भी जीव के लिए अन्त में अत्यन्त दुःखरूप हो जाता है, वैसे ही नरेन्द्र, देवेन्द्र आदि विषयो के भोगी भी विषयोपभोग के समय उसे सुखकारक मानते है, लेकिन परिणाम में नरकादि के अत्यन्त दुःख एवं भयकर अवस्था को प्राप्त करते हैं। इहलोक मे भी अनेक रोगो के शिकार हो जाते है। इसलिए पुण्य का फल ऊपर से सुखरूप प्रतीत होने पर भी परिणाम में उससे कई गुना भयकर दुःख-रूप है।

तीव्राग्निसंगसंशुष्यत् पयसामयसामिव ।
यत्रौत्सुक्यात् सदाक्षाणां तप्तता तत्र किं सुखम् ? ॥६७॥

तीव्र अग्नि के सग से लोहे का पानी सूख जाता है, और वह सतप्त हो जाता है, वैसे ही विषयसुखो मे सदा उत्सुक होने के कारण इन्द्रियाँ भी सतप्त रहती है। जहाँ ताप है, वहाँ सुख कहाँ से हो सकता है ?

अत्यन्त तेज आँच वाली आग के सयोग से तपे हुए लोहे पर जितना पानी डाला जाता है, सब सूख जाता है, लोहा तपा का तपा रहता है, इसी तरह विषयाभिलाषा (काम) की तीव्र आग भड़कने पर इन्द्रियो को जरा सा रतिजल का सयोग मिलने पर भी वह शीघ्र ही सूख जाता है, फिर वह पहले की तरह विषयताप का अनुभव करता है। अत विषयताप मे भी आखिर सुख कहाँ है ? कुछ भी नही, बल्कि क्षणिक विषयसुख के अभाव मे दुःखताप की उष्णता बढती जाती है।

प्राक्पश्चाच्चारतिस्पर्शात् पुटपाकमुपेयुषि ।
इन्द्रियाणां गणे तापव्याप एव न निर्वृतिः ॥६८॥

पहले और बाद मे भी सताप (अरति) के स्पर्श होने से पुट-पाक को प्राप्त इन्द्रियो के गण मे सताप ही फैलता है, सुख नही होता।

पहले यानी विषयसुखानुभव के पहले उसकी प्राप्ति के लिए अरति (बेचैनी) का प्रचण्ड ताप होता है, और उसके बाद फिर प्राप्ति की

तीव्र इच्छा का भयकर सताप होता है, वह सताप ऐसा है, जैसे मिट्टी के दो वर्तनो के बीच में औषध रख कर उनका मुह भलीभाति वन्द करके चारो तरफ आग लगाई जाती है, वैसे मानो इन्द्रियाँ पुटपाकत्व को प्राप्त हो गई हो, ऐसा होने पर भी दुःख से उत्पन्न हुए ताप के बढ जाने से इन्द्रियगण का सताप (दुःख) फलता ही जाता है, परन्तु निवृत्ति यानी सुख-शान्ति होती ही नही। अथवा प्रथम यानी भोग के समय देहादि के खेद से और बाद मे विपाक के समय गत्यन्तर मे होने वाले दुःख से आत्मा को होने वाले सताप से इन्द्रियाँ ऐसी संतप्त हो जाती है, जैसे पुटपाक से औषध सतप्त हो जाती है।

सदा यत्र स्थितो द्वेषोल्लेखः स्वप्रतिपन्थिषु।
सुखानुभवकालेऽपि तत्र तापहत मन. ॥६६॥

जहाँ सुख का अनुभव करने के समय मे भी निरन्तर अपने शत्रुओं के प्रति द्वेष का चिन्तन (उल्लेख) रहता है, वहाँ उसका मन घर मे शान्त बैठा रहने पर भी ताप से आहत (व्यथित) रहता है।

पुण्यफल के सयोग से घर में शान्त बैठे हुए भी निरन्तर अपने मन मे शत्रुओ के प्रति द्वेष का चिन्तनरूप सताप रहता है। ऐसे पुण्यफल के भोग मे सुख के अनुभवकाल मे भी (सुखभोग के समय भी) उसका चित्त सताप (सक्लेश) से आहत (व्याप्त) रहता है, ऐसी स्थिति मे सुख कहाँ से हो!

स्कन्धात्स्कन्धान्तरारोपे भारस्येव न तत्वत ।
अक्षाह्लादेऽपि दुःखस्य सस्कारो विनिवर्तते ॥७०॥

एक स्कन्ध से दूसरे स्कन्ध पर भार रख देने से जैसे भार कम नही होता, वैसे ही इन्द्रियो के आनन्द से भी वस्तुत दुःख के सस्कार नष्ट (निवृत्त) नही होते।

अनाज वगैरह की वजनदार गठडी एक कन्धे के थक जाने पर जब दूसरे कन्धे पर रखी जाती है, तब ऐसा मालूम होता है कि भार कम हो गया, किन्तु वास्तव मे उस वजन का सस्कार कम नही होता, इसी

प्रकार इन्द्रियसुखों को भोगते समय भी विवेकहीन व्यक्ति मानता है कि इहलोक-परलोक-सम्बन्धी दु ख नष्ट हो गया है, लेकिन दु ख के संस्कार नष्ट नहीं होते। नये कर्मरूपी दु खों के संस्कारबीज और बोदिये जाते हैं। अत. इन्द्रियसुखानुभव में भी दु ख के संस्कार जमे रहते हैं; जो दोनों लोकों में दु ख देते रहते हैं।

सुखं दुःखं च मोहश्च तिस्रोऽपि गुणवृत्तय. ।
विरुद्धा अपि वर्तन्ते दु.खजात्यनतिक्रमात् ॥७१॥

सुख, दु ख और मोह इन तीनों गुणों की वृत्तियां विरुद्ध हैं, तो भी ये तीनों दु.ख की जाति का अतिक्रमण (उल्लंघन) नहीं करतीं, इसलिए दु.खरूप ही हैं।

सुख और दु ख ये दोनों क्रमशः पुण्य और पाप के फल हैं। तथा मोह=मोहनीय कर्म के उदय से उत्पन्न हुआ जीव का परिणाम अथवा अज्ञान, इन तीनों गुणों की वृत्तियाँ यानी सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण की प्रवृत्तियाँ क्रमश. विरुद्ध है। अर्थात् एक का प्राधान्य होने पर दूसरे दो की गौणता, इस प्रकार परस्पर विपरीत स्वभाव वाले सुख, दु'ख तथा मोहरूप में प्रवर्तमान हैं। फिर भी ये दु,ख की जाति (धर्म) का उल्लघंन नहीं करती, इसलिए ये तीनों दु.खरूप ही हैं।

क्रुद्धनागफणाभोगोपमो भोगोद्भवोऽखिल: ।
विलासश्चित्ररूपोऽपि भयहेतुर्विवेकिनाम् ॥७२॥

सारे ही भोगों से उत्पन्न हुआ सुख का अनुभव क्रोध मे उफनते हुए सर्प के फन के फैलाव सरीखा है, ऐसा विचित्र प्रकार का विलास भी विवेकीजनों के लिऐ भय का कारण है।

समग्र शब्दादि विषयभोगों से उत्पन्न सुखानुभव क्रुद्ध सर्प के फन के फैलाव की तरह भयकर है, विचित्र प्रकार का विलास (श्रृंगार, आडम्बर, क्रीड़ा, विनोद आदि-आमोद-प्रमोद) के प्रकार भी विवेकीजनों (वस्तुस्वरूप का विश्लेषण करने वाले पुरुषों) के लिए भय के कारण

हैं—यानी दुर्गतिगमनरूप भय को पैदा करने वाले है, क्योंकि वे उसके कारण है।

इत्थमेकत्वमापन्नं फलत पुण्यपापयो. ।
मन्यते यो न मूढात्मा नान्तस्तस्य भवोदधे. ॥७३॥

इस प्रकार पुण्य-पाप का फल की दृष्टि से एकत्व प्राप्त (सिद्ध) हुआ। मगर जो मूढात्मा इस बात को नही मानता, उसके भवसागर का अन्त नही आता।

पूर्वोक्त कथनानुसार फल (अपने द्वारा साध्य कार्य के सम्पादन करने) से पुण्य और पाप की एकता (अभिन्नता) प्राप्त (सिद्ध) होती है, जिसे वस्तुस्वरूप से अनभिज्ञ मूढात्मा (मोहकृत व्यामोह से विक्षिप्तचित्त) इन दोनो का एकत्व नही मानता (स्वीकारता)। उस मूढ के ससाररूपी सागर का अन्त नही आता, क्योकि वह बोध-रहित है।

दु.खैकरूपयोर्भिन्नस्तेनात्मा पुण्यपापयो ।
शुद्धनिश्चयत सत्यचिदानन्दमय' सदा ॥७४॥

इस पूर्वोक्त कारण से दु ख के ही एकस्वरूप वाले पुण्य और पाप दोनो से आत्मा पृथक् है। क्योकि शुद्ध निश्चयनय की दृष्टि से आत्मा सदा सत्-चित्-आनन्दमय है।

पूर्वकथनानुसार यह सिद्ध हुआ कि पुण्य और पाप दोनो दु खरूप एक स्वभाव वाले है, इसलिए आत्मा पुण्य और पाप से भिन्न है। आत्मा उत्पाद और व्यय से रहित शुद्धवस्तु के ग्राही निश्चय (निश्चयस्वरूप का निश्चय करने वाले) नय से सत्-चित्-आनन्द-मय अर्थात् परब्रह्मस्वरूप है।

तत्तुरीयदशाव्यग्यरूपमावरणक्षयात् ।
भात्युष्णोद्योतशीलस्य घननाशाद् रवेरिव ॥७५॥

जैसे बादलो के मिट (फट) जाने से उष्णप्रकाश के स्वभाववाले सूर्य का रूप दिखाई देने लगता है, वैसे ही आवरण का क्षय होने से तुर्यदशा मे जाना जा सके ऐसा आत्मा का रूप दिखाई देता है।

पूर्वोक्त आत्मस्वरूप तुर्यदशा का यानी स्वप्न, जाग्रत, सुषुप्ति इन तीन दशाओं को लाघ कर केवलज्ञान के प्रकाश वाली चौथी उजागरदशा, जो विशेष प्रकार के वोध से हुई अवस्था है। वह जान सकने योग्य चैतन्यस्वभाव आवरण के क्षय से (ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीयरूप) कर्म के आच्छादन के विनष्ट होने से जाना जा सकता है। सूर्य के प्रकाश की तरह सर्वपदार्थसमूह को प्रकाशित करने के स्वभाव वाले आत्मा का स्वरूप प्रतिभासित होता है। किसकी तरह ? यह वताते है—मेघसमूह के नष्ट हो जाने से जैसे सूर्य का निर्मल विम्व सुशोभित होता है।

> जायन्ते जाग्रतोऽक्षैर्य्यश्चित्राधिसुखवृत्तय. ।
> सामान्यं तु चिदानन्दरूप सर्वदशान्वयि ॥७६॥

जागृत आत्मा को इन्द्रियो से अनेक प्रकार की आधि (मानसिक व्यथा) वाली सुख की वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं, जवकि सामान्यतया तो सर्वदशा मे सम्वन्ध वाला चिदानन्दरूप प्रतिभासित होता है।

जागृत यानी द्रव्यनिद्रा से रहित आत्मा को श्रोत्रादि इन्द्रियो से अनेक प्रकार की आधियो (मानसिक पीडाओ) वाली, तथा आशा से उत्पन्न किये हुए आर्तस्वभाव वाली सुख की वृत्तियाँ उत्पन्न होती है। और सामान्यदृष्टि से सवमे रही हुई केवल चेतना तो सर्वदशा (अवस्था) मे सम्वन्ध वाला चिदानन्दरूप सत्यज्ञानमय ब्रह्मस्वरूप उसी से रहा हुआ है। जीव की सत्तामात्र का ही आश्रय ले कर सव दशाओ मे समान रूप से रही हुई है।

> स्फुलिंगैर्नयथा वह्निर्दीप्यते ताप्यतेऽथवा ।
> नानुभूतिपराभूती, तथैताभि किलात्मन. ॥७७॥

जैसे अग्नि तिनके से नही जलती, अथवा उस हालत मे वह गर्मी भी नही देती, वैसे ही इन सुख की वृत्तियो से आत्मा का अनुभव अथवा पराभव नही होता।

जैसे आग की चिनगारियो से अग्नि प्रज्वलित नही होती, वैसे ही घी आदि को भी गर्म करके पिघाल नही सकती, उसी प्रकार पूर्वोक्त

आधिवाली सुख की वृत्तियो से जीव को सुखानुभव या पराभव नही होता, क्योकि वह सामान्य है और आत्मा तो चैतन्यजाति के रूप मे अवस्थित रहता है ।

साक्षिण सुखरूपस्य सुषुप्तौ निरहंकृतम् ।
यथा भान तथा शुद्धविवेके तदतिस्फुटम् ॥७८॥

सुषुप्ति—अवस्था में सुखरूप, और साक्षीभूत आत्मा का जैसे अहंकार रहित भान होता है, वैसे ही शुद्ध विवेक में वह भान अत्यन्त स्पष्ट होता है ।

सुषुप्ति यानी अविरतिदशा अथवा सुखनिद्रा की अवस्था । उस सुषुप्ति मे सुखरूप यानी भोगादि आनन्द वाला और साक्षी (ज्ञाता मात्र ज्ञान रूप क्रिया वाले) जीव का जैसे अहकार रहित (यानी मै सुखी हूँ, इस प्रकार के ज्ञान से रहित) भान होता है । जैसे निद्राधीन हो कर सोये हुए मनुष्य को 'मैं हूँ, इस प्रकार के अहकार से रहित सुख का भान अतिस्पष्ट (निर्मल) होता है । इसलिए "मैं पुद्गलानन्दी—पुद्गल मे आनन्द मानने वाला नही हूँ, ऐसा भान होता है ।

तच्चिदानन्दभावस्य भोक्तात्मा शुद्धनिश्चयात् ।
अशुद्धनिश्चयात्कर्मकृतयो सुखदु खयो ॥७९॥

इस कारण शुद्धनिश्चयनय के मत से आत्मा चिदानन्द स्वभाव का भोक्ता है, और अशुद्ध निश्चयनय के मत से कर्म के द्वारा किये हुए सुख-दु ख का भोक्ता है ।

पहले कहे हुए कारणो से शुद्ध निश्चयनय का अवलम्बन लेने से आत्मा चिदानन्दस्वभाव का यानी पूर्ण ब्रह्मस्वरूप ज्ञानविलास का भोक्ता है और अशुद्ध निश्चयनय के पक्ष का आश्रय लेने से कर्म द्वारा किये हुए सुखदु खरूप पुद्गलधर्म का भोक्ता है ।

कर्मणोऽपि च भोगस्य स्रगादेर्व्यवहारत ।
नैगमादिव्यवस्थाऽपि भावनीयाऽनया दिशा ॥८०॥

= जीव कर्म का भी भोक्ता है तथा व्यवहारनय से माला वगैरह भोग का भी भोक्ता है। इसी दिशा के अनुसार नैगम आदि नयों की भी व्यवस्था जान लेनी चाहिए।

जीव सातावेदनीय, असातावेदनीय वगैरह कर्म का भी अशुद्ध निश्चयनय से भोक्ता है। तथा व्यवहारनय के मत का अवलम्बन लेने से पुष्पमाला, वस्त्र, आभूषण, स्त्री वगैरह भोगों का भी भोक्ता है। नैगम यानी अनेक-विकल्पावलम्बी नय तथा आदि शब्द से संग्रह, व्यवहार वगैरह नयों की व्यवस्था-मर्यादा भी इसी दिशा से ही अर्थात् विशेषग्राहीनय के मतादि की रचना द्वारा जान लेना। यानी पण्डितों को विचारपूर्वक उसकी योजना कर लेनी चाहिए।

कर्ताऽपि शुद्धभावानामात्मा शुद्धनयाद्विभुः ।
प्रतीत्य वृत्तिं यच्छुद्धक्षणानामेष मन्यते ॥८१॥

शुद्धनय से विभु (व्यापक) आत्मा शुद्धभावों का कर्ता भी होता क्योंकि यह शुद्धनय शुद्ध क्षणों की वृत्ति की अपेक्षा से (आश्रय लेकर) जीव को कर्ता के रूप मे मानता है।

शुद्धनय से अर्थात् निर्मलपर्याय वाले पर्यायों को ग्रहण करने वाले शब्दादिनय यानी वस्तुस्वरूप को कहने के प्रकार का आश्रय लेने से विभु (समर्थ) अपने उपादानकारण के सहित आत्मा शुद्ध भावों (अपने ज्ञानादि गुणों) का कर्ता भी होता है। यहाँ 'अपि' शब्द निश्चय अर्थ में है। इसलिए ऐसा अर्थ निकलता है कि अपने गुणों के कर्तृत्व की अपेक्षा से ही शुद्ध निश्चयनय से आत्मा कर्ता होता है, परन्तु पुद्गल धर्म के कर्तृत्व की अपेक्षा से कर्ता नहीं होता। ऐसा कर्ता किस कारण से कहलाता है? इस पर कहते हैं यह शुद्ध निश्चयनय शुद्ध क्षणों की यानी अपने स्वभाव को आश्रय करने वाले काल के विभागों-समयों की वृत्ति का अर्थात् आत्मा की प्रवृत्ति का आश्रय करके कर्तृत्व मानता है। तात्पर्य यह है कि जिस समय आत्मा शुभ वीर्य की वृत्तिवाला होता है, उसी समय वह शुद्ध भावों का कर्ता होता है, ऐसा वह मानता (स्वीकारता) है।

अनुपप्लवसाम्राज्ये विसभागपरिक्षये।
आत्मा शुद्धस्वभावानां जननाय प्रवर्तते ॥८२॥

अनुपद्रव का साम्राज्य होने पर और विसभाग दशा का नाश होने पर भी आत्मा शुद्धस्वभाव को उत्पन्न करने की प्रवृत्ति करता है।

अनुपप्लव=उपद्रवरहित अर्थात् रागादि के व्याघातरहित निरुप-द्रव का साम्राज्य होने पर यानी सारी सामग्री होने पर तथा विस भाग यानी विसदृश आत्मा के लिए प्रतिकूल जो भाग=काम विकारादि विभाव के प्रकार हैं, उनका खासतौर से (विशेष प्रकार से) नाश हो जाने पर आत्मा (जीव) शुद्ध स्वभावों को अपने निर्मल ज्ञानादि स्वरूप को उत्पन्न करने हेतु प्रवृत्त होता है; परन्तु गुणों की हानि के लिए प्रवृत्त नहीं होता, इस प्रकार यह नय मानता है।

चित्तमेव हि संसारो रागक्लेशादिवासितम्।
तदेव तैर्विनिर्मुक्तं भवान्त इति कथ्यते ॥८३॥

रागादि क्लेशों से वासित चित्त ही संसार है और उन रागादि क्लेशों से मुक्त हुआ चित्त ही भवान्त कहलाता है।

जीव को किसी भी स्थल पर राग यानी आसक्ति, द्वेष, मोह आदि के परिणामों को उत्पन्न करने वाला विशेष प्रकार का मोहनीय कर्म, उस रागद्वेषादि क्लेश से वासित भावित हुआ चित्त (ज्ञान या अन्तःकरण ही संसार है। यहाँ 'एव' शब्द निश्चय-अर्थपरक होने से अर्थ होता है 'चित्तरूप ही' या 'चित्त ही' संसार है, और वह चित्त ही रागादि (पूर्वोक्त) क्लेशों से मुक्त होने से यानी सर्वांश में (सर्वथा) रहित होने से भवान्त=मोक्ष कहा जाता है।

यश्च चित्तक्षण क्लिष्टो नासावात्मा विरोधत.।
अनन्यविकृतं रूपमित्यन्वर्थं ह्यद पदम् ॥८४॥

जो चित्त का क्षण (समय) क्लिष्ट है, वह विरोध के कारण आत्मा नहीं है, क्योंकि उस आत्मा का रूप निर्विकार है, इसलिए यह पद सार्थक है।

जो क्लिष्ट यानी रागादि दोष से मलिन चित्त का क्षण है, यानी अज्ञान की उत्पत्ति का समय है, वह क्लिष्ट चित्त का क्षण आत्मा (जीव) नहीं है, क्योंकि आत्मा के स्वरूप (लक्षण) में इससे विरोध आता है। जिसमे दूसरे किसी ने विकार नहीं किया, किसी प्रकार का विकार उत्पन्न नही हुआ, ऐसा आत्मा का रूप, (आत्मा का सौन्दर्य या स्वभाव) स्पष्टत प्रतीत होने वाला आत्मस्वरूप है। इस कारण क्लिष्टचित्त को आत्मा कहने में विरोध आता है। इस प्रकार वह आत्मपद सार्थक है।

श्रुतवानुपयोगश्चेत्येतन्मिथ्या यथा वच ।
तथाऽऽत्मा शुद्धरूपश्चेत्येव शब्दनया जगु ॥८५॥

जैसे 'उपयोग श्रुतवान् ही होता है" यह वचन मिथ्या है, वैसे ही आत्मा 'आत्मा शुद्धरूप ही होता है', यह वचन भी मिथ्या है, यो शब्द-नय कहते हैं।

जैसे उपयोग यानी सामान्य और विशेष ज्ञान का व्यापार, श्रुत-वान् अर्थात् शब्द के उल्लेख वाला ही है, यो अगर कोई कहता है तो यह कथन (वाक्य) मिथ्या है, क्योंकि समस्त उपयोग श्रुतवान् नही होता। इसी प्रकार सभी आत्माएँ (जीव) शुद्ध (कर्ममलरहित) हैं, यह वचन भी मिथ्या है; क्योकि सभी जीव सर्वदा शुद्ध नही होते, इस प्रकार शब्दनय कहते है। शब्द यानी अर्थ को कहने वाली ध्वनि (शब्द) से बोध होने लायक भाव जिसमे मुख्य है, ऐसे शब्द, समभि-रूढ एव एवम्भूत नाम के नय जीवसमूह मे भेद को मानने वाले होने से ऐसा कहते है। इसलिए सर्वजीवो को शुद्ध कहना इन नयो के विचार से मिथ्या है, वैसे ही सर्वजीवो को अशुद्ध कहना भी मिथ्या है।

शुद्धपर्यायरूपस्तदात्मा शुद्ध स्वभावकृत ।
प्रथमाप्रथमत्वादिभेदोऽप्येव हि तात्त्विक ॥८६॥

जब आत्मा शुद्ध पर्यायरूप हो कर अपने (आत्मा के) स्वभाव को प्रगट करने वाला होता है, तभी आत्मा शुद्ध है। इस प्रकार प्रधानता और अप्रधानता वगैरह भेद भी पारमार्थिक (वास्तविक) होते हैं।

आत्मा (जीव) उस समय शुद्ध (कर्मरहित) होता है, जिस समय पवित्रपर्यायरूप यानी ज्ञानादि विशेषप्रकार के धर्मरूप होता हुआ अपने भाव का कर्ता अर्थात् अपने स्वरूप को प्रगट करने मे प्रवृत्त होता है। इस प्रकार प्रथमता (प्रधानता) और अप्रथमता (अप्रधानता) गौणता) वगैरह यानी परमात्मत्व और अपरमात्मत्व वगैरह भेद भी मुख्य और गौण के आश्रित होने से वास्तविक होते है।

ये तु दिग्पटदेशीया शुद्धद्रव्यतयाऽऽत्मन ।
शुद्धस्वभावकर्तृत्व जगुस्तेऽपूर्वबुद्धय ॥८७॥

जो दिगम्बरकल्प शुद्धद्रव्यत्व को ले कर आत्मा को शुद्ध स्वभाव का कर्ता कहते हैं, उन्हे अपूर्वबुद्धि वाले समझने चाहिए।

जो जैनसिद्धान्त के अभ्यासी होते हुए भी दिगम्बरसदृश लोग शुद्ध द्रव्यत्व को ले कर यानी शुद्ध द्रव्यास्तिकनय की अपेक्षा से आत्मा को शुद्धस्वभाव का कर्ता अपने स्वरूप का उत्पादक कहते हैं, अर्थात् सग्रहनय की दृष्टि से आत्मा को शुद्ध स्वभाव का कर्ता कहते है, उन्हे अबुद्धिमान् समझना चाहिए, क्योकि संग्रहनय ही शुद्ध द्रव्यास्तिक है। वह (नय) तो समस्त पदार्थो को उत्पत्ति-विनाशरहित एक मात्र स्थिररूप (ध्रुव) मानता है, उस नय के मतानुसार तो आत्मा अपने स्वभाव का कर्ता भी कैसे हो सकता है? किसी भी प्रकार से नही हो सकता।

द्रव्यास्तिकस्य प्रकृति शुद्धा सग्रहगोचरा।
येनोक्ता सम्मतौ श्रीमत्सिद्धसेन-दिवाकरै ॥८८॥

यही कारण है कि श्रीमान् सिद्धसेन दिवाकर ने सन्मतितर्क मे द्रव्यास्तिक की शुद्ध प्रकृति सग्रहनय के विषय वाली कही है।

इसी कारण सन्मतितर्क नामक ग्रन्थ मे आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने द्रव्यास्तिक (द्रव्य वस्तु ही सत्य है, ऐसे) नय की शुद्ध (द्रव्यमात्र-ग्राही) प्रकृति (बोध करने की शक्ति) सग्रहनय के विषय वाली बताई है। अर्थात् समस्त वस्तुओ की शक्तियो को जो द्रव्यमात्र मे ग्रहण

(स्थापन) करे, वह संग्रहनय कहलाता है, वह संग्रहनय द्रव्यार्थिक शुद्ध प्रकृति का स्थान (विषय) रूप है, ऐसा कहा है। अत शुद्ध द्रव्यास्तिक-नय पर्याय के विषय वाला नही है। अत आत्मा को अपने स्वरूप का कर्तृत्व भी इस नय के मत से युक्त नही है।

तन्मते च कर्तृत्व भावानां सर्वदाऽन्वयात्।
कूटस्थ केवल तिष्ठत्यात्मा साक्षित्वमाश्रित ॥८९॥

उक्त नय के मत से पदार्थों का सदा अन्वय (सम्बन्ध) होने से आत्मा का कर्तृत्व नही है, अपितु साक्षित्व का आश्रय करने वाला केवल कूटस्थ आत्मा रहा हुआ है।

उसके (सग्रहनय द्वारा प्रमाणित) पक्ष मे जीवादि पदार्थों का सदा अन्वय होने से अर्थात् सर्वकाल मे सर्वस्व धर्म से युक्त होने से तथा साथ ही रहना होने से कर्तृत्व=उत्पन्न नही हुओ को उत्पन्नकर्तृत्व, नहीं होता। परन्तु आत्मा की उत्पत्ति और विनाश के विषय में केवल (असाधारण) शुद्ध वृत्ति से साक्षित्व ज्ञातृत्व का आश्रय लेने वाला, कूटस्थ (अनेक गुण-पर्याय वाला), अनुत्पन्न, अविनश्वर, और एक स्थिर स्वभाव वाला ही सदा सर्वदा रहा हुआ है।

कर्तुं व्याप्रियते नायमुदासीन इव स्थित:।
आकाशमिव पकेन लिप्यते, न च कर्मणा ॥९०॥

उदासीन की तरह स्थित यह आत्मा कुछ भी करने के लिए व्यापार (प्रवृत्ति) नही करता। जैसे कीचड से आकाश लिप्त नही होता, वैसे ही आत्मा कर्म से लिप्त नही होता।

यही आत्मा उदासीनवत् (मध्यस्थ की तरह) रहता हुआ भी करने (नही उत्पन्न हुए को उत्पन्न करने) की कुछ भी प्रवृत्ति नही करता। तथा जैसे कीचड से आकाश लेपायमान नही होता, वैसे ही कर्मबन्ध से आत्मा भी लिप्त स्पृष्ट नही होता। इसे सग्रहनय की दृष्टि से समझना चाहिए।

स्वरूपं तु न कर्तव्यं, ज्ञातव्यं केवल स्वत ।
दीपेन दीप्यते ज्योतिर्न त्वपूर्वं विधीयते ॥९१॥

आत्मा को अपना स्वरूप करना (कर्तव्य) नही होता, केवल स्वत जानना (ज्ञातव्य) होता है। दीपक से ज्योति (प्रकाश) प्रदीप्त होती है, परन्तु उससे कोई अपूर्व ज्योति प्रगट नही की जा सकती।

अपना रूप स्वभाव विद्यमान होने से आत्मा को उसे उत्पन्न करना (कर्तव्य) नहीं होता। क्योकि वह तो उसका अपना ही स्वरूप है, जो पहले से ही मौजूद है। इसलिए उसे (स्वरूप को) तो स्वय जानना (ज्ञातव्य) होता है। इसे दृष्टान्त द्वारा समझाते है जिस प्रकार ज्योति यानी प्रकाश दीपक द्वारा प्रदीप्त होती है, किन्तु वह कोई नई (अपूर्व) ज्योति नही की जाती, उसी प्रकार अपना स्वरूप भी जाना जाता है, मगर उत्पन्न नही किया जाता, क्योंकि सॉख्य की तरह स्वय कारण के विना ही सिद्ध हुआ है।

अन्यथा प्रागनात्मा स्याद् स्वरूपाननुवृत्तित'।
न च हेतुसहस्रेणाऽप्यात्मता स्यादनात्मन ॥८२॥

अन्यथा (पूर्वोक्त मत को न मानने पर) आत्मा अपने रूप की उत्पत्ति से पहले स्वरूप के असम्बन्ध के कारण अनात्मा (जड) हो जायगा। और उस अनात्मा का आत्मत्व हजारो हेतुओ से भी सिद्ध (प्राप्त) नही होगा।

अन्यथा (यदि उसका स्वरूप भी निर्मित=कृत हो तो) स्वरूप के निर्माण से पहले जीव (आत्मा) अनात्मा (अचेतन-जड) हो जायगा, क्योकि अपने रूप=स्वभाव की अनुवृत्ति (सम्बन्ध) न होने से=अस्वरूपत्व हो जाने से आत्मा अवस्तुरूप हो जाएगा। फिर हजारो हेतुओ से भी अजीव का जीवत्व सिद्ध (प्राप्त) नही होगा। अर्थात् इस जगत् मे जीवराशि को छोड कर दूसरे सव पदार्थ अचेतनस्वभाव वाले है, वे चैतन्य को उत्पन्न करने मे असमर्थ हैं, क्योकि उनका वैसा स्वभाव न होने से आत्मत्व की उत्पत्ति होनी असम्भव है। इस आपत्ति के निवारण के लिए आत्मा को शुद्ध निश्चयनय से स्वरूप का कर्त्ता नही मानना चाहिए।

नये तेनेह नो कर्ता किन्त्वात्मा शुद्धभावकृद् ।
उपचारात्तु लोकेषु तत्कर्तृत्वमपीष्यताम् ॥८३॥

इसलिए इस नय से आत्मा कर्ता नही है, परन्तु शुद्ध भाव का धारण करने वाला है और लोकोपचार से उसका (आत्मा का) कर्तृत्व भी भले ही माने, कोई हर्ज नही।

इस प्रकार पूर्वोक्त करणो से इस सग्रहनय (वचनमार्ग) के अनुसार आत्मा कर्तारूप नही है अर्थात् वह शुद्धस्वरूप का उत्पन्नकर्ता नही है। किन्तु शुद्धभाव को धारण करने वाला यानी इस नय के मत से शुद्धस्वभाव वाला ही आत्मा है। हाँ, उपचार से तो उसे इस नय के शक्य अर्थ को छोड कर व्यवहारनय से लोक मे आत्मा को उसके भावो का कर्ता अर्थात् नये गुणो का कर्ता माने या कहे तो हमे उसमें कोई आपत्ति नही है।

इस प्रकार यहाँ शुद्ध निश्चयनय से दिगम्बरमान्य आत्मा के शुद्ध स्वभाव के कर्तृत्व का खण्डन किया, अब पर्यायास्तिक नय से अलग-अलग रूप से आत्मा मे कर्तृत्व का प्रतिपादन करते है

उत्पत्तिमात्मधर्माणां विशेषग्राहिणो जगु ।
अव्यक्तिरावृतेस्तेषां नाभावादिति का प्रमा ? ॥८४॥

विशेषग्राही नय आत्मा के धर्मो की उत्पत्ति का कथन करते हैं। उन्हे आवरण के कारण अव्यक्ति (अनभिव्यक्ति) नही है, आत्मधर्म के अभाव से अव्यक्ति नही है, इसमे क्या प्रमाण है ?

विशेषग्राही वस्तु के ध्रौव्यरूप समस्वभाव को छोड़ कर उत्पत्ति और विनाशरूप विषमधर्म को ग्रहण करने=कहने वाले अशुद्ध नैगम, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवभूत नामक विशेष को ग्रहण करने वाले नय आत्मा के धर्मो की यानी चेतन के विशिष्ट दर्शन-ज्ञान वगैरह भावो की उत्पत्ति का कथन करते हैं। वे कहते हैं—आत्मधर्मो पर आवरण आ जाने से उनकी (जीवधर्मो की) अव्यक्ति (तिरोभाव) रहती है। अर्थात् आत्मधर्म के अभाव से यानी आत्मा के विषय मे उसकी अविद्यमानता से अव्यक्ति नही होती। सामान्यग्राही कहते है इसमे

क्या प्रमाण है ? अर्थात् इस जगह यथार्थज्ञान का कौन-सा विचार है ? कोई भी नही है, इस कारण अभाव की वजह से वह है। भावार्थ यह है कि अनभिव्यक्त (अप्रकट) का अनुत्पत्व है। विशेषग्राही नय केवल पर्याय को वस्तुतत्व मानता है। इसलिए अनुत्पन्न (नही उत्पन्न हुए) घट की तरह अभाव के कारण ही व्यक्ति का अभाव है, यो सिद्ध करता है-मानता है। सामान्यग्राही कहता है--पहले जीव के ससारपर्याय होने से वे गुण दिखते नही थे। अब जीव की सिद्ध पर्याय मे गुण उत्पन्न हुए हैं, इसलिए दिखते है। अत. पहले वे गुण थे, परन्तु आवरण के कारण नही दिखते थे।

सत्व च परसन्ताने नोपयुक्तं कथञ्चन।
सन्तानिनामनित्यत्वात् सन्तानोऽपि च न ध्रुव ॥८५॥

परसन्तान में सत्व किसी भी तरह उपयुक्त नही होते और सन्तानी की अनित्यता होने से सन्तान भी ध्रुव (नित्य) नही होते। जैसे पिता से पुत्ररूप सन्तान की उत्पत्ति मे पूर्व-पूर्व पितारूप कारण से उत्तरोत्तर पुत्ररूप कार्य की उत्पत्ति होती है, इससे पहले पितृत्व का अभाव और पुत्रत्व का अभाव होता जाता है। इस प्रकार परम्परा से चलते-चलते जैसे पितृत्व का नाश होता है, वैसे पुत्रत्व का भी नाश होता जाता है। इसी तरह परसन्तान मे यानी अपने से अतिरिक्त अनात्मा (जड पुद्गल) से विविधकाल मे आत्मा के उत्पत्ति और विनाश की परम्परा चलती है। अर्थात् उत्पत्तिरूप प्रवाह मे पूर्व का अभाव (विनाश) और उत्तर की उत्पत्ति (भाव) होती है। इसके अनुसार पहले पूर्व का, फिर उत्तर का नाश सिद्ध होगा और आत्मा आशाश्वत एव नाशवान हो जाएगा परन्तु सत्व (द्रव्य) का परसन्तानरूप कारण किसी भी प्रकार युक्तियुक्त नही होता। जैसे तन्तु की परम्परा में मिट्टीरूप द्रव्य का सम्बन्ध नही है, उसी तरह सन्तानी का यानी जीवादि द्रव्य की अनित्यता होने से (निरन्तर एकाकारता न रहने से, सतान भी (कार्य मे प्रवर्तमान धर्म भी) ध्रुव (नित्य नही है। इससे यह सिद्ध हुआ कि देव, मनुष्य तिर्यञ्च और नारक-अवस्था मे जो उत्पत्ति हुई, उसका मतलब हुआ— आत्मा उत्पन्न हुआ; क्योकि धर्म और धर्मी का अभेद सम्बन्ध है।

इस दृष्टि से सन्तान की अनित्यता के कारण सन्तानी भी अनित्य सिद्ध हुआ।

व्योमाऽप्युत्पत्तिमत्तत्तदवगाहनात्मना तत ।
नित्यता नात्मधर्माणां तद्दृष्टान्तबलादपि ।।६६।।

इस कारण आकाश भी उस-उस पदार्थ की अवगाहना के स्वरूप से उत्पत्तिमान है, इस दृष्टान्त के सामर्थ्य से भी आत्मधर्मो की नित्यता नही है।

धर्म और धर्मी का अभेद सम्बन्ध है, इसलिए उस कालक्रम से जीव और पुद्गल अवगाहन करने मे अर्थात् उस जीवादि के अन्दर प्रवेश करने मे आधाररूप जिसका (उत्पत्ति का) स्वरूप है, उस अवगाहना को ले कर आकाश भी उत्पत्तिस्वरूप है। उस आकाश के उत्पत्तिरूप दृष्टान्त के सामर्थ्य से जीव के धर्मो की भी नित्यता (उत्पत्ति न होना) नही है तात्पर्य यह है कि घटाकाश, पटाकाश इत्यादि आकाश के दृष्टान्त के सामर्थ्यानुसार आत्मधर्मो की भी नित्यता नही रहती। अर्थात् आकाश के समान आत्मा भी नरात्मा, देवात्मा इत्यादि रूप मे उत्पत्तिमान समझना चाहिए।

ऋजुसूत्रनयस्तत्र कर्तृतां तस्य मन्यते ।
स्वयं परिणमत्यात्मा य य भाव यदा यदा ।६७।।

आत्मा स्वय जब-जब यानी जिस-जिस भाव मे परिणत होता है। वहाँ-वहाँ ऋजुसूत्रनय आत्मा को उस-उस भाव का कर्ता मानता है।

आत्मा (जीव) जब-जब जिस-जिस समय मे जिस-जिस नये-नये भाव (सन्मति वगैरह) मे स्वयमेव (पर की प्रेरणा के बिना ही) परिणत होता है, अर्थात् उस-उस भाव को स्वभावत. उत्पन्न करता है। उसी-उसी समय मे ऋजुसूत्रनय (सरलभूत-भविष्य की वक्रता को छोड़ कर) वर्तमान वस्तु का ही सत्तारूप मे कथन करने वाला नय=वाणीविलास उस जीव को उस भाव का कर्ता अपूर्व वस्तु का कर्ता मानता= स्वीकारता है। अर्थात् वे भाव उत्पत्तिमान होते है।

कर्तृत्वं परभावानामसौ नाभ्युपगच्छति ।
क्रियाद्वयं हि नैकस्य द्रव्यस्याभिमतं जिनैः ॥८८॥

यह नय परभावो के कर्तृत्व का स्वीकार नही करता, क्योकि एक द्रव्य मे दो क्रियाएँ जिनेश्वरो द्वारा अभिमत नही है।

यह ऋजुसूत्रनय परभावो का आत्मा से अतिरिक्त पौद्गलिक वस्तु से उत्पन्न हुए पर्यायो का कर्तृत्व स्वीकार नही करता, अपितु आत्मा मे अपने ही भावो का कर्तृत्व स्वीकार करता है। क्योकि यदि आत्मा अपने और पर के भावो की क्रिया वाला मान जाए तो एक ही आत्मा मे जीवक्रिया और अजीवक्रिया इन दोनो क्रियाओ के होने की आपत्ति आती है। और तीर्थंकरो ने एक द्रव्य मे दो क्रियाओ का स्वीकार नही किया है। यदि एक ही आत्मा मे दोनो प्रकार की क्रिया होती हो तो, जीव और अजीव दोनो का अभेद हो जाय। जीव अजीव की क्रिया का कर्ता हो जाय तथा अजीव भी जीव की क्रिया का कर्ता हो जाय। और ऐसा होने लगे तो जीव अजीवरूप और अजीव जीवरूप हो जाय।

भूतिर्या हि क्रिया सैव स्यादेकद्रव्यसन्ततौ ।
न साजात्यं विना च स्यात् परद्रव्यगुणेषु सा ॥८९॥

एक द्रव्य की सन्तति मे जो क्रिया होनी होती है, वही क्रिया होती है, वह क्रिया परद्रव्य के गुणो मे समानजातीयता के बिना नही होती।

चूँकि एक द्रव्य की सन्तति मे, यानी जीवादि एक पदार्थ की काल-क्रम से सलग्न हुई उत्पाद और विनाशरूप गुण के पर्यायो की श्रेणी मे वर्तमान काल के पर्यायरूप से किसी का उत्पन्न होना ही, अर्थात् दूसरे पर्यायों के रूप मे उत्पन्न होना ही क्रिया है, (प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप व्यापार है) और कुछ नही है। और उससे पूर्व कही हुई क्रिया पर-द्रव्य के गुणो मे अर्थात् अपने से अतिरिक्त द्रव्यो (पदार्थों) के पर्यायो में समानजातीयता के बिना नही होती। मतलब यह है कि समान

धर्म के सिवाय परधर्मों की स्वधर्म मे तथैव स्वधर्मों की परधर्म मे समानजातीयता नही होती। अत उसके आश्रित क्रिया नही होती।

नन्वेवमन्यभावानां न चेत् कर्ताऽपरो जन ।
तदा हिंसादयादानहरणाद्यव्यवस्थिति ॥१००॥

यदि दूसरा कोई (आत्मा) व्यक्ति अन्य भावो का कर्ता नही होता है, तो फिर हिंसा, दया, दान, और हरण वगैरह की व्यवस्था नही होगी।

प्रश्न होता है, यदि पहले कहे अनुसार अन्य भावो (अपने आत्म-भाव) से अतिरिक्त पुद्‌गलादि भावो के प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप व्यापार का दूसरा मनुष्य कर्ता न हो तो हिंसा, (जीववध), दया=परजीव पर कल्याण) अन्नादि का दान और हरण दूसरो से छीन लेना, चोरी कर लेना, जबरन द्रव्य हरण (चाँदी) वगैरह से स्नान, भोजन आदि की अव्यवस्था-अप्रवृत्ति होगी।

सत्य पराश्रय न स्यात् फल कस्यापि यद्यपि ।
तथापि स्व गत कर्म स्वफल नातिवर्तते ॥१०१॥

"वत्स ! तुम्हारा कहना सत्य है कि पराश्रित फल यद्यपि किसी को भी नही होता, तथापि स्वयं मे स्थित कर्म अपने फल का उल्लघन नही करता।

हे भव्य ! तेरा कथन सत्य है। सत्य प्रतीत होता है कि पर का अवलम्बन करने वाले कर्मफल किसी अत्यन्त निपुण पुरुष को भी नही होते। फिर भी (पूर्वोक्त) फल का अभाव सिद्ध होने पर भी अपने (आत्मा) मे प्राप्त हुए कर्म (ज्ञानक्रियादिरूप जीव के कृत्य) अपने फल साध्य को उल्लघन नही करते, अर्थात् फल देने की मर्यादा का उल्ल-घन नही करते। इस कारण अपने उपयोग की क्रिया से उत्पन्न हुए शुभाशुभ फल आत्मा के आश्रय वाले हो जाते है।

हिनस्ति न परं कोऽपि, निश्चयान्न च रक्षति ।
तदायु कर्मणो नाशे, मृतिर्जीवनमन्यथा ॥१०२॥

निश्चयदृष्टि से तो कोई किसी दूसरे को नही मारता, और न रक्षा ही करता है, परन्तु उसके आयुष्यकर्म का नाश हो पर मृत्यु होती है, अन्यथा वह जीवित रहता है।

निश्चयनय की दृष्टिकोण से अर्थात् परमार्थत (वस्तुत) कोई भी शिकारी वगैरह सूअर वगैरह अन्य किसी जीव को मारता नही है, और न कोई (दयालु सज्जन) किसी की रक्षा कर सकता है, परन्तु उस सूअर आदि जीव के आयुष्यकर्म का यानी पूर्वोपार्जित कर्म का फलनाश (क्षय) होने पर उसकी मृत्यु होती है, अन्यथा (आयुष्यकर्म नष्ट न हुआ हो तो) उसका जीवन (जिंदगी) रहता है, मरण नही होता। तात्पर्य यह है कि मारने और रक्षा करने मे अन्य प्राणी तो निमित्तमात्र ही है।

हिंसादयाविकल्पाभ्यां स्वगताभ्यां तु केवलम् ।
फलं विचित्रमाप्नोति परापेक्षां विना पुमान् ॥१०३॥

केवल अपने मे रही हुई हिंसा और दया के परिणाम से पुरुष (व्यक्ति) अन्य की अपेक्षा के विना ही विचित्र फल प्राप्त कर लेता है।

हिंसक और रक्षक का जहाँ तक सवाल है, वे तो अपने मे रहे हुए (हृदयगत हिंसा और रक्षा (दया) के विचित्र परिणामो के अनुसार किसी दूसरे जीव की अपेक्षा रखे विना ही (यानी दूसरे प्राणी का वध हो या रक्षण हो अथवा दोनो न हो परद्रव्य न हो तो भी) विविध प्रकार के अच्छे-बुरे (क्रिया से साध्य सुख-दु ख आदि) फल अवश्यमेव मिलते हैं।

शरीरी म्रियतां मा वा ध्रुवं हिंसा प्रमादिन ।
दयैव यतमानस्य वधेऽपि प्राणिनां क्वचित् ॥१०४॥

जीव मरे या न मरे, फिर भी प्रमादी जीव को हिंसा अवश्य

लगती है। किन्तु यतनापूर्वक प्रवृत्ति करने वाले को कदाचित् प्राणियों का वध होने पर भी वह दया ही होती है।

निश्चयनय का कथन है कि जीव मरे या न मरे, (प्राणत्याग करे या न करे) मगर जो प्रमादी (यतनारहित) जीव है, जिसमें किसी की रक्षा करने का परिणाम नहीं है, जो किसी जीव को मारने का संकल्प ले कर चला है, उसे हिंसाजनित, पाप अवश्य लगता है, क्योंकि उस समय कषायादि परिणामरूप प्रमाद होने से उसे जीवघात का फल जरूर मिलता है। क्योंकि उसने अशुद्ध संकल्प का त्याग नहीं किया। किन्तु यतना-वान (रक्षा करने की भावना वाले, शुभ परिणाम के लिए प्रयत्नशील किसी धर्मिष्ठ को किसी समय दान, विहार, पूजा आदि प्रवृत्ति करते हुए सावधानी रखने पर भी अजाने में कोई प्राणिवध (जीव का प्राण-वियोग) हो जाय तो भी यतना के उपयोग के कारण शुभसंकल्प होने से (निश्चय में) केवल निर्दोष दया यानी भाव से करुणा ही होती है। उस आत्मा के यतनायुक्त दया के परिणाम होने से उसे दया का ही फल मिलता है। इस प्रकार कर्ता को आत्मा के ज्ञान और क्रिया से उत्पन्न हुआ शुभाशुभ फल प्राप्त होता है। मगर यह शरीर (पुद्गल) की अपेक्षा से नहीं होता। निष्कर्ष यह है कि सर्वत्र दया ही करनी चाहिए।

परस्य युज्यते दानं हरणं वा न कस्यचित् ।
न धर्मसुखयोर्यत्ते कृतनाशादिदोषतः ॥१०५॥

किसी को किसी दूसरे का दान अथवा हरण (ग्रहण) करना उप-युक्त नहीं है, क्योंकि वह दान या हरण (आदान) कृतनाश वगैरह दोष के कारण धर्म और सुख के लिए नहीं होता।

पर का यानी अपने से भिन्न दूसरे किसी (देवदत्तादि) का अथवा दूसरे की अन्नादि वस्तु का दान (अपने स्वत्व का त्याग और पर को स्वत्व की प्राप्ति) अथवा हरण ग्रहण, (पर के स्वकीयत्व का नाश और स्व को स्वकीयत्व की प्राप्ति) ये दोनों किसी (देवदत्तादि) के भी धर्म और सुख के लिए उपयुक्त नहीं हैं। क्योंकि उस दान या ग्रहण में

कृतनाश आदि दोष आता है। अर्थात् सुकृत करके तज्जनित (उससे हुए) धर्म और सुख का दूसरो को देने से नाश हो जाता है। आदि शब्द से अकृत-आगम और अतिप्रसंग वगैरह दोषापत्तियाँ भी सूचित होती है। अर्थात् स्वय किया हुआ धर्म दूसरे को देने से स्वकृतनाश हुआ और दूसरे को न किये हुए (धर्म) की प्राप्ति हुई, अत. अकृतागम दोष हुआ। इस कारण दान और हरण धर्म और सुख के लिए नही हो सकते।

भिन्नाभ्यां भक्तवित्तादिपुद्गलाभ्या च ते कुत ।
स्वत्वाप्तिर्यतो दानं हरणं स्वत्वनाशनम् ॥१०६॥

आत्मा से भिन्न भक्त (भोजन) और धन आदि पुद्गलो से दान और हरण कैसे हो सकता है ? क्योंकि दान स्वकीयत्व की प्राप्तिरूप है और हरण स्वकीयत्व का नाशरूप है।

आत्मा से भिन्न भोजन और धन, वस्त्र आदि पुद्गलो को देने से वे धर्म और सुख-सम्बन्धी दान और हरण कैसे हो सकते है ? परकीय होने से वे कथमपि नही हो सकते। आत्मा मे पुद्गलो का स्वामित्व नही है, और न ही पुद्गलो मे आत्मा का स्वामित्व=स्वत्व है। जब पुद्गल मे आत्मा का स्वत्व नही है, तब पुद्गलो का दान स्वत्व-उत्पाद-रूप (अपने स्वकीयत्व के निषेधपूर्वक दूसरे को स्वकीयत्वप्राप्तिरूप) हुआ, तथा हरण स्वकीयत्व का नाशरूप (अर्थात् दूसरे के स्वकीयत्व का निषेधरूप) है। अत. दान और हरण दोनो स्वकीयत्व के निषेधरूप होने से उनका कर्तृत्व आत्मा के लिए उचित नही है, इस कारण ये दोनो धर्म और सुख के लिए नहीं हो सकते।

कर्मोदयाच्च तद्दान हरणं वा शरीरिणाम् ।
पुरुषाणा प्रयास कस्तत्रोपनमति स्वत ॥१०७॥

और फिर दान और हरण दोनो प्राणियो के कर्मोदय से होते हैं, वे अपने आप ही परिणत होते (उदय में आते) है, इसमे पुरुषो (आत्माओ) को कौन-सा प्रयास करना होता है ?

जीव के शुभाशुभ कर्मों के उदय से ही दूसरे पर अनुग्रहबुद्धि से जीव स्वयं ही अपने शुद्धोपयोग का दान करता है और दूसरे पर उप-घातबुद्धि से स्वत ही अपने शुद्धोपयोग का हरण करता है। इस प्रकार कर्मोदय के स्वभाव से पुरुष के प्रयत्न बिना ही स्वयमेव आत्मस्वभाव में दानरूप या हरणरूप क्रिया के परिणाम आते है। अर्थात् हृदय मे स्थित दान (देना) या हरण (दूसरे का ले लेना) ये दोनो प्राणियो के कर्मो-दय से (स्थिति के परिपाक से) होते है, दोनों प्रकार की इच्छाएँ अपने कर्मोदय के कारण स्वत ही उदित होती हैं, इसमे जीवो का कौन-सा प्रयास है ? इसमें अन्य का प्रयास जरा भी सफल नही होता।

स्वगताभ्यां तु भावाभ्या केवल दानचौर्ययो ।
अनुग्रहोपघातौ स्त परापेक्षा परस्य न ॥१०८॥

केवल आत्मा मे रहे हुए दान और चोरी के भाव (परिणाम विकल्प) से अनुग्रह और उपघात होता है, इसमे अन्य को अन्य की अपेक्षा नही होती।

केवल आत्मा मे रहे हुए भाव से यानी परिणाम या विकल्प से दान और चौर्य निमित्तभूत होने पर अनुग्रह=शुभानुबन्ध और उप-घात अशुभानुबन्ध होता है। इसमे पर (अपने से अतिरिक्त व्यक्ति) को पर की (दूसरे की) आकाक्षा (अपेक्षा) नही रहती। तात्पर्य यह है, कि दान से दूसरे पर अनुग्रह होता है और हरण से दूसरे का उपघात होता है, इस बात को यहाँ कोई अवकाश नही है। दानादि जो क्रियाएँ होती हैं, उन्हे आत्मा नही करता, न ऐसा करने का कोई प्रयोजन ही है। आत्मा के द्वारा किए जाने वाले दया-हिसा आदि के शुभाशुभ परिणाम ही उसे शुभाशुभ फल देते है।

पराश्रितानां भावानां कर्तृत्वाद्यभिमानत. ।
कर्मणा बध्यतेऽज्ञानी, ज्ञानवांस्तु न लिप्यते ॥१०९॥

पर के आश्रित भावो के कर्तृत्व आदि के अभिमान से अज्ञानी

प्राणी कर्म से बद्ध होता है, परन्तु ज्ञानी पुरुष उससे लिप्त नहीं होता। अब यह निश्चय हो गया कि आत्मा पराश्रित (अपने से अतिरिक्त पुद्गलादि के आश्रित रहे हुए) भावों=पर्यायों का=पुद्गलपर्यायजनित कार्यों का कर्ता नहीं है। तथापि भ्रमवश अपने से अतिरिक्त पुद्गलादि आश्रित पर्यायों का यानी उनसे उत्पन्न हुए कार्यों के कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि के अभिमानवश 'मैं करता हूँ,' 'मैं भोगता हूं' इस प्रकार की बुद्धि से तत्त्वबोध रहित अज्ञानी जीव कर्मों से बध जाता है, किन्तु इसके विपरीत ज्ञानी पुरुष इस भ्रम में नहीं आकर आत्मा को केवल स्वभाव का कर्ता मानता है, पुद्गलादि पर्यायजनित कार्यों का अपने को कर्ता-भोक्ता नहीं मानता, इसलिए वह (तत्त्वज्ञ) उस कर्मबन्धन से लिप्त (बद्ध) नहीं होता।

कर्तैवमात्मा नो पुण्यपापयोरपि कर्मणो.।
रागद्वेषाशयानां तु कर्तेष्टानिष्टवस्तुषु ॥११०॥

इस प्रकार आत्मा पुण्य और पापरूप कर्म का भी कर्ता नहीं है, परन्तु इष्ट और अनिष्ट वस्तु के विषय में राग और द्वेष के परिणामों का कर्ता है।

पूर्वोक्त कथनानुसार जीव पुण्य और पाप यानी शुभाशुभरूप कर्म का कर्ता नहीं, अकर्ता है। परन्तु इष्ट (प्रिय) और अनिष्ट (अप्रिय) पदार्थों के प्रति राग और द्वेष के परिणामों का कर्ता है।

रज्यते द्वेष्टि वार्थेषु तत्तत्कार्यविकल्पत ।
आत्मा यदा-तदा कर्म भ्रमादात्मनि युज्यते ॥१११॥

जब आत्मा उस-उस कार्य के विकल्प से पदार्थों पर राग करता है या द्वेष करता है, तब भ्रम से आत्मा कर्म से बंधता है जुड जाता है।

जिस समय आत्मा (जीव) उस-उस कार्य के विकल्प से (उस-उस काल के भेद से किये जाने वाले कार्य के संकल्प से) सचित्त-अचित्त पदार्थों पर राग करता है, अथवा द्वेष करता है, उस समय भ्रम (मोह) से कर्म (ज्ञानावरणीयादि क्रियाजन्य) फल आत्मा से जुड़ (श्लिष्ट हो

चिपक) जाता है, अर्थात् उस कारण से राग-द्वेष से आकर्षित किये गए कर्म के दलिक आत्मप्रदेश में मिल जाते हैं।

स्नेहाभ्यक्ततनोरंगं रेणुनाश्लिष्यते यथा।
रागद्वेषानुविद्धस्य कर्मबन्धस्तथा मत.॥११२॥

जैसे किसी ने शरीर पर तेल वगैरह का मर्दन (मालिश) किया हो, उस पुरुष के अंग पर धूल (रज) चिपक जाती है, वैसे ही राग-द्वेष-युक्त आत्मा में कर्म का बन्ध माना गया है।

जैसे तेल आदि चिकने पदार्थ का शरीर पर मर्दन करने के बाद धूल बहुत जल्दी चिपक जाती है, उसी प्रकार राग-द्वेष के परिणाम से व्याप्त जीव में शीघ्र कर्मबन्धन होना माना गया है।

लोहं स्वक्रिययाऽभ्येति भ्रामकोपलसन्निधौ।
यथाकर्म तथा चित्रं रक्तद्विष्टात्मसन्निधौ॥११३॥

जैसे लोहा अपनी क्रिया से भ्रामक पाषाण (चुम्बक) के पास खिंचा हुआ चला जाता है, वैसे ही रागी और द्वेषी आत्मा के पास विचित्र प्रकार के कर्म खिंचे हुए चले आते हैं।

जैसे लोहा अपनी क्रिया से अपने स्थान से खींचने वाले लोहचुम्बक (अयस्कान्तमणि) पत्थर के पास खिंचा चला आता है, उसी प्रकार राग-द्वेष के परिणाम वाले जीव के पास विचित्र प्रकार के कर्म (कर्म-दलिक) अपने आप खिंचे चले आते हैं।

आत्मा न व्यापृतस्तत्र रागद्वेषाशयं सृजन्।
तन्निमित्तोपनम्रेषु कर्मोपादानकर्मसु॥११४॥

उन कर्मों को ग्रहण करने में आत्मा (अकेला) व्यापार नहीं करता—प्रवृत्त नहीं होता, किन्तु राग और द्वेष के परिणाम को उत्पन्न करता हुआ उसके निमित्त से परिणत होते हुए कर्म को ग्रहण करने वाले रागादि करने में प्रवृत्त होता है।

आत्मा उन कर्मदलिको को ग्रहण करने में अकेला प्रवृत्त नही होता, परन्तु अपने मे राग-द्वेष के परिणामो को उत्पन्न करता रहता है, अर्थात् वह राग-द्वेष के परिणाम के निमित्त से परिणत हुए नवीन कर्मो को ग्रहण करने वाले रागादि उत्पन्न करने मे प्रवृत्त (व्यापारवान) होता है, उससे उसे कर्मबन्ध होता है।

वारि वर्षन् यथाम्भोदो धान्यवर्षो निगद्यते।
भावकर्म सृजन्नात्मा तथा पुद्गलकर्मकृत् ॥११५॥

जैसे पानी वरसाता हुआ वादल लोकव्यवहार मे धान्य (अनाज) वरसाता है, ऐसा कहा जाता है, इसी प्रकार भावकर्मो को उत्पन्न करता हुआ आत्मा पुद्गलकर्मों का कर्ता भी कहलाता है।

जैसे मेघ जल की वर्षा करता है, तव लोग उपचार से कहते है कि धान्य (अनाज) की वर्षा कर रहा है। इसी प्रकार आत्मा भावकर्म को यानी राग-द्वेषादि परिणाम के उपयोग को करता है, फिर भी कहा जाता है कि वह पुद्गलकर्म (द्रव्यकर्म) को उत्पन्न करता है। व्यवहार के ज्ञाता उपचार से ऐसा कहते भी है।

इस प्रकार ऋजुसूत्रनय का दृष्टिकोण वताया, अव नैगम और व्यवहारनय का दृष्टिकोण प्रस्तुत करते है।

नैगम-व्यवहारौ तु ब्रूत कर्मादिकर्तृताम्।
व्यापार फलपर्यन्त परिदृष्टो यदात्मन ॥११६॥

नैगमनय और व्यवहारनय आत्मा को कर्मादि का कर्ता कहते है, क्योकि आत्मा का व्यापार (प्रवृत्ति) फलपर्यन्त देखा गया है।

पहले निश्चयनय की दृष्टि से आत्मा मे कर्मादि के कर्तृत्व का निषेध सिद्ध किया है। अव विशेष-ग्राही, परस्पर तुल्यता रखने वाले नैगम और व्यवहारनय की दृष्टि से प्रतिपादन किया जाता है आत्मा (इन दोनो नयो की दृष्टि से) रागादि के कर्ता के समान अथवा ग्राम, नगर, देह वगैरह के समान ज्ञानावरणीयादि द्रव्यकर्म का भी कर्ता हो सकता है। इनका कहना है--आत्मा जो रागादि करता है, उनका

फल सामान्यतया जल्दी नहीं मिलता। यदि कालान्तर में फल मिलता है तो उसके बीच के काल का कोई व्यापार मानना चाहिए, जो फल-पर्यन्त रहता हो। चूँकि आत्मा का व्यापार फलपर्यन्त क्रिया शुरू करने से लेकर कार्य सिद्ध हो जाय, तब तक नैगमनय और व्यवहारनय ने निश्चितरूप से देखा है। तात्पर्य यह है, कि ये दोनों नय यों मानते हैं, कि जब तक आत्मा मोक्ष नहीं पहुँचता, तब तक व्यापार करता रहता है।

अन्योऽन्यानुगतानां का तदेतदिति वा भिदा।
यावच्चरमपर्याय यथा पानीयदुग्धयोः ॥११७॥

अथवा एक दूसरे में परस्पर मिले हुए नयों में 'वह यह है', इस प्रकार का दूध और पानी के समान अन्तिम पर्याय तक भेद कहाँ से हो सकता है? हर्गिज नहीं हो सकता।

अथवा जीव के (आत्म) प्रदेश (या आत्मा में रागादि पर्याय) और कर्म के दलिक परस्पर जल और दूध की तरह एक-दूसरे के साथ ऐसे मिले हुए हैं, इस प्रकार से एकरूप (ओतप्रोत) हो गए हैं, कि उनका परस्परापेक्ष, अन्योन्यमिश्रित नैगम, संग्रह और व्यवहारनयों का कथन (उनका कर्तृत्व वगैरह 'यह ऐसा ही है' ऐसे निर्णयकर्ता नयों का 'वह कर्म यह है, वह जीव यह है' इस प्रकार या फिर पूर्वोक्त 'यह सब कर्म ने किया है' इत्यादिरूप से भेद की दृष्टि से कर्तृत्व) अन्तिम (सिद्ध के) पर्याय तक समग्ररूप से अभेद-अवस्था वाला है। इसलिए उनमें स्पष्टतया भेद (पृथक्त्व) नहीं किया जा सकता। किस की तरह? दूध और पानी की तरह। जैसे एकत्र (मिश्रित) हुए दूध और पानी की पृथक् अवस्था नहीं होती, वैसे ही जीव और कर्म की तथा मिले हुए नैगम और व्यवहारनय की भी पृथक् अवस्था नहीं होती।

नात्मनो विकृतिं दत्ते, तदेषा नयकल्पना।
शुद्धस्य रजतस्येव शुक्ति-धर्म-प्रकल्पना ॥११८॥

इसलिए जैसे सीप के धर्म की कल्पना शुद्ध चाँदी के विकार को

नही दी जाती, वैसे ही इस नय की कल्पना आत्मा के विकार को नही दी जाती।

पूर्वोक्त हेतु से अर्थात् नयो की कल्पना (नयो की भेदाभेदरूप कल्पना) जीव (आत्मा) के विपर्ययरूप विकार को नही दी जाती। किसकी तरह ? यही कहते है—शुद्ध चाँदी की तरह। जैसे शुद्ध चाँदी के लिए सीप के धर्म की कल्पना विकार नही करती, तथैव पृथक्-पृथक् नयो की अपेक्षा से आत्मा के कर्तृत्व और अकर्तृत्व की कल्पना उसके यथावस्थितरूप का विपर्यास नही करती।

मुषितत्व यथा पान्थगतं पथ्युपचर्यते।
तथा पुद्गलकर्मस्था विक्रियाऽऽत्मनि बालिशैः ॥११९॥

जैसे किसी पथिक को चोर लूट लेता है, तब उपचार से कहा जाता है मार्ग मे लुट गया है। इसी प्रकार मूर्ख लोग पुद्गलकर्म मे होने वाली क्रिया का आत्मा मे उपचार करते है।

राह चलते हुए मुसाफिर को चोर लूटते है, मार्ग नही लूटता, फिर भी उपचार से लोग कहते हैं—'हम मार्ग मे लुट गए', इसी प्रकार कर्म पुद्गलो (द्रव्यकर्मों) मे रही हुई विक्रिया (जीव की विभाव परिणति) का मूर्ख लोग आत्मा मे उपचार करते है। जैसे कि कहा जाता है, यह हिसा करने वाला जीव अशुभकर्मो से बँध गया है, इत्यादि।

कृष्ण शोणोऽपि चोपाधेर्नाशुद्ध स्फटिको यथा।
रक्तो द्विष्टस्तथैवात्मा ससर्गात् पुण्यपापयो ॥१२०॥

जैसे शुद्ध स्फटिकमणि उपाधि के कारण काला या लाल दिखता है, किन्तु वास्तव मे वह अशुद्ध नही है। वैसे ही आत्मा अशुद्ध न होते हुए भी पुण्य-पाप के सयोग से रागी-द्वेषी दिखता है।

जैसे स्फटिक (बिल्लौरी काच) एकदम सफेद व पारदर्शी होता है, लेकिन काले या लाल रग के पुष्प या वस्त्र की उपाधि के कारण वह काला या लाल नजर आता है, मगर वास्तव मे स्फटिक तो शुद्ध सफेद

ही है, इसी प्रकार आत्मा पुण्य-पाप यानी शुभाशुभ द्रव्यकर्म के संयोग से रागी-द्वेषी दिखता है, लेकिन वास्तव में वह रागद्वेषरहित शुद्ध ही है।

सेयं नटकला तावद् यावद् विविधकल्पना।
यद्रूपं कल्पनातीतं तत्तु पश्यत्यकल्पकः ॥१२१॥

जब तक विविध प्रकार की कल्पना है, तब तक यह नटों की कला है। परन्तु जो रूप कल्पनातीत (कल्पना से परे) है, उसे तो कल्पना-रहित (अकल्पक) आत्मा ही देखता है।

अज्ञानता के कारण जब तक मन में नाना प्रकार के रागादि की कल्पना (योजना) उठती है, तब तक पूर्वोक्त यह साक्षात् दृश्यमान नट की कला यानी भवभ्रमण करने के रूप में अपना स्वरूप बदल कर विचित्र प्रकार की चेतन की यह नाट्यकला होती है; किन्तु आत्मा, सर्वसंगरहित और कल्पनातीत है ; निरंजन, निराकार, शुद्धस्वरूप है। उसे कल्पनाओं से अतीत (रहित) ज्ञान-वैराग्ययुक्त शुद्ध (मुक्त) आत्मा ही देख सकता है।

कल्पनामोहितो जन्तु शुक्लं कृष्णं च पश्यति।
तस्यां पुनर्विलीनायामशुक्लाकृष्णमीक्षते ॥१२२॥

कल्पना से मोहित प्राणी शुक्ल (सफेद) और कृष्ण (काले) को देखता है। परन्तु उस कल्पना के लय (नाश) होते ही शुक्ल या कृष्ण को नहीं देखता।

कल्पनाओं से मूढ़ यानी रागादि की योजना से व्याकुल बना हुआ अपने आपको उज्ज्वल और शरीर पर मैल चढ जाने से मलिन देखता है, मगर उन कल्पनाओं के नष्ट होते ही वीतराग सच्चिदानन्द पुरुष अपने आपको अशुक्ल और अकृष्ण यानी वर्ण से रहित शुद्ध रूप में देखता है।

तद्ध्यानं सा स्तुतिर्भक्तिः सैवोक्ता परमात्मनः।
पुण्यपापविहीनस्य यद्रूपस्यानुचिन्तनम् ॥१२३॥

इसलिए पुण्य-पाप से रहित आत्मस्वरूप का चिन्तन करना ही परमात्मा का ध्यान है, वही उसकी स्तुति है, और वही भक्ति बताई है।

परमात्मा का यानी शुद्ध ब्रह्मस्वरूप आत्मा का वही ध्यान (एकाग्र प्रणिधान) समझना, वही स्तुति समझना और उसे ही भक्ति जानना। यानी इन तीनो को कहाँ क्या समझना चाहिए ? इसके उत्तर मे कहते है पुण्य-पाप के सम्बन्ध से रहित स्वरूप का यानी परम निरजनस्वरूप वाले चिदानन्द आत्मस्वरूप का हृदय मे चिन्तन करना ही उपर्युक्त सब कुछ समझना चाहिए।

शरीररूपलावण्यवप्रच्छत्रध्वजादिभि' ।
वर्णितैर्वीतरागस्य वास्तवी नोपवर्णना ॥१२४॥

वीतराग के शरीर, रूप, लावण्य, वप्र, छत्र और ध्वज आदि का वर्णन करने से वास्तविक प्रशसा नही होती।

मैल और पसीने से रहित श्रीवीतराग परमात्मा की शरीर, गाय के दूध के समान उज्ज्वल रुधिर, सुगन्धित माँसयुक्त देह, देवो द्वारा सारी शक्ति लगा कर बनाये हुए अगुष्ठमात्र रूप से अनन्तगुना सुन्दर रूप, अपने शरीर के भामण्डल से सूर्यप्रभा को भी लज्जित कर देने वाला लावण्य, स्वर्णादि से ओतप्रोत हो, ऐसी समचतुरस्र आकृति, मणिमय-स्वर्णमय-रजतमय, इन तीन प्रकार से सुशोभित पुष्पो के प्रकर वाला समवसरण, तारे सहित चन्द्रमण्डल का अनुकरण करने वाले तीन छत्र, हजारो छोटी-छोटी पताकाओ से सुशोभित और हजार योजन ऊँचा दण्ड के भाग वाला इन्द्रध्वज तथा आदि शब्द से देवदुन्दुभि, देवो का आगमन इत्यादि वर्णनो द्वारा प्रभु की प्रशसा करने से उनकी वास्तविक (पारमार्थिक) प्रशसा नही होती।

व्यवहारस्तुति सेय वीतरागात्मवर्तिनाम् ।
ज्ञानादीनां गुणानां तु वर्णना निश्चयस्तुति ॥११५॥

यह सब व्यवहारदृष्टि से स्तुति (प्रशसा) है, वीतराग आत्मा मे

रहे हुए ज्ञानादि गुणो की प्रशसा करना ही निश्चय स्तुति समझनी चाहिए।

प्रभु के शरीर आदि का वर्णन करना, उनकी प्रशसा करना आदि सव व्यवहार से स्तुति (अन्य मे अन्यत्व की कल्पना करने के समान औपचारिक स्तुति) समझना चाहिए। परन्तु जिनसे राग मोहनीय कर्म अत्यन्त छिन्न हो गया है, ऐसे वीतराग आत्मा मे रहने वाले ज्ञानादि सर्वपदार्थप्रकाशक केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्तवीर्य वगैरह गुणो आत्मा के धर्मो की प्रशसा करना ही वास्तव मे प्रशसा निश्चयस्तुति समझनी चाहिए।

पुरादिवर्णनाद् राजा स्तुत स्यादुपचारत ।
तत्त्वत शौर्य-गाम्भीर्य-धैर्यादि-गुणवर्णनात् ॥१२६॥

नगर आदि के वर्णन से राजा की स्तुति=प्रशसा उपचार से कहलाती है, किन्तु उसके शौर्य, गाम्भीर्य और धैर्य आदि गुणो के वर्णन करने से ही तत्त्वत (वास्तविक) स्तुति कहलाती है।

नगर आदि यानी नगर, देश, महल वाग-वगीचे आदि का वखान करने से उपचार से (राजा के उद्देश्य से अन्य किसी की प्रशसा के रूप मे) राजा की स्तुति हुई कही जाएगी, लेकिन शूरवीरता, धीरता, गम्भीरता, उदारता आदि गुणो का वखान करने से ही तत्त्वत (परमार्थत) राजा की स्तुति कहलाती है, वैसे ही यहाँ वीतराग की स्तुति के सम्वन्ध मे जान लेना चाहिए।

मुख्योपचारधर्माणामविभागेन या स्तुति ।
न सा चित्तप्रसादाय कवित्व कुकवेरिव ॥१२७॥

मुख्यधर्म और उपचारधर्म का विभाग किये विना जो स्तुति की जाती है, वह कुकवि की कविता के समान चित्त को प्रसन्न करने वाली नही होती।

परमात्मा के स्वरूपानुलक्षी गुणस्वरूप अनन्तचतुष्टय आदि मुख्य धर्म है और उनके शरीरानुलक्षी अष्टमहाप्रातिहार्य आदि पुण्य-

जनित समृद्धिरूप उपचार धर्म है, किन्तु वस्तु के स्वभावरूप मुख्यधर्म और अलंकारादि के रूप मे शरीरस्वरूप उपचार धर्म का विभाग किये बिना की हुई परमात्मदेव की स्तुति (प्रशंसा), शिष्ट पुरुषो की प्रसन्नता के लिए नही होती। जैसे कवित्व की कला के बिना अकुशल (फूहड) कवि के द्वारा की गई कविता के वर्णन से चित्त प्रसन्न नही होता, वैसे ही मुख्य और उपचार का विभाग किये बिना की गई परमात्मस्तुति से चित्त मे आह्लाद उत्पन्न नही होता।

ऽन्यथाऽभिनिवेशेन प्रत्युताऽनर्थकारिणी।
सुतीक्ष्णखड्गधारेव प्रमादेन करे धृता ॥१२८॥

अन्यथा हठपूर्वक की गई स्तुति वैसी ही अनर्थकारिणी है, जैसी अनर्थकारिणी असावधानी से हाथ मे पकडी हुई पैनी तलवार की धार होती है।

अन्यथा मुख्य धर्म और उपचार-धर्म का विभाग किये बिना अपनी झूठी जिद ठान कर या अपने मत की रक्षा करने के अभिमान मे आ कर कदाग्रहपूर्वक उपचारस्तुति मे मुख्यता की दृष्टि रखने से वह उलटी महानर्थकारिणी=आत्मा मे अशुद्धि पैदा करके आत्महित की विनाशिनी होती है। जैसे हाथ मे तीखी तलवार असावधानी (गफलत) से पकडी हो तो वह पकडने वाले का विनाश करने वाली सिद्ध होती है, वैसे ही विपरीतरूप मे की गई परमात्मस्तुति भी अनर्थकारिणी होती है।

मणिप्रभा-मणिज्ञान-न्यायेन शुभकल्पना।
वस्तुस्पर्शितया न्याय्या यावन्नाऽनञ्जनप्रथा ॥१२९॥

'मणि की कान्ति से मणि का ज्ञान होता है', इस न्याय से वस्तु का स्पर्श करना वस्तुज्ञान के लिए उपयुक्त है, किन्तु अनञ्जनप्रथा न हो, वहाँ तक ही शुभकल्पना न्याययुक्त है।

चन्द्रकान्त मणि वगैरह की प्रभा से मणि का ज्ञान होता है, कि **'यह मणि'** है, इस प्रकार की बुद्धि सत्यज्ञान कहलाती है। इस न्याय (दृष्टान्त) से वस्तु के धर्म का ग्रहण (सीधा स्पर्श) होने से शुभकल्पना

(स्तुति आदि) करने का संकल्प न्याययुक्त है। शुद्धस्वरूप का अपने आत्मस्वरूप पर प्रतिबिम्ब पड़ना अर्जन-प्रथा कहलाती है, और प्रसिद्धि न हो, वह कहलाती है अनञ्जन प्रथा। अनञ्जन-प्रथा जहाँ तक न आए, वहाँ तक तो शुभकल्पना युक्तियुक्त है। तात्पर्य यह है कि तीर्थंकर प्रभु के अतिशयों का आभ्यन्तर स्वरूप जान-देख कर बाद में उसका अवलम्बन ले कर भगवान् का वर्णन जिनेश्वर के गुणों का अनुकरण करने वाला होने से वह योग्य स्तुतिरूप है और समवसरण वगैरह देख कर मुख्य जिन भगवान् का वर्णन उनके गुणों का स्पर्श न करने के कारण अनजनप्रथा है।

पुण्य-पापविनिर्मुक्तं तत्त्वतस्त्वविकल्पकम्।
नित्यं ब्रह्म सदा ध्येयमेषा शुद्धनयस्थिति ॥१३०॥

पुण्य और पाप से सर्वथा मुक्त, तत्त्व से निर्विकल्प, तथा नित्य ब्रह्म का सदा ध्यान करना ही शुद्धनय की स्थिति है।

पुण्य और पाप इन दोनों शुभाशुभ-आश्रवों से सर्वथा रहित, तत्त्वत =वास्तविकरूप से सर्वथा विकल्परहित और नित्य—सनातन-स्वभाव वाले ब्रह्म (उपाधिरहित चैतन्य) का सदा ध्यान करना, शुद्ध-नय की स्थिति है—यानी शुद्ध द्रव्यार्थिक नय के दृष्टिकोण की मर्यादा (सीमा) है।

आश्रव संवरश्चाऽपि नात्मा विज्ञानलक्षण।
यत्कर्मपुद्गलादानरोधावाश्रव-संवरौ ॥१६१॥

आत्मा आश्रव-संवररूप भी नहीं है, वह तो विज्ञानलक्षण वाला है, जब कि आश्रव और संवर दोनों कर्मपुद्गलों के क्रमश ग्रहण-निरोधरूप है।

आत्मा आश्रवरूप यानी नये कर्मों के ग्रहण करने रूप तथा संवर-रूप यानी नये कर्मों के निरोधोपायरूप नहीं है, क्योंकि आत्मा विज्ञान-लक्षण वाला यानी सामान्य और विशेष उपयोगरूप विशिष्ट ज्ञान-स्वरूप है। जबकि आश्रव और संवर का लक्षण है कर्म के योग्य

पुद्गलों (अनन्तप्रदेशी स्कन्धो) का ग्रहण करना और उनका निरोध करना। अत. आश्रव और सवर आत्मारूप नही हो सकते, क्योकि पुद्गलो का ग्रहण करना या न करना, दोनों अनात्मरूप ही है।

आत्माऽऽदत्ते तु यैर्भावै स्वतन्त्र कर्मपुद्गलान्।
मिथ्यात्वाऽविरती योगा कषायास्तेऽन्तराश्रवा ॥१३२॥

आत्मा जिन परिणामो (भावो) से स्वतन्त्ररूप से कर्मपुद्गलो को ग्रहण करता है, उन मिथ्यात्व, अविरति, योग और कषायरूप परिणामो को आभ्यन्तर आश्रव समझना चाहिए।

आत्मा अपने अन्तर्गत परिणामो के लिए स्वतन्त्र है, वह पर की प्रेरणा के विना ही (स्वतन्त्ररूप से) कर्मो के योग्य पुद्गलस्कन्धो को ग्रहण करता है। वे परिणाम मिथ्यात्व (विपरीतदृष्टित्व), अविरति (अनुपरति), योग मन-वचन काया के अशुद्ध व्यापार, तथा कषाय क्रोध आदि के परिणामरूप अन्तरग-आश्रव जीव के परिणामरूप भाव है। इनमे आत्मा सभव है, क्योकि ये परिणाम आत्मा के धर्म हैं।

भावना-धर्म-चारित्र-परीषहजयादय ।
आश्रवोच्छेदिनो धर्मा आत्मनो भावसवरा ॥१३३॥

भावना दशविध उत्तम धर्म, चारित्र और परीषह-जय आदि आश्रवो के विनाशक जो आत्मा के धर्म है, वे भावसवर कहलाते है।

आश्रवो का उच्छेदन करने वाले आत्मा के जो ज्ञानादि स्वभाव वाले धर्म है, वे भावसवर यानी शुद्धोपयोगरूप आभ्यन्तर सवर कहलाते है। वे धर्म कोन-कौन से हैं? वे इस प्रकार है अनित्य आदि १२ भावनाओ अनुप्रेक्षाओ का चिन्तन, क्षमादि दशविध श्रमणधर्म का आचरण, सामायिक आदि पाँच प्रकार के चारित्र का पालन, क्षुधा आदि २२ प्रकार के परीषहो को जीतना, इसी तरह पाँच समिति, तीन गुप्ति आदि सव भावसवर हैं, क्योकि ये सव आत्मरूप हो सकते है।

आश्रव संवरो न स्यात् संवरश्चाश्रव क्वचित् ।
भवमोक्षफलाभेदोऽन्यथा स्याद्धेतुसंकरात् ॥134॥

आश्रव संवर नही हो सकते और न कभी संवर ही आश्रव हो सकते है। अन्यथा (अगर ऐसा न मान तो) हेतु के सांकर्यदोष (एक दूसरे मे मिश्रित दोष) होने से संसार और मोक्ष के फल की अभिन्नता हो जाएगी।

आश्रव, जो संसार के कारणरूप बन्ध स्वभाव वाले है, वे संवररूप यानी मोक्ष के हेतु रूप नही होते। इसी प्रकार संवर, जो बंध का निरोध करने वाले तथा मोक्ष के कारण रूप है, वे कभी किसी भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावादि मे आश्रवरूप यानी भवहेतुरूप नही होते, क्योंकि दोनो परस्पर प्रतिपक्षी है। अन्यथा, ऐसा नही माना जाएगा तो हेतु मे संकरदोष आएगा, परस्पर अभाव वाले अधिकरण मे होने के रूप मे संकरदोष—एक-दूसरे का हेतु एक दूसरे मे मिल जाएगा। अर्थात् आश्रव और संवर जो एक-दूसरे से विरुद्ध है, उनका एक दूसरे मे (आश्रव का संवर मे, संवर का आश्रव मे) संक्रमण हो जायगा। उसके कारण आश्रव का फल, जो संसार है और संवर का फल, जो मोक्ष है, इन दोनो के फल की एकता हो जायगी। आश्रव का फल (संसार) मोक्ष बन जाएगा और संवर का फल (मोक्ष) संसार बन जाएगा। इस प्रकार आश्रव और संवर मे अभिन्नता होने से उसके फलस्वरूप संसार और मोक्ष मे अभेद की आपत्ति आएगी। दोनो का समान कारण होने से मोक्ष मे भी दु:ख की प्राप्ति होने लगेगी।

कर्माश्रवांश्च संवृणन्नात्मा भिन्नैर्निजाशयैः ।
करोति न परापेक्षामलंभूष्णु स्वतः सदा ॥१३५॥

आत्मा अपने भिन्न-भिन्न परिणामो से कर्मो का आश्रव (ग्रहण) करता हुआ और संवर (निरोध) करता हुआ भी पर की अपेक्षा नही रखता, क्योंकि आत्मा सदा अपने आप मे स्वतः समर्थ है।

आत्मा अपने अलग अलग अध्यवसायो के कारण शुभाशुभ आश्रव-रूप कर्म का अंगीकार करता है और उसका संवररूप मे निरोध करता

है। परन्तु उस समय वह पर यानी पुद्गलादि की अपेक्षा (आकाक्षा) नही रखता, क्योकि आत्मा अपने आपमें इतना समर्थ है, कि दूसरे किसी की अपेक्षा रखे विना सदा स्वत स्वभाव से ही अपने व्यापार मे रहता है। तात्पर्य यह है, कि आत्मा ही भव और मोक्ष का कारण है।

निमित्तमात्रभूतास्तु हिंसाऽहिंसादयोऽखिला ।
ये परप्राणिपर्याया न ते स्वफलहेतव. ॥१३६॥

हिंसा, अहिंसा वगैरह सव केवल निमित्तभूत ही है, क्योकि जो परप्राणी के पर्याय है, वे अपने फल के हेतुरूप नही है।

आश्रव हिंसारूप है और सवर अहिंसारूप है। वाह्यक्रियारूप हिंसा यानी वध और अहिंसा यानी वध से निवृत्ति आदि सव भाव-आश्रव और भाव-सवर के सिर्फ निमित्तभूत ही है। अर्थात् उनके परिणाम को उत्पन्न करने मे हेतुरूप है, मगर वे कर्मो को ग्रहण नही करते तथा उनका निरोध भी नही करते। इनकी सफलता तो केवल निमित्तमात्र वनने मे है। कारण यह है, कि हिंसादि जो है, वे परप्राणी के पर्याय है, अर्थात् अपने से अतिरिक्त जीवो के देहादि मे प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप से पुद्गलो तथा अजीवो के पर्याय-धर्म है। वे आत्मा मे फल के हेतुरूप यानी वन्ध-मोक्षरूप कार्य के करने वाले नही होते। इस कारण आत्मा मे वन्ध-मोक्षरूप कार्य नही होता, क्योकि जव आत्मा मे फल के कारण ही नही हैं, तो उनके कार्य (वन्ध-मोक्ष) कैसे होगे ?

व्यवहारविमूढस्तु हेतुस्तानेव मन्यते ।
वाह्यक्रियारतस्वान्तस्तत्त्व गूढ न पश्यति ॥१३७॥

किन्तु व्यवहार मे मूढात्मा उन हिंसादि को ही हेतुरूप मानता है, क्योकि जिसका अन्त करण वाह्य क्रियाओ मे रचापचा है, वह गहन तत्त्व को नही देखता-समझता।

व्यवहार (लोकप्रवृत्ति) मे विशेष मूढ वना हुआ जीव हिंसा-अहिंसा आदि पर-प्राणियो के पर्यायो को ही हेतुरूप यानी बन्ध-मोक्ष

के कारणरूप मानता है, क्योकि वह वाह्यप्रवृत्तियो मे इतना आसक्त और दत्तचित्त रहता है, कि परम रहस्यभूत गूढ तत्त्व को देखता-जानता नही।

हेतुत्व प्रतिपद्यन्ते नवैते नियमास्पृश ।
यावन्त आश्रवा प्रोक्तास्तावन्तो हि परिश्रवा ॥१३८॥

चू कि ये नियम का स्पर्श नही करते, इस कारण से (हिंसादि) हेतुत्व को प्राप्त नही करते, क्योकि जितने आश्रव कहे है, उतने ही संवर कहे है।

ये हिंसा-अहिंसा वगैरह पर-पर्याय ससार और मोक्ष के हेतुत्व को प्राप्त नही करते। क्योकि वे नियम को (निश्चितभाव को) जैसे कि हिंसा का होना आश्रव ही है और अहिंसा का होना सवर ही है, इस प्रकार निश्चितरूप से आश्रव और सवर के स्वरूप का स्पर्श नही करते। तात्पर्य यह है—परप्राणी के पर्यायरूप से भी उन्हे आश्रव और सवर नही कह सकते। आचाराग सूत्र मे स्पष्ट कहा है जितने, जितनी सख्या मे और जैसे स्वरूप वाले आश्रव (कर्मग्रहण करने के हेतु) कहे हैं, उतने ही, उतनी ही सख्या मे और वैसे ही स्वरूप वाले परिश्रव (कर्मक्षय करने के उपाय) सवर कहे हैं। इस कारण जो आश्रव है, वे ही सवररूप मे सिद्ध होते है। अत पहले कहे हुए हेतु नियम का स्पर्श नही करते। इस कारण मूढात्मा द्वारा वाह्य हिंसा-अहिंसादि क्रिया को एकान्तत आश्रव-सवररूप मानना भ्रान्तिरूप है।

तस्मादनियत रूप वाह्यहेतुषु सर्वथा।
नियतौ भाववैचित्र्यादात्मैवाश्रव-संवरौ ॥१३९॥

इस कारण वाह्य हेतुओ मे सर्वथा अनियमितता (अनिश्चितता) है, अत भावो की विचित्रता के कारण आत्मा ही आश्रव और सवर-रूप नियत (निश्चित) है।

पूर्वोक्त कथनानुसार हिंसा-अहिंसा वगैरह वाह्य हेतुओ मे सर्वथा अनियत (सख्या और स्वरूप के सम्बन्ध मे सर्वथा अनिश्चित) आश्रव

का ज्ञान होते हुए भी मिथ्याबुद्धि के संस्कार से आत्मा में बंध की वृद्धि होती है।

शंख श्वेत ही होता है, लेकिन पीलिया रोग के दोष के कारण जैसे आँखों से शंख पीला दिखता है, वैसे ही 'आत्मा अबद्ध है', ऐसा शास्त्र से ज्ञान (ज्ञात) होने पर भी मिथ्यात्वबुद्धि के संस्कार के कारण वह कर्मबन्धन से बद्ध लगता है आत्मा कर्मों से बंधा हुआ है, ऐसी बुद्धि होती है। मतलब यह है कि प्रत्यक्षविषयक शंका को केवल शास्त्रज्ञान मिटा नहीं सकता।

श्रुत्वा मत्वा मुहुः स्मृत्वा साक्षादनुभवन्ति ये।
तत्त्वं न बन्धधीस्तेषामात्माऽबन्धः प्रकाशते ॥१७७॥

जो बार बार तत्त्व सुन कर उस पर मनन करके, तथा उसका स्मरण करके साक्षात् अनुभव करते हैं, उन्हें बन्ध की बुद्धि नहीं नहीं होती, उन्हें आत्मा अबन्ध (बन्धरहित) प्रकाशित होता है।

सद्विवेकी पुरुष गुरुदेव के मुख से अध्यात्मशास्त्र में से बार-बार तत्त्व भेद-प्रभेदसहित जीवादि के वस्तुस्वरूप को सुन कर, उस पर मन में मनन करके, पूर्वापर-सम्बन्ध का स्मरण करके साक्षात् अनुभव करते हैं, अर्थात् अपनी बुद्धि में प्रत्यक्षवत् कर लेते हैं, उन विचार विचक्षण पुरुषों को बन्ध की बुद्धि (मेरा आत्मा कर्म से बंधा है, ऐसी बुद्धि) नहीं होती। इस कारण उन्हें शुद्ध निश्चयवृत्ति से आत्मा बन्ध-रहित ही प्रकाशित (प्रतीत) होता है। चैतन्य की सत्ता जातिभेद के कारण पृथक् ही रही हुई है। इसलिए उसके बन्ध का अभाव है। इस प्रकार आत्मा का बन्धतत्व से भेद का विचार पूर्ण हुआ।

द्रव्यमोक्षः क्षयः कर्मद्रव्याणां नात्मलक्षणम्।
भावमोक्षस्तु तद्धेतुरात्मा रत्नत्रयान्वयी ॥१७८॥

कर्मद्रव्यों का जो क्षय, वह द्रव्यमोक्ष कहलाता है, पर वह आत्मा का लक्षण नहीं है। परन्तु उस द्रव्यमोक्ष का हेतुरूप रत्नत्रयी से युक्त जो आत्मा है, वह भावमोक्ष कहलाता है।

अब आत्मा का मोक्षतत्त्व से भेदनिरूपण कहते है अशुद्ध निश्चयनय की दृष्टि से कर्म के योग्य पुद्गल-स्कन्धो का क्षय यानी जीव के प्रदेशो के साथ सर्वथा उनका असम्बन्ध, द्रव्यमोक्ष (सिर्फ कर्म के दलिको के ही बध की मुक्ति यानी पुद्गलबन्ध का ही नाश) होता है, वह कोई आत्मा का लक्षण (आत्मस्वरूप) नही है। मतलब यह है कि समग्र, कर्मपुद्गल, जो कर्म से भिन्न (पृथक्) हुए हैं, वे उस कर्मत्व से से रहित हो जाते हैं। इस कारण द्रव्य का मोक्ष उसकी कर्मत्व से रहितता हो जाती है, इसलिए वह द्रव्यमोक्ष कहलाता है। और सम्यग्दर्शनादि तीन रत्नो से युक्त तथा द्रव्यमोक्ष का हेतुरूप जो आत्मा, वह भावमोक्ष यानी प्रधानमोक्ष कहलाता है, क्योकि वह मोक्ष से अपना पूर्णस्वरूप प्राप्त होता है।

> ज्ञानदर्शनचारित्रैरात्मैक्यं लभते यदा।
> कर्माणि कुपितानीव भवन्त्याशु तदा पृथक् ॥१७९॥

जब आत्मा ज्ञान, दर्शन और चारित्र के साथ ऐक्य (तादात्म्य) प्राप्त कर लेता है, तब कर्म मानो कुपित हो कर शीघ्र ही पृथक् हो जाते है।

जब आत्मा ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूप रत्नत्रय के साथ तादात्म्य प्राप्त कर लेता है, यानी जब आत्मा रत्नत्रय के साथ तन्मय हो जाता हैं, (ज्ञान-श्रद्धा-आचरण से युक्त हो जाता है), तब ज्ञानावरणीयादि कर्म मानो कुपित हो कर तत्काल जीवप्रदेशो से अलग अलग हो जाता है।

> अतो रत्नत्रयं मोक्षस्तदभावे कृतार्थता।
> पाखण्डिगणलिंगैश्च गृहिलिंगैश्च काऽपि न ॥१८०॥

इस कारण रत्नत्रयरूप मोक्ष है। उस रत्नत्रय के अभाव मे पाखडीगण के वेषो मे या गृहस्थवेषो मे कोई कृतार्थता नही है।

पूर्वोक्त कारणो से त्रिरत्नमय होना ही मोक्ष है; क्योकि कर्म को आत्मा से अलग करने वाला रत्नत्रय है और इसी से मोक्ष मिलता है। इस रत्नत्रय के विना पाखडियो के अनेक प्रकार के वेष (अपने-अपने)

मतानुसार) धारण करने से अथवा गृहस्थ के नाना वेश (पोशाक) धारण करने (पहनने) से कुछ भी कृतार्थता (क्रिया वगैरह मे सफलता) नही होती। रत्नत्रययुक्तवेष ही मोक्ष का साधक है, अन्य नही।

पाखण्डिगणलिंगेषु गृहीलिंगेषु ये रता ।
न ते समयसारस्य ज्ञातारो बालबुद्धय ॥१८१॥

जो पाखण्डियो के नाना वेषो मे या गृहस्थवेषो मे आसक्त है, वे बालबुद्धि हैं, समयसार (सिद्धान्त के तत्त्व) के जानकार नही है।

तत्त्व के स्वभाव (रहस्य) को नही जानने वाले केवल विविध प्रकार के पाखडी साधुओ के वेष धारण करने का आग्रह (आसक्ति) रखते है, तथा ब्राह्मणादि गृहस्थवेश मे आसक्त है, यानी जिनकी यह पकड पूर्वाग्रह है, कि "हमारे ही वेष मे मोक्ष हो सकता है, अन्य सब साधन झूठे है," समझ लो वे बालबुद्धि (अज्ञानरत) है, तत्त्वातत्त्व के विचार से शून्य अज्ञानी मनुष्य सिद्धात के रहस्य को बिलकुल नही जानते।

भावलिंगरता ये स्यु. सर्वसारविदो हि ते ।
लिंगस्था वा गृहस्था वा सिध्यन्ति धूतकल्मषा ॥१८२॥

जो भावलिंग मे रता है, वे सर्वसार के ज्ञाता हैं, इसलिए वे साधुवेष मे हो, या गृहस्थ-वेष मे हो, फिर भी वे पाप का क्षय करके सिद्धिपद प्राप्त करते है।

रत्नत्रयरूप वस्तुधर्म के जो अच्छी तरह से जानकार है, तथा रत्नत्रयमय भावलिंग को श्रद्धापूर्वक स्वीकार करते है, उन्होने सारे तत्त्वो के रहस्य को जान लिया है, वे चाहे तो किसी साधुवेश मे रहे, चाहे गृहस्थवेष आदि मे रहे, फिर भी वे आत्मा पापमल का नाश कर सिद्धिपद प्राप्त कर लेते है।

भावलिंग हि मोक्षांग द्रव्यलिंगमकारणम् ।
द्रव्य नात्यन्तिक यस्मान्नाप्येकान्तिकमिष्यते ॥१८३॥

भावलिंग ही मोक्ष का अग (कारण) है, द्रव्यलिंग मोक्ष का कारण नही है ; क्योकि द्रव्य आत्यन्तिक अभीष्ट नही है, और न ही ऐकान्तिक अभीष्ट है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रयमय भावलिंग अवश्य ही मोक्ष का प्रयोजक (कारण) है और द्रव्यलिंग साधु, गृहस्थ आदि का अनेक प्रकार का वेष का मोक्ष का अकारण है, क्योकि द्रव्य अप्रधान (गौण) साधन है, इसलिए आत्यन्तिक कारणरूप से वह अभीष्ट नही है, और न ही ऐकान्तिक कारणरूप से अभीष्ट (इच्छित, है, क्योकि वह किसी का अकारणरूप भी होता है, अत वह व्यभिचारी कारण है।

यथाजातदशालिगमर्थादव्यभिचारि चेत् ।
विपक्षबाधकाभावात्तद्धेतुत्वे नु का प्रमा ? ॥१८४॥

जिस प्रकार से जन्म हुआ, वैसी दशारूप वेष मोक्षरूपी अर्थ से अव्यभिचारी है, यदि ऐसा कहते हो तो विपक्षबाधक का अभाव होने से मृग आदि भी यथाजात (नग्न) दशा में रहते हैं, उनका भी मोक्ष होने लगेगा और सभी नग्नो का यदि मोक्ष इष्ट नही है, तो उस नग्नत्व को मोक्ष का कारण कहने मे क्या प्रमाण है ?

दिगम्बरमत वाले ऐसा मानते हैं कि "जिस रूप मे माता के गर्भ से निकला और जन्म लिया, तद्रूप दशा नग्नत्व की अवस्था यथाजात दशा कहलाती है। तद्रूप वेष मोक्ष का असाधारण (अव्यभिचारी) कारण है। उसी वेषरूप कारण से मोक्षरूप कार्य होता है।" यदि ऐसा कहते है तो विपक्ष बाधक के अभाव से यानी मोक्ष के प्रति व्याघात करने वाले मोहादिकृत जो बाधकभाव (यानी मोक्ष का अभाव है,) उसका आपके द्वारा बताए हुए कारण मे अभाव होने से वस्त्ररहित सभी जीवो-मृग आदि प्राणियो का मोक्ष हो जायगा, क्योकि उसमे नग्नत्व को निश्चित कारण माना है। फिर आप अपने चित्त मे विचार करके कहिये कि अगर सभी नग्न जीवो को मोक्ष आप नही चाहते तो फिर उसके हेतु मे नग्नत्व को मोक्ष का कारण मानने मे दूसरा कौनसी प्रमाण है ? कोई भी नही।

वस्त्रादिधारेणच्छा चेद् बाधिका तस्य तां विना ।
धृतस्य किमवस्थाने करादेरिव बाधकम् ॥१८५॥

यदि वस्त्रादि धारण करने की इच्छा मोक्ष मे बाधक है, तो उसकी (वस्त्र की) इच्छा के विना ही हाथ वगैरह की तरह धारण किए हुए वस्त्रादि के होने मे क्या बाधा है ?

दिगम्बरमतीय कहते हैं—'(वस्त्रादि) वस्त्रपात्र आदि ग्रहण (धारण) करने की इच्छा ही मोक्षप्राप्ति में बाधक (विघ्नकारक) है।' इसका उत्तर यह है कि आप यह तो मानते है कि यदि इच्छा-मूर्छा के विना मुनि वस्त्र-पात्रादि धारण करे तो मोक्ष मे बाधक नही होते हैं, जैसे हम अपने हाथ-पैर आदि इच्छा के विना रखते है, तो क्या वे बाधकरूप होते हैं ? नही होते । अत शरीरादि की तरह वस्त्रादि भी आधाररूप रहते हुए भी मुनि के लिए क्या बाधक है ? कोई भी बाधकत्व हम नही देखते ।

स्वरूपेण च वस्त्र चेत्केवलज्ञानबाधकम् ।
तदा दिक्पटनीत्यैव तत्तदावरण भवेत् ॥१८६॥

यदि वस्त्र स्वरूप से ही केवलज्ञान मे बाधक है तो दिगम्बर मत के अनुसार केवलज्ञानावरणीय के समान वस्त्रावरण भी होना चाहिए।

दिगम्बर फिर कहते है कि इच्छा के विना वस्त्र रखते होगे, किन्तु वस्त्रत्वसत्ता शरीर पर विद्यमान होने से वह केवलज्ञान की उत्पत्ति मे बाधकरूप है। इस पर ग्रन्थकार कहते हैं केवलज्ञान का आवरण करने वाला ज्ञानावरणीय कर्म होता है, और आपके मतानुसार एक और वस्त्रावरण भी केवलज्ञान का बाधक होना चाहिए, ऐसा हमने किसी शास्त्र मे पढा नही है।

इत्थ केवलिनस्तेन मूर्ध्नि क्षिप्तेन केनचित् ।
केवलित्वं पलायेतेत्यहो किमसमञ्जसम् ! ॥१८७॥

ऐसा होने पर तो केवली के मस्तक पर कोई व्यक्ति वस्त्र डाल दे

तो उनका केवलज्ञान नष्ट हो (भाग) जाना चाहिए, यह कैसा असमंजस-पूर्ण (अयोग्य, अटपटा) कथन है ?

यदि आपके मतानुसार वस्त्र केवलज्ञान को रोकता है, यदि ऐसा सिद्ध हो जाएगा तो किसी नग्न केवली के मस्तक पर कोई भक्त दया ला कर वस्त्र डाल देगा तो उनका केवलज्ञान नष्ट हो जाएगा, क्योंकि वह फिर ज्ञानावरण से आवृत हो जाएगा। अहो, अत्यन्त खेद की बात है कि वस्त्रादि धारण करने से क्या अघटित हो जाता है ?

भावलिंगात् ततो मोक्षो, भिन्नलिंगेष्वपि ध्रुव' ।
कदाग्रह विमुच्यैतद् भावनीय मनस्विना ॥१८८॥

इसलिए भिन्नलिंग वाले होने पर भी भावलिंग से अवश्य मोक्ष है। अतः कदाग्रह छोड़ कर मनस्वी पुरुप को इस पर भलीभांति विचार करना चाहिए।

इसलिए दिगम्बर हो, श्वेताम्बर हो, गहलिंगी हो, सन्यास-वेशधारी, आदि किसी भी वेश को धारण करने वाला हो, (केवल वेश से) उसका मोक्ष नही होता, परन्तु ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप रत्नत्रय=भावलिंग के द्वारा ही वह मोक्ष का अधिकारी हो सकता है। और वह भावलिंग वाला किसी भी वेश मे हो, फिर भी उसका मोक्ष अवश्य होता है। इसलिए मनस्वी पुरुप को कदाग्रह छोड़ कर सम्यक्प्रकार से विचार करना चाहिए।

अशुद्धनयतो ह्यात्मा बद्धो मुक्त इति स्थिति ।
न शुद्धनयतस्त्वेष बद्ध्यते नाऽपि मुच्यते ॥१८९॥

अशुद्धनय की दृष्टि मे आत्मा बद्ध और मुक्त होता है, परन्तु शुद्ध नय से तो आत्मा का बन्ध और मोक्ष भी नही होता।

यह सब बात अशुद्ध निश्चयनय की दृष्टि से कही है, उसके कारण आत्मा अपने भावो से कर्म का बन्धन करता है और उस कर्म से मुक्त भी होता है, और शुद्ध निश्चयनय से तो आत्मा बन्ध करता ही नही है, और मुक्त भी नही होता, क्योकि आत्मा मुक्ति और बन्ध से रहित सदा एक ही स्वरूप मे रहता है।

अन्वयव्यतिरेकाभ्यामात्मतत्वविनिश्चयम् ।
नवेभ्योऽपि हि तत्त्वेभ्य: कुर्यादेवं विचक्षण ॥१८०॥

इस प्रकार विचक्षण पुरुष को नौ तत्वो से अन्वय और व्यतिरेक द्वारा आत्मतत्व का निश्चय करना चाहिए।

पूर्वकथनानुसार जैन सिद्धात मे निपुण पुरुप को शुद्ध निश्चयनय से जीवादि नौ तत्वो से यानी उपचार से रहित सत्पदार्थों से अन्वय (नौ तत्वो के साथ एकत्व) और व्यतिरेक (उनके साथ भिन्नत्व) के द्वारा आत्मतत्व का निश्चय अर्थात् वास्तविक जीवस्वरूप का निश्चय करना चाहिए।

इद हि परमाध्यात्मममृतं ह्यद एव च।
इद हि परम ज्ञानं योगोऽयं परम स्मृत ॥१८१॥

यही उत्कृष्ट अध्यात्म है, यही अमृत है, यही उत्कृष्ट ज्ञान है और यही परम योग कहलाता है।

यह आत्मतत्व का निश्चय ही सर्वोत्कृष्ट अध्यात्मरूप है, आत्मतत्व का निश्चय अथवा अकेला परोक्षज्ञान ही अमृत है। यानी समस्त कर्मरोग का हरण करने वाला होने से अमृत के समान है। यही उत्कृष्ट ज्ञान है, क्योकि यही सर्वज्ञता का कारण है, तथा यही परम यानी सब में प्रधान योग मोक्षोपाय बताया है।

गुह्यात् गुह्यतरम् तत्वमेतत्सूक्ष्मनयाश्रितम् ।
न देय स्वल्पबुद्धीनां ते ह्येतस्य विडम्बका: ॥१८२॥

यह गुह्य (रहस्यमय) से गुह्यतर (बढकर रहस्यमय) तत्व सूक्ष्मनय के आश्रित है। इसलिए अल्पबुद्धि वालो को यह तत्व देने योग्य नही है। क्योकि वे इसकी विडम्बना करने वाले (प्राय) होते हैं।

यह आत्मविनिश्चय गुह्य से भी गुह्यतर (अत्यन्त गोपनीय गुप्त रखने योग्य) तत्त्व (रहस्य) है और वह निपुण बुद्धि से जानने योग्य जो नय है, उस पर आधारित है। इसलिए यह तत्त्व अल्पबुद्धि वाले व्यक्तियो को देने योग्य नही है, क्योकि वे अल्पबुद्धि व्यक्ति इस सूक्ष्म

आत्मतत्त्व को ठुकरा देंगे, यानी अल्पज्ञता के कारण इसका तिरस्कार करेंगे ।

जैनानामल्पबुद्धीनां नैतत्तत्त्वं हितावहम् ।
निर्बलानां क्षुधार्त्तानां भोजनं चक्रिणो यथा ॥१९३॥

जैसे दुर्बल क्षुधातुर व्यक्तियों के लिए चक्रवर्ती का गरिष्ठ भोजन हितकर नहीं होता, वैसे ही अल्पबुद्धि वाले मनुष्यों को यह आत्मतत्त्व हितकारी नहीं होता ।

जो कई दिनों से भूख से पीडित हों और शरीर से दुर्बल हों, उन्हें चक्रवर्ती का अत्यन्त पुष्टिकारक भोजन दे दिया जाय तो वे हजम नहीं कर सकते और हजम करने की ताकत हो, तभी वह भोजन हितकारी हो सकता है, इसी प्रकार अल्पबुद्धिरूपी धन वाले पुरुषों को पूर्वोक्त तत्त्व वास्तविक आत्मस्वरूप का चिन्तन हितकर (कल्याणकारक) नहीं है। इस कारण देने योग्य नहीं है, क्योंकि वे वास्तविक आत्मतत्त्व को जान नहीं सकते ।

ज्ञानांशदुर्विदग्धस्य तत्त्वमेतदनर्थकृत् ।
अशुद्धमंत्रपाठस्य फणिरत्नग्रहो यथा ॥१९४॥

जैसे अशुद्धमंत्रपाठ करने वाले को शेषनाग का रत्न ग्रहण करना अनर्थकारी होता है, वैसे ही ज्ञान का अंश पा कर अपने को महाविद्वान् मानने वाले के लिए यह तत्त्व अनर्थकारी होता है ।

अधूरा ज्ञान पा कर अभिमान करने वाले और अपने आपको पण्डित मानने वाले को यह आत्मतत्त्व का रहस्यज्ञान (तत्त्व) उसी तरह अनर्थकर होता है, जिस तरह मंत्र के अशुद्ध उच्चारण या अविधिपूर्वक पठन करके शेषनाग के मस्तिष्क की मणि लेने के अभिलाषी को वह मौत का अनर्थ पैदा कर देता है। साराश यह है कि अर्थ का अनर्थ करना दुर्गति का कारण बनता है ।

व्यवहाराविनिष्णातो यो ज्ञीप्सति विनिश्चयम् ।
कासारतरणाशक्तः स तितीर्षति सागरम् ॥१९५॥

जो पुरुष व्यवहारनय मे कुशल नही है, वह अगर निश्चयनय को जानना चाहता है तो वह उसी तरह है, जिस तरह छोटे-से तालाव को पार करने मे अशक्त कोई व्यक्ति समुद्र पार करना चाहता हो।

जिस अल्पज्ञ ने व्यवहारनय की दृष्टि को जीवन मे भलीभाति पचाई न हो, उसका निश्चयनय को जानने की इच्छा करना, सरोवर के जल पर तैरने मे असमर्थ व्यक्ति का महासमुद्र तैरने की इच्छा करने के समान महामूर्खता है। इसलिए सर्वप्रथम व्यवहारनय को अच्छी तरह समझ कर फिर निश्चयनय के तत्त्व को समझना चाहिए। लोक-व्यवहार मे भी पहले तालाव मे तैरना सीखने के वाद ही कोई व्यक्ति समुद्र मे तैरने की कोशिश करता है।

व्यवहारं विनिश्चित्य तत शुद्धनयाश्रित ।
आत्मज्ञानरतो भूत्वा परमं साम्यमाश्रयेत् ॥१९६॥

इसलिए शुद्धनय का आश्रय लेने वाले पुरुष को पहले व्यवहार का निश्चय करके तदनन्तर आत्मज्ञान में रत हो कर उत्कृष्ट समता को प्राप्त करना चाहिए।

इसलिए यह सिद्ध हुआ कि शुद्धनय का आलम्वन लते वाले अर्थात् वास्तविक वस्तुस्वरूप का प्रतिपादन करने मे तत्पर जो नय (वचनमार्ग) है, उसे हृदय मे धारण करके तथा व्यवहार का यानी क्रिया की विधि का निश्चय करके विशेपत उसका आचरण करने मे तत्पर हो कर उसके आत्मज्ञान मे ओतप्रोत हो कर यानी आत्म-स्वरूप को जानने मे प्रसन्नचित्त हो कर व्यवहार और निश्चय इन दोनो नयो पर दोनो आँखो के समान प्रीति रखने वाला व्यक्ति परमशुद्ध समता को प्राप्त करे।

॥इति आत्मविनिश्चयाधिकार ॥

जिनमत-स्तुति

उत्सर्पद्व्यवहार-निश्चयकथा-कल्लोलकोलाहल-
त्रस्यद्दुर्नयवादि-कच्छपकुल-भ्रश्यत्कुपक्षाचलम् ॥
उद्यद्युक्तिनदीप्रवेशसुभगं स्याद्वादमर्यादया।
युक्तं श्रीजिनशासनं जलनिधि मुक्त्वा परं नाश्रये ॥१॥

व्यवहार और निश्चयकथारूपी उछलती हुई तरंगो के कोलाहल से दु खी होते हुए दुर्नय (एकान्त) वादी-रूपी कछुओ का झुंड है। जिसमे कुपक्षरूपी पर्वत गिर रहे हैं, और अकाट्य युक्तियोरूपी नदियो के प्रवेश से मनोहर है, तथा स्याद्वाद की मर्यादा से युक्त है, ऐसे जिन शासनरूपी महासमुद्र को छोड़ कर मै दूसरे किसी का आश्रय नही लेता।

इसमें जिनशासन को समुद्र की उपमा दी गई है। वह जिनशासन-रूपी महासमुद्र कैसा है ? इसमे निश्चय और व्यवहार के कथनरूपी उछलती हुई लहरे हैं, यानी कर्तव्य का वोध और स्वरूप के नाम से विश्वप्रसिद्ध क्रिया और ज्ञानरूप नयो की कथारूपी उछलती हुई तरगे हैं। उन तरगसमूहो की महाध्वनि मे दुर्नयवादी (एकान्तपक्षवादी) रूपी कछूओ का झुड दु खी हो रहा है। और उसमे कुपक्षरूपी (मतविरोध-रूपी) पर्वत टूट कर गिरते हैं। विरुद्ध अर्थ से रहित विस्तृत प्रौढ युक्तियो (विविध प्रकार के नयों के प्रमाण मे अर्थनिश्चयकारिणी) रूपी नदियो के प्रवेश से जो सौभाग्यशाली है। और जो स्याद्वाद (अनेकान्तवाद नित्य-अनित्य आदि सापेक्षवाद) रूपी मर्यादा (चारो तटो) से युक्त है। ऐसी श्रीजिनशासनरूप (सत्यतादि सुन्दरता से और महाप्रभावशाली लक्ष्मी से युक्त जिनागमरूप) महासमुद्र को छोड कर मैं और किसी का आश्रय नही लेता।

पूर्णं पुण्यनयप्रमाणरचनापुष्पैः सदास्थारसैस् ।
तत्त्वज्ञानफलः सदा विजयते स्याद्वादकल्पद्रुमः ॥
एतस्मात्पतितैः प्रवादकुसुमैः षड्दर्शनारामभूर्-
भूयः सौरभमुद्वमत्यभिमतैरध्यात्मवार्तालवैः ॥२॥

सम्यक् आस्थारूपी पवित्र नयों और प्रमाणो की रचनारूप पुष्पो से जो परिपूर्ण है, जिसके तत्त्वज्ञानरूपी फल हैं, ऐसा स्याद्वादरूपी कल्पवृक्ष सदा विजयी होता है। उस पर से गिरे हुए अभीष्ट और अध्यात्मरूपी छोटी-छोटी वातो वाले प्रवादरूपी पुष्पो से षड्दर्शनरूपी उपवन की भूमि अत्यन्त सौरभ फैला रही है।

इस श्लोक मे जिनागम को कल्पवृक्ष से उपमा दी है। जो सम्यक् श्रद्धारूपी रस (सुगन्ध) वाले पवित्र नैगमादि सात नय और प्रत्यक्षादि चार प्रमाण की रचनारूप पुष्पो से परिपूर्ण है और वास्तविक वस्तुस्वरूप के तत्त्वज्ञानमय फल है, जहाँ अनेकान्तरूप कल्पवृक्ष हमेशा विजय प्राप्त करता है। इस स्याद्वादरूपी कल्पवृक्ष से गिरे हुए और सवके लिए रुचिकर अध्यात्म के कथनाश वाले प्रकृष्टवस्तु के वादरूपी पुष्पो से बौद्ध, सांख्य, वैशेषिक, नैयायिक, मीमासक और चार्वाक इन षड्दर्शनरूपी उद्यानभूमि अत्यन्त सुगन्ध दे रही है।

चित्रोत्सर्गशुभापवादरचनासानुश्रियालंकृतः ।
श्रद्धानन्दनचन्दनद्रुमनिभप्रज्ञोल्लसत्सौरभः ॥
भ्राम्यद्भिः परदर्शनग्रहगणैरासेव्यमानः सदा ।
तर्कस्वर्णशिलोच्छ्रितो विजयते जैनागमो मन्दरः ॥३॥

अनेक प्रकार के उत्सर्ग और शुभ अपवादमार्ग की रचनारूपी शिखरो की शोभा से जो अलंकृत है। श्रद्धारूपी नन्दनवन के चन्दनतरुओ के सदृश बुद्धि से जिसमे सुगन्ध फैल रही है। परिभ्रमण करते हुए परदर्शनरूपी ग्रहगणो के द्वारा जो निरन्तर सेवित है और तर्करूपी स्वर्णशिलाओ से जो अतिउन्नत है, ऐसा जिनागमरूपी मेरुपर्वत विजयी हो।

जिनागम को यहाँ मेरुपर्वत की उपमा की है। वह नाना प्रकार के उत्सर्गों (सामान्य सनातन धर्मव्यवहारों) तथा शुभ (निर्दोष) अपवादों (कारणविशेष में सेवनीय धर्मव्यवहारों) की रचना वाणीविन्यास-रूपी शिखरों की शोभा से अलंकृत (सुसज्जित) है। श्रद्धा जिन-वचन पर आस्थारूपी नन्दनवन में चन्दन वृक्ष के जैसी बुद्धि से जिसमें सुवासनारूपी सुगन्धियाँ फैल रही हैं। परदर्शनरूपी ग्रहगण सदा जिसकी प्रदक्षिणा दे रहे हैं, तथा सुन्याय के विचाररूपी स्वर्ण-शिलाओं से अत्यन्त उन्नत जैनसिद्धांतरूपी मेरुपर्वत सदा विजयी होता है।

स्याद्दोषापगमस्तमांसि जगति क्षीयन्त एव क्षणा-
दध्वानो विशदीभवन्ति निविडा निद्रा दृशोर्गच्छति॥
यस्मिन्नभ्युदिते प्रमाणदिवसप्रारम्भकल्याणिनी।
प्रौढत्व नयगीर्दधाति स रविर्जैनागमो नन्दतात्॥४॥

जिसका उदय होने से जगत् में मोहरूपी रात्रि का नाश हो जाता है और पृथ्वी पर सर्वत्र अज्ञानरूपी अन्धकार क्षणभर में क्षीण हो जाता है तथा उससे मार्ग निर्मल (स्वच्छ) हो जाते हैं, नेत्रों में से गाढ निद्रा दूर हो जाती है। प्रमाणोरूपी दिवस के प्रारम्भ होने पर कल्याणकारिणी नयवाणी प्रौढता धारण करती है। वह जैनागमरूपी सूर्य समृद्ध हो।

जिनागम महाप्रकाशमान सूर्य है, उसके उदय होते ही जगत् से महामोहरूपी रात्रि विदा हो जाती है। अज्ञानरूपी गाढ अंधेरा झटपट मिट जाता है। द्रव्यमार्ग और भावमार्ग स्पष्ट और स्वच्छ हो जाते हैं और सम्यग्दृष्टिरूपी चेतना को लोप करने वाली गाढ निद्रा भाग जाती है। प्रत्यक्षादि प्रमाणरूपी दिनारम्भ (प्रभातकाल) में मांगलिक माला के समान कल्याणकारिणी नयवाणी (न्याययुक्त-वाणी) प्रौढता धारण कर लेती है। ऐसा जैनागमरूपी दिवाकर सदा समृद्धिशाली हो।

अध्यात्मामृतवर्षिभिः कुवलयोल्लास विलासैर्गवां।
तापव्यापविनाशिभिर्वितनुते लब्धोदयो यः सदा॥

तर्कस्थाणुशिर: स्थित: परिवृत स्फारैर्नयैस्तारकै: ।
सोऽयं श्रीजिनशासनामृतरुचि कस्यैति नो रुच्यताम् ॥५॥

जैनागमरूपी चन्द्रमा सदा उदय हो कर अध्यात्मरूपी अमृत की वर्षा करता है तथा ताप (धूप) के प्रसार (सचार) को नाश करने वाले वाणी के विलास से पृथ्वी के मडल (कमल) को उल्लसित (विकसित) करता है। जो तर्करूपी शकर के मस्तक पर स्थित है। तथा जो देदीप्यमान नयोरूपी तारो से घिरा हुआ है। ऐसा जिनशासनरूपी चन्द्रमा किसे रुचिकर नही होता ?

सद्ज्ञानरूपी लक्ष्मी से युक्त जिनागमरूपी अमृतवर्षी चन्द्रमा किसे रुचिकर नही होता ? सबको ही आनन्ददायक होता है। वह जिनागमरूपी चन्द्रमा दोनो पक्षों मे उदय हो कर अध्यात्मरूपी अमृत की वर्षा करता है, जिससे मन-वचन-काया के विकार से उत्पन्न हुए सताप (गर्मी) के फैलाव को मिटाने वाले वाणीरूपी किरणो के विलास से पृथ्वी-मडलरूपी कमलवन को उसी तरह विकसित (उल्लसित) कर देता है, जिस तरह चन्द्रमा कुमुदवन का विकास कर देता है। वह जिनागमचन्द्र तर्करूपी शकर के मस्तिष्क (भाल) पर विराजमान रहता है, यानी सन्यास से विरोधरहित वस्तुस्वरूप का साधक होने से तर्क प्रधानतया स्थिर रहता है। और जो देदीप्यमान प्रधान नैगमादि नयो रूपी तारामण्डल मे परिवृत रहता है।

बौद्धानामृजुसूत्रतो मतमभूद् वेदान्तिनां सग्रहात् ।
साख्याना तत एव नैगमनयाद् योगश्च वैशेषिक. ॥
शब्दब्रह्मविदोऽपि शब्दनयत सर्वैर्नयैर्गुम्फिता ।
जैनी दृष्टिरितीह सारतरता प्रत्यक्षमुद्वीक्ष्यते ॥६॥

बौद्धदर्शन ऋजुसूत्रनय मे से हुआ है, वेदान्तियो का दर्शन सग्रहनय के आश्रित हुआ है, साख्यदर्शन भी सग्रहनय से ही हुआ है। योग और वैशेषिक दर्शन नैगमनय से हुए है। तथा शब्द को ही ब्रह्म मानने वाले मीमासको का दर्शन शब्दनय मे से हुआ है। परन्तु जैनदर्शन तो सभी नयो से गुम्फित है। इस कारण जैनदर्शन की श्रेष्ठता प्रत्यक्ष ही दिखाई देती है।

बौद्धों का दर्शन केवल ऋजुसूत्रनय को ले कर उत्पन्न हुआ है, क्योंकि वह उत्पन्न हुई (वर्तमान) वस्तु को ही मानते हैं, तथा वेदान्तियों का अर्थात् अद्वैत का प्रतिपादन करने वाला एवं ज्ञानकाण्ड को ही अंगीकार करने वाला (वेदान्त) दर्शन संग्रहनय के आधार से पैदा हुआ है, क्योंकि वह उत्पत्ति और विनाश से रहित वस्तु को स्थिति के स्वभाव वाली मानता है। सांख्यदर्शन भी संग्रहनय का आधार ले कर उत्पन्न हुआ है, क्योंकि वह आत्मा को अकर्ता मानता है। योग अर्थात् योगदर्शन भी इसी तरह मानता है, अत वह भी संग्रहनयाधारित है। अथवा योग यानी गौतम का नैयायिकदर्शन और कणाद का वैशेषिक दर्शन ये दोनों नैगमनय का आश्रय ले कर प्रकट हुए हैं। शब्दब्रह्म को मानने वाले जैमिनी का मीमांसादर्शन शब्दनय के आधार से पैदा हुआ हैं। इस प्रकार सभी दर्शन एक एक नय का आश्रय ले कर प्रादुर्भूत हुए हैं। परन्तु जैनदर्शन समग्रनयों से ग्रथित है, इसलिए सब दर्शनों से जैनदृष्टि (वस्तु को देखने की बुद्धि) की श्रेष्ठता साक्षात् दृष्टिगोचर हो रही है।

> उष्मा नार्कमपाकरोति दहनं नैव स्फुलिंगावली।
> नाब्धि सिन्धुजलप्लवः सुरगिरि ग्रावा न चाभ्यापतन्।
> एवं सर्वनयैकभावगरिमस्थानं जिनेन्द्रागमम्,
> तत्तद्दर्शन सकथांशरचनारूपा न हन्तुं क्षमा ॥७॥

जिस प्रकार घाम सूर्य को दूर नहीं कर सकता, आग की चिनगारियाँ अग्नि को हटा नहीं सकतीं, नदी के पानी की बाढ़ समुद्र को दूर नहीं ठेल सकती, सामने गिरता हुआ पाषाणखण्ड मेरुपर्वत को डिगा नहीं सकता इसी प्रकार समस्तनयों के अद्वितीयभाव के महास्थानरूप जिनेन्द्रागम को उस-उस दर्शन (परदर्शन) का आंशिक रचनारूप कथन पराभूत (पराजित) करने में समर्थ नहीं है।

उष्मा=धूप या गर्म स्पर्श वाले धूल आदि पदार्थ सूर्य को दूर नहीं कर सकते, यानी अपने ताप से सूर्य के ताप को पराभूत नहीं कर सकते तथा आग की चिनगारियाँ अग्नि (दावानल) को हटा नहीं सकतीं,

नदी मे आई हुई पानी की बाढ समुद्र को दूर नही ठेल सकती, तथा सम्मुख गिरता हुआ पत्थर का टुकडा मेरुपर्वत को खिसका नही सकता, इसी तरह समस्तनयो को एकभाव एक ही स्थल मे सिद्ध करने के भाव के गौरवस्थलरूप जिनागम को उसके अश की रचना-रूप (एक एक नयरचना वाली) उस उस दर्शन की बाते पराभूत करने (दबाने, मे समर्थ नही है । कारण यह है कि जैनागम मे सर्व-दर्शन समाविष्ट है, जबकि अन्य दर्शनो मे जिनदर्शन के एक-एक अश का कथन ही है ।

दु साध्यं परवादिनां परमतक्षेप विना स्व मत,
तत्क्षेपे च कषायपककलुष चेत समापद्यते ।
सोऽयं नि स्वनिधिग्रहव्यवसितो वेतालकोपक्रमो,
नाऽय सर्वहितावहे जिनमते तत्त्वप्रसिद्ध्यर्थिनाम् ॥८॥

परवादियो (अन्यदर्शनियो) के लिए दूसरे के मत पर आक्षेप (खण्डन, तिरस्कार) किये विना अपने मत को सिद्ध करना दुष्कर है । और उस तिरस्कार से चित्त कषायरूपी कीचड से मलिन होता है । अत यह व्यापार निर्धन के खजाने को ग्रहण करने मे उद्यत वेताल के क्रोध का-सा उपक्रम है । ऐसा कदम (उपक्रम) तत्त्व के जिज्ञासार्थियों के लिए सर्व-हितकारी जैनदर्शन मे नही है ।

अन्यदर्शनकारो के लिए अन्यमत पर आक्षेप (असद्दोषारोपण, निन्दा, खण्डन या तिरस्कार अथवा अपने मत का गर्व) किये विना अपने मत का सिद्ध करना दु शक्य है । और परमत के उस तिरस्कार आदि क्रम से मन कषायरूपी कीचड से कलुषित हो जाता है । अत वह तिरस्कारादि की प्रवृत्ति गरीव के खजाने को हरण करने के लिए उद्यत भूत के आवेश (कोपकाण्ड) के समान है । ऐसा उपक्रम पारमार्थिक ज्ञानार्थियो के लिए सर्वहितकारी जैनदर्शन मे सर्वथा नही होता ।

वार्ता सन्ति सहस्रश प्रतिमत ज्ञानांशवद्धक्रमाश्
चेतस्तासु न न प्रयाति नितरां लीन जिनेन्द्रागमे ।

नोत्सर्पन्ति लता कति प्रतिदिश पुष्पै पवित्रा मधौ,
ताभ्यो नैति रति रसालकलिकारक्तस्तु पुस्कोकिल ॥९॥

प्रत्येक दर्शन मे ज्ञान के अलग-अलग अश से क्रमबद्ध हजारो बाते है। फिर भी जिनेश्वर के आगम मे अत्यन्त लीन हुआ हमारा मन उन बातो की ओर जाता ही नही। यथा वसन्तऋतु मे प्रत्येक दिशा मे फूलो से पवित्र (सुशोभित) कई लताएं नही दिखती ? बहुत-सी दिखती हैं, तथापि आम की मजरी मे आसक्त बना हुआ नरकोयल उन (अन्य) लताओ पर रति (प्रीति) नही करता।

प्रत्येक दर्शन मे ज्ञान के अश से क्रमश रची हुई हजारो बाते है। फिर भी जिनेश्वरो के सिद्धात मे अत्यन्त मग्न हुआ हमारा चित्त उन बातो की तरफ जाता ही नही। इसे रूपक द्वारा समझाते हैं—यथा वसन्तऋतु मे हर एक दिशा मे खिले हुए फूलो से सुशोभित कितनी-कितनी लताएँ नही फैलती ? यानी पुष्पो से समृद्ध नही होती ? अर्थात् सभी लताएँ फूलो से समृद्ध होती हैं। किन्तु आम्रवृक्ष की मजरी मे आसक्त हुआ कोकिलपक्षी उन लताओ पर प्रीति नही करता। वह तो आम्रवृक्ष का ही उपभोग करता है, उसी पर प्रीति करता है। इसी प्रकार मेरा मन भी जिनसिद्धातरूपी आम्रमजरी पर रत होता है, अन्य दर्शनरूपी लताओ पर नही।

शब्दो वा मतिरेव वस्तु वा जाति क्रिया वा गुण ।
शब्दार्थ किमिति स्थिता प्रतिमत सन्देहशकुव्यथा ॥
जैनेन्द्रे तु मते न सा प्रतिपद जात्यन्तरार्थस्थिते ।
सामान्य च विशेषमेव च यथा तात्पर्यमन्विच्छति ॥१०॥

क्या आत्मा शब्दरूप है ? क्या वह बुद्धिरूप है या द्रव्यरूप है ? या वह जातिरूप है, क्रियारूप है अथवा गुणरूप है ? क्या वह शब्दार्थरूप है ? इस प्रकार प्रत्येक मत (दर्शन) मे सदेहरूपी कील की पीड़ा रही हुई है। किन्तु जैनेन्द्रमत (दर्शन) मे तो प्रत्येक पद मे जात्यन्तर का अर्थ होने से उस प्रकार की सदेहव्यथा है ही नही, क्योकि

का ज्ञान होते हुए भी मिथ्याबुद्धि के सस्कार से आत्मा मे बध की बुद्धि होती है।

शख श्वेत ही होता है, लेकिन पीलिया रोग के दोप के कारण जैसे आँखो से शख पीला दिखता है, वैसे ही 'आत्मा अवद्ध है', ऐसा शास्त्र से ज्ञान (ज्ञात) होने पर भी मिथ्यात्वबुद्धि के सस्कार के कारण वह कर्मवन्धन से वद्ध लगता है आत्मा कर्मो से बधा हुआ है, ऐसी बुद्धि होती है। मतलव यह है कि प्रत्यक्षविषयक शका को केवल शास्त्रज्ञान मिटा नही सकता।

श्रुत्वा मत्वा मुहु. स्मृत्वा साक्षादनुभवन्ति ये।
तत्त्व न बन्धधीस्तेषामात्माऽवन्ध प्रकाशते ॥१७७॥

जो वार वार तत्त्व सुन कर उस पर मनन करके, तथा उसका स्मरण करके साक्षात् अनुभव करते हैं, उन्हे वन्ध की बुद्धि नही नही होती, उन्हे आत्मा अवन्ध (वन्धरहित) प्रकाशित होता है।

सद्विवेकी पुरुप गुरुदेव के मुख से अध्यात्मशास्त्र मे से वार-बार तत्त्व भेद-प्रभेदसहित जीवादि के वस्तुस्वरूप को सुन कर, उस पर मन मे मनन करके, पूर्वापर-सम्वन्ध का स्मरण करके साक्षात् अनुभव करते हैं, अर्थात् अपनी बुद्धि मे प्रत्यक्षवत् कर लेते हैं, उन विचार विचक्षण पुरुपो को वन्ध की बुद्धि (मेरा आत्मा कर्म से बधा है, ऐसी बुद्धि) नही होती। इस कारण उन्हे शुद्ध निश्चयवृत्ति से आत्मा वन्ध-रहित ही प्रकाशित (प्रतीत) होता है। चैतन्य की सत्ता जातिभेद के कारण पृथक् ही रही हुई है। इसलिए उसके बन्ध का अभाव है। इस प्रकार आत्मा का वन्धतत्व से भेद का विचार पूर्ण हुआ।

द्रव्यमोक्ष क्षय· कर्मद्रव्याणा नात्मलक्षणम्।
भावमोक्षस्तु तद्धेतुरात्मा रत्नत्रयान्वयी ॥१७८॥

कर्मद्रव्यो का जो क्षय, वह द्रव्यमोक्ष कहलाता है, पर वह आत्मा का लक्षण नही है। परन्तु उस द्रव्यमोक्ष का हेतुरूप रत्नत्रयी से युक्त जो आत्मा है, वह भावमोक्ष कहलाता है।

अब आत्मा का मोक्षतत्त्व से भेदनिरूपण करते हैं अशुद्ध निश्चयनय की दृष्टि से कर्म के योग्य पुद्गल-स्कन्धों का क्षय यानी जीव के प्रदेशों के साथ सर्वथा उनका असम्बन्ध, द्रव्यमोक्ष (सिर्फ कर्म के दलिकों के ही बंध की मुक्ति यानी पुद्गलबन्ध का ही नाश) होता है, वह कोई आत्मा का लक्षण (आत्मस्वरूप) नहीं है। मतलब यह है कि समग्र, कर्मपुद्गल, जो कर्म से भिन्न (पृथक्) हुए हैं, वे उस कर्मत्व से से रहित हो जाते हैं। इस कारण द्रव्य का मोक्ष उसकी कर्मत्व से रहितता हो जाती है, इसलिए वह द्रव्यमोक्ष कहलाता है। और सम्यग्दर्शनादि तीन रत्नों से युक्त तथा द्रव्यमोक्ष का हेतुरूप जो आत्मा, वह भावमोक्ष यानी प्रधानमोक्ष कहलाता है, क्योंकि वह मोक्ष से अपना पूर्णस्वरूप प्राप्त होता है।

ज्ञानदर्शनचारित्रैरात्मैक्यं लभते यदा।
कर्माणि कुपितानीव भवन्त्याशु तदा पृथक् ॥१७९॥

जब आत्मा ज्ञान, दर्शन और चारित्र के साथ ऐक्य (तादात्म्य) प्राप्त कर लेता है, तब कर्म मानो कुपित हो कर शीघ्र ही पृथक् हो जाते हैं।

जब आत्मा ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूप रत्नत्रय के साथ तादात्म्य प्राप्त कर लेता है, यानी जब आत्मा रत्नत्रय के साथ तन्मय हो जाता है, (ज्ञान-श्रद्धा-आचरण से युक्त हो जाता है), तब ज्ञानावरणीयादि कर्म मानो कुपित हो कर तत्काल जीवप्रदेशों से अलग अलग हो जाता है।

अतो रत्नत्रयं मोक्षस्तदभावे कृतार्थता।
पाखण्डिगणलिंगैश्च गृहिलिंगैश्च काऽपि न ॥१८०॥

इस कारण रत्नत्रयरूप मोक्ष है। उस रत्नत्रय के अभाव मे पाखण्डीगण के वेषों मे या गृहस्थवेषों मे कोई कृतार्थता नही है।

पूर्वोक्त कारणों से त्रिरत्नमय होना ही मोक्ष है, क्योंकि कर्म को आत्मा से अलग करने वाला रत्नत्रय है और इसी से मोक्ष मिलता है। इस रत्नत्रय के बिना पाखण्डियों के अनेक प्रकार के वेष (अपने-अपने)

मतानुसार) धारण करने से अथवा गृहस्थ के नाना वेश (पोशाक) धारण करने (पहनने) से कुछ भी कृतार्थता (क्रिया वगैरह मे सफलता) नही होती। रत्नत्रययुक्तवेप ही मोक्ष का साधक है, अन्य नही।

पाखडिगणलिंगेषु गृहीलिंगेषु ये रता ।
न ते समयसारस्य ज्ञातारो बालबुद्धय ॥१८१॥

जो पाखडियो के नाना वेषो मे या गृहस्थवेषो मे आसक्त है, वे बालबुद्धि है, समयसार (सिद्धान्त के तत्त्व) के जानकार नही हैं।

तत्त्व के स्वभाव (रहस्य) को नही जानने वाले केवल विविध प्रकार के पाखडी साधुओ के वेप धारण करने का आग्रह (आसक्ति) रखते हैं, तथा ब्राह्मणादि गृहस्थवेश में आसक्त है, यानी जिनकी यह पकड पूर्वाग्रह है, कि "हमारे ही वेष मे मोक्ष हो सकता है, अन्य सर्व साधन झूठे है," समझ लो वे बालबुद्धि (अज्ञानरत) है, तत्त्वातत्त्व के विचार से शून्य अज्ञानी मनुष्य सिद्धात के रहस्य को बिलकुल नही जानते।

भावलिंगरता ये स्यु सर्वसारविदो हि ते ।
लिंगस्था वा गृहस्था वा सिध्यन्ति धूतकल्मषा ॥१८२॥

जो भावलिंग मे रता है, वे सर्वसार के ज्ञाता है, इसलिए वे साधुवेष मे हो, या गृहस्थ-वेप मे हो, फिर भी वे पाप का क्षय करके सिद्धिपद प्राप्त करते है।

रत्नत्रयरूप वस्तुधर्म के जो अच्छी तरह से जानकार है, तथा रत्नत्रयमय भावलिंग को श्रद्धापूर्वक स्वीकार करते है, उन्होने सारे तत्त्वो के रहस्य को जान लिया है, वे चाहे तो किसी साधुवेश मे रहे, चाहे गृहस्थवेष आदि मे रहे, फिर भी वे आत्मा पापमल का नाश कर सिद्धिपद प्राप्त कर लेते है।

भावलिंग हि मोक्षांग द्रव्यलिंगमकारणम् ।
द्रव्य नात्यन्तिक यस्मात्साप्यैकान्तिकमिष्यते ॥१८३॥

भावलिंग ही मोक्ष का अग (कारण) है, द्रव्यलिंग मोक्ष का कारण नही है ; क्योंकि द्रव्य आत्यन्तिक अभीष्ट नही है, और न ही ऐकान्तिक अभीष्ट है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रयमय भावलिंग अवश्य ही मोक्ष का प्रयोजक (कारण) है और द्रव्यलिंग साधु, गृहस्थ आदि का अनेक प्रकार का वेष का मोक्ष का अकारण है, क्योंकि द्रव्य अप्रधान (गौण) साधन है, इसलिए आत्यन्तिक कारणरूप से वह अभीष्ट नही है, और न ही ऐकान्तिक कारणरूप से अभीष्ट (इच्छित, है ; क्योंकि वह किसी का अकारणरूप भी होता है, अत वह व्यभिचारी कारण है।

यथाजातदशालिंगमर्थादव्यभिचारि चेत् ।
विपक्षबाधकाभावात्तद्धेतुत्वे नु का प्रमा ? ॥१८४॥

जिस प्रकार से जन्म हुआ, वैसी दशारूप वेष मोक्षरूपी अर्थ से अव्यभिचारी है, यदि ऐसा कहते हो तो विपक्षबाधक का अभाव होने से मृग आदि भी यथाजात (नग्न) दशा मे रहते है, उनका भी मोक्ष होने लगेगा और सभी नग्नो का यदि मोक्ष इष्ट नही है, तो उस नग्नत्व को मोक्ष का कारण कहने मे क्या प्रमाण है ?

दिगम्बरमत वाले ऐसा मानते हैं कि "जिस रूप मे माता के गर्भ से निकला और जन्म लिया, तद्रूप दशा नग्नत्व की अवस्था यथाजात दशा कहलाती है। तद्रूप वेष मोक्ष का असाधारण (अव्यभिचारी) कारण है। उसी वेषरूप कारण से मोक्षरूप कार्य होता है।" यदि ऐसा कहते हैं तो विपक्ष बाधक के अभाव से यानी मोक्ष के प्रति व्याघात करने वाले मोहादिकृत जो बाधकभाव (यानी मोक्ष का अभाव है,) उसका आपके द्वारा बताए हुए कारण मे अभाव होने से वस्त्ररहित सभी जीवों-मृग आदि प्राणियो का मोक्ष हो जायगा, क्योंकि उसमे नग्नत्व को निश्चित कारण माना है। फिर आप अपने चित्त मे विचार करके कहिये कि अगर सभी नग्न जीवो को मोक्ष आप नही चाहते तो फिर उसके हेतु में नग्नत्व को मोक्ष का कारण मानने मे दूसरा कौनसा प्रमाण है ? कोई भी नही।

वस्त्रादिधारणेच्छा चेद् बाधिका तस्य तां विना ।
धृतस्य किमवस्थाने करादेरिव बाधकम् ॥१८५॥

यदि वस्त्रादि धारण करने की इच्छा मोक्ष मे बाधक है, तो उसकी (वस्त्र की) इच्छा के विना ही हाथ वगैरह की तरह धारण किए हुए वस्त्रादि के होने मे क्या बाधा है ?

दिगम्बरमतीय कहते है—'(वस्त्रादि) वस्त्रपात्र आदि ग्रहण (धारण) करने की इच्छा ही मोक्षप्राप्ति मे बाधक (विघ्नकारक) है।' इसका उत्तर यह है कि आप यह तो मानते हैं कि यदि इच्छा-मूर्छा के बिना मुनि वस्त्र-पात्रादि धारण करे तो मोक्ष मे बाधक नही होते है, जैसे हम अपने हाथ-पैर आदि इच्छा के बिना रखते है, तो क्या वे बाधकरूप होते है ? नही होते । अत शरीरादि की तरह वस्त्रादि भी आधाररूप रहते हुए भी मुनि के लिए क्या बाधक हैं ? कोई भी बाधकत्व हम नही देखते ।

स्वरूपेण च वस्त्र चेत्केवलज्ञानबाधकम् ।
तदा दिक्पटनीत्यैव तत्तदावरणं भवेद् ॥१८६॥

यदि वस्त्र स्वरूप से ही केवलज्ञान मे बाधक है तो दिगम्बर मत के अनुसार केवलज्ञानावरणीय के समान वस्त्रावरण भी होना चाहिए।

दिगम्बर फिर कहते है कि इच्छा के विना वस्त्र रखते होगे, किन्तु वस्त्रत्वसत्ता शरीर पर विद्यमान होने से वह केवलज्ञान की उत्पत्ति मे बाधकरूप है। इस पर ग्रन्थकार कहते हैं केवलज्ञान का आवरण करने वाला ज्ञानावरणीय कर्म होता है, और आपके मतानुसार एक और वस्त्रावरण भी केवलज्ञान का बाधक होना चाहिए, ऐसा हमने किसी शास्त्र मे पढा नही है।

इत्थ केवलिनस्तेन मूर्ध्नि क्षिप्तेन केनचित् ।
केवलित्व पलायेतेत्यहो किमसमञ्जसम् ! ॥१८७॥

ऐसा होने पर तो केवली के मस्तक पर कोई व्यक्ति वस्त्र डाल दे

तो उनका केवलज्ञान नष्ट हो (भाग) जाना चाहिए, यह कैसा असमंजस-पूर्ण (अयोग्य, अटपटा) कथन है ?

यदि आपके मतानुसार वस्त्र केवलज्ञान को रोकता है, यदि ऐसा सिद्ध हो जाएगा तो किसी नग्न केवली के मस्तक पर कोई भक्त दया ला कर वस्त्र डाल देगा तो उनका केवलज्ञान नष्ट हो जाएगा, क्योंकि वह फिर ज्ञानावरण से आवृत हो जाएगा। अहो, अत्यन्त खेद की बात है कि वस्त्रादि धारण करने से क्या अघटित हो जाता है ?

भावलिंगात् ततो मोक्षो, भिन्नलिंगेष्वपि ध्रुव ।
कदाग्रहं विमुच्यैतद् भावनीय मनस्विना ॥१८८॥

इसलिए भिन्नलिंग वाले होने पर भी भावलिंग से अवश्य मोक्ष है। अतः कदाग्रह छोड कर मनस्वी पुरुष को इस पर भलीभांति विचार करना चाहिए ।

इसलिए दिगम्बर हो, श्वेताम्बर हो, गृहलिंगी हो, सन्यास-वेशधारी, आदि किसी भी वेश को धारण करने वाला हो, (केवल वेश से) उसका मोक्ष नही होता, परन्तु ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप रत्नत्रय=भावलिंग के द्वारा ही वह मोक्ष का अधिकारी हो सकता है । और वह भावलिंग वाला किसी भी वेश मे हो, फिर भी उसका मोक्ष अवश्य होता है। इसलिए मनस्वी पुरुष को कदाग्रह छोड कर सम्यक्प्रकार से विचार करना चाहिए।

अशुद्धनयतो ह्यात्मा बद्धो मुक्त इति स्थिति ।
न शुद्धनयतस्त्वेष बद्ध्यते नाऽपि मुच्यते ॥१८६॥

अशुद्धनय की दृष्टि मे आत्मा बद्ध और मुक्त होता है, परन्तु शुद्ध नय से तो आत्मा का बन्ध और मोक्ष भी नही होता।

यह सब बात अशुद्ध निश्चयनय की दृष्टि से कही है, उसके कारण आत्मा अपने भावो से कर्म का बन्धन करता है और उस कर्म से मुक्त भी होता है, और शुद्ध निश्चयनय से तो आत्मा बन्ध करता ही नही है, और मुक्त भी नही होता, क्योंकि आत्मा मुक्ति और बन्ध से रहित सदा एक ही स्वरूप मे रहता है।

अन्वयव्यतिरेकाभ्यामात्मतत्वविनिश्चयम् ।
नवेभ्योऽपि हि तत्त्वेभ्य. कुर्यादेवं विचक्षण ॥१८०॥

इस प्रकार विचक्षण पुरुष को नौ तत्वो से अन्वय और व्यतिरेक द्वारा आत्मतत्व का निश्चय करना चाहिए।

पूर्वकथनानुसार जैन सिद्धात मे निपुण पुरुष को शुद्ध निश्चयनय से जीवादि नौ तत्वो से यानी उपचार से रहित सत्पदार्थों से अन्वय (नौ तत्वो के साथ एकत्व) और व्यतिरेक (उनके साथ भिन्नत्व) के द्वारा आत्मतत्व का निश्चय अर्थात् वास्तविक जीवस्वरूप का निश्चय करना चाहिए।

इदं हि परमाध्यात्ममममृतं ह्यद एव च ।
इदं हि परम ज्ञानं योगोऽयं परम स्मृत ॥१८१॥

यही उत्कृष्ट अध्यात्म है, यही अमृत है, यही उत्कृष्ट ज्ञान है और यही परम योग कहलाता है।

यह आत्मतत्व का निश्चय ही सर्वोत्कृष्ट अध्यात्मरूप है, आत्म-तत्व का निश्चय अथवा अकेला परोक्षज्ञान ही अमृत है। यानी समस्त कर्मरोग का हरण करने वाला होने से अमृत के समान है। यही उत्कृष्ट ज्ञान है, क्योकि यही सर्वज्ञता का कारण है, तथा यही परम यानी सब मे प्रधान योग मोक्षोपाय बताया है।

गुह्यात् गुह्यतरम् तत्वमेतत्सूक्ष्मनयाश्रितम् ।
न देय स्वल्पबुद्धीनां ते ह्येतस्य विडम्बका ॥१८२॥

यह गुह्य (रहस्यमय) से गुह्यतर (बढकर रहस्यमय) तत्व सूक्ष्मनय के आश्रित है। इसलिए अल्पबुद्धि वालो को यह तत्व देने योग्य नही है। क्योकि वे इसकी विडम्बना करने वाले (प्राय) होते हैं।

यह आत्मविनिश्चय गुह्य से भी गुह्यतर (अत्यन्त गोपनीय गुप्त रखने योग्य) तत्व (रहस्य) है और वह निपुण बुद्धि से जानने योग्य जो नय है, उस पर आधारित है। इसलिए यह तत्व अल्पबुद्धि वाले व्यक्तियो को देने योग्य नही है, क्योकि वे अल्पबुद्धि व्यक्ति इस सूक्ष्म

आत्मतत्त्व को ठुकरा देंगे, यानी अल्पज्ञता के कारण इसका तिरस्कार करेंगे।

जैनानामल्पबुद्धीनां नैतत्त्व हितावहम्।
निर्बलानां क्षुधार्त्तानां भोजनं चक्रिणो यथा ॥१६३॥

जैसे दुर्बल क्षुधातुर व्यक्तियो के लिए चक्रवर्ती का गरिष्ठ भोजन हितकर नही होता, वैसे ही अल्पबुद्धि वाले मनुष्यो को यह आत्मतत्त्व हितकारी नही होता।

जो कई दिनो से भूख से पीडित हो और शरीर से दुर्बल हो, उन्हे चक्रवर्ती का अत्यन्त पुष्टिकारक भोजन दे दिया जाय तो वे हजम नही कर सकते और हजम करने की ताकत हो, तभी वह भोजन हितकारी हो सकता है, इसी प्रकार अल्पबुद्धिरूपी धन वाले पुरुषो को पूर्वोक्त तत्त्व वास्तविक आत्मस्वरूप का चिन्तन हितकर (कल्याण-कारक) नही है। इस कारण देने योग्य नही है, क्योंकि वे वास्तविक आत्मतत्त्व को जान नही सकते।

ज्ञानांशदुर्विदग्धस्य तत्त्वमेतदनर्थकृत्।
अशुद्धमंत्रपाठस्य फणिरत्नग्रहो यथा ॥१६४॥

जैसे अशुद्धमत्रपाठ करने वाले को शेषनाग का रत्न ग्रहण करना अनर्थकारी होता है, वैसे ही ज्ञान का अश पा कर अपने को महा-विद्वान् मानने वाले के लिए यह तत्त्व अनर्थकारी होता है।

अधूरा ज्ञान पा कर अभिमान करने वाले और अपने आपको पण्डित मानने वाले को यह आत्मतत्त्व का रहस्यज्ञान (तत्त्व) उसी तरह अनर्थकर होता है, जिस तरह मत्र के अशुद्ध उच्चारण या अविधिपूर्वक पठन करके शेषनाग के मस्तिष्क की मणि लेने के अभिलाषी को वह मौत का अनर्थ पैदा कर देता है। साराश यह है कि अर्थ का अनर्थ करना दुर्गति का कारण बनता है।

व्यवहाराविनिष्णातो यो ज्ञीप्सति विनिश्चयम्।
कासारतरणाशक्त स तितीर्षति सागरम् ॥१६५॥

जो पुरुष व्यवहारनय मे कुशल नही है, वह अगर निश्चयनय को जानना चाहता है तो वह उसी तरह है, जिस तरह छोटे-से तालाव को पार करने मे अशक्त कोई व्यक्ति समुद्र पार करना चाहता हो।

जिस अल्पज्ञ ने व्यवहारनय की दृष्टि को जीवन मे भलीभाति पचाई न हो, उसका निश्चयनय को जानने की इच्छा करना, सरोवर के जल पर तैरने मे असमर्थ व्यक्ति का महासमुद्र तैरने की इच्छा करने के समान महामूर्खता है। इसलिए सर्वप्रथम व्यवहारनय को अच्छी तरह समझ कर फिर निश्चयनय के तत्त्व को समझना चाहिए। लोक-व्यवहार मे भी पहले तालाव मे तैरना सीखने के बाद ही कोई व्यक्ति समुद्र मे तैरने की कोशिश करता है।

व्यवहार विनिश्चित्य तत शुद्धनयाश्रित ।
आत्मज्ञानरतो भूत्वा परम साम्यमाश्रयेत् ॥१९६॥

इसलिए शुद्धनय का आश्रय लेने वाले पुरुष को पहले व्यवहार का निश्चय करके तदनन्तर आत्मज्ञान मे रत हो कर उत्कृष्ट समता को प्राप्त करना चाहिए।

इसलिए यह सिद्ध हुआ कि शुद्धनय का आलम्बन लने वाले अर्थात् वास्तविक वस्तुस्वरूप का प्रतिपादन करने मे तत्पर जो नय (वचनमार्ग) है, उसे हृदय मे धारण करके तथा व्यवहार का यानी क्रिया की विधि का निश्चय करके विशेषत उसका आचरण करने मे तत्पर हो कर उसके आत्मज्ञान मे ओतप्रोत हो कर यानी आत्म-स्वरूप को जानने मे प्रसन्नचित्त हो कर व्यवहार और निश्चय इन दोनो नयो पर दोनो आंखो के समान प्रीति रखने वाला व्यक्ति परमशुद्ध समता को प्राप्त करे।

॥इति आत्मविनिश्चयाधिकार ॥

जिनमत-स्तुति

उत्सर्पद्व्यवहार-निश्चयकथा-कल्लोलकोलाहले-
त्रस्यद्दुर्नयवादि-कच्छपकुल-भ्रश्यत्कुपक्षाचलम् ॥
उद्यद्युक्तिनदीप्रवेशसुभग स्याद्वादमर्यादया ।
युक्तं श्रीजिनशासन जलनिधि मुक्त्वा परं नाश्रये ॥१॥

व्यवहार और निश्चयकथारूपी उछलती हुई तरंगो के कोलाहल से दु खी होते हुए दुर्नय (एकान्त) वादी-रूपी कछुओं का झुंड है। जिसमे कुपक्षरूपी पर्वत गिर रहे है, और अकाट्य युक्तियोरूपी नदियो के प्रवेश से मनोहर है, तथा स्याद्वाद की मर्यादा से युक्त है, ऐसे जिन शासनरूपी महासमुद्र को छोड कर मैं दूसरे किसी का आश्रय नही लेता।

इसमे जिनशासन को समुद्र की उपमा दी गई है। वह जिनशासन-रूपी महासमुद्र कैसा है ? इसमे निश्चय और व्यवहार के कथनरूपी उछलती हुई लहरे हैं, यानी कर्तव्य का बोध और स्वरूप के नाम से विश्वप्रसिद्ध क्रिया और ज्ञानरूप नयो की कथारूपी उछलती हुई तरगे हैं। उन तरगसमूहो की महाध्वनि से दुर्नयवादी (एकान्तपक्षवादी) रूपी कछुओ का झुंड दु:खी हो रहा है। और उसमे कुपक्षरूपी (मतविरोध-रूपी) पर्वत टूट कर गिरते है। विरुद्ध अर्थ से रहित विस्तृत प्रौढ युक्तियो (विविध प्रकार के नयों के प्रमाण मे अर्थनिश्चयकारिणी) रूपी नदियो के प्रवेश से जो सौभाग्यशाली है। और जो स्याद्वाद (अनेकान्तवाद नित्य-अनित्य आदि सापेक्षवाद) रूपी मर्यादा (चारो तटो) से युक्त है। ऐसी श्रीजिनशासनरूप (सत्यतादि सुन्दरता से और महाप्रभावशाली लक्ष्मी से युक्त जिनागमरूप) महासमुद्र को छोड कर मैं और किसी का आश्रय नही लेता।

पूर्णं पुण्यनयप्रमाणरचनापुष्पैः सदास्थारसैस् ।
तत्त्वज्ञानफलः सदा विजयते स्याद्वादकल्पद्रुमः ॥
एतस्मात्पतितैः प्रवादकुसुमैः षड्दर्शनारामभूर्-
भूयः सौरभमुद्वमत्यभिमतैरध्यात्मवार्तालवैः ॥२॥

सम्यक् आस्थारूपी पवित्र नयो और प्रमाणो की रचनारूप पुष्पो से जो परिपूर्ण है, जिसके तत्त्वज्ञानरूपी फल है, ऐसा स्याद्वादरूपी कल्पवृक्ष सदा विजयी होता है। उस पर से गिरे हुए अभीष्ट और अध्यात्मरूपी छोटी-छोटी वातो वाले प्रवादरूपी पुष्पो से षड्दर्शनरूपी उपवन की भूमि अत्यन्त सौरभ फैला रही है।

इस श्लोक मे जिनागम को कल्पवृक्ष से उपमा दी है। जो सम्यक् श्रद्धारूपी रस (सुगन्ध) वाले पवित्र नैगमादि सात नय और प्रत्यक्षादि चार प्रमाण की रचनारूप पुष्पों से परिपूर्ण है और वास्तविक वस्तुस्वरूप के तत्त्वज्ञानमय फल हैं, जहाँ अनेकान्तरूप कल्पवृक्ष हमेशा विजय प्राप्त करता है। इस स्याद्वादरूपी कल्पवृक्ष से गिरे हुए और सवके लिए रुचिकर अध्यात्म के कथनाश वाले प्रकृष्टवस्तु के वादरूपी पुष्पो से वौद्ध, सांख्य, वैशेपिक, नैयायिक, मीमासक और चार्वाक इन षड्दर्शनरूपी उद्यानभूमि अत्यन्त सुगन्ध दे रही है।

चित्रोत्सर्गशुभापवादरचनासानुश्रियालंकृतः ।
श्रद्धानन्दनचन्दनद्रुमनिभप्रज्ञोल्लसत्सौरभः ॥
भ्राम्यद्भिः परदर्शनग्रहगणैरासेव्यमानः सदा ।
तर्कस्वर्णशिलोच्छ्रितो विजयते जैनागमो मन्दरः ॥३॥

अनेक प्रकार के उत्सर्ग और शुभ अपवादमार्ग की रचनारूपी शिखरो की शोभा से जो अलंकृत है। श्रद्धारूपी नन्दनवन के चन्दनतरुओ के सदृश वुद्धि से जिसमे सुगन्ध फैल रही है। परिभ्रमण करते हुए परदर्शनरूपी ग्रहगणो के द्वारा जो निरन्तर सेवित है और तर्करूपी स्वर्णशिलाओ से जो अतिउन्नत है, ऐसा जिनागमरूपी मेरुपर्वत विजयी हो।

जिनागम को यहाँ मेरुपर्वत की उपमा की है। वह नाना प्रकार के उत्सर्गों (सामान्य सनातन धर्मव्यवहारों) तथा शुभ (निर्दोष) अपवादों (कारणविशेष मे सेवनीय धर्मव्यवहारों) की रचना वाणीविन्यासरूपी शिखरों की शोभा से अलंकृत (सुसज्जित) है। श्रद्धा जिनवचन पर आस्थारूपी नन्दनवन मे चन्दन वृक्ष के जैसी वृद्धि से जिसमे सुवासनारूपी सुगन्धियाँ फैल रही है। परदर्शनरूपी ग्रहगण सदा जिसकी प्रदक्षिणा दे रहे है, तथा सुन्याय के विचाररूपी स्वर्णशिलाओं से अत्यन्त उन्नत जैनसिद्धांतरूपी मेरुपर्वत सदा विजयी होता है।

स्याद्दोषापगमस्तमांसि जगति क्षीयन्त एव क्षणा-
दध्वानो विशदीभवन्ति निबिडा निद्रा दृशोर्गच्छति ॥
यस्मिन्नभ्युदिते प्रमाणदिवसप्रारम्भकल्याणिनी ।
प्रौढत्वं नयगीर्दधाति स रविर्जैनागमो नन्दतात् ॥४॥

जिसका उदय होने से जगत् मे मोहरूपी रात्रि का नाश हो जाता है और पृथ्वी पर सर्वत्र अज्ञानरूपी अन्धकार क्षणभर मे क्षीण हो जाता है तथा उससे मार्ग निर्मल (स्वच्छ) हो जाते है, नेत्रों मे से गाढ निद्रा दूर हो जाती है। प्रमाणरूपी दिवस के प्रारम्भ होने पर कल्याणकारिणी नयवाणी प्रौढता धारण करती है। वह जैनागमरूपी सूर्य समृद्ध हो।

जिनागम महाप्रकाशमान सूर्य है, उसके उदय होते ही जगत् से महामोहरूपी रात्रि विदा हो जाती है। अज्ञानरूपी गाढ अधेरा झटपट मिट जाता है। द्रव्यमार्ग और भावमार्ग स्पष्ट और स्वच्छ हो जाते है और सम्यग्दृष्टिरूपी चेतना को लोप करने वाली गाढ़ निद्रा भाग जाती है। प्रत्यक्षादि प्रमाणरूपी दिनारम्भ (प्रभातकाल) मे मांगलिक माला के समान कल्याणकारिणी नयवाणी (न्याययुक्तवाणी) प्रौढता धारण कर लेती है। ऐसा जैनागमरूपी दिवाकर सदा समृद्धिशाली हो।

अध्यात्मामृतवर्षिभिः कुवलयोल्लास विलासैर्गवां ।
तापव्यापविनाशिभिर्वितनुते लब्धोदयो यः सदा ॥

तर्कस्थाणुशिर. स्थित परिवृत स्फारैर्नयैस्तारकै. ।
सोऽयं श्रीजिनशासनामृतरुचि कस्यैति नो रुच्यताम् ॥५॥

जैनागमरूपी चन्द्रमा सदा उदय हो कर अध्यात्मरूपी अमृत की वर्षा करता है तथा ताप (धूप) के प्रसार (सचार) को नाश करने वाले वाणी के विलास से पृथ्वी के मडल (कमल) को उल्लसित (विकसित) करता है। जो तर्करूपी शकर के मस्तक पर स्थित है। तथा जो देदीप्यमान नयोरूपी तारों मे घिरा हुआ है। ऐसा जिनशासनरूपी चन्द्रमा किसे रुचिकर नही होता ?

सद्ज्ञानरूपी लक्ष्मी से युक्त जिनागमरूपी अमृतवर्षी चन्द्रमा किसे रुचिकर नही होता ? सबको ही आनन्ददायक होता है। वह जिनागमरूपी चन्द्रमा दोनो पक्षो मे उदय हो कर अध्यात्मरूपी अमृत की वर्षा करता है, जिससे मन-वचन-काया के विकार मे उत्पन्न हुए सताप (गर्मी) के फैलाव को मिटाने वाले वाणीरूपी किरणो के विलास से पृथ्वीमडलरूपी कमलवन को उसी तरह विकसित (उल्लसित) कर देता है, जिस तरह चन्द्रमा कुमुदवन का विकास कर देता है। वह जिनागमचन्द्र तर्करूपी शकर के मस्तिष्क (भाल) पर विराजमान रहता है, यानी सन्यास से विरोधरहित वस्तुस्वरूप का साधक होने से तर्क प्रधानतया स्थिर रहता है। और जो देदीप्यमान प्रधान नैगमादि नयो रूपी तारामण्डल में परिवृत रहता है।

बौद्धानामृजुसूत्रतो मतमभूद् वेदान्तिनां सग्रहात् ।
साख्यानां तत एव नैगमनयाद् योगश्च वैशेषिक ॥
शब्दब्रह्मविदोऽपि शब्दनयत सर्वैर्नयैर्गुम्फिता ।
जैनी दृष्टिरितीह सारतरता प्रत्यक्षमुद्वीक्ष्यते ॥६॥

बौद्धदर्शन ऋजुसूत्रनय में से हुआ है, वेदान्तियो का दर्शन सग्रहनय के आश्रित हुआ है, साख्यदर्शन भी सग्रहनय से ही हुआ है। योग और वैशेपिक दर्शन नैगमनय से हुए हैं। तथा शब्द को ही ब्रह्म मानने वाले मीमासको का दर्शन शब्दनय में से हुआ है। परन्तु जैनदर्शन तो सभी नयो से गुम्फित है। इस कारण जैनदर्शन की श्रेष्ठता प्रत्यक्ष ही दिखाई देती है।

बौद्धो का दर्शन केवल ऋजुसूत्रनय को ले कर उत्पन्न हुआ है, क्योकि वह उत्पन्न हुई (वर्तमान) वस्तु को ही मानते है, तथा वेदान्तियो का अर्थात् अद्वैत का प्रतिपादन करने वाला एव ज्ञानकाण्ड को ही अगीकार करने वाला (वेदान्त) दर्शन सग्रहनय के आधार मे पैदा हुआ है, क्योकि वह उत्पत्ति और विनाश से रहित वस्तु को स्थिति के स्वभाव वाली मानता है। साख्यदर्शन भी सग्रहनय का आधार ले कर उत्पन्न हुआ है, क्योकि वह आत्मा को अकर्ता मानता है। योग अर्थात् योगदर्शन भी इसी तरह मानता है, अत वह भी सग्रहनयाधारित है। अथवा योग यानी गौतम का नैयायिकदर्शन और कणाद का वैशेषिक दर्शन ये दोनो नैगमनय का आश्रय ले कर प्रकट हुए है। शब्दब्रह्म को मानने वाले जैमिनी का मीमासादर्शन शब्दनय के आधार से पैदा हुआ है। इस प्रकार सभी दर्शन एक एक नय का आश्रय ले कर प्रादुर्भूत हुए हैं। परन्तु जैनदर्शन समग्रनयो से ग्रथित है, इसलिए सब दर्शनो से जैनदृष्टि (वस्तु को देखने की बुद्धि) की श्रेष्ठता साक्षात् दृष्टिगोचर हो रही है।

उष्मा नार्कमपाकरोति दहन नैव स्फुलिगावली।
नाब्धि सिन्धुजलप्लव सुरगिरि ग्रावा न चाभ्यापतन्।
एव सर्वनयैकभावगरिमस्थान जिनेन्द्रागमम्,
तत्तद्दर्शन सकथांशरचनारूपा न हन्तु क्षमा ॥७॥

जिस प्रकार घाम सूर्य को दूर नही कर सकता, आग की चिनगारियाँ अग्नि को हटा नही सकती, नदी के पानी की बाढ समुद्र को दूर नही ठेल सकती, सामने गिरता हुआ पाषाणखण्ड मेरुपर्वत को डिगा नही सकता, इसी प्रकार समस्तनयो के अद्वितीयभाव के महास्थानरूप जिनेन्द्रागम को उस-उस दर्शन (परदर्शन) का आशिक रचनारूप कथन पराभूत (पराजित) करने मे समर्थ नही है।

उष्मा = धूप या गर्म स्पर्श वाले धूल आदि पदार्थ सूर्य को दूर नही कर सकते, यानी अपने ताप से सूर्य के ताप को पराभूत नही कर सकते तथा आग की चिनगारियाँ अग्नि (दावानल) को हटा नही सकती,

नदी मे आई हुई पानी की बाढ़ समुद्र को दूर नही ठेल सकती, तथा सम्मुख गिरता हुआ पत्थर का टुकडा मेरुपर्वत को खिसका नही सकता, इसी तरह समस्तनयो को एकभाव एक ही स्थल में सिद्ध करने के भाव के गौरवस्थलरूप जिनागम को उसके अश की रचनारूप (एक एक नयरचना वाली) उस उस दर्शन की बाते पराभूत करने (दबाने, मे समर्थ नही है। कारण यह है कि जैनागम मे सर्व-दर्शन समाविष्ट है, जबकि अन्य दर्शनो में जिनदर्शन के एक-एक अश का कथन ही है।

दु साध्य परवादिना परमतक्षेप विना स्व मत,
तत्क्षेपे च कपायपंककलुष चेत समापद्यते।
सोऽयं नि स्वनिधिग्रहव्यवसितो वेतालकोपक्रमो,
नाऽयं सर्वहितावहे जिनमते तत्त्वप्रसिद्ध्यर्थिनाम् ॥८॥

परवादियो (अन्यदर्शनियो) के लिए दूसरे के मत पर आक्षेप (खण्डन, तिरस्कार) किये विना अपने मत को सिद्ध करना दुष्कर है। और उस तिरस्कार से चित्त कपायरूपी कीचड से मलिन होता है। अत: यह व्यापार निर्धन के खजाने को ग्रहण करने मे उद्यत वेताल के क्रोध का-सा उपक्रम है। ऐसा कदम (उपक्रम) तत्त्व के जिज्ञासार्थियो के लिए सर्व-हितकारी जैनदर्शन मे नही है।

अन्यदर्शनकारो के लिए अन्यमत पर आक्षेप (असद्दोषारोपण, निन्दा, खण्डन या तिरस्कार अथवा अपने मत का गर्व) किये विना अपने मत का सिद्ध करना दु शक्य है। और परमत के उस तिरस्कार आदि क्रम से मन कपायरूपी कीचड से कलुषित हो जाता है। अत वह तिरस्कारादि की प्रवृत्ति गरीब के खजाने को हरण करने के लिए उद्यत भूत के आवेश (कोपकाण्ड) के समान है। ऐसा उपक्रम पारमार्थिक ज्ञानार्थियो के लिए सर्वहितकारी जैनदर्शन मे सर्वथा नही होता।

वार्ता सन्ति सहस्रश प्रतिमत ज्ञानाशबद्धक्रमाश्
चेतस्तासु न न प्रयाति नितरां लीन जिनेन्द्रागमे।

नोत्सर्पन्ति लता कति प्रतिदिश पुष्पै पवित्रा मधौ,
ताभ्यो नैति रति रसालकलिकारक्तस्तु पुस्कोकिल ॥९॥

प्रत्येक दर्शन मे ज्ञान के अलग-अलग अश से क्रमबद्ध हजारो बाते है। फिर भी जिनेश्वर के आगम मे अत्यन्त लीन हुआ हमारा मन उन बातो की ओर जाता ही नही। क्या वसन्तऋतु मे प्रत्येक दिशा मे फूलो से पवित्र (सुशोभित) कई लताएं नही दिखती ? बहुत-सी दिखती हैं, तथापि आम की मजरी मे आसक्त बना हुआ नरकोयल उन (अन्य) लताओ पर रति (प्रीति) नही करता ।

प्रत्येक दर्शन मे ज्ञान के अश से क्रमशः रची हुई हजारों बाते है। फिर भी जिनेश्वरो के सिद्धात मे अत्यन्त मग्न हुआ हमारा चित्त उन बातो की तरफ जाता ही नही । इसे रूपक द्वारा समझाते हैं क्या वसन्तऋतु मे हर एक दिशा मे खिले हुए फूलो से सुशोभित कितनी-कितनी लताएँ नही फैलती ? यानी पुष्पो से समृद्ध नही होती ? अर्थात् सभी लताएँ फूलो से समृद्ध होती है। किन्तु आम्रवृक्ष की मजरी मे आसक्त हुआ कोकिलपक्षी उन लताओ पर प्रीति नही करता। वह तो आम्रवृक्ष का ही उपभोग करता है, उसी पर प्रीति करता है। इसी प्रकार मेरा मन भी जिनसिद्धातरूपी आम्रमजरी पर रत होता है, अन्य दर्शनरूपी लताओ पर नही।

शब्दो वा मतिरेव वस्तु वा जाति क्रिया वा गुण ।
शब्दार्थ किमिति स्थिता प्रतिमत सन्देहशकुव्यथा ॥
जैनेन्द्रे तु मते न सा प्रतिपद जात्यन्तरार्थस्थिते ।
सामान्य च विशेषमेव च यथा तात्पर्यमन्विच्छति ॥१०॥

क्या आत्मा शब्दरूप है ? क्या वह बुद्धिरूप है या द्रव्यरूप है ? या वह जातिरूप है, क्रियारूप है अथवा गुणरूप है ? क्या वह शब्दार्थ-रूप है ? इस प्रकार प्रत्येक मत (दर्शन) मे सदेहरूपी कील की पीडा रही हुई है। किन्तु जैनेन्द्रमत (दर्शन) मे तो प्रत्येक पद मे जात्यन्तर का अर्थ होने से उस प्रकार की सदेहव्यथा है ही नही , क्योकि

वह सामान्य और विशेष को तात्पर्य के अनुसार स्पष्टरूप से ढूढ लेता है।

क्या आत्मा शब्दनय=ध्वनिरूप है ? अथवा वह बुद्धिरूप है ? या वह अर्थरूप उत्पन्नपरिणाममात्ररूप या परमाण्वादिरूप है ? अथवा वह द्रव्यमात्र है ? क्या वह जाति (चैतन्य) मात्र ही है ? अथवा वह क्रियामात्र (उत्पादव्ययरूप) ही है ? अथवा वह ज्ञानादि गुणरूप है ? उसका शब्दार्थ क्या है ? इस प्रकार प्रत्येक दर्शन मे शकारूपी कील हृदय मे भाले की तरह चुभती रहती है। मगर जैनेन्द्र सिद्धात मे तो सदेह की कोई व्यथा है ही नही, क्योकि उसमे तो पद-पद पर यानी प्रत्येक वस्तु के प्रति एक जाति से दूसरी जाति मे (यानी दूसरे धर्म मे) पदार्थ की वर्तना है। अर्थात् पदार्थ कथचित् शब्दमय भी माना जाता है, कथचित् अर्थमय भी। इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ मे जात्यन्तर स्थिति मानी जाती है। इसलिए प्रत्येक पदार्थ मे उसके यथार्थस्वभाव को ले कर सामान्य (अव्यक्तसत्ता) रूप को तथा विशेष (व्यक्तसत्ता) रूप उससे तात्पर्यार्थ (अभिप्राय) को स्पष्टत ढूढा जाता है। तात्पर्य यह है कि सामान्य के ही विशेष होते है, यो जैनदर्शन मे स्पष्ट बताया गया है। इसलिए इस दर्शन मे किसी प्रकार की सन्देहवेदना नही होती।

यत्रानर्पितमादधाति गुणतां मुख्य च वस्त्वर्पित,
तात्पर्यानवलम्बनेन तु भवेद् बोध स्फुट. लौकिक. ॥
सम्पूर्णं त्ववभासते कृतधिया कृत्स्नाद् विवक्षाक्रमात् ।
तां लोकोत्तरभंगपद्धतिमयीं स्याद्वादमुद्रा स्तुम ॥११॥

जिसमे अनर्पित वस्तु गौणत्व को और अर्पित वस्तु मुख्यत्व को प्राप्त करती है तथा तात्पर्य का अवलम्बन लिये विना ही (वस्तु का) लौकिक ज्ञान स्पष्ट हो जाता है। कुशल बुद्धिमानपुरुषो को समग्र विवक्षा (कहने की इच्छा) के क्रम से सम्पूर्ण वस्तु प्रतिभासित हो जाती है। उस लोकोत्तर भग (अलौकिक विकल्परचना) की पद्धति से युक्त स्याद्वादमुद्रा की हम स्तुति करते है।

सप्तभगी आदि की अलौकिक (सबमे प्रधान) रचनापद्धति (श्रेणी) मयी स्याद्वादमुद्रा (अनेकान्तवाद की शैली) की हम स्तुति (प्रशसा)

कहते है, जिस स्याद्वादमुद्रा मे अनर्पित (जिसके विषय मे किसी प्रकार कहना इष्ट नही है वह) वस्तु गौण बन जाती है, तथा अर्पित (जिसके विषय मे कुछ कहना इष्ट है, वह) वस्तु मुख्य बन जाती है तथा तात्पर्य अर्थात् वास्तविक स्वरूप का अवलम्बन लिये बिना ही लौकिक (उत्पत्ति, स्थिति और विलय आदिरूप लोक मे प्रचलित) व्यवहार स्पष्ट हो जाता है, जैसे कि 'यह मेरा पिता है, यह मेरी माता है' वगैरह। तथा कुशल बुद्धिमान पुरुषो को समग्रविवक्षा (जिसके विषय मे कहना इष्ट हो) के क्रम से परिपूर्ण वस्तु का बोध (प्रतीति) होता है। इस प्रकार यह स्याद्वादमुद्रा लोकोत्तर भगजाल की स्थितिरूप है।

आत्मीयानुभवाश्रयार्थविषयोऽप्युच्चैर्यदीय. क्रमो।
म्लेच्छानामिव सस्कृत तनुधियामाश्चर्यमोहावह'॥
व्युत्पत्ति-प्रतिपत्तिहेतुविततस्याद्वादवाग्गुम्फितम्।
त जैनागममाकलय्य न वय व्याक्षेपभाज क्वचित्॥१२॥

अपने अनुभव का आश्रय ही जिसके अर्थ का विषय है, जो जिनागम का उच्चक्रम है, वह म्लेच्छो के लिए सस्कृतभाषा की तरह अल्पबुद्धि वालो के लिए आश्चर्य तथा मोह उत्पन्न करने वाला है। व्युत्पत्ति, प्रतिपत्ति तथा हेतुओ से विस्तृत स्याद्वाद की वाणी से रचित जिनागम को भलीभाति हृदयगम करके हम कही पर भी आक्षेप के भाजन (तिरस्कार के पात्र) नही होते।

ऐसे जैनसिद्धात को भलीभाति जान कर जिनागम का आश्रय लेने पर हम किसी भी दर्शन द्वारा आक्षेपभागी नही बनते अथवा किसी भी दर्शन पर व्याक्षेप (निश्चयरहित और मूढता) का सेवन नही करते। वह जिनागम कैसा है? इसे कहते है वह जैनागम व्युत्पत्ति (तात्पर्यार्थ अथवा शब्द के वस्तुसार का बोध कराने वाली शक्ति), प्रतिपत्ति (कर्तव्य का ज्ञान अथवा घटित अर्थ की प्राप्ति) एव हेतुओं (साध्यवस्तु को सिद्ध करने वाले कारणो साधनो) तथा विस्तार से युक्त स्याद्वाद (नित्य, अनित्य इत्यादि अनेकान्तवाद), इस समस्त प्रकार की वाणी से रचित है। तथा जिस आगम का पूर्वापर क्रम उच्च है। आत्मा का अथवा अपने अनुभव (भ्रान्तिरहित ज्ञान) का आश्रय ही

जिसका प्रतिपादकरूप (प्रतीति के प्रतिपादक-सम्बन्धरूप) अर्थ विषय है। यही कारण है कि यह म्लेच्छों (भीलों, अनार्यों आदि) को संस्कृत-भाषा की तरह अल्पबुद्धि वाले व्यक्तियों को आश्चर्यचकित और दिङ्-मूढ़ कर देता है।

मूलं सर्ववचोगतस्य विदितं जैनेश्वरं शासनम् ।
तस्मादेव समुत्थितैर्नयमतैस्तस्यैव यत्खण्डनम् ॥
एतत् किंचन कौशलं कलिमलच्छन्नात्मनः स्वाश्रितां ।
शाखां छेत्तुमिवोद्यतस्य कटुकोदर्काय तर्कार्थिनः ॥१३॥

समस्त वचनों के अभिप्राय का मूल यह जिनशासन सुविदित (सुप्रसिद्ध) है। इस जिनशासन से ही उत्पन्न हुए नय के मतों से उसी का ही खण्डन करना अपनी ही आधाररूप शाखा को काटने को उद्यत हुए मनुष्य की तरह है। पापमल से आच्छादित हुए तर्कार्थियों की की तुच्छ कुशलता उन्हीं के लिए कटु परिणाम लाने वाली है।

समस्त शास्त्रों से प्राप्त हुए अभिप्राय के मूलरूप (जन्मस्थानरूप में) जिनेश्वर का शासन (सिद्धान्त) प्रसिद्ध है, क्योंकि सभी शास्त्र सर्वज्ञवचनों से समुत्पन्न हैं। उस जिनागम से ही उत्पन्न हुए नय के वादों से जो द्वेषवश जिनागम का खण्डन करता है, यानी वादी लोग जो उसे उखाड़ने का प्रयत्न करते हैं, पापमल से ढके हुए तार्किकों (न्यायपण्डितों) की तुच्छ कुशलता उनके लिए उसी तरह कटुपरिणाम (कुफल) देने वाली होती है, जिस तरह अपनी आधाररूप डाली को अपने ही हाथों से काटने की प्रवृत्ति उसके छेदनकर्ता के लिए कटु (अनिष्ट) फलदायिनी होती है।

त्यक्तोन्माद-विभज्यवादरचनामाकर्ण्य कर्णामृतम् ।
सिद्धान्तार्थरहस्यवित् क्व लभतामन्यत्र शास्त्रे रतिम् ॥
यस्यां सर्वनया विशन्ति न पुनर्व्यस्तेषु तेष्वेव या ।
मालायां मणयो लुठन्ति न पुनर्व्यस्तेषु मालाऽपि सा ॥१४॥

उन्माद का त्याग करके विभाग करने योग्य (अनेकान्त) वाद की रचनारूप कर्णामृत का श्रवण करके सिद्धान्त-प्रतिपादित अर्थ का

रहस्यज्ञ पुरुष अन्य किस शास्त्र में प्रीति सम्पादन कर सकता है ? जिस रचना मे सभी नय का प्रवेश है, किन्तु वे नय अलग-अलग हो तो उन विखरे हुए नयो मे वह रचना नही होती। जैसे माला मे मणियाँ होती हैं, लेकिन वे मणियाँ विखरी हुई अलग-अलग हों तो उनमे माला नही होती।

जिस मनुष्य ने उन्माद का त्याग कर दिया है, यानी जिसका मति-भ्रंश या चित्तविभ्रम नष्ट हो गया है, तथा विभज्यवाद (विभाग के योग्य यानी सामान्य धर्म से दूसरे धर्मों को पुरस्कृत करने योग्य वाद) की रचना (वस्तुप्रतिपादक वाणी के विन्यास)रूप कर्णामृत (कानो को अमृत से पारणा करने के) समान वचनों को सुन कर जिनागम का तत्वज्ञ (जिसने सिद्धान्त के गम्भीर रहस्य को जाना है वह) पुरुप दूसरे किस शास्त्र मे प्रीति कर सकता है ? वहुत अन्तर होने से अन्य किसी शास्त्र मे प्रीति नही कर सकता। क्योंकि सिद्धान्तवाद की रचना में सभी नैगमादि नयो का प्रवेश है, अत' वे सव उसमें अन्त-र्भूत हो जाते हैं। मगर पृथक् पृथक् रहे हुए प्रत्येक नाम मे उस सिद्धान्तवाद की रचना नही होती। जैसे माला मे भिन्न-भिन्न प्रकार की मणियाँ रहती हैं, पर वे एकसूत्रग्रथित हो कर ही रहती हैं, मणियाँ अगर अलग अलग-विखरी हो तो उनमे माला नही होती। वौद्ध सांख्यादि दर्शन मे इसीलिए यह दुर्लभ है।

अन्योऽन्यप्रतिपक्षभाववितथान् स्वस्वार्थसत्यान्नयान्
नापेक्षा विषमाग्रहैर्विभजते माध्यस्थ्यमास्थाय य ।
स्याद्‌वादे सुपथे निवेश्य हरते तेषां नु दिङ्मूढताम् ।
कुन्देन्दुप्रतिमं यशो विजयिनस्तस्यैव संवर्धते ॥१४॥

परस्पर शत्रु (विरोध) भाव के कारण असत्य और अपने-अपने अर्थ मे सत्य नयो का जो पुरुष अपेक्षा-विषयक आग्रह से माध्यस्थ्यभाव का आश्रय ले कर विभाग कर (छांट) लेता है, तथा जो स्याद्‌वादरूपी सुमार्ग पर चित्त को जमा कर उन नयो की दिङ्मूढता को नष्ट कर देता है, उसी विजयी पुरुष का कुन्दपुष्प और चन्द्रमा के समान उज्ज्वल यश वढ़ता है।

परस्पर विरोधभाव होने से जो असत्य (परपक्ष मे निष्फल) और अपने-अपने अर्थ मे सत्य (सफल) नयो (यानी एक दूसरे की दृष्टि से झूठी अपेक्षा रख कर इच्छित अर्थ के आग्रह करने के कारण निष्फल तथा तथा अपने-अपने पक्ष की मर्यादानुसार अर्थ ग्रहण करने के कारण सफल नयो दुराग्रहरहित माध्यस्थ्यभाव का आश्रय ले कर विभाग करता नही, यानी अपेक्षा का अभाव नही करता, तथा जो पुरुष अनेकान्तवाद-रूपी सन्मार्ग-न्यायमार्ग मे अपने चित्त को स्थापित करता है, वह नयो की दिङ्मूढता (योग्यस्थान मे योग्य नयो का नियोग करने की अविवेकिता) का निवारण कर देता है। उसी विजयी पुरुष का कुन्दपुष्प और चन्द्रमा जैसा धवल निर्मल यश वृद्धिगत होता है।

श्लोक मे यश शब्द से ग्रन्थकार ने अपना नाम 'यशोविजय' भी सूचित किया है।

॥इति जिनमत-स्तुत्यधिकार.॥

॥इतिश्रीमहोपाध्याय-श्रीयशोविजयगणिविरचिते
अध्यात्मसार-प्रकरणे षष्ठ प्रबन्ध ॥

अनुभव-स्वरूप

शास्त्रोपदर्शितदिशा गलितासद्ग्रहकषायकलुषाणाम् ।
प्रियमनुभवैकवेद्यं रहस्यमाविर्भवति किमपि ॥१॥

शास्त्र मे बताई हुई दिशा से जिनके असद्ग्रह, कषाय और कालुष्य (रागद्वेष) नष्ट हो गए है, उन पुरुषो को अनुभव से ही जाना जा सके, ऐसा कुछ इष्ट रहस्य प्रगट हो जाता है।

पहले जिसे आत्मनिश्चय हो जाता है, उसे ऐसा अनुभव होता है, इसलिए इस प्रबन्ध मे अनुभव के सम्बन्ध में कहते हैं जैनागमो मे बताई हुई दिशा से--प्रवृत्ति के विधिरूप मार्ग--से जिसके कदाग्रह और क्रोधादि नष्ट हो गए है, इस कारण जिनके हृदय निर्मल हो गए है, उन्हे एकमात्र अनुभव से ही जानने लायक यानी भ्रान्तिरहित यथार्थ वस्तुस्वरूप को ग्रहण करने वाले प्रमाण से उत्पन्न हुए ज्ञान से ही जानने लायक और प्रिय, ऐसा कुछ अलौकिक (नवीन) रहस्य (मूढ मनुष्यो से गोपनीय परमार्थ) प्रगट हो जाता है।

प्रथमाभ्यासविलासादाविर्भूयैव यत्क्षणाल्लीनम् ।
चंचत्तरुणीविभ्रमसममुत्तरलं मनः कुरुते ॥२॥

जो रहस्य प्रथम अभ्यास के विलास से प्रकट हो कर क्षणभर मे तल्लीन हुए मन को युवती स्त्री के मनोहर विलास के समान अत्यन्त आतुरता वाला बना देता है।

योगीजन को प्रिय अनुभव से ज्ञात हो सकने वाला जो रहस्य प्रथम अभ्यास के विलास से, (यानी पहले का-प्रारम्भ के समय का अभ्यास =आध्यात्मिकता का बार बार सेवन, उसके विलास से) प्रगट हो कर अल्पकाल मे ही आत्मा मे तल्लीन हुए मन को इस प्रकार उत्सुक

(आतुर) बना देता है (यानी वह रहस्यप्राप्ति की तीव्र तमन्ना पैदा कर देता है) जिस प्रकार कामुक पुरुष को युवा कामिनी का विलास (शृंगार, अगचेष्टा, तथा हावभाव) सहसा आतुर कर देता है, तात्पर्य यह है, इसी दशा मे आध्यात्म-रहस्याभिलाषी योगीजन का मन आत्मरहस्य के विलास-रस मे सतत आतुर होता है।

सुविदितयोगैरिष्ट क्षिप्त मूढ तथैव विक्षिप्तम्।
एकाग्रं च निरुद्ध चेत पञ्चप्रकारमिति ॥३॥

जिसने योग के स्वरूप को अच्छी तरह जान लिया है, उन योगियो ने ५ प्रकार का मन बताया है--(१) क्षिप्त, (२) मूढ, (३) विक्षिप्त, (४) एकाग्र और (५) निरुद्ध।

जिसने योग ब्रह्मत्व प्राप्त करने के उपाय को भलीभाति समझ लिया है, उन योगियो ने ५ प्रकार का चित्त बताया है- क्षिप्त विषय और रागादि मे मग्न, (२) मूढ=इहलोक-परलोक के सम्बन्ध मे विवेकरहित मन, (३) विक्षिप्त कुछ रक्त और कुछ विरक्त मन, (४) एकाग्र समाधि मे स्थिर मन और (५) निरुद्ध बाह्य विषयो का त्याग करके आत्मा मे ही स्थिर रहने वाला। इन पाचो का विवरण क्रमश इस प्रकार है

विषयेषु कल्पितेषु च पुर स्थितेषु च निवेशित रजसा।
सुख—दु खयुग्बहिर्मुखमाम्नात क्षिप्तमिह चित्तम् ॥४॥

कल्पित और सामने रहे हुए विषयो मे राग के स्थापित हुए, सुख और दु ख से युक्त तथा अध्यात्म मे बहिर्मुख चित्त को क्षिप्त कहते हैं।

कल्पित यानी रागादि से मन मे सुखदता धारण किया हुआ, सम्मुख रहते हुए यानी इन्द्रियो के विषय मे साक्षात् प्राप्त हुए शब्दादि विषयो मे रागवश अत्यन्त स्थापित किया हुआ (गडा हुआ), सुख और दु ख से मिश्रित आत्मधर्म से विमुख मन इस अनुभवाधिकार मे क्षिप्त कहा गया है। अत अनुभव के अभिलाषी को ऐसे मन को जीतना चाहिए।

क्रोधादिभिर्नियमितं विरुद्धकृत्येषु यत्तमोभूम्ना ।
कृत्याकृत्यविभागासंगतमेतन्मनो मूढम् ॥५॥

जो मन तमोगुण के बाहुल्य से विरुद्ध कार्यों मे क्रोधादि से नियमित हुआ तथा कृत्य-अकृत्य के विभाग (विवेक) से रहित है, वह मन मूढ कहलाता है ।

जो मन पूर्वोक्त क्रोधादि चार कषायो से नियमित यानी कालक्रम से अपने अपने उपयोग के क्रम से नियत्रित निरन्तर कषायो से युक्त, धर्मविरुद्ध तथा लोकविरुद्ध कार्यों में तत्पर रहता है। ऐसे कृत्य धर्मादि कार्य=सन्न्यायमार्गादि कर्त्तव्य, और अकृत्य चोरी आदि कुकर्म के अन्तर के के ज्ञान (विवेक) से रहित मन को मूढ कहा है। अत अनुभव के अभिलाषी को उस पर विजय प्राप्त करना चाहिए।

सत्वोद्रेकात् परिहृतदु खनिदानेषु सुखनिदानेषु ।
शब्दादिषु प्रवृत्त सदैव चित्त तु विक्षिप्तम् ॥६॥

सत्वगुण की अधिकता के कारण दुख के मूल कारणो से रहित और शब्दादि सुख के मूल कारणो मे निरन्तर प्रवृत्त हुआ चित्त विक्षिप्त कहलाता है।

सत्वगुण के उत्कर्ष से यानी आत्मवीर्य के उल्लास से, दु खो के कारणरूप दुष्ट अभिसधि वाले कामादि से रहित और सुख के कारणभूत सन्न्यायादि मे, उचित शब्दादि विषयभोगो मे सदैव प्रवृत्त चित्त को विक्षिप्त यानी ससार के भय से त्रस्त कहा है। ऐसे मन से भी प्रवृत्ति नही करनी चाहिए।

अद्वेषादिगुणवता नित्य खेदादिदोषपरिहारात् ।
सदृशप्रत्यय संगतमेकाग्र चित्तमाम्नातम् ॥७॥

अद्वेष आदि गुणवाला, निरन्तर खेद वगैरह दोषो के त्याग से समान परिणाम को प्राप्त जो मन है, उसे एकाग्र कहा गया है।

द्वेष, ईर्ष्या आदि दोषो से रहित, जहाँ से भी गुण मिले, उन गुणो को ग्रहण करने वाला, सदा खेद, वैर, हास्य, भय, आदि दोषो के यानी अधर्म की प्रवृत्ति के कारणो के परिहार (त्याग) से सदृश (सर्वजीवो

के प्रति तुल्य प्रत्यय (बोध) से युक्त परिणाम को प्राप्त यानी सभी आत्माओं मे समान भावना रखने वाला चित्त एकाग्र कहा गया है। ऐसा मन अनुभवी पुरुष के लिए इष्ट वस्तु का साधक होता है।

उपरतविकल्पवृत्तिकमवग्रहादिक्रमच्युत शुद्धम् ।
आत्मारामामुनीनां भवति निरुद्धं सदा चेत ॥८॥

जिस मन से विकल्प की वृत्तिया शान्त हो गई है, जो अवग्रहादि (प्रतिवन्ध आदि) के क्रम से पृथक है, ऐसा आत्माराम मुनियो का सदा उज्ज्वल चित्त निरुद्ध कहलाता है।

जिस मन मे आर्त-रौद्रानुबन्धी विकल्पो की वृत्ति-प्रवृत्ति शान्त हो गई है तथा जो अवग्रह (प्रतिबन्ध), स्नेहराग, सम्बन्ध और कल्पना वगैरह के क्रम (उद्देश्य) से पृथक् (च्युत) हो गया है, सर्वदा शुद्ध (उज्ज्वल), आत्मा मे आत्मगुणो मे (अपने स्वभाव मे) रमण करने वाले मुनियो का ऐसा चित्त निरुद्ध कहलाता है। ऐसा चित्त बाह्य विषयो से विमुख होने से इष्टकार्य करने वाला देता है।

न समाधावुपयोग तिस्रश्चेतोदशा इह लभन्ते ।
सत्त्वोत्कर्षात् स्थैर्यादुभे समाधौ सुखातिशयात् ॥९॥

इस समाधि मे चित्त की पहली तीन अवस्थाएँ उपयोग मे नही आती, परन्तु सत्व के उत्कर्ष के कारण, स्थैर्य के कारण, तथा अतिशय सुख के कारण चित्त की अन्तिम दो अवस्थाएँ उपयोग मे आती हैं।

चित्त की प्रथम तीन अवस्थाएँ क्षिप्त, मूढ और विक्षिप्त मन की दशाएँ समाधि के लिए निश्चल एकाग्र ध्यान के लिए, उपयोगी नही होती, इसलिए त्याज्य है। चित्त की अन्तिम दो अवस्थाएँ एकाग्र और निरुद्ध मन की दशाएँ-सत्वगुण के उत्कर्ष के कारण चित्तनिरोध मे स्थिरता के कारण तथा अतिशय सुखसमाधि के योग्य होने से समाधि के लिए उपयोगी होती है, इसलिए दोनो अवस्थाएँ उपादेय है।

योगारम्भस्तु भवेद्विक्षिप्ते मनसि जातु सानन्दे ।
क्षिप्ते मूढे चास्मिन् व्युत्थान भवति नियमेन ॥१०॥

विक्षिप्त मन कदाचित् आनन्दयुक्त होने से उसमे योग का आरम्भ हो सकता है, परन्तु क्षिप्त और मूढ मन तो इसमे अवश्य ही व्युत्थानरूप होते हैं।

तीसरी अवस्था वाला रागी और विरागी दोनो प्रकार का मन, जो विक्षिप्त कहलाता है, वह कभी चचल रहता है, इधर-उधर भटकता है, कभी कुछ आनन्दयुक्त हो कर धर्मप्रेमी हो जाता है। उस मन मे योग का यानी समाधि की प्राप्ति के उपयोग का प्रारम्भ हो सकता है। क्योकि योग की प्रारम्भिक अवस्था की समाधि मे इस (विक्षिप्त) मन मन मे स्थिरता आती-जाती रहती है। इसलिए यह मन कदाचित् उपयोगी हो सकता है, लेकिन रागादि से ग्रस्त क्षिप्त मन और क्रोधादि से मूढ मन रागादि सस्कारो का अवश्य उद्भव करने वाले (व्युत्थानकारक) होने से अवश्य ही त्याज्य हैं।

विषयकषायनिवृत्त योगेषु च सचरिष्णुविविधेषु।
गृहखेलद्बालोपमपि चलमिष्ट मनोऽभ्यासे ॥११॥

विषयो और कषायो से निवृत्त हुआ, विविध प्रकार के योगो मे गमन करने वाला, और घर के आँगन मे क्रीडा करते हुए बालक के समान चपल मन हो तो वह अभ्यासदशा मे इष्ट है।

शब्दादि विषयो और क्रोधादि कषायो से विमुख हुआ तथा विविध प्रकार के योगो मोक्ष के उपायो मे गमन करने वाला, और घर के आगन मे खेलते हुए बालक के समान भद्रपरिणाम के कारण अन्तर्मुखी विक्षिप्त मन (अन्तकरण) चपल हो तो भी अभ्यासकाल (बारबार उपायो के परिशीलन करते समय) को योगसाधना के लिए यह साधन के रूप मे इष्ट है।

वचनानुष्ठानगत यातायात च सातिचारमपि।
चेतोऽभ्यासदशायां गजाकुशन्यायतोऽदुष्टम् ॥१२॥

वचनानुष्ठान मे रहा हुआ मन यद्यपि गमनागमन करते समय अतिचार-सहित होता है, फिर भी अभ्यासदशा मे गजाकुशन्याय (दृष्टान्त) के अनुसार अदूषित है।

शास्त्रोक्त वचनानुसार अनुष्ठान (क्रिया) करने मे तत्पर मन कभी बाहर चला जाता है, कभी अन्दर स्थित रहता है, इस प्रकार बार-बार गमनागमन करने वाला होने से सातिचार सदोप मन भी प्राथमिक योगाभ्यासदशा मे गजांकुश-न्याय से अर्थात् हाथी अकुश के प्रहार से सम्यक् मार्ग में चलता है यानी सुन्दरगति करने लगता है, इस दृष्टान्त के अनुसार अदूपित है, क्योकि शिक्षा के योग से उसे मार्गानुसारी के परिणाम वाला किया जा सकता है। इसलिए विक्षिप्त मन अभ्यासदशा मे दूपित नही है।

ज्ञानविचाराभिमुखं यथा यथा भवति किमपि सानन्दम् ।
अर्थैः प्रलोभ्य बाह्यैरनुगृण्हीयात्तथा चेत ॥१३॥

जैसे-जैसे चित्त कुछ (धर्मकार्य मे) आनन्दयुक्त और ज्ञान तथा विचार के सम्मुख होता जाय, वैसे-वैसे बाह्य पदार्थो से उसे प्रलोभन दे कर वश करना चाहिए।

जिस-जिस प्रकार से मन धर्मकार्य मे हर्षयुक्त (अतिप्रसन्न) और कुछ ज्ञान तथा विचार के सम्मुख होता जाय, उस-उस प्रकार से बाह्य आत्मा से भिन्न-(वक्ष्यमाण) शुभ आलम्बनभूत पदार्थों का प्रलोभन दे कर उनमे प्रीति पैदा करके उस मन को वश मे करना चाहिए।

अभिरूपजिनप्रतिमां विशिष्टपदवर्णवाक्यरचनां च ।
पुरुषविशेषादिकमप्यत एवाऽलम्बन ब्रुवते ॥१४॥

इसलिए सुन्दर जिनप्रतिमा, विशिष्ट पद, वर्ण और वाक्यरचना को तथा विशिष्ट प्रकार के पुरुषादि को भी आलम्बनभूत कहे हैं।

बाह्य शुभप्रवृत्ति मे चित्त को लगा कर उससे निग्रह किया जा सकता है, इसलिए प्रशस्त लक्षण वाली मनोहरलक्षणों (आकृति आदि) से युक्त, आत्मा मे आह्लाद उत्पन्न करने वाली जिनप्रतिमा (तीर्थंकर बिम्ब), तथा शुभसूचक मांगलिक ललित (आगमोक्त आत्मा, चेतन, जीव, वगैरह) पदो की, वर्णों की (गम्भीर अर्थ को प्रगट करने वाले प्रणवादि अक्षरो की), 'जगद्गुरु जिनेश्वर विजयी होते हैं, इत्यादि पदसमूहरूप वाक्यो की रचना (काव्यकृति, या सुलेखरचना), गणधरादि

सुसाधु आदि वगैरह पुरुषविशेषादि तथा शास्त्रपाठ आदि को भी आलम्बन भूत कहे हैं। इन सब को चित्तनिग्रह के लिए शुभ-आश्रयरूप कहे हैं।

आलम्बनै प्रशस्तै प्रायो भाव. प्रशस्त एव यत ।
इति सालम्बनयोगी मन. शुभालम्बनं दध्यात् ॥१५॥

इसलिए प्रशस्त आलम्बनो से प्राय प्रशस्तभाव ही होते हैं। इस आलम्बन के अभिलाषी योगी को अपना मन शुभ आलम्बन मे जोड़ना चाहिए।

पूर्वकथनानुसार प्रशस्त आलम्बनो का आश्रय लेने से प्राय. प्रशस्त भाव जागृत होते ही हैं, इसलिए आलम्बन चाहने वाले योगीजन को शुभ आलम्बन मे ही मन को जोडना चाहिए और उसे प्रशस्त परिणाम वाला बनाना चाहिए।

सालम्बन क्षणमपि क्षणमपि कुर्यान्मनो निरालम्बम् ।
इत्यनुभवपरिपाकादाकालं स्यान्निरालम्बम् ॥१६॥

मन को क्षण मे सालम्बन (शुभ आश्रय से युक्त) करना और क्षण-भर मे आलम्बनरहित करना चाहिए। यों करते-करते अनुभव का परिपाक हो जाने पर आजीवन (सदा के लिए) मन निरालम्बन (आलम्बन-रहित) हो जाता है।

एक क्षण के लिए चित्त को शुभ आलम्बन से युक्त करना और एक क्षण के लिए बाह्य विषयो का त्याग करके अपनी आत्मा मे लीन करके निरालम्बन करना चाहिए इस प्रकार जब स्वात्मानुभव परिपक्व हो जाए, तब जिंदगीभर मन निरालम्ब बन जाता है।

आलम्ब्यैकपदार्थं यदा न किंचिद् विचिन्तयेदन्यत् ।
अनुपनतेन्धनवन्हिवदुपशान्त स्यात्तदा चेत. ॥१७॥

जब मन एक पदार्थ का आलम्बन ले कर उसके सिवाय अन्य कुछ भी चिन्तन न करे, तब उस अग्नि की तरह शान्त हो जाता है, जिसे इन्धन नही मिलता।

जिस दशा मे एक पदार्थ (द्रव्यरूप या पर्यायरूप एक भाव) का

आलम्बन ले कर अर्थात् उसे ध्येयरूप मे स्वीकार करके फिर दूसरे किसी भी द्रव्य या पर्याय का चिन्तन मन मे करे नही, तब उस अवस्था में जिसे इंधन नही मिलता, उस आग की तरह मन बिलकुल शान्त हो जाता है, यानी वह शम और निर्वेद के स्थायित्व को प्राप्त कर लेता है।

शोक-मद-मर्दन-मत्सर-कलह-कदाग्रह-विषाद-वैराणि ।
क्षीयन्ते शान्तहृदामनुभव एवात्र साक्षी न ॥१८॥

शान्त हृदय वालो के शोक, मद, काम, मत्सर, कलह, कदाग्रह, विषाद और वैर ये सब क्षीण हो जाते है, शमयुक्त चित्त वालो के शोक (इष्टवियोगादि से उत्पन्न हुआ चित्त का उद्वेग अथवा पश्चात्ताप) जाति आदि ८ प्रकार के मद, कामविकार, मत्सर (डाह, ईर्ष्या=दूसरे के गुणो को न सहना), कलह (वाग्युद्ध, झगडा), कदाग्रह (मिथ्या आग्रह) विपाद (कार्य करने की अशक्ति) और वैर (विरोध द्वेष) ये सब क्षीण हो जाते हैं। शान्तिचित्त व्यक्तियो के शोकादि का नाश होने मे हमारा अनुभव ही, यानी प्रकट हुई गुणसम्पत्ति का साक्षात् दर्शन करने वाली हमारी बुद्धि ही साक्षीभूत है, अर्थात् उसे साक्षात् देखने वाली है।

शान्ते मनसि ज्योति. प्रकाशते, शान्तमात्मन सहजम् ।
भस्मीभवत्यविद्या मोहध्वान्त विलयमेति ॥१९॥

मन शान्त हो जाने पर आत्मा की स्वाभाविक और शान्त ज्योति प्रकाशित होती है, अविद्या भस्मीभूत हो जाती है और मोहरूपी अन्धकार का सर्वथा विनाश हो जाता है।

जब चित्तवृत्ति शान्त (निर्विकार) हो जाती है, तब आत्मा की सहज (स्वभावसिद्ध) और शान्त (विभावविकाररहित) ज्योति प्रकाशित होती है, यानी सबको प्रकाशित करने वाला चैतन्य प्रकाशित हो जाता है, उसके साथ ही अज्ञानदशा भस्मीभूत यानी निर्मूल हो जाती है और मोहरूपी अन्धकार सर्वथा विनष्ट हो जाता है।

बाह्यात्मनोऽधिकार. शान्तहृदामन्तरात्मना न स्यात् ।
परमात्माऽनुध्येय सन्निहितो ध्यानतो भवति ॥२०॥

शान्त हृदय वाले अन्तरात्माओं के बाह्य आत्मा का अधिकार नही होता और ध्यान करने योग्य परमात्मा ध्यान से उसके समीपवर्ती हो जाता है।

शान्त हृदय वाले यानी उपशमवृत्ति से युक्त मन वाले अन्तरात्माओ=यानी देहादि के प्रतिबन्धरहित सिर्फ साक्षीरूप रहने वाले आत्माओ के बाह्यात्मा का-अर्थात् आत्मा से भिन्न देह, इन्द्रियाँ वगैरह पदार्थों को आत्मबुद्धि से ग्रहण करने का-अधिकार (व्यापार) प्राप्त नही होता। इसो वहिरात्मता की निवृत्ति, को प्रथम फल समझना, तथा अनुध्येय यानी स्मरण के उपयोग को ले कर मन में रत परमात्मा (शुद्धब्रह्म चैतन्यमूर्ति) के ध्यान से (निरन्तर एकाग्र चित्त से चिन्तन करके) उसके समीपवर्त्ती हो जाता है, यह दूसरा फल समझना।

कायादिर्बहिरात्मा तदधिष्ठातान्तरात्मतामेति।
गतनि शेषोपाधि परमात्मा कीर्तितस्तज्ज्ञ ॥२१॥

शरीरादि बहिरात्मा हैं, उनका अधिष्ठाता अन्तरात्मा को प्राप्त करता है तथा समग्र उपाधि से रहित जो आत्मा है, उसे ही ज्ञानियो ने परमात्मा कहा है।

आत्मा तीन प्रकार का है—अन्तरात्मा, बहिरात्मा और परमात्मा। जो शरीर वगैरह मे आत्मबुद्धि, (ममत्वबुद्धि से शरीर, धन, परिवार आदि को) ग्रहण करता है, वह बहिरात्मा है, उन शरीरादि का अधिष्ठाता (कार्याकार्य का द्रष्टा, ज्ञाता, साक्षीभूत) रहता है। 'मैं कायादि व्यापार का साक्षी हूँ, मैं उसमे रहने वाला स्वामी हूँ। यह शरीर तो रहने के लिए किराये का मकान है।' इस प्रकार पुद्गलस्वरूप सुख-दुख के सयोग-वियोग मे हर्ष-शोक नही करता, वह अन्तरात्मा है। और समस्त बाह्य उपाधियो कर्म से उत्पन्न हुई विभावदशा से रहित, स्फटिक के सदृश निर्मल आत्मा परमात्मा परब्रह्म कहलाता है, यो आत्मा के रहस्य को जानने वाले तत्वज्ञो ने कहा है।

विषयकषायावेश तत्त्वाऽश्रद्धा गुणेषु च द्वेष।
आत्माऽज्ञान च यदा, बाह्यात्मा स्यात्तदा व्यक्त ॥२२॥

जब विषयो और कषायो का आवेश होता हो, तत्त्व के प्रति अश्रद्धा हो, गुणों के प्रति द्वेष हो और आत्मा के विषय मे अज्ञानता हो तब स्पष्टत समझना चाहिए कि वह बहिरात्मा है।

जब (जिस अवस्था के समय मे) जीव को शब्दादि विषयो और क्रोधादि कषायो का (अर्थात् उनके उदय से उत्पन्न हुआ) आवेश होता है, यानी विषयकषाय की अत्यन्त व्याप्ति हो जाती है। वीतरागोक्त जीवादि तत्त्वो के प्रति अश्रद्धा (अनास्था) होती है, सम्यक्त्वादि गुणो या उन गुणो के धनियो के प्रति द्वेष (अप्रीति) होती है, तथा आत्म-स्वरूप की अज्ञानता होती है, उस समय स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि यह बहिरात्मा है।

तत्त्वश्रद्धा ज्ञानं महाव्रतान्यप्रमादपरता च।
मोहजयश्च यदा स्यात्तदान्तरात्मा भवेद् व्यक्त ॥२३॥

जब तत्त्व पर श्रद्धा हो, आत्मा का ज्ञान हो, महाव्रत हो, अप्रमाद-परता हो तथा मोह पर विजय हो जाय तो स्पष्ट है कि वह अन्तरात्मा है।

जब वीतरागभाषित जीवादि तत्व के प्रति श्रद्धा (विश्वास) हो, आत्मा के स्वरूप का ज्ञान हो, प्राणातिपातविरमण आदि महाव्रत स्वीकार किये जाय, अप्रमादपरायणता यानी योग्य कार्य के विषय मे कर्तव्यबुद्धि या तत्परता हो यानी अत्यन्त उद्यतता हो, मोह के उदय का पराभव (मोहविजय) हो जाय, उस समय स्पष्टत अन्तरात्मा है। इन लक्षणो से उसकी अन्तरात्मता प्रगट हो जाती है।

ज्ञान केवलसज्ञ योगनिरोध समग्रकर्महति ।
सिद्धिनिवासश्च यदा परमात्मा स्यात्तदा व्यक्त ॥२४॥

जब केवलज्ञान, योग का निरोध, सम्पूर्ण कर्मो का क्षय, सिद्धि=मुक्ति मे निवास हो जाय, तब स्पष्टत वह परमात्मा हो जाता है।

जिस समय सर्वभावो को प्रकाशित करने वाला केवलज्ञान और केवलदर्शन उत्पन्न होता है, मन-वचन-काया के व्यापारो का निरोध हो जाता है, समग्र कर्मो का सर्वथा क्षय हो जाता है और सिद्ध (मुक्त)

स्थान मे निवास हो जाता है, उस समय वह प्रकटरूप मे परमात्मा हो जाता है। अव्यक्त रूप से मुक्ति जाने वाला भव्यात्मा भी परमात्मा कहलाता है।

आत्ममनोगुणवृत्तीर्विविच्य य प्रतिपद विजानाति।
कुशलानुबन्धयुक्त प्राप्नोति ब्रह्मभूयमसौ ॥२५॥

जो पुरुष आत्मा और मन के गुणो की वृत्तियों का विश्लेषण करके उनके प्रत्येक पद (स्थान) को भलीभाति विशेप प्रकार से जान लेता है, वह कुशलानुबन्ध से युक्त हो कर ब्रह्मत्व को प्राप्त कर लेता है।

जो विवेकी पुरुष आत्मा के ज्ञानादि गुण और मन के सात्विक गुणो की वृत्तियो का विवेक करके स्थान-स्थान पर समता या विपमता के विविधस्वरूप को भलीभाति नजर में रखता है, वह जागृत आत्मा ज्ञान के उपयोग से जानता है और कुशलानुबन्धी (कुशलता मोक्ष, उसके अनुबन्ध अन्वय से युक्त) कम द्वारा ज्ञानी पुरुष ब्रह्मभाव मोक्ष को प्राप्त करता है।

ब्रह्मस्थो ब्रह्मज्ञो ब्रह्म प्राप्नोति तत्र किं चित्रम्।
ब्रह्मविदां वचसाऽपि ब्रह्मविलासाननुभवाम: ॥२६॥

ब्रह्म मे स्थित ब्रह्मज्ञानी ब्रह्म को प्राप्त करता है, इसमे क्या आश्चय है ? किन्तु हमे तो ब्रह्मज्ञानियो के वचन से भी ब्रह्मविलास का अनुभव होता है। जो ब्रह्म अर्थात् परमात्मा में शुद्ध ज्ञानोपयोग मे स्थित (ओतप्रोत) रहता है, तथा ब्रह्म (निर्विकार चैतन्य) को जानता है, वह ब्रह्म (शुद्ध आत्मा) को प्राप्त करे, इसमे आश्चर्य ही क्या है ? कुछ भी आश्चय नही। ब्रह्म (शुद्ध चैतन्य) के ज्ञाता (ब्रह्मज्ञानियो) क वचन से भी ब्रह्म के विलास (चिदानन्द के उल्लास) को हम अपनी बुद्धि से साक्षात् अनुभव करते हैं, प्रत्यक्ष जान सकते हैं।

ब्रह्माध्ययनेषु मत ब्रह्माष्टादशसहस्रपदभावै ।
येनाऽऽप्तं तत्पूर्ण योगी स ब्रह्मण. परम ॥२५॥

ब्रह्म के अध्ययन मे १८ हजार पदो के भावो से युक्त ब्रह्म माना

गया। जिस योगी ने उसे सम्पूर्ण रूप मे प्राप्त कर लिया है, वह योगी ब्रह्म से परम-(श्रेष्ठ) है।

अठारह हजार वाक्यो से कहे हुए भावो से यानी आचारागसूत्र के आठवे ब्रह्माध्ययन में आचार के प्रकारो से जिस ब्रह्म का विस्तार से वर्णन किया गया है, उस आचाररूप ब्रह्म को जिस योगी ने पूर्णरूप से प्राप्त (हस्तगत) कर लिया, वह मुमुक्षु योगी ब्रह्म (वेद को धारण करने वाले ब्रह्मा) से भी पर-उत्कृष्ट है।

विद्वान् पुरुष को इसी का ध्यान करना चाहिए, यही सेव्य है, इसी की भक्ति करनी चाहिए तथा इसी के प्रति गुरुवुद्धि रखने से सुखपूर्वक ससारसागर-पार किया जा सकता है।

विद्वान् व्यक्ति के लिए इस १८ हजार प्रकार के ब्रह्मभाव के ज्ञाता मुनि ध्येय (ध्यान करने योग्य) है, इसी की सेवा करनी चाहिए, इसी ज्ञानी की भक्ति करनी चाहिए, तथा ऐसे ज्ञानी के प्रति गुरुवुद्धि रखने से, अर्थात् यही मेरे गुरु है, इस प्रकार मानने से ससाररूपी समुद्र को पार करना सुखकर हो जाता है, तो फिर अन्य क्या दुष्कर है, उसके लिए ?

अवलम्ब्येच्छायोग पूर्णाचारासहिष्णवश्च वयम्।
भक्त्या परममुनीनां तदीयपदवीमनुसरामः ॥२८॥

पूर्ण आचार का पालन करने मे असमर्थ हम इच्छायोग का अवलम्बन लेकर श्रेष्ठ मुनियो की भक्ति से उनके मार्ग का अनुसरण करते हैं।

ग्रन्थकार श्री यशोविजयजी कहते है 'हम आचारागसूत्र मे कहे अनुसार समग्र आचार का मानी मुमुक्षुजन की व्यवहारप्रवृत्ति का पालन करने मे असमर्थ हैं।' तव उसे कहने का प्रयास क्यो करते है ? इस प्रश्न के उत्तर मे वे कहते है इच्छायोग (आचारागसूत्रोक्त उस आचार का कहने, सुनने और उपदेश देने मे प्रीति के विषय की प्राप्ति रूप इच्छायोग) के अर्थात् मोक्षादि-हितकर प्राप्ति-के उपाय का आश्रय

लेकर परममुनियों सर्वश्रेष्ठ उत्तमयोग से सम्पन्न साधुओं की अथवा जिनेश्वरों की भक्ति उनके प्रति बहुमान से उनके मार्ग=उपदेशरूप चरणों (पदों) का हम अनुसरण करते हैं।

अल्पाऽपि याऽत्र यतना निर्दम्भा सा शुभानुबन्धकरी।
अज्ञानविष-व्ययकृद् विवेचनं चात्मभावानाम् ॥३०॥

इस इच्छायोग में जरा-सी भी दम्भरहित जो यतना है वह शुभानुबन्धकारिणी है तथा आत्मा के परिणाम का जो विवेचन है, वह अज्ञानरूपी विष का नाश करने वाला है।

इस इच्छायोग में चल रहे हम जैसों की जरा-सी भी मायारहित यतना (यानी गुण के विषय में आग्रह अथवा प्रीति या प्रयत्न, तद्रूप यतना) होती है, वह शुभ (पुण्यफल) का अनुबन्ध करने वाली होती है। अर्थात् वह यतना मोक्ष को साधने वाले वाले सुकृत का अनुबन्ध करने वाली होती है। परम्परा से मोक्ष का अनुसरण करती है। तथा आत्मा (जीव) के जो भाव (परिणाम) वगैरह प्रचलित होते हैं, उनका विवेचन यथार्थरूप से किया जाने वाला निश्चय वह अज्ञान (विपरीत बोध या अबोध) रूपी विष को नष्ट करता है।

सिद्धान्ततदंगानां शास्त्राणामस्तु परिचयः शक्त्या।
परमालम्बनभूतो दर्शनपक्षोऽयमस्माकम् ॥३१॥

शक्ति के अनुसार सिद्धांत और उनके अंगों रूप शास्त्रों का परिचय हो, यह हमारा परम आलम्बनरूप दर्शन का पक्ष है।

शक्ति (अपने सामर्थ्य) के अनुसार सिद्धांत (बारह अंग और उनके अंग=उपांग, और उनके भी अंग भाष्य, निर्युक्ति, चूर्णि वगैरह शास्त्रों (सूत्रों) के अनुसार बहुश्रुतमुनियों द्वारा रचित सन्मति-तर्क, तत्त्वार्थसूत्र अनेकान्तजयपताका, स्याद्वादमंजरी वगैरह ग्रन्थ और उनका परिचय (जाने हुए को फिर से जानना और अज्ञात का संसर्ग=नहीं जाने हुए को फिर से जानना) हमें हो। यह हमारा परम आलम्बनरूप यानी संसारसागर में डूबते हुए को परम उत्कृष्ट आधारभूत दर्शनपक्ष (सम्यक्त्व) का आश्रय है।

विधिकथनं विधिरागो विधिमार्गे स्थापनं विधीच्छूनाम् ।
अविधिनिषेधश्चेति प्रवचनभक्तिः प्रसिद्धा नः ॥३२॥

विधि का कथन करना, विधि के प्रति प्रीति, विधि के अभिलाषियों को विधिमार्ग में प्रवृत्त (स्थापित) करना, अविधि का निषेध करना, इत्यादि प्रकार से हमारी प्रवचनभक्ति प्रसिद्ध है।

धर्म की विधि का उपदेश, धर्मविधि पर प्रीति (रुचि), शास्त्रोक्त विधान करने के इच्छुक पुरुषों को विधिमार्ग में ले जाना, स्थापित करना तथा अविधि (धर्ममार्ग से विपरीत=धर्मक्रिया से उलटी विधान) का निवारण (निषेध) करना ; ये और इस प्रकार की विधि-परता से हमारी जिनशासन के प्रति भक्ति प्रसिद्ध ही है—अप्रकट होते हुए भी प्रकट हैं।

अध्यात्मभावनोज्ज्वलचेतोवृत्तोचितं हि नः कृत्यम् ।
पूर्णक्रियाभिलाषश्चेति द्वयमात्मशुद्धिकरम् ॥३३॥

अध्यात्म की भावना से उज्ज्वल चित्तवृत्ति के योग्य हमारा कर्तव्य है। तथा हमारी पूर्ण क्रिया करने की अभिलाषा है, ये दोनो बातें आत्मशुद्धि करने वाली हैं।

चूं कि अध्यात्म की भावना पर्यालोचना से निर्मल चित्तवृत्ति के लिए उचित अर्थात् योग्यतापूर्वक करने योग्य करना हमारा कर्तव्य है। तथा सारी क्रियाविधि को सत्य करने की इच्छा है। ये दोनो बातें अर्थात् यथाशक्य क्रिया का करना तथा सम्पूर्ण क्रिया को करने की इच्छा हमारी आत्मा की शुद्धि करने वाली शुद्धि में कारण रूप हैं।

द्वयमिह शुभानुबन्धः शक्यारम्भश्च शुद्धपक्षश्च ।
अहितो विपर्ययः पुनरित्यनुभवसंगतः पन्था. ॥३४॥

शक्य क्रिया का आरम्भ और शुद्धपक्ष ये दोनों यहाँ शुभानुबन्ध-रूप हैं। और इससे अतिरिक्त और कोई भी अहितकारक है, इस प्रकार हमारा अनुभवसिद्ध मार्ग है।

इस जिनशासन के विषय मे, योगमार्ग के विषय मे या ससार के विषय मे दो बाते, शुभानुबन्धरूप यानी धर्ममार्ग के अनुसार शुभकर्म की बन्धक है। वे दो ये है एक तो शक्य अपने मे जितना सम्भव हो सके, उस योग्य क्रिया का प्रारम्भ करना और दूसरी बात है शुद्धमार्ग का उपदेश करना शुद्ध प्ररूपण करना। इसके अतिरिक्त और कोई दूसरा मार्ग अहितकर अकल्याणकारी है। इस प्रकार यह श्रद्धारूप अनुभव से प्राप्त हुआ मार्ग है।

ये त्वनुभवाविनिश्चितमार्गाश्चारित्रपरिणतिभ्रष्टा ।
बाह्यक्रियया चरणाभिमानो ज्ञानिनोऽपि न ते ॥२५॥

जिन्होने अनुभव से मार्ग का निश्चय नही किया है, अतएव चारित्र के परिणाम से भ्रष्ट हो कर सिर्फ बाह्यक्रियाओ से ही चारित्र के अभिमान मे डूबे हुए है, वे ज्ञानी नही है।

जिन्होने किसी भी अनुभव से मार्ग का निश्चय नही किया है, अर्थात् जिन्होने ससारसागर से तरने के उपाय का साक्षात् निर्धारण नही किया है, ऐसे लोग चारित्र के परिणाम से भ्रष्ट हो कर प्रत्युपेक्षण, आहारशुद्धि आदि बाह्यक्रिया करके ही हम सयमी हैं, इस प्रकार चारित्र का गर्व करते हैं। वे ज्ञानी=वस्तुतत्वज्ञ नही है। उन्हे आत्मा का अनुभव न होने से आत्मा शब्द का उच्चारण करने पर भी वे आत्मस्वरूप को नही जानते। इस कारण वे निष्फल क्रियाएँ करते रहने से क्रियावान् भी नही है। मतलब यह है कि उन्हे अध्यात्म-रहित ही समझना चाहिए।

लोकेषु बहिर्बुद्धिषु विगोपकानां बहि क्रियासु रति ।
श्रद्धां विना न चैता सता प्रमाणं यतोऽभिहितम् ॥२६॥

बाह्यबुद्धि वाले लोगो मे विदूषको (अथवा दाम्भिको) की बाह्य क्रियाओ के प्रति प्रीति होती है। ये बाह्यक्रियाए श्रद्धा के बिना सत्पुरुषो के लिए प्रमाणरूप नही है, क्योकि उनके विषय मे शास्त्र (तथा अन्य ग्रन्थो) मे भी कहा है।

बाह्यबुद्धि=दृष्टि वाले यानी लिंग, क्रिया वगैरह भौतिक बातो पर दृष्टि रखने वाले लोगो मे विदूपको (विशेष दूषण देने वालो या दाम्भिको) की बाह्यक्रियाओ के प्रति आसक्ति होती है। परन्तु वे बाह्यक्रियाएँ श्रद्धा से रहित होने के कारण यानी जिनवचन के प्रति परिपूर्ण विश्वासहीन होने से, सत्पुरुषो के लिए प्रमाणरूप (मान्य) नही है, यानी वे इन बाह्यक्रियाओ को मोक्षसाधन के रूप मे नही मानते, क्योकि आचार्य हरिभद्रसूरि ने षोडशक ग्रन्थ मे निम्नलिखित बात कही है

बाल पश्यति लिंग, मध्यमबुद्धिर्विचारयति वृत्तम्।
आगमतत्वं तु बुध परीक्ष्यते सर्वयत्नेन ॥३७॥

बाल (अज्ञानीजन) लिंग (वेष) को देखता है, मध्यमबुद्धि वाला मनुष्य आचरण पर विचार करता है, किन्तु पण्डितपुरुष समस्त प्रयत्न से आगमतत्व की ही परीक्षा करता है।

बालबुद्धि वाला अज्ञानी व्यक्ति लिंग यानी जटा, शिखा, केशलोच आदि से मडित वेष या प्रतिलेखन, प्रमार्जन आदि क्रियाओ को देखते ही आसक्तिवश हो जाता है, वह उस क्रियाकांडी या वेशधारी साधक के सदाचार-दुराचार को देखे बिना ही उसके प्रति श्रद्धा कर लेता है, उसे नमस्कार करता है। मध्यमबुद्धि वाला व्यक्ति वेष के साथ-साथ यम-नियम आदि सदाचार की प्रवृत्ति देखता है, तब नमस्कार करता है, जबकि सूक्ष्मतत्वग्राहक पण्डितजन केवल वेष या यमनियमादि देख कर श्रद्धाभक्ति या नमस्कार नही करता, किन्तु समस्त प्रयत्न करके यह देखता है कि उस साधक मे आगमतत्व की सत्यता का प्रकाश है या नही ? तथा वह शास्त्रबोध की परीक्षा करता है और शास्त्र के आधार पर ही उसकी दूषितता अदूषितता की जाँच-परख करता है। अपनी परीक्षा मे खरे उतरने पर ही वह उस पर श्रद्धा करता है, उसे नमस्कार करता है। इसलिए ज्ञानीपुरुष को केवल बाह्याचार प्रमाणभूत नही होता। किन्तु ज्ञानवान गुरु को बाल और मध्यमबुद्धि वालो को शुद्ध धर्ममार्ग के प्रवेश कराने के लिए स्वय वेष, क्रिया और प्रवचनमात्र के पालन के लिए शुद्ध व्यवस्था धारण करनी चाहिए।

निश्चित्यागमतत्वं तस्मादुत्सृज्य लोकसंज्ञां च ।
श्रद्धाविवेकसारं यतितव्यं योगिना नित्यम् ॥३८॥

इस प्रकार आगमतत्व का निश्चय करके लोकसंज्ञा का परित्याग कर योगी को निरन्तर श्रद्धा और विवेक की शुद्धिपूर्वक प्रयत्न करना चाहिए।

पूर्वोक्त कारणों से आगम के तत्व (सिद्धान्त के परमार्थ) का निश्चय करके (बहुश्रुत और अपने अनुभव की स्मृति से उसका अवधारण करके) तथा लोकसंज्ञा (शास्त्र की अपेक्षा से रहित केवल लोक रूढि) का त्याग करके श्रद्धा (सर्वज्ञवचनो पर शुद्ध आस्तिक्य) और विवेक (जीव और पुद्गल के स्वभाव और विभाव की भिन्नता पृथकता का ज्ञान इन दोनों की जैसे भी शुद्धि हो, वैसे योगीजन को सदा यत्न (उद्यम) करना चाहिए।

निन्द्यो न कोऽपि लोके, पापिष्ठेष्वपि भवस्थितिश्चिन्त्या ।
पूज्या गुणगरिमाढ्या, धार्यो रागो गुणलवेऽपि ॥३९॥

योगीजन को लोक में किसी की भी निन्दा नही करनी चाहिए; पापियों के प्रति भी उनकी संसारस्थिति का चिन्तन करना चाहिए, गुणों की गरिमा से पूर्ण पुरुषो की पूजा (सत्कार) करनी चाहिए, और जिसमें थोडा-सा भी गुण हो, उसके प्रति भी प्रेमभाव रखना चाहिए।

योगी को किसी भी धर्मबुद्धि से रहित दुःखी व्यक्ति की निन्दा नही करनी चाहिए, पापी से पापी व्यक्तियो की भी तिरस्कार न करके, उन्हे पापकार्य के प्रति रुचि वाले देख कर उसकी भवस्थिति का चिन्तन करना चाहिए कि बेचारा, इन पापों से कब छूटेगा ? कब इसका कल्याण होगा ? उसकी दीर्घभवस्थिति जान कर उस बेचारे पर तरस खाना चाहिए, उस पर द्वेष या घृणा नही करना चाहिए। तथा जो व्यक्ति ज्ञानादि उत्तम गुणो से पूर्ण है, उनकी भक्ति, सेवा-पूजा (यथा योग्य पुष्प, चन्दन, वस्त्र आहार आदि से उनका आदरसत्कार) करनी चाहिए। तथा जिसमे गुण का अंश हो, उसके प्रति भी प्रेम रखना चाहिए।

ग्राह्यं हितमपि बालादालापैर्दुर्जनस्य न द्वेष्यम् ।
त्यक्तव्या च पराशा पाशा इव संगमा ज्ञेयाः ॥४०॥

बालक से भी हितकर बात को ग्रहण करना चाहिए, दुर्जन के प्रलापों पर द्वेषभाव नहीं करना चाहिए, पराई आशा का त्याग कर देना चाहिए और संगम सयोग बन्धन (पाश) की तरह समझने चाहिए।

नन्हे से बालक के मुँह से भी निकला हुआ हितकर वचन ग्रहण करना चाहिए। दुर्जन (दुष्ट पुरुष) के निन्दावचन सुन कर उस पर द्वेष-भाव या घृणाभाव नहीं करना चाहिए। आत्मा से भिन्न (पर) पुद्गल आदि के सुख की आशा-स्पृहा को छोड़ देना चाहिए एवं सासारिक-पौद्गलिक सभी सयोगो को पाश (वंधन) के समान समझना चाहिए।

स्तुत्या स्मयो न कार्यः, कोपोऽपि च निन्दया जनैः कृतया ।
सेव्या धर्माचार्यास्तत्त्वं जिज्ञासनीयं च ॥४१॥

दूसरे लोगों द्वारा की हुई अपनी स्तुति (प्रशसा) सुन कर गर्व नही करना चाहिए, उनके द्वारा की गई निन्दा सुन कर क्रोध नहीं करना चाहिए धर्माचार्य की सेवा करनी चाहिए और तत्व को जानने की इच्छा रखनी चाहिए।

अन्य लोगो द्वारा की हुई अपनी प्रशंसा सुन कर मन मे घमड नही करना चाहिए, अज्ञजनो द्वारा की गई अपनी निन्दा-अवहेलना पर उनके प्रति क्रोध रोष नही करना चाहिए, धर्मोपदेश देने वाले धर्मगुरुवर (धर्माचार्य) की सेवा करनी चाहिए और वस्तुतत्व की जिज्ञासा निरन्तर वढ़ती रहनी चाहिए। सदा नया-नया ज्ञान अपूर्व-अपूर्व वोध करते रहना चाहिए।

शौचं स्थैर्यमदम्भो वैराग्य चात्मनिग्रह कार्य ।
दृश्या भवगतदोषाश्चिन्त्यं देहादिवैरूप्यम् ॥४२॥

शौच, स्थिरता, अदम्भ, वैराग्य, और आत्मनिग्रह करना चाहिए। ससारगत दोषों पर चिन्तन करना चाहिए और शरीर आदि की विरूपता—विनाशिता का विचार करना चाहिए।

शौच=व्रत की पवित्रता, स्थैर्य=विपत्ति मे धैर्य, अदम्भ यानी माया-रहितता, वैराग्य ससारनिवास से उद्विग्नता, आत्मनिग्रह=मन पर विजय, ये सब बाते करने योग्य है अत. करनी चाहिए। ससार मे रहे हुए जो जीव हैं, उनके दोषो अर्थात् उन्हे प्राप्त होने वाले जन्म जरा, मृत्यु, व्याधि, नरकतिर्यचगमन वगैरह उपद्रवो को ज्ञानचक्षुओ से देखता रहना, उन पर चिन्तन करना चाहिए तथा देहादि की विरूपता (विकृति, विनश्वरता) यानी शरीर, धन, यौवन, स्त्री वगैरह की विपरीतता या विकृति या विनाशिता का विचार करना कि देह आदि क्षणभर मे कितने बदल जाते हैं, बिगड जाते है।

भक्तिर्भगवति धार्या, सेव्यो देश सदा विविक्तश्च।
स्थातव्यं सम्यक्त्वे, विश्वस्यो न प्रमादरिपु ॥४३॥

भगवान् जिनेश्वर के प्रति भक्ति रखना, सदा एकान्तप्रदेश (स्थान) का सेवन करना, अपने सम्यक्त्व पर दृढ रहना और प्रमादरूपी शत्रु का विश्वास न करना चाहिए।

जिनेन्द्र भगवान् की पूजा, भक्ति, बहुमान करना, उनके प्रति हृदय मे शुद्धश्रद्धा रखना, साधना के लिए सदा स्त्री-पशु-नपुसक के आवागमन या निवास से रहित एकान्त पवित्र स्थान मे निवास करना चाहिए। सम्यक्त्व=शुद्धश्रद्धा में सदा दृढ रहना या उपयोगसहित रहना तथा प्रमाद (कर्तव्य या हितकार्य के प्रति आलस्य) रूपी शत्रु का कदापि जरा भी विश्वास (भरोसा) नही करना चाहिए।

ध्येयाऽऽत्मबोधनिष्ठा, सर्वत्रैवागम पुरस्कार्य।
त्यक्तव्या कुविकल्पा स्थेयं वृद्धानुवृत्त्या च ॥४४॥

आत्मज्ञान की निष्ठा का ध्यान करना चाहिए, सर्वत्र आगम को आगे रखना चाहिए, कुविकल्पो का त्याग कर देना चाहिए और वृद्धजनो की अनुवृत्ति से रहना चाहिए।

ध्येयरूप आत्मज्ञान की पूर्णता (पराकाष्ठा) पर एकाग्रतापूर्वक सतत स्मरण करना चाहिए, सभी कार्यो प्रवृत्तियो या अनुष्ठानों मे आगमों (शास्त्रो) के सिद्धान्तसम्मत वचनो को आगे रखना चाहिए,

अर्थात् जिनवचन के अनुसार प्रवृत्ति करनी चाहिए तथा कुविकल्पो (अशुभमनोरथो, खोटे विचारो) को छोड देना चाहिए तथा वृद्धजनो की परम्परा के अनुसार (आचरण करना चाहिए।

साक्षात्कार्यं तत्व चिद्रूपानन्दमेदुरैर्भाव्यम्।
हितकारी ज्ञानवतामनुभववेद्यं प्रकारोऽयम् ॥४५॥

तत्व का साक्षात्कार करना चाहिए। चिदानन्द से परिपूर्ण होना चाहिए, यह अनुभव से जानने योग्य प्रकार ज्ञानियो के लिए हितकारी है।

आत्मिक वस्तुतत्व का साक्षात्कार (अपनी बुद्धि से प्रत्यक्ष) करना और आत्मानन्द की अनुभूति मे सदा पूर्ण मस्त रहना चाहिए। इस प्रकार ग्रन्थकार महानुभाव को अध्यात्म का जो गहन अनुभव, गहन नवनीत प्राप्त हुआ, उस शिक्षा के क्रम से कथित और अनुभव से अर्थात् साक्षात् श्रोत्र, नेत्र, मन आदि के ज्ञान से जाना जा सके ऐसा प्रकार आत्मरूप के अनुरूप चलने वाले ज्ञानीजनो (यथार्थ ज्ञान से सुशोभित पुरुषो) के लिए हितकारक है, शुभ तथा इष्ट-सिद्धिदायक, मगलकारक है।

॥ इत्यनुभवस्वरूपाधिकार ॥

सज्जनस्तुतिः

येषां कैरव-कुन्दवृन्द-शशभृत्कर्पूरशुभ्रा गुणा,
मालिन्यं व्यपनीय चेतसि नृणां वैशद्यमातन्वते।
सन्तः सन्तु मयि प्रसन्नमनसस्ते केऽपि गौणीकृत-
स्वार्था मुख्यपरोपकारविधयोऽत्युच्छृंखलैः किं खलैः ॥१॥

श्वेत कमल, कुन्दपुष्प-समूह, चन्द्रमा और कपूर के समान जिनके उज्ज्वल गुण मुमुक्षुओं के चित्त की मलिनता को दूर कर स्वच्छता फैलाते हैं, जिन्होंने अपने स्वार्थ को गौण कर दिया है और परोपकार के कार्यों (विधानों) को मुख्य कर दिया है, ऐसे कई सन्तपुरुष मुझ पर प्रसन्न चित्त वाले हों, फिर मुझे अत्यन्त उच्छृंखल दुर्जनों से क्या मतलब है ?

वे सज्जनपुरुष मुझ पर प्रसन्न (सन्तुष्ट) चित्त वाले हों, जिनके गुण (धर्मप्रवृत्ति के प्रकार) श्वेत कमल, कुन्दपुष्पों के समूह, चन्द्रमा की शुभ्र चांदनी और कपूर के ढेर के समान शुभ्र (दोषों रूपी मलों से रहित होने से निर्मल तथा कीर्तिरूपी सुगन्ध वाले होने से उज्ज्वल धवल) हैं और वह (गुणों की निर्मलता) मुमुक्षुपुरुषों के मन की मलिनता (दोषरूपी कालिमा) को दूर करके (गुणों से) निर्मलता- स्वच्छता को फैलाते हैं और जिन्होंने अपने स्वार्थ (मतलब) को गौण (प्रधानता से दूर) कर दिया है और जिन्होंने परोपकार की विधियों (प्रवृत्तियों सिद्धि प्राप्त करने के प्रकारों) को मुख्यता दे दी है। ऐसे सज्जनपुरुष मुझ पर प्रसन्नचित्त हो जाय तो मुझे अत्यन्त उद्दण्ड, मर्यादा के बन्धनों से रहित दुर्जनों की अप्रसन्नता से क्या हो सकता है ? कुछ भी हानि नहीं।

ग्रन्थार्थान् प्रगुणीकरोति सुकविर्यत्नेन तेषां प्रथा–
मातन्वन्ति कृपाकटाक्षलहरीलावण्यतः सज्जनाः।

माकन्दद्रुममंजरीं वितनुते चित्रा मधुश्रीरतत.।
सौभाग्य प्रथयन्ति पंचमचमत्कारेण पुंस्कोकिलाः ॥२॥

सुकवि प्रौढ़ ग्रन्थो के अर्थों को प्रयत्नपूर्वक तैयार (सरल) करते है, परन्तु उनकी प्रसिद्धि तो सज्जन अपने कृपाकटाक्षरूपी लहरो से उत्पन्न वात्सल्यरूपी लावण्य से बढाते हैं (फैलाते हैं)। जैसे मनोहर विचित्र वसन्तश्री आम्रवृक्ष की मजरी को फैलाती है, किन्तु उसके सौभाग्य को तो श्रेष्ठ कोयलें अपने पचमस्वर के चमत्कार से सर्वत्र प्रसिद्ध करती हैं।

श्रेष्ठ धर्मप्रधान कवि (सूक्ष्म अर्थ का सन्दर्भ करने वाले पण्डित) ग्रन्थार्थों (जिसमे अनेक अर्थ गुम्फित किये जाते हैं, उन शास्त्रविशेषरूपी अर्थो) को बहुत प्रयत्न से सफल (तैयार) करते हैं, किन्तु उन ग्रन्थो की प्रसिद्धि उन सत्पुरुषों की कृपारूपी (अनुग्रहबुद्धिरूपी) कटाक्ष (मुस्कराती दृष्टि के लक्ष्य) से उत्पन्न हुई बोध-तरगो की श्रेणि से पैदा हुए लावण्य वात्सल्य के सौन्दर्य से फैलती है। यानी सज्जनपुरुष उन ग्रन्थों की प्रसिद्धि बढाते हैं। जैसे वसन्तऋतु की श्री (शोभा ऋद्धि) आम्रवृक्ष की मजरी फैलाती है, लेकिन उसके सौभाग्य (लोकप्रियत्व) को अपने पचमस्वरो (मनोहर शब्दो) के चमत्कार से श्रेष्ठ कोयले प्रसिद्ध करती है।

दोषोल्लेखविषं खलाननबिलादुत्थाय कोपाज्ज्वलन्,
जिह्वाहिर्नंनु कं गुणं न गुणिनां बालं क्षयं प्रापयेत्।
न स्याच्चेत्प्रबलप्रभावभवनं, दिव्यौषधी सन्निधौ,
शास्त्रार्थोपनिषद्विदां शुभहृदां कारुण्यपुण्यप्रथा ॥३॥

अगर शास्त्र के उपनिषद् (रहस्य) के जानकार और शुभ हृदय वाले पुरुषो की करुणा (कृपा) रूपी पुण्य की प्रसिद्धिरूप और प्रबल प्रभाव के स्थान वाली दिव्य औषधि पास मे न हो तो दोष के उल्लेख (उच्चारण) रूपी विष वाला और कोप से जाज्वल्यमान हुआ जिह्वारूपी सर्प दुर्जन पुरुष के मुखरूपी बिल से निकल कर गुणीजनो के किस

वढते हुए गुण का क्षय (नाश) नही कर देता ? सभी गुणों को क्षय कर डालता।

हे भव्य ! दुष्टमनुष्य के मुखरूपी विल यानी बांबी मे से निकल कर गुणो में दोषारोपण-उच्चारणरूपी विष उगलने वाला और कोप (गुणो के प्रति द्वेष) के कारण आगबबूला होता हुआ यानी दुष्टवाणी रूपी ज्वाला को छोडता हुआ जिह्वारूपी साप गुणीजनो के किस वढ़ते हुए गुण को क्षीण (नुकसान) नही कर पाते ? सभी ज्ञानादि गुणो को क्षीण कर डालते है, वशर्ते कि शास्त्रो (आगमो) से वाच्य अर्थो (यानी आत्मा के स्वरूप वगैरह पदार्थो के उपनिषद् (रहस्य या साराश) को यथार्थरूप से जानने वाले, तथा शुभ हृदय वाले (परोपकार वगैरह से कल्याणकारक अन्त करण वाले) पुरुषो की कृपा वाली पवित्र ख्याति रूपी और महामहिमा की स्थानरूपी दिव्य औषधि (मनोहर अलौकिक विषनाशक जड़ी) पास में न होती। उसके पास मे होने से दुर्जनो का कुछ भी वश नही चलता।

उत्तानार्थगिरां स्वतोऽप्यवगमान् नि सारतां मेनिरे।
गम्भीरार्थसमर्थने बत खला: काठिन्यदोषं ददु:।
तत्को नाम गुणोऽस्तु, कश्च सुकवि कि काव्यमित्यादिकां
स्थित्युच्छेदमति हरन्ति नियता दृष्टा व्यवस्था: सताम् ॥४॥

दुर्जनपुरुष सुगम अर्थ वाली वाणी को स्वत समझ सकते है। लेकिन फिर भी उसे नि सार मानते है और गम्भीर अर्थ कहने मे कठिनता (मुश्किल होने) का दोष देते हैं। इस कारण ऐसा कौन-सा गुण हो ? कौन-सा कवि हो ? और कौन-सा काव्य हो ? कि इस प्रकार की स्थिति का उच्छेद करने वाली वुद्धि का हरण सत्पुरुषो की देखी हुई नियत व्यवस्थाएँ कर लेती है।

वडा ही अफसोस है कि दुर्जन पुरुष सुगमता के कारण सरल अर्थ वाली कवि की वाणी (गद्य-पद्यादि रचना) को अपनी वुद्धि से स्वत समझ लेने के कारण निःसार-सी (प्राकृत या गवारू) मानते है।

अर्थात् इस वाणी मे क्या रखा है ? कुछ भी सार नही है। इस प्रकार तुच्छ बुद्धि से देखते है। गभीर अर्थ के समर्थन का अवसर आने पर अर्थात् सूक्ष्म भावार्थ की रचना द्वारा कहे हुए अर्थ मे कठिनता (यह तो बडा मुश्किल है, या इसका अर्थ समझना बहुत कठिन है, इसलिए बेकार है, इस प्रकार) का दोष देते है। अत खलपुरुषो का मनोरञ्जन कर सके, ऐसा कौन सा कवित्वादि गुण हो ? कौन-सा शुक्राचार्य आदि सत्कवि (कुशलशास्त्रकार) हो ? और धर्मादि का प्रतिपादन करने वाली कैसी अद्भुत कविता (वाक्यरचना) हो ? सर्वत्र दोष ढूढने वाली और स्थिति का छेदन (खण्डन) करने वाली ऐसी बुद्धि (जगत् की व्यवस्था का उत्थापन करने=उखाडने वाली बुद्धि) का सत्पुरुषो की नियत (सतत परम्परा से शुद्ध) व्यवस्था=सुजनता की स्थिति ही निवारण करती है।

अध्यात्मामृतवर्षिणीमपि कथमापीय सन्त सुख,
गाहन्ते विषमुद्गिरन्ति तु खला वैषम्यमेतत्कुत ।
नेद वाद्भुतमिन्दुदीधितिपिव प्रीताश्चकोरा भृश
कि न स्युर्वत चक्रवाकतरुणास्त्वत्यन्तखेदातुरा. ।।५।।

अध्यात्मरूपी अमृत की वर्षा करने वाली कथा का पान करके सत्पुरुष सुख पाते हैं और उसी कथा का पान करके दुर्जन लोग जहर उगलते है। इस प्रकार की विषमता कहाँ से आई ? अथवा यह कोई आश्चर्य की बात नही है, क्योकि चन्द्रमा की किरणो का पान करके चकोर पक्षी अत्यन्त प्रसन्न होते है, परन्तु उसी चन्द्र के उदय से जवान चक्रवाक का जोड़ा क्या खेदातुर नही होता ? होता ही है।

आत्मभाव यानी राग, द्वेष, मोह, हिंसा, विषय और कषाय वगैरह के त्याग का अवलम्बन ले कर कही जाने वाली अध्यात्मरूपी अमृत (जन्म-मरणादि रोग के विनाशक पीयूष) की वृद्धि करने वाली कथा का पान (शास्त्रो मे कही हुई धर्म की बातो को भलीभाति आदरपूर्वक श्रवण) करके सुख-आनन्द पाते है। और वैसी ही कथा

सुन कर दुर्जन विष उगलते है, अर्थात् दोष प्रगट करने तथा स्वपर को सताप देने के कारणरूप हलाहल जहर का वमन करते है। इस प्रकार एक ही कार्य मे विपरीतता (विषमता) कैसे व कहाँ से आई ? सच है, ऐसी विषमता होने मे कोई आश्चर्य नही है क्योकि चन्द्रकिरणो का पान करने वाले चकोरपक्षी प्रेम में अत्यन्त भावविभोर हो जाते है और जवान चक्रवाक का जोड़ा उसी चन्द्रमा के उदय को ले कर अपने मे वियोग करने का दोषारोपण करके क्या अत्यन्त सन्तापयुक्त नही हो जाता ? होता ही है।

किञ्चित्साम्यमवेक्ष्य ये विदधते काचेन्द्रनीलाभिदा,
तेषां न प्रमदावहा तनुधिया गूढा कवीनां कृतिः।
ये जानन्ति विशेषमप्यविषमे रेखोपरेखांशतो,
वस्तुन्यस्तु सतामितः कृतधियां तेषां महानुत्सव. ॥८॥

जो लोग कुछ सदृशता देख कर काच और इन्द्रनीलमणि मे अभेद (अभिन्नता) प्रगट करते हैं, उन अल्पबुद्धि वालो को कवियो की गूढ़ कृति हर्ष प्रदान करने वाली नही होती। परन्तु जो विषमतारहित वस्तु मे भी रेखा और उपरेखा के अश से भी विशेषरूप से जानते हैं, उन कुशलबुद्धि वाले सत्पुरुषों को यह कृति महान् उत्सवरूप है।

जो लोग रग और आकार में जरा-सी भी सदृशता (समानता) देख कर नीले रग के, वैसी आकृति एवं चमक-दमक वाले काच और इन्द्रनीलमणि (वैडूर्यरत्न) को एक (समान) बताने लगते हैं, उन स्थूलबुद्धि मूर्खो को कवियो की गूढ (गहन अर्थ वाली, सूक्ष्म भावार्थ वाली) पद्यरचना (कृति) प्रसन्नता नही प्रदान करती। परन्तु जो पण्डित विषमतारहित समान वस्तु में भी रेखा (मात्रा), उसका अश उपरेखा (अर्ध मात्रा) तथा उस उपरेखा आदि के भी अंश (लेश) जितने भेद को विशेषरूप से 'यह अन्य वस्तु है, इस प्रकार के भेद को समानपट पर चित्रकार द्वारा चित्रित ऊँचे-नीचे प्रदेश की तरह जानते हैं, उन महापुरुषो को इस कृति (ग्रन्थ) से बड़ा उत्सव (आनन्द) प्राप्त होगा।

पूर्णाध्यात्मपदार्थसार्थघटना चेतश्चमत्कारिणी,
मोहाच्छन्नदृशां भवेत्तनुधियां, नो पंडितानामिव ।
काकुव्याकुलकामगर्वगहनप्रोद्दामवाक्चातुरी,
कामिन्याः प्रसभं प्रमोदयति न ग्राम्यान् विदग्धानिव ॥७॥

जिनकी आंखे मोह से ढकी हुई है, उन अल्पबुद्धि वालों के चित्त को सम्पूर्ण अध्यात्मपदार्थ-समूह की रचना पण्डितो की तरह चमत्कृत (चकाचौंध) करने वाली नही होती । कामिनी की काकुउक्ति (वक्रोक्ति) से व्याकुल, काम के गर्व से गहन, और अतिप्रबल वाणी की चातुरी चतुर (विद्वान) पुरुषों की तरह ग्राम्यजनों को प्रमुदित नही करती ।

सम्पूर्ण (न्यूनतारहित कूट-कूट कर भरी हुई) आध्यात्मिक=अध्यात्मरूप (आत्मा के ब्रह्मस्वरूप के आश्रित) पदार्थों के समूहवाली ग्रन्थरचना पण्डितों (सूक्ष्मभावज्ञ विद्वानो) की तरह जिनके विवेकनेत्र मोहाच्छन्न हैं, उन अल्पबुद्धि वाले के चित्त मे प्रेम या आश्चर्य का चमत्कार पैदा नही करती । उदाहरणार्थ—कामिनी (रूपवती युवती नारी) की काकु (हास्य, विनोद, अन्यार्थ या वक्रोक्ति) से व्याप्त, काम के मद से गहन एव अत्यन्त प्रबल वाक्चातुरी (वचनविलासकला) कामकला में चतुर पुरुषो की तरह गाव के गंवार लोगो को प्रसन्नता पैदा नही करती ।

स्नात्वा सिद्धान्तकुण्डे विधुकरविशदाध्यात्मपानीयपूरैस्,
तापं संसारदुःख कलिकलुषमलं लोभतृष्णां च हित्वा ।
जाता ये शुद्धरूपाः शमदमशुचिताचन्दनालिप्तगात्राः ।
शीलालंकारसाराः सकलगुणनिधीन् सज्जनांस्तान्नमामः ॥८॥

सिद्धान्तरूपी कुण्ड में चन्द्रकिरणो की तरह निर्मल अध्यात्मजल के पूर से स्नान करके सन्ताप का, ससार के दुःख का, क्लेश और पाप-मल का एव लोभरूपी तृषा का त्याग करके जो शुद्धरूप हो गए हैं तथा शम, दम और पवित्रतारूपी चन्दन से जिन्होने अपने शरीर पर लेपन कर लिया है तथा शीलरूपी आभूषण से जो साररभूत हो गए हैं, वैसे समग्र गुणो की निधि के समान सज्जनो को हम नमस्कार करते है ।

जो सिद्धान्त (जैनागमरूपी) कुंड (जलाशय) में चन्द्रमा की किरणों से अधिक स्वच्छ अध्यात्मभावरूपी जल के प्रवाह से स्नान करके संसार के (दुःख भवभ्रमण करने में उत्पन्न हुए क्लेश) को विषयतृष्णा-रूप सन्ताप को, कलह और पापरूपी मैल तथा लोभरूपी तृषा को तज कर शुद्धरूप (निर्मल आत्मस्वरूप) हो गए हैं, तथा शम (शान्त परिणाम), दम (इन्द्रियविजय) और शुचिता (व्रत-धर्म के विषय में निष्कलंकता) इस प्रकार के चन्दन से जिनके शरीर लिप्त हैं तथा शील-रूपी आभूषण (मुकुटादि) से जो सारभूत (सुशोभित) हुए हैं, ऐसे गुणों से सम्पन्न, समग्र परोपकार और ज्ञानादि गुणों की निधि के समान सत्पुरुषों को हम नमन करते हैं।

पाथोदः पद्यबन्धैर्विपुलरसभरं वर्षति ग्रन्थकर्ता
प्रेम्णां पूरैस्तु चेतःसर इह सुहृदां प्लाव्यते वेगवद्भिः ।
त्रुट्यन्ति स्वान्तबन्धाः पुनरसमगुणद्वेषिणां दुर्जनानां,
चित्रं भावज्ञनेत्रात् प्रणयरसवशान् निःसरत्यश्रुनीरम् ॥९॥

ग्रन्थकर्तारूपी मेघ पद्यबन्धों से विपुल रससमूह को बरसाते हैं, और सत्परिणति वाले हृदयसरोवर को इस मेघवृष्टि द्वारा अत्यन्त तेजी से बहते हुए प्रेम के प्रवाहों से भर देते हैं। किन्तु गुणों के प्रति अत्यन्त द्वेष रखने वाले दुर्जनों के हृदयबन्ध टूट जाते हैं और तत्त्वज्ञ के नेत्र से प्रेमरस के वश अश्रुजल निकलता है, यही आश्चर्य है।

ग्रन्थकर्ता (सत्कवि) रूपी मेघ पद्यबन्धों (चार पदों वाले श्लोकों की रचना) से विपुल विस्तृत शान्तरसादि जलसमूह को उसी तरह बरसाता है, जिस तरह मेघ धारागति के समूहरूप बन्ध से निरन्तर धाराप्रवाह जल बरसाता है। और अच्छे परिणाम वाले के मानसरोवर को इस मेघवृद्धि में वेग वाले न्यायरूप तेज प्रवाह वाले वृद्धिगत होते हुए प्रेम के प्रवाह से भर देता है। यानी हृदयसरोवर पाल तक लबालब भर जाता है। ऐसा होने से गुणों के प्रति असाधारण (उत्कृष्ट) द्वेषी दुर्जनों के हृदयरूपी कपाट के सन्धिबन्ध टूट जाते हैं और परमार्थ

(तत्त्व) के जानकार के नेत्रयुगल से प्रेमरस के वश प्रेम से आंसू वह निकलते हैं। यही आश्चर्य है।

उद्दामग्रन्थभावप्रथनभवयशःसंचयः सत्कवीनां,
क्षीराब्धिर्मथ्यते यः सुहृदयविबुधैर्मेरुणा वर्णनेन।
एतद्डिंडीरपिंडोभवति विधुरुचेर्मंडलं विप्रुषस्तास्
ताराकैलासशैलादय इह दधते वीचिविक्षोभलीलां ॥१०॥

सत्कवियों के प्रौढ़ग्रन्थ के भावों को विस्तृत करने से उत्पन्न हुए यश के सचयरूप क्षीरसागर का विवेकी सहृदय पण्डितरूपी देवों द्वारा वर्णनरूप मेरु से मथन किया जाता है, तव उसमे से पैदा हुआ फेन का पुंज चन्द्रमा की कान्ति के मडल के समान है तथा अत्यन्त उछलती हुई उच्चारण-ध्वनिरूप बूंदे तारे वन गए, और कैलाशपर्वत आदि इस क्षीरसागर मे उठती हुई तरगों की लीला को धारण करते हैं।

सत्कवियों (धर्मप्रधान ग्रन्थरचयिताओं) का उच्चकोटि के ग्रन्थों (शास्त्रों) के भावार्थों (सदर्थों) को प्रकाशित करने से फैला हुआ यशःपुंज क्षीरसागर तुल्य है। जिसका मंथन विवेकी सहृदय पण्डितरूपी देव वर्णनरूपी गुणकीर्तनरूपी मेरु की मथानी से करते हैं। उसमें से उत्पन्न होने वाला फेनसमूह सर्वथा गोलाकार चन्द्रकान्ति के मंडल के समान है। उस क्षीरसागर मे से अत्यन्त ऊँचे उछलते हुए जलकण उच्चारण के शब्द के समान हैं। जो तारामण्डल की शोभा को तथा कैलाश यानी मेरुपर्वत आदि इन सत्पुरुषों के यशरूपी क्षीरसागर मे ऊँची उछलती हुई तरगमालाओं की लीला (शोभा) को धारण करते हैं।

काव्यं दृष्ट्वा कवीनां हृतममृतमिति स्व सदां पानशंकी।
खेद धत्ते तु मूर्छा मृदुतरहृदय सज्जनो व्याधुतेन।
ज्ञात्वा सर्वोपभोग्य प्रसृमरमथ तत्कीर्तिपीयूषपूर,
नित्यं रक्षाविधानानियतमतितरां मोदते च स्मितेन ॥११॥

अतिकोमल हृदय वाला सज्जन पुरुष कवियों का काव्य देख कर

'इसने देवो के अमृत का हरण कर लिया' यह सोच कर पान से अशंकित हो कर सिर धुन-धुन कर पछताता है। और उस काव्य के यशरूपी अमृत के संचय को सबके लिए उपभोग्य तथा प्रसरणशील जान कर सदा रक्षा और आच्छादन की अनियतता जान कर मुस्कराकर अत्यन्त हर्षित होता है।

कृपारक्त से आर्द्र होने के कारण अत्यन्त मृदुहृदय वाला सज्जन कवियों (शास्त्रकारो) की काव्यरचना देख कर सोचते है कि इसने देवो का अमृत चुरा लिया है। इस प्रकार वह पान अथवा रक्षण करने के लिए आशंकित हो कर सिर धुन कर खिन्न हो उठता है। अर्थात् वह यों मानता है कि कवि की कला की पराकाष्ठा आ गई। तथा उस कवि के काव्य के यशरूपी अमृत का प्रवाह सबके लिए उपभोग्य (अर्थात् यह समस्त प्राणियो के लिए उपकार का कारण बनेगा) इस प्रकार कीर्तिरूपी सुधा का प्रवाह फैलता जान कर सदा रक्षा (रक्षण और मुद्रण) तथा पिधान (आच्छादन या प्रकटीकरण) दोनो बाते अनियमित है (यानी अनेक बार उसे बाँधना छोडना पड़ता है) मुस्कराकर अत्यन्त हर्ष पाते है।

निष्पाद्य श्लोककुम्भं निपुणनयमृदा कुम्भकारा कवीन्द्रा,
दार्ढ्यं चारोप्य तस्मिन् किमपि परिचयात् सत्परीक्षार्कभासाम्।
पक्व कुर्वन्ति बाढं गुणहरणमतिप्रज्वलद्दोषदृष्टि-
ज्वालामालाकराले खलजनवचनज्वालाजिह्वा निवेश्य ॥१२॥

कुम्भकाररूपी कवीन्द्र निपुणनयरूपी मिट्टी से श्लोकरूपी घड़े बना कर उसे सत्परीक्षणरूपी सूर्यकिरणो का सम्पर्क करा कर उनमे कुछ मजबूती ला कर गुणो को हरण करने वाली बुद्धि से दोषदृष्टि-रूपी जाज्वल्यमान ज्वाला की मालाओ से विकराल दुर्जनपुरुष की जिह्वारूपी अग्नि-ज्वाला मे डाल कर उन्हे पक्के बनाते है।

कुम्भकाररूपी कवीश्वर निपुण (यथार्थभाव को प्रदर्शित करने

वाले) स्याद्‌वादरूपी नय (सापेक्षवस्तु-धर्मवाद अथवा न्याय) रूपी मिट्टी से श्लोकों (छन्दोमय पद्यबद्ध रचनाओं) रूपी घड़ों को बना कर फिर उन्हे सत्पुरुषो की परीक्षा (गुण–दोषावधारणरूप) सूर्य की सख्त धूप में रख कर उनमे कुछ मजबूती ला कर फिर सद्‌भावार्थ और सुपद्यों की रचनारूप गुणों का हरण करने वाली बुद्धिरूपी देदीप्यमान (उग्र शिखावाली) दोषदृष्टि से ज्वाला (आग की लपट) के पुंज से भयकर दुर्जनपुरुषो की वाणीरूपी अग्नि (आंवे) मे डाल कर उन्हे अत्यन्त पक्के बनाते हैं। यानी वे दोषवचनरूपी मोगरी की चोट सह सकें, इस प्रकार के बना देते हैं।

इक्षुद्राक्षारसौघं कविजनवचनं दुर्जनास्याग्नियंत्रात् ।
नानार्थद्रव्ययोगात् समुपचितगुणं मद्यतां याति सद्यः ।
सन्तः पीत्वा यदुच्चैर्दधति हृदि मुदं घूर्णयन्त्यक्षियुग्मं,
स्वैरं हर्षप्रकर्षादपि च विदधते नृत्यगानप्रबन्धम् ॥१३॥

कविजनो के वचनरूपी ईख और अगूर के रस का पुंज दुर्जन पुरुष के मुखरूपी अग्नियंत्र से विविध प्रकार के अर्थरूपी द्रव्यों के संयोग से गुणवृद्धि पा कर तत्काल मद्यरूप बन जाता है। उस मद्य का पान करके सत्पुरुष हृदय में अत्यन्त हर्षित होते हैं। वे दोनो आखों को चपलतापूर्वक घुमाते हैं, और स्वच्छन्दतापूर्वक हर्षावेश मे आ कर नृत्य और गीत का प्रबन्ध भी करते है।

ग्रन्थकारो (कविजनो) के वाक्यरूपी इक्षु और द्राक्षा के रस का पुंज दुर्जन के मुखरूपी अग्नियंत्र से अर्थात् अग्नि के ताप से युक्त बर्तन में गर्म होने से विचित्र प्रकार के अर्थरूपी द्रव्यो के स्वादिष्ट और सुगन्धियुक्त मादक पदार्थों के सयोग से जिसके रस, सौरभ आदि गुण बढ़ गए हैं, वह रसभण्डार एकदम मदिरारूप मे परिणत हो जाता है। उस मद्य का पान करके सत्पुरुष हृदय मे आनन्दविभोर हो जाते हैं, तथा अपने दोनो नेत्रो को इधर-उधर घुमाते हैं, हर्षातिरेक के कारण तैश मे आ कर स्वेच्छापूर्वक वे नृत्य करते हैं और गीत ललकारते हैं।

नव्योऽस्माकं प्रबन्धोऽप्यनणुगुणभृतां सज्जनानां प्रभावात्।
विख्यातः स्यादितीमे हितकरणविधौ प्रार्थनीया न किं न।
निष्णाता वा स्वतस्ते रविरुचय इवाम्भोरुहाणां गुणाना-
मुल्लासेऽपेक्षणीयो न खलु पररुचेः क्वापि तेषां स्वभावः॥१४॥

'हमारी यह रचना नई होती हुई भी बड़े-बडे गुणधारी सज्जनों के प्रभाव से प्रसिद्ध हो' क्या वे सज्जन हित करने की विधि में हमारे द्वारा प्रार्थनीय नही है। अथवा कमलो को विकसित करने मे सूर्य-किरणों की तरह गुणो का उल्लास (विकास) करने मे वे सज्जन स्वयमेव विलक्षण हैं, क्योकि उनका स्वभाव कदापि दूसरे की रुचि इच्छा की अपेक्षा नही रखता।

हमारा यह प्रबन्ध यानी ग्रन्थरचना नई है, तथापि न्याय, धर्म आदि बड़े बडे गुणो के धारक सत्पुरुषो के प्रभाव से यह अवश्य प्रसिद्ध होगा। इस कारण हमारे सर्वहितकारी कार्य मे सहयोग देने के लिए क्या हम उन सज्जनो से प्रार्थना नही कर सकते ? अथवा उनसे इस प्रकार प्रार्थना करने की आवश्यकता ही क्या है ? क्योकि सूर्य की किरणे कमलो की प्रार्थना के बिना ही उन्हे स्वतः विकसित (प्रफुल्लित) करती है, वैसे ही सज्जनपुरुष दूसरे के गुणो का विकास करने मे स्वभाव से ही विलक्षण होते है। क्योंकि सत्पुरुषो का स्वभाव किसी भी काल-क्षेत्रादि मे दूसरे व्यक्ति की इच्छा (यानी 'अगर उसकी इच्छा हो तो उसका हित करे' इस प्रकार) की अपेक्षा नही रखती।

यत्कीर्तिस्फूर्तिगानावहितसुरवधूवृन्दकोलाहलेन,
प्रक्षुब्धस्वर्गसिन्धो पतितजलभरैः क्षालितः शैत्यमेति।
अश्रान्तभ्रान्तकान्तग्रहगणकिरणैस्तापवान् स्वर्णशैलो
भ्राजन्ते ते मुनीन्द्रा नयविजयबुधाः सज्जनव्रात-धुर्याः॥१५॥

अविश्रान्त भ्रमण करते हुए मनोहर ग्रहगणो की किरणो से तपा हुआ सुमेरुपर्वत उन गुरुदेव की कीर्ति का स्फूर्तिपूर्वक गान करने मे दत्तचित्त देवागनाओ के झुण्ड के कोलाहल से प्रक्षुब्ध स्वर्गगा से गिरते हुए जलप्रवाहो से धुल कर शीतलता को प्राप्त करता है, उन सज्जनो के समूह मे अग्रगण्य नयविजय नामक पण्डित मुनिवर्य विराजमान हैं।

अब ग्रन्थकार अपने गुरुदेव का वर्णन करते है जो पूर्वोक्त कीर्ति के भाजनरूप तथा सत्पुरुषो के समाज में अग्रगण्य नयविजय नामक पण्डित मुनिवर्य (मेरे गुरुदेव) अपने यश से सुशोभित है। जिनके यशोगान का साक्षी अविश्रान्त (बिना थके, निरन्तर) भ्रमण करते हुए और अपनी प्रभा से देदीप्यमान मनोहर सूर्यादि ग्रहगणो की उष्ण-किरणो से सतप्त सुमेरु पर्वत है। जो गुरुमहाराज के यशोगान के गीत एकतान हो कर गाती हुई देवागनाओ के झुण्ड के सामूहिक कोलाहल (उच्चध्वनि) की अनेक तरंगो से क्षुब्ध हुई स्वर्गगा से गिरते हुए (प्रवाहरूप से झरते हुए) जलप्रवाह से घुल कर प्रतिदिन ठडा हो जाता है।

चक्रे प्रकरणमेतत् तत्पदसेवापरो यशोविजयः।
अध्यात्मधृतरुचीनामिदमानन्दावहं भवतु ॥१६॥

उन गुरुदेव की चरणसेवा करने में तत्पर यशोविजय (उपाध्याय) ने यह प्रकरण (अध्यात्मसार) रचा (बनाया) है। यह प्रकरण अध्यात्म में रुचि रखने वाले पुरुषो के लिए आनन्ददायक हो।

उन गुरुमहाराज श्रीनयविजय पण्डित की चरणसेवा करने में उद्यत श्रीयशोविजय नाम के उनके शिष्य ने यह अध्यात्मसार नामक प्रकरण (ग्रन्थ) रचा है। इस प्रकरण-ग्रन्थ के प्रारम्भ से ले कर अन्त तक पूर्वोक्त अध्यात्म के विषय मे जिनकी श्रद्धा अथवा रुचि है या जो इस पर प्रीति व रुचि रखते है, ऐसे पुरुषो के लिए यह ग्रन्थराज स्वाभाविकरूप से परमानन्द प्राप्त कराए, आनन्द-मगलकारक बने।

इति सज्जनस्तुति, इति प्रशस्तिश्च ॥

इतिश्री महोपाध्यायश्रीकल्याणविजयगणिशिष्य-मुख्यपण्डितश्री लाभविजयगणिशिष्य मुख्यपण्डितश्रीजीतविजयगणिसतीर्थ्य-मुख्यपण्डित-श्रीनयविजयगणि-चरणकमलचंचरीकेण, पण्डितश्री-पद्मविजयगणि-सहोदरेण पण्डितश्रीयशोविजयेन विरचितेऽध्यात्मसारप्रकरणे सप्तम प्रबध ॥

अनुवादक प्रशस्ति:

श्रीश्रमण भगवान् वर्धमान (महावीर) स्वामी की शासन-परम्परा के ७२ वे पट्ट पर संवेगी-शाखा में तपोगच्छाधिपति परमपूज्य प्रातः-स्मरणीय न्यायाम्भोनिधि पंजाबदेशोद्धारक आचार्यभगवान् श्रीमद्विजयानंदसूरीश्वरजी (आत्मारामजी) महाराज हो गये है। उनके दो पट्टधर आचार्य हुए श्रीमद्विजयकमलसूरीश्वरजी म० (पंजाबी) और श्रीमद्विजयवल्लभसूरीश्वरजी म०। पंजाबकेसरी भारतदिवाकर आचार्यदेव श्रीमद्विजयवल्लभसूरीश्वरजी म० के ५ पट्टधर आचार्य हुए (१) आचार्य श्रीविजयललितसूरीश्वरजी म०, (२) आचार्यश्री उमंगसूरीजी म०, (३) आचार्य श्रीविद्याचन्द्रसूरीजी म० (४) आचार्य श्रीविजयसमुद्रसूरीजी म० और (५) आचार्य श्रीविकासचन्द्रसूरीजी म०। इनमे से अनुपमपट्टधर मरुधरोद्धारक विजयललितसूरीश्वरजी महाराज के पट्टधर ज्योतिष्मार्तण्ड महान तपस्वी आचार्य श्रीविजयपूर्णानन्दसूरीश्वरजी महाराज हुए। इनके दो पट्टधर हुए—अनेकतीर्थोद्धारक शासनदीपक आचार्य श्रीविजयप्रकाशचन्द्रसूरीश्वरजी म० तथा आचार्य श्रीह्रींकारसूरीश्वरजी म०।

पू० आचार्यदेव श्रीमद्विजयप्रकाशचन्द्रसूरीश्वरजी महाराज के लघुशिष्य मुनि पद्मविजय ने विक्रम संवत् २०३१ के सिहोरचातुर्मास मे इस ग्रन्थ का अनुवादकार्य प्रारम्भ किया और वि०सं० २०३२ फाल्गुन शुक्ला पूर्णिमा, मंगलवार, तदनुसार ता० १६-३-१९७६ को बड़ौदा के आत्मानन्द जैन उपाश्रय मे सद्धर्माराधक श्रीमद्विजयकमलसूरीश्वरजी म० के पट्टशिष्य अनुयोगाचार्य पन्यास श्रीनेमविजयजी म० गणिवर के शिष्यरत्न पन्यासप्रवर श्रीचन्दनविजयजी गणिवर्य के निश्राय मे पूर्ण किया।

यदि कोई पुण्यशाली कल्याणकामी तत्वप्रेमी सुज्ञ मुमुक्षु इस ग्रन्थ को बार-बार चिन्तन-मननपूर्वक पढेगा, नही समझ मे आए, वहाँ किसी तत्त्वज्ञानी गुरु से समझ कर अपनी आत्मा को कर्मबन्धन से मुक्त करने की दृष्टि से व्यवहार और निश्चय दोनो नयो की अपेक्षा से अध्ययन करके आध्यात्मिक साधना एवं परमपद की आराधना करेगा, तो मै अपना प्रयास सार्थक समझूँगा।

॥ अध्यात्मसार ग्रन्थ सम्पूर्ण ॥

स्वानुभव

अध्यात्ममार्ग मे आगे बढने के अभिलाषी मुमुक्षुओ मे अध्यात्म-स्वरूप की स्वाभाविक जिज्ञासा होती है।

अध्यात्म का व्युत्पत्त्यर्थ होता है 'आत्मानमधिकृत्य या शुद्धक्रिया प्रवर्तते तदध्यात्मम्' अर्थात्-शुद्ध (परम या श्रेष्ठ) आत्मा को लक्ष्य मे रख कर जो शुद्ध क्रिया (अनुष्ठान) की जाय, उसे अध्यात्म कहते हैं। महोपाध्याय श्रीमद्‌यशोविजयजी महाराज ने 'अध्यात्मोपनिषद्' के प्रथम अध्ययन के दूसरे श्लोक मे बताया है

'आत्मानमधिकृत्य स्याद् या पञ्चाचारचर्या।
शब्दयोगार्थनिपुणास्तदध्यात्म प्रचक्षते ॥'

शब्द के अनुसार अध्यात्म का अर्थ करने मे निपुण महानुभाव आत्मा (कर्म-निर्जरा) का मुख्य लक्ष्य रख कर शास्त्रीय मर्यादानुसार पचाचार के पालन करने को अध्यात्म कहते हैं।

अध्यात्मयोगी श्रीआनन्दघनजी ने अध्यात्म की सुन्दर परिभाषा श्री-श्रेयासनाथ भगवान् (११ वें तीर्थंकर) की स्तुति करते हुए प्रस्तुत की है

'निजस्वरूप जे किरिया साधे, ते अध्यात्म लहीए रे।
जे किरिया करी चउगति साधे, ते न अध्यात्म कहीए रे ॥'

जिस क्रिया के करने से देव-नरक-मनुष्य-तिर्यञ्चरूप चार गति मे से किसी मे भ्रमण ही सिद्ध होता हो, उसे अध्यात्म नही कहते, अपितु जो क्रिया अपने आत्मस्वरूप का लक्ष्य सिद्ध करती है, उसे ही अध्यात्म समझना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि आत्मविकास या आत्मनिष्ठ दृष्टि से जो भी क्रिया या प्रवृत्ति होती है, उसे आध्यात्मिक कही जा सकती है।

अध्यात्ममार्ग कोई कृत्रिम या जनता को भ्रम मे डालने वाला नही है, अपितु आत्मा के निजगुणो को विकसित या प्रकट करने का उपक्रम है। जब आत्मा का विकास पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है, तब अनायास ही मोक्ष (लक्ष्य)

प्राप्ति हो जाती है। यही आत्मा की निर्विकल्पक ज्ञानदशा है, अध्यात्म की पराकाष्ठा है। इस स्थिति पर पहुँच जाने पर उदासीनभाव प्रकट होता है, तीनो योगो की प्रवृत्ति स्वत छूट जाती है, यही अध्यात्म की दृढता की निशानी है। इस अवस्था मे अध्यात्मज्ञान के आनन्द का असीम सागर उमड पडता है। उस परमानन्द की तुलना मे इन्द्र या देवो का अथवा इन्द्रियविषयो का सुख अत्यन्त फीका लगने लगता है। ऐसा परमानन्द पूर्णसयमी के जीवन मे स्वाभाविक रूप से सदा विद्यमान रहता है। प्रस्तुत 'अध्यात्मसार' ग्रन्थ मे 'अध्यात्म' की तीव्र-मध्यम-मन्द आदि कई दशाओ का वर्णन है। इसमे जैनदर्शन एव अन्य समस्त दर्शनो मे प्रयुक्त अध्यात्मविज्ञान का निचोड दे दिया है। कहना होगा कि उपाध्याय यशोविजयजी ने इस ग्रन्थरूपी गागर मे अध्यात्म के सागोपाग व सम्पूर्ण रहस्यो के सागर को सागोपाग व व्यवस्थितरूप से भर दिया है।

इस ग्रन्थराज पर अनेक महानुभावो द्वारा रचित व्याख्याएँ मिलती है। मैंने प० प्रवर श्रीवीरविजयगणिवर द्वारा (स० १८८१ मे) लिखित टब्बार्थ एव पन्यास श्रीगम्भीरविजयजी म० द्वारा (स० १९५२ मे) रचित सस्कृत टीका आदि के आधार पर इस ग्रन्थ का भावार्थ (अनुवादरूप मे) प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। विशेष भावों या अर्थो को ज्ञानी गुरुगम से समझना चाहिए। मेरे द्वारा इस ग्रन्थ के भावानुवाद (भावार्थ) करने मे कहीं त्रुटि रह गई हो, आशय स्पष्ट न हुआ हो, तो मुझे बताने पर मैं उनका उपकार मानूंगा। यही शुद्ध अध्यात्म द्वारा परमश्रेय (मोक्षपद) प्राप्त करने का मार्ग है।

॥ इति शुभम् ॥

वि० स० २०३२
चातुर्मासिक पर्व
जैनक्रियाभवन, जोधपुर

परम उग्रतपस्वी आचार्यदेव श्रीमद्विजय-
प्रकाशचन्द्र-सूरीश्वरजी म० का
चरणारविन्द-चचरीक
मुनि पद्मविजय